





नम सर्वेशाय

रायचन्द्रजेनशास्त्रमाला

कलि कालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता-  
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका

श्रीमद्विषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

एम्० ए० इत्युपपदधारिणा शास्त्रिणा

जगदीशचन्द्रेण

हिन्दीभाषाया अनुवादिता

उपोढात-परिशिष्टानुक्रमणादिभिः सपाज्य च  
सम्पादिता

सा च मुम्नापुरीस्थ

श्रष्टि मणीलाल, रेवाशङ्कर जगजीवन जौहरी

परमश्रुतमभारतमण्डलाधिकारिभि

मुम्नाथ्या न्यूभाएत-मुद्रणाउय मुद्रयिन्वा प्राकाश्य नीता

घोरनिवाण सन् २४६०

विश्रम सवत् १९०१

ईश्वरी सन् १९३५

मूल्य सार्द्धरूप्यरत्नतुष्टय-धामि (६)

प्रकाशक—

शेठ मणीलाल, रेघाशकर जगजीवन जोहरी

आ० व्यवस्थापक परमधृतप्रभानकमंडल

जोहरीबाजार, बम्बई न० २



मुद्रक—

रघुनाथ दिवाजी देसाई,  
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६, कलवाडी,  
गिरगाव, बम्बई न ४

# विषयानुक्रमिका ।

विषय	पृष्ठ
प्राक्कथन—लेखक-श्रीयुत मिस्त्रनलाल आश्रय एम ए, डी लिट्., दशनाभ्यासक काशी विश्वविद्यालय	7
प्रकाशकका निवेदन	8
सम्पादकीय निवेदन	9-10
ग्रन्थ और प्रथकार	11-31
हमचन्द्र	11-11
मन्दिपण	15-22
जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान	23-31
स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका गूढ़ रहस्य	23-26
स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि	26-29
स्याद्वादका जैनतर साहित्यमें स्थान	29-32
स्याद्वादका समन्वयदृष्टिमें स्थान	32-34
स्याद्वादमजरीका अनुयाय	34-35
टीकाकारका मंगलचरण	35
श्लोक १	35
अवतरणिका	35
अनन्तभिरुक्त आदि भगवानक चार विशेषण	35
चार मूल अतिशय	35
उक्त विशेषणोंकी साधकता	35-36
श्रीराममान आदि विशेषणोंकी साधकता	36-37
शुभकका दूसरा अर्थ	37-38
श्लोक २	38-39
श्लोक ३	39-40
श्लोक ४-१०	40-41
श्लोक ४	41-42
श्लोक ५	42-43
नित्यानित्यवाद	42-43
दीपकका नित्यानित्यत्व	43-44
अधकारका पौष्टिकत्व	44-45
आकाशमें नित्यानित्यत्व	45-46
नित्यका लक्षण	46
पातकल्याण और वैशेषिकोंके नित्यानित्यवादका समर्थन	46-47
एकान्त नित्यानित्यवादमें अधव्रियाका अभाव	47-48
श्लोक ६	48-49
ईश्वरके जगत्कृतत्वपर विचार	48-49
ईश्वरका जगत्कृता विद्ध करनेमें पूरपक्ष	49-50
पूरपक्षका खंडन	50-51
किरणोंके गुणत्वकी निरिद्ध	51-52
इश्वरवादियोंके आगममें पूरपक्षविरोध	52-53

	विषय	पृष्ठ
श्लोक ७	समवायका खण्डन	६८-६९
श्लोक ८	सत्ता भिन्न पदार्थ है—पूर्वपक्ष वैशेषिकोंके छह पदार्थ ज्ञान आत्मासे भिन्न है—पूर्वपक्ष मात्र ज्ञान और आनन्दरूप नहीं है—पूर्वपक्ष सत्ता भिन्न पदार्थ नहीं है—उत्तरपक्ष ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है—उत्तरपक्ष मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप है—उत्तरपक्ष	६८-९२ ६९-७१ ७२ ७३-७४ ७४-७७ ७७-८३ ८४-९०
श्लोक ९	आत्माके सब यापकत्वका खण्डन अवयव और प्रदक्षमें भेद आत्माका शरीरपरिमाण माननेमें शका और उसका समाधान आत्माके कथंचित् सर्वयापकत्वकी सिद्धि समुद्धानका लक्षण और उसके भेदोंका विस्तृत स्वरूप	९२-१०६ ९९ १०१-१०३ १०३ १०४-१०९
श्लोक १०	नैयायिकोंद्वारा प्रतिपादित छल, जाति और निग्रहस्थान मासक कारण नहीं हो सकते नैयायिकोंके सोलह पदार्थ नैयायिकोंके प्रमाणोंके लक्षणका खण्डन नैयायिकोंके बारह प्रकारके प्रमेयका खण्डन छलके भेद चौबीस प्रकारकी जाति—उसका विस्तृत स्वरूप बाइस प्रकारका निग्रहस्थान—उसका विस्तृत स्वरूप	१०६-१२१ १०९ १११-११० १११ १११-११२ ११२-११७ ११८-१२०
श्लोक ११-१२	मीमांसकोंकी मान्यताओंपर विचार वदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण है—पूर्वपक्षका खण्डन निगमदिशके निर्माण करनेमें पुण्यसंचय साख्य लोगोंका वैदिक हिंसाका विरोध व्यास और वदान्तियोंका वेदनिहित हिंसाका विरोध श्राद्ध करनेमें दोष आगमक अपौरुषेयत्वका खण्डन	१२१-१५२ १२२-१२५ १२५-१२६ १२८ १२९ १३४-१३५ १३६
श्लोक १२	परापज्ञानवादी मीमांसक और एक ज्ञानको अर्थ ज्ञानोंसे माननेवाले न्यायवैशेषिकोंका खण्डन ज्ञानका स्वप्रकाशक नहीं माननेवाले भट्ट मीमांसकोंका पूर्वपक्ष और उसका खण्डन न्यायवैशेषिकोंकी मान्यताका खण्डन	१३६-१५२ १५४-१६१ १५२-१६४ १५४-१७७ १६६-१७७
श्लोक १३	महाद्वैतवादियोंके मायावादपर विचार वेदान्तियोंका पूर्वपक्ष और उसका खण्डन अवयवत्वादि आदि द्वायतियोंका विस्तृत स्वरूप	१६४-१७७ १७७-१८७ १८७-१८८

	विषय	पृष्ठ
	अद्वैतवादियोंके द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंन ब्रह्मकी सिद्धि	१५८-१६०
	अद्वैतवादका खडन	१६०-१६२
इलोक १४	कयचित् सामान्यविशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समथन	१६४-१८२
	एकान्त सामान्यवादी अद्वैतवादी, मीमांसक और साख्योका पूवपक्ष	१६५-१६७
	एकान्त विशयवादी बौदोंका पूवपक्ष	१६७-१६८
	स्वतथ सामान्य विशेषवादी न्यायवैशेषिकोंका पूवपक्ष	१६७
	उक्त तीनों पक्षोंका खडन	१७०-१७२
	शब्दका पौद्गलिकत्व	१७२-१७४
	आमाका कयचित् पौद्गलिकत्व	१७४
	शब्द और अथका कयचित् तादाम्य सवष	१७५-१७६
	सण्ण पदायोंमें भावाभावत्वकी सिद्धि	१७६-१७८
	अशाद्, जानि, विधि आदि शब्दापना खडन	१८०-१८१
इलोक १५	साख्योक्त सिद्धान्तोंपर विचार	१८२-१९५
	साख्योका पूवपक्ष	१८२-१८८
	पूवपक्षका खडन	१८८-१९२
	साख्योका अन्य विरुद्ध धल्पनार्थ	१९३-१९४
इलोक १६-१९		१९५-२५५
इलोक १६	सौत्रानिक, वैभाषिक और यागाचार बौद्धाने सिद्धान्तोंका खडन	१९५
	प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं-पूवपक्षका खडन	१९६-२०१
	क्षणिकवाद और उसका खडन	२०१-२०५
	ज्ञान पदायथ उसत्र होकर पदायका जानता है-इसका खडन	२०६-२०९
	ज्ञानाद्वैत-पूवपक्ष और उत्तरपक्ष	२११-२२१
इलोक १७	इत्यवादिदियोंका खडन	२२६-२४०
	प्रमाणा, प्रमथ, प्रमाण और प्रमितिकी असिद्धि-पूवपक्ष	२२९-२३१
	उत्तरपक्ष	२३१-२३९
	आत्माकी सिद्धि	२३२-२३६
	सवजकी सिद्धि	२३६-२३७
	प्रमथ, प्रमाण और प्रमितिकी सिद्धि	२३८-२३९
इलोक १८	क्षणिकवादमें कृतप्रणारा आदि दाप	२४०-२४८
	क्षणिकवादका परिवर्तिनरूप	२४८
इलोक १९	वासना और क्षणसतति भिन्न, अमिन्न, और अनुमथ रूपस सिद्धि	
	नहीं शती	२४९-२५५
	बौद्धमतमें वासना ( आल्यविज्ञान ) में दाप	२-२-२५३
इलोक २०	चावाकमतपर विचार	२५६-२६२
	करल प्रत्यक्षका प्रमाण माननवाल् चावाकोका खण्डन	२५६-२५९
	भौतिकवादका खडन	२६०-२६१



	विषय	पृष्ठ
	अद्वैतवादियोंक द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ब्रह्मकी सिद्धि	१५८-१६०
	अद्वैतवादका खंडन	१६०-१६२
श्लोक १४	कथंचित् सामान्यविशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समर्थन	१६४-१८२
	एकान्त सामान्यवादी अद्वैतवादी, मीमांसक और सांख्योंका पूर्वपक्ष	१६५-१६७
	एकान्त विशेषवादी बौद्धोंका पूर्वपक्ष	१६७-१६८
	स्वतंत्र सामान्य विशेषवादी न्यायवैशेषिकोंका पूर्वपक्ष	१६९
	उक्त तीनों पक्षोंका खंडन	१७०-१७२
	शब्दका पौद्गलिकत्व	१७२-१७४
	आत्माका कथंचित् पौद्गलिकत्व	१७४
	शब्द और अर्थका कथंचित् तादात्म्य संबंध	१७५-१७६
	सम्पूर्ण पदार्थोंमें भावाभावत्वकी सिद्धि	१७६-१७८
	अपाह, ज्ञानि, निधि आदि शब्दाधिक्यका खंडन	१८०-१८१
श्लोक १५	सारथीके सिद्धान्तोंपर विचार	१८२-१९५
	सांख्योंका पूर्वपक्ष	१८२-१८८
	पूर्वपक्षका खंडन	१८८-१९२
	सांख्योंकी अन्य विरुद्ध कल्पनायें	१९३-१९४
श्लोक १६-१९		१९५-२५५
श्लोक १६	सौत्रातिक, वैभाषिक और यागाचार बौद्धोंके सिद्धान्तोंका खंडन	१९५
	प्रमाण और प्रामिति अभिन्न हैं-पूर्वपक्षका खंडन	१९६-२०१
	धार्मिकवाद और उसका खंडन	२०१-२०५
	ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर पदार्थका जानता है-इसका खंडन	२०६-२०९
	ज्ञानाद्वैत-पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष	२११-२२१
श्लोक १७	दृश्यवादियोंका खंडन	२२६-२४०
	प्रमाणा, प्रमेय, प्रमाण और प्रामितिकी असिद्धि-पूर्वपक्ष	२२९-२३१
	उत्तरपक्ष	२३१-२४१
	आत्माकी सिद्धि	२३२-२३६
	सबजकी सिद्धि	२३६-२३७
	प्रमेय, प्रमाण और प्रामितिकी सिद्धि	२३८-२३९
श्लोक १८	धार्मिकवादमें कृतप्रमाण आदि दोष	२४०-२४८
	धार्मिकवादका परिवर्तितरूप	२४८
श्लोक १९	वास्तना और धर्मासतति भिन्न, अभिन्न, और अनुभय रूपस सिद्धि नहीं होती	२४९-२५५
	बौद्धमात्रमें वास्तना ( आल्यविज्ञान ) में दोष	२५१-२५३
श्लोक २०	चावाकमतपर विचार	२५६-२६२
	कथं प्रत्यक्षका प्रमाण माननेवाला चावाकोंका खंडन	२५६-२५९
	भौतिकवादका खंडन	२६०-२६१



	विषय	पृष्ठ
श्लोक २१-२८	स्याद्वादकी सिद्धि	२६२-३२७
श्लोक २१	प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और श्रौयकी सिद्धि	२६२-२६७
श्लोक २०	प्रत्येक पदार्थमें अनन्त घम है	२६७-२७१
श्लोक २३	सप्तभगीका प्ररूपण	२७१-२८८
	मिथ्यादृष्टि हृदशागका पदकर भी उसे मिथ्याश्रुत समझता है	२७४-२७७
	मास, मद्य और मैथुनमें जीवोंकी उत्पत्ति	२७६-२७७
	स्याद्वादक प्रसिद्ध सात भग	२७१-२८३
	सकलादेश और विकलादेश रूप सप्तभगी	२८३-२८६
श्लोक २४	अनेकातवादमें विरोध आदि दार्शनीक निराकरण	२८८-२९५
श्लोक २५	अनेकातवादके चार भेद	२९५-२९७
श्लोक २६	एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवादका पडन	२९७-३०१
	नित्य और अनित्यवादियोंका परस्पर पडन	२९८-२९९
श्लोक २७	एकान्तवादमें मुल दुख आदिका जभाव	३०१-३०६
श्लोक २८	दुनय, नय और प्रमाणका स्वरूप	३०७-३२७
	नयका स्वरूप और उसके नैगम आदि सात भेद	३१०
	प्रमाण और प्रमाणके भेद	३२१-३२२
	एकसे लकर नयन असख्यात भेद	३२३-३२५
	नय और प्रमाणमें अन्तर	३२३
	नैगम नयके भिन्न भिन्न लक्षण और उसके भेद	३२५
	द्रव्यार्थिक और पदार्थार्थिक नयोंके विभागमें मतभेद ( टि )	३२६-३२७
श्लोक २९	जीवोंकी अनन्तताका प्रतिपादन	३२७-३३४
	पनचलि, अक्षपाद आदि ऋषियोंका जीवोंकी अनन्तताका समर्थन	३२९
	प्रथिवी, आदिमें जीवत्वकी सिद्धि	३३०-३३१
	निगोदका स्वरूप	३३१-३३२
	गाणाल, अश्वामिन् और स्वामी दयानदकी माधके विषयमें मान्यता	३३२-३३३
	जीवोंके सदा माध जाते रहते हुए भी यह सप्तर जीवोंमें खाली नहीं होता	३३३
	गाद्याउ, महीदास, मनुस्मृति और महाभारतकारका यनस्मृतिमें	
	जीवत्वका समर्थन	३३३-३३४
	आधुनिक विज्ञानसे पृथिवीमें जीवत्वका समर्थन	३३४
श्लोक ३०	स्याद्वाददर्शनमें जैननर दर्शनका समन्वय	३३४-३३८
श्लोक ३१	भगवानक यथाथवादित्वका समर्थन	३३८-३४०
श्लोक ३२	जिनभगवानन ही जगनक उद्धार हानकी शक्यता	३४१-३४३
प्रशस्ति		३४५

त्रिपय	पृष्ठ
अयोग्यवच्छेदिका	३४७-३५५
परिशिष्ट	३५७-४४७
जैन परिशिष्ट	३५७-३८४
दु पमार	३७-३५९
कवली	३७९-३६१
अविशय	६०-३६३
एव व्यापारि	३६५-३६७
अनुबन्ध	३६५
प्रदेश	३६७-५६७
कनलीसनुदान	३६७-३६९
लाक	३६९-५७१
भरनामनि	-७१-३७२
आधाकम	५७०-३७३
द्वयपट्टक	३७३-३७८
द्वादशांग	३७८-३८१
प्राण	३८१-३८२
शानक भेद	३८२-३८३
निगाद	३८३-३८४
बौद्ध परिशिष्ट	३८५-४०७
बौद्धशन	३८५
बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय	३८५-३८६
सौत्रान्तिक	३८६-५८८
वेभाषिक	५८८-५८९
सौत्रान्तिक-वेभाषिकोंके विद्वान्त	३८९-५९२
गृन्थराद	३९२-३९६
विज्ञानराद	३९६-५९९
बौद्धोंका अनामवाद	५९९-४०७
बौद्ध साहित्यम आमा सबधी मान्यताए	४०४-४०७
न्यायवैशेषिक परिशिष्ट	४०८
न्यायवैशेषिकदशन	४०८-४०९
न्यायवैशेषिकोंके समानतंत्र	४१०
न्यायवैशेषिकोंमें मनभद	४११
वैदिकसाहित्यमे इक्षरका विविध रूप	४११-४१३
इक्षरके अस्तित्वमें प्रमाण	४१३-४१५
इक्षर विषयके प्रकाश	४१५-४१७
इक्षरके निषयमें पाश्चात्य विद्वानोंका मत	४१७-४१८
न्यायवैशेषिक-साहित्य	४१८-४१९

	पृष्ठ
<b>विषय</b>	
<b>सांख्ययोग परिशिष्ट</b>	४२०-४२७
सांख्य, योग, जैन और बौद्धदर्शनोंकी तुलना	४२०
सांख्ययोगदर्शन	४२१
सांख्यदर्शन	४२१-४२३
सांख्यदर्शनके प्ररूपक	४२३-४२५
योगदर्शन	४२६
जैन और बौद्धदर्शनमें योग	४२६-४२७
<b>मीमांसक परिशिष्ट</b>	४२८-४३७
मीमांसकोंके आचार विचार	४२८
मीमांसकोंके सिद्धांत	४२८-४३४
मीमांसक और जैन	४३४-४३५
मीमांसादर्शनका साहित्य	४३५-४३७
<b>वेदान्त परिशिष्ट</b>	४३८-४४२
वेदान्तदर्शन	४३८
वेदान्तसाहित्य	४३८-४४०
वेदान्तदर्शनकी शाखायें	४४०-४४१
शंकरका मायावाद	४४१-४४२
<b>चार्वाक परिशिष्ट</b>	४४३-४४४
चार्वाकमत	४४३
चार्वाक लोगोंके सिद्धान्त	४४४
चार्वाकसाहित्य	४४४
<b>विविध परिशिष्ट</b>	४४५-४४७
आज्ञाविक	४४५-४४६
संवर प्रतिष्ठा	४४६
क्रियावादी	४४६-४४७
<b>अनुक्रमणिका</b>	१-५१
स्वाद्वादमन्त्रीके अक्षरणा ( १ )	१-१८
स्वाद्वादमन्त्रीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार ( २ )	१९-२४
अन्ययोग-यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची ( ३ )	२५
अन्ययोग-यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची ( ४ )	२६
स्वाद्वादमन्त्रीके न्याय ( ५ )	२७
स्वाद्वादमन्त्रीके विचार शब्दोंकी सूची ( ६ )	२८-३६
स्वाद्वादमन्त्रीके टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रन्थ ( ७ )	३७-३८
अयोग-यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची ( ८ )	३९
अयोग-यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची ( ९ )	४०-४१
अयोग-यवच्छेदिकाके टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रन्थ ( १० )	४१
परिशिष्टोंके विचार शब्दोंकी सूची ( ११ )	४२-४३
परिशिष्टोंमें उपयुक्त ग्रन्थ ( १२ )	४४-४६
संसादनमें उपयुक्त ग्रन्थ ( १३ )	४७-५१
<b>संसादन-विषय—</b>	५२

# प्राक्थन।

आज मेरे लिए बड़े हय और सौभाग्यका अवसर है, कि मैं अपन सुयाम्य शिष्य तथा प्रिय मित्र श्री जगदाशचन्द्र जैन एम ए द्वारा अनुवादित तथा संपादित स्याद्वादमञ्जरीक आदिमें कतिपय शब्द लिख रहा हूँ। ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थके सिद्धान्तों और उनसे सम्बद्ध अनेक विषयोंका परिचय ता जगदीशचन्द्रजीने पाठकोंको सरल और निर्दोष गृहीय भाषामें मनी भौति दे ही दिया है। मुझे इस विषयमें यहाँपर अधिक कुछ नहीं कहना है। मेरे लिये तो एक ही विषय रह गया है। यह है पाठकोंका सम्पादक महादयका परिचय देना।

श्री जगदीशचन्द्र जैन सुप्रसिद्ध श्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अग्रगण्य स्नातकोत्तमेंमें हैं। उन्होंने वहाँसे सन् १९३२ में दशन (Philosophy) में एम ए की उपाधि प्राप्त की थी। विश्वविद्यालयके गभमें भारतीय-दशन—विशेषत जैन और बौद्ध—के साथ साथ उन्होंने पाश्चात्य दशनका गहरा और विस्तृत अध्ययन किया, और दार्शनिक समस्याओंपर निष्पक्ष भावसे स्वतंत्र विचार किया। मुझे उनके आचार विचार और आदर्शोंसे खूब परिचिति है, क्योंकि वे कई वर्ष तक मेरी निरीक्षकता (Wardenship) में छात्रावासमें रह हैं, और उन्होंने मेरे साथ मनोविज्ञान (Psychology) और भारतीय-दशनका अध्ययन किया है। सायकालक भ्रमणमें अक्सर उनके साथ दार्शनिक विषयोंपर बातचीत हुआ करती थी। अपनी इस परिचितिक आधारपर मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ, कि श्री जगदीशचन्द्रजी एक बहुत होनहार दार्शनिक विद्वान् और लेखक हैं। दार्शनिकोंके दा सबस बड़े गुण—निष्पक्ष और न्यायपूर्णक विचार और समन्वय बुद्धि—उनमें बूट बूट कर भर हैं। वे केवल दार्शनिक ही नहीं हैं, सहृदय भी हैं। यही कारण है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसावादमें उनकी भद्रा है। स्याद्वादमञ्जरीमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, इसीलिये उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा सम्पादन किया है। अनुवाद और सम्पादन बहुत ही उत्तम रीतिसे हुए हैं। प्रत्येक श्लोक और उसकी टीकाके अनुवादके अन्तमें जा भाषाय दिया गया है, उसमें विषयका बहुत सरलतासे प्रतिपादन हुआ है। कहीं कहीं जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे भी बहुत उपयोगी हैं। अन्तमें सय दशनों सम्बन्धी विचारण बौद्धदशन सम्बन्धी—परिशिष्टों और कई प्रकारकी अनुक्रमणिकाओंने पुस्तकको बहु मूल्य बना दिया है। गुणश पाठक स्वय ही समझ जायेंगे कि सम्पादक महोदयने कितना परिश्रम किया है।

मेरी यह हार्दिक इच्छा है, कि इस पुस्तकका प्रचार खूब हो, और विशयत उन लोगोंमें हा जा जैनधर्मावलम्बी नहीं हैं। सत्य और उच्च भाव और विचार किसी एक जाति या मजहबवालोंकी वस्तु नहीं है। इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है। मनुष्यमात्रका अनकान्तवादी, स्याद्वादी और अहिंसावादी होनेकी आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें, विशयत इस समय—जब कि समस्त भूमण्डलकी सभ्यताका एकीकरण हो रहा है और सब देशों, जातियों और मतोंक लोगोंका सपक दिन पर दिन अधिक हाता जा रहा है—इन ही सिद्धान्तोंपर आरुढ़ होनेसे ससारका कल्याण हो सकता है। मनुष्य जीवनमें कितना वाञ्छनीय परिवर्तन हो जाय, यदि सभी मनुष्योंका प्रारम्भ से गिम्हा मिल कि सय ही मत सापेक्षक हैं, कोई भी मत सयथा सत्य अथवा असत्य नहीं है पृथ सत्यमें सब मतोंका समन्वय होना चाहिये, और सबको दूसरोंने साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि वे दूसरोंसे अपने प्रति चाहत हैं। मैं तो इस दृष्टिक प्राप्त कर लनेको ही मनुष्यका सभ्य हाना समझता हूँ। मैं जाशा करता हूँ कि यह पुस्तक पाठकोंने इस प्रकारकी दृष्टि प्राप्त करनेमें सहायक हागी।

आपाठ पूर्णिमा १९३२

भिक्रमनलाल आश्रेय एम ए, डी लिट्,  
दरनाप्यापक,  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

# प्रकाशकका निवेदन ।

लगभग २५ वर्षों के बाद यह ग्रंथ फिर प्रकाशित किया जा रहा है। पहले इसका एक अंश (पृष्ठ १०८ तक) की टीका पं० जवाहर-लालजी माहियशार्यावृत और श्यामा (पृष्ठ २१७ तक) की पं० धर्माधरजी शार्यावृत थी। अगली बार पं० जगदीशचन्द्रजी शार्या एम० ए० ने इसका सम्पादन किया है, और आधुनिक मुद्रणामक पद्धतिसे प्रथमो मसौदा मुद्रण बनाने के लिए उन्होंने बहुत ध्यान दिया है। गहन निष्पत्ति के विचारियों के लिए इसमें अब काफी ममाला इकट्ठा कर दिया गया है। आशा है कि इसका आदर होगा। वास्तव में यह टीका और इसका परिशिष्टादि सब अंश विन्युक्त नये हैं। पहले सम्पादनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मिसाल इसके दिग्दर्शक ग्रंथ यही है, जो पहले था।

पं० म० की तरफसे और भी कई नये महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रंथ सुमन्यपादित होने लगे रहे हैं।

जौहरी बाजार, बम्बई  
ज्येष्ठ कृष्ण ३०  
वि सं १९०१

निवेदक—  
मणीलाल जौहरी

# सम्पादकीय निवेदन ।

आज तक स्याद्वादमन्त्रीक निम्न लिखित सस्करण निकल चुके हैं—

- |                                      |                               |
|--------------------------------------|-------------------------------|
| १ यशोविजय प्रथमाग काशी               | ५ चोखभा सीरीज काशी            |
| २ अंगरचन्द्रजी भरादानजी सठिया बीकानर | ६ आइतमनप्रभाकर पूना           |
| ३ हीरालाल हसरज चामनगर                | ७ भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना |
| ४ रावचन्द्रशान्भामाला बम्बई          |                               |

इन आहूतियोंमें प्रस्तुत स्याद्वादमन्त्रीकी प्रस्तुत आहूतियोंमें कुछ विशेषता हैं या नहीं, इसका निगम तो स्वयं विरू पाठकगण ही ठीक ठीक कर सकेंगे। परन्तु इतना असय्य कहा जा सकता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थका अनेक दृष्टियोंसे सागापाग परिपूर्ण बनानेका यथाप्रति प्रयत्न किया गया है।

## प्रस्तुत सस्करणका सक्षिप्त परिचय

१ सशोधन—इस ग्रन्थका सशोधन रावचन्द्रमालाकी एक प्राचीन और शुद्ध हस्तलिखित प्रतिक आधारे किया गया है। इस प्रतिके आदि अथवा अन्तमें किसी सन् आदिका निर्देश न हानेसे इस प्रतिका ठीक ठीक समय मादम नहीं हो सका, परन्तु प्रति प्राचीन मादम हार्ता है।

२ सस्कृतटिप्पणा—सस्कृतक अम्यामियाफ लिये मूल पाठक फोटिन स्थलोंको स्पष्ट करनके लिये इस ग्रन्थमें सस्कृतकी टिप्पणिया लगाई गई हैं। इन टिप्पणियोंमें सेठ मानीण्डर लाभापीडारा सशोधित स्याद्वादमन्त्रीकी सस्कृत टिप्पणियोंका भी उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम उस सम्पादक महादयका आभार मानते हैं।

३ अनुवाद—अनुवादका यथाशक्य सरल और प्रवाहवद् बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसके लिये अनुवाद करते समय बहुतेक शब्दोंकी छूट भी लेनी पड़ी है। विषयका सर्वाङ्गण करनके साथ विषयका सरल और स्पष्ट बनानके लिये 'याक कठिन विषयोंको 'शका-समाधान,' 'वादी-प्रतिवादी,' 'समाथ' रूपमें उपस्थित किया गया है। प्रत्येक शकक अन्तमें शकका सक्षिप्त भावार्थ दिशा गया है। अनेक स्थलोंपर भावाथ लिखत समय ग्रन्थक मूल विषयके बाह्य विषयोंकी भी विस्तृत चचा की गई है (उदाहरणके लिये दृष्टो श्लोक २८-२९ वा भावाथ)। कहीं कहीं हिन्दी अनुवाद करते समय और भावाथ लिखत समय हिन्दीकी टिप्पणिया भी जोड़ी गई हैं।

४ असागव्यरच्छेदिका—इस सस्करणमें हमचन्द्रकी दूसरी कृति असागव्यरच्छेदिकाका अनुवाद भी द दिया गया है। इसक साथ तुलनाक लिये सिद्धसेन और समतभद्रकी कृतियोंमेंसे टिप्पणियोंमें अनेक शक उद्धृत किय गये हैं।

५ परिशिष्ट—यह इस सस्करणका महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें जैन, बौद्ध, न्यायवैशेषिक, साख्ययाग, पृथ्वीमाना, वान्त, चानाक और विविध नामक आठ परिशिष्ट गभित हैं। जैन परिशिष्टमें तुलनाक दृष्टिसे जैन पारिभाषिक शब्दों और निचार्थका सगकरण है। बौद्ध परिशिष्टमें बौद्धोंके विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनामवाद आदि दार्शनिक सिद्धांतोंका पाली, सस्कृत और अमन्त्री माराके श्रयोंके आधारेस प्रामाणिक विवेचन किया गया है। आता है इसक पन्नेस पाठकोंकी बौद्ध दर्शन सवनी बहुतेसी भ्रातिपूर्ण धारणायें दूर होंगी। तीसर न्यायवैशेषिक परिशिष्टमें इ-बर मवधी चचा विशेष रूपस उल्लेखनीय है। चौथे साख्ययोग परिशिष्टमें साख्य, याग, जैन और बौद्धदर्शनोंकी तुलना करत समय जा ब्राह्मण और भ्रमण सस्कृति सवधी भेद दिखाया गया है, यह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। पाचवें परिशिष्टमें मीमांसक और जैनोंकी तुलना, छठेमें शकरक भाषावादकी विज्ञानवाद और 'सूयवाद' तुलना, सातवेंमें चार्वाकमत और आनन्दधननीका उस त्रिनभगवानकी कृष्ण बताना, और आठवें परिशिष्टमें आनीविक सम्प्रदाय—ध्यानपूर्वक पढ़न योग्य विषय हैं।

६ अनुक्रमणिका—इस सस्करणमें नीचे त्रिवी तरह अनुक्रमणिकायें लगाई गई हैं—

- (१) स्याद्वादमजरीके अवतरण—इन अवतरणोंमें कई अनुपलब्ध अवतरणोंकी मूल स्वयं खोज की है। ये अवतरण प्रायः सेठ मोतीलाल लाधजी और प्रा. भुवकी स्याद्वादमजरीके आधारसे लिये गये हैं।
- (२) स्याद्वादमजरीमें निर्दिष्ट ग्रंथ और ग्रंथकार
- (३) अन्ययोग-यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची
- (४) अन्ययोग-यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची
- (५) स्याद्वादमजरीके न्याय
- (६) स्याद्वादमजरीके शब्दोंकी सूची
- (७) स्याद्वादमजरीकी सस्कृत और हिन्दी टिप्पणियोंमें उपयुक्त ग्रंथ और ग्रंथकार
- (८) अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची
- (९) अयोग-यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची
- (१०) अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणियोंमें उपयुक्त ग्रंथ
- (११) परिशिष्टके शब्दोंकी सूची
- (१२) परिशिष्टमें उपयुक्त ग्रंथ
- (१३) सम्पादनमें उपयुक्त ग्रंथ

### उपसंहार

जिस समय मैं बनारस हिन्दु युनिवर्सिटीमें एम. ए. व. कीसमें अपने आदरणीय अध्यापक प्रो. पणिभूषण अधिकारी एम. ए. से स्याद्वादमजरी पढ़ता था, उस समय मुझे उनका साथ दशानशास्त्रक अनेक विषयोंपर चर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समयसे मेरी इच्छा थी, कि मैं स्याद्वादमजरीके ऊपर कुछ लिखकर जैनद्वान तथा राष्ट्र-भाषाकी सेवा करूँ। संयोगवश पिछले वर्ष मेरा बम्बईमें आना हुआ, और मैंने रायचन्द्र जैनशास्त्रमालाके 'यन्त्रयापक श्रीयुक्त मणीलाल रेवाणकर जगजीवन श्वरीकी स्वीकृति मिलत ही स्याद्वादमजरीका काम आरम्भ कर दिया। इस ग्रंथके आरम्भ इसकी समाप्ति होनेतक अनेक सज्जनों जा मुझे अनेक प्रकारसे सहायता दिया है, उसके लिये मैं सबका आभार मानता हूँ। श्री श्रीयुक्त दलसुख शास्त्रामाई मालवणीयोंने स्याद्वादमजरीके सस्कृत और उसका अनुवादके बहुतस प्रश्नोंका संशोधन किया है। मेरे बहुत साहित्यरत्न प. दरमारीलालजी न्यायतीर्थने इस ग्रंथ सबधी अनेक प्रश्नोंकी चर्चामें रत कर अपना बहुमूल्य समय खर्च किया है। स्थानीय बुद्धिस्ट सासायदीक मंत्री के. ए. पाध्ये बी. ए., ए. एल. सी., श्री. व. म्हाइ हायकोर्टने स्थानीय परिषदात्मिक लायब्ररीमें मुझे हरक प्रकारके सुभीत दिलवाकर, तथा एन. और पाठक बी. ए. ने अपनी लाइब्ररीमेंसे बहुतसी पुस्तकें देकर मुझे सहायता पहुँचाई है। रायचन्द्रशास्त्रमालाके मैनेजर श्रीयुक्त कुन्दनलालजाने मेरे लिये आवश्यक पुस्तकों आदिना प्रवच करके उदारता दिखाई है। प. नाथुरामजी प्रेमी, मुनि हिमाञ्जलिजयजी, माहनलाल दर्शीचन्द्र दशरथ बी. ए., एल. एल. बी., तथा माहनलाल भगवानदान श्वरीके एम. ए. सालिरीटर आदि सज्जनोंने भी इतनेरह अपनी सहायताका प्रदान किया है। मेरी पत्नी कमलश्रीन हिन्दीके मूल पत्रानेमें और अनुक्रमणिका बनानेमें मेरी सहायता की है। मैं इन सब महाशुभावोंका हृदयसे आभार मानता हूँ। मुनि माहनलाल सेंद्रु जैन लाइब्रेरी, हीराचन्द्र गुमानजी जैन बाटिंग लाइब्रेरी, ऐल. ए. पत्रालाल सरस्वती भवन तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षोंने मुझे अपना पुण्य सहायता दिया है। इस सस्करणके तैय्यार करनेमें प्रा. आनन्दकर बापूमाई भुवकी स्याद्वादमजरी तथा अन्य अनेक ग्रंथोंसे जा मुझे सहायता मिली है, मैंने उनका यथास्थान उल्लेख किया है। मैं इन सब विद्वानोंका आभार मानता हूँ।

उद्वेगवाग,  
सारदेव बम्बई  
२०-६-३५

जगदीशचन्द्र जैन

# ग्रंथ और ग्रंथकार



हेमचन्द्र

हेमचन्द्र आचार्य श्वेताम्बर परम्पारोंमें महान प्रतिभाशाली एक अमाधारण विद्वान हो गये हैं। हेमचन्द्राचार्यका जन्म ई. स. १०७८ में गुजरातके धधुका ग्राममें मोड़ वणिग् जातिमें हुआ था। हेमचन्द्रके जन्मका नाम चगदेव अथवा चागोदेव था। इनके पिताका नाम चच्च, चाच अथवा चाचिग, और माताका नाम पाहिनी अथवा चाहिणी था। एक बारकी बात है, कि देवचन्द्र नामके एक जैन साधु धधुकामें आये। उस समय चगदेवकी अस्थि केवल पाच बरफ़ी थी। पाहिनी अपने पुत्रको लेकर निममदिरके दर्शन करनेके लिये गईं। देवचन्द्र भी इसी मंदिरमें ठहरे थे। तिस समय पाहिनी जिन प्रतिविम्बकी प्रदक्षिणा दे रही थी, उस समय चगदेव देवचन्द्र महाराजके पास आकर बैठ गये। आचार्य चगदेवके शरीरपर असाधारण चिन्त देवचन्द्र आश्चर्यचकित हुए, और उन्होंने चगदेवके घर जाकर पाहिनीसे उसके पुत्रको जैन साधु सधमें दीक्षित करनेकी अनुमति मागी। पाहिनीने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की, और चगदेवको देवचन्द्र आचार्यके सुपुत्र कर दिया। जब चगदेवके पिता बाहरसे लौटे, इस घटनाको सुनकर बहुत क्रुद्ध हुए। अन्तमें सिद्धराजके तवाँशन जैन मंत्री उदयवने चगदेवके पिताको शान्त किया, तथा चगदेवका विधि विधानपूर्वक दीक्षा-संस्कार हो गया। दीक्षाके पश्चात् चगदेवका नाम सोमचन्द्र रखा गया। प्रतिभाशाली सोमचन्द्रने शीघ्र ही तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम इन चारों विद्याओंका पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्रसूरिने अपने शिष्यका अगाध पाण्डित्य देखकर बहुत मुग्ध हुए। हेमचन्द्रको उपाधिसे निभूषित किया, और अब सोमचन्द्र हेमचन्द्रसूरिके नामसे कहे जाने लगे।

एक बार हेमचन्द्र आचार्य विहार करते करते गुजरातकी राजगृही अणहिल्लपुर पाटणमें पधारे। उस समय वहा महाराज सिद्धराज जयसिंह राय करते थे। सिद्धराजने हेमचन्द्र आचार्यको राजमहामें आमंत्रित किया, और हेमचन्द्रके अगाध पाण्डित्यको देखकर बहुत मुग्ध हुए। हेमचन्द्र अणहिल्लपुरमें ही रहने लगे। सिद्धराजने कोई अच्छा व्याकरण न देखकर

१ सोमप्रथमसूरिके अनुसार चगदेवने स्वयं ही देवचन्द्रसूरिके उपदेश सुनकर उनका शिष्य होने की इच्छा प्रकट की, और वे देवचन्द्रसूरिके साथ साथ फिरने लगे। देवचन्द्र भ्रमण करते करते जब रत्नमठमें आये, वहापर चगदेवके मामा नेमिचन्द्रने चगदेवके मातापिताको सम्पत्त्या, और देवचन्द्रसूरिने चगदेवको दीक्षा दी।



हेमचन्द्रस कोई व्याकरण बनानेका कहा । सिद्धराजके प्रार्थना करनेपर हेमचन्द्रने गुजरातके त्रिये सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरणकी रचना की । इस गुजरातके प्रधान व्याकरणक समाप्त होनेपर यह व्याकरण राजाके हाथीपर रखकर रात दरबारमें लाया गया । सिद्धराज शेरधर्मी थे । एक बार हेमचन्द्र सिद्धराजके साथ सोमनाथक मंदिरमें गये । हेमचन्द्रने निम श्लोकोंसे शिव भगवानकी नमस्कार किया, और अपने हृदयकी विशालताका परिचय दिया—

भयनीजाकुंजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्मा हरो विनो वा नमस्तस्मै ॥

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिः यथा यथा ।

वीतदोषकल्प स चेद्भगवानेक एव भगवतमोऽन्तु ते ॥

हेमचन्द्रके उपदेशस सिद्धराजकी जैनधर्मके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई, और इसके पठ स्वल्प सिद्धराजने पाठनेमें ' रायविहार ' और सिद्धपुरमें ' सिद्धविहार ' नामक चौबीस जिन प्रतिमागळे मंदिर बनवाये । सिद्धराजके समय हेमचन्द्र केवल अपने विद्या-वैभवंके कारण सकारके पात्र हुए थे । परन्तु सिद्धराजके उत्तराधिकारी कुमारपाळ हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे । हेमचन्द्रके उपदेशसे कुमारपाळने अपन राग्धर्ममें देव-देवियोंके ऊपर की जानेवाली प्राणियोंकी हिंसाको, और मांस, मद्य, घृत, शिकार आदि दुर्व्यसनको रोकनेकी घोषणा कराई, और जनधर्मके सिद्धान्तोंका अभिवाधिक प्रचार किया ।

हेमचन्द्र चारो विद्याओंके समुद्र थे, और अपने असामान्य विद्या वैभवंके कारण ही कठिकाळसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे । मल्लिधेण हेमचन्द्रको महात् पृथ्व दृष्टिसे स्मरण करते हैं, और उन्हें चार विद्याओं सयनी साहित्यके निर्माण करनेमें साक्षात् ब्रह्माज्ञी उपमा देते हैं । सिद्धहेम शब्दानुशासनके अतिरिक्त हेमचन्द्रने तर्क, साहित्य, उद, योग, नीति आदि विविध विषयापर अनेक ग्रंथोंकी रचना करके जैन साहित्यको खूब ही पल्लित बनाया है । कहा जाता है, कि सब मिलाकर हेमचन्द्रने साढ़ तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है । हेमचन्द्रके मुख्य ग्रंथ निम्न प्रकार हैं—

१ प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण—प्राकृतव्याकरण ।

२ महाकाव्य ( ससृज और प्राकृत )—द्वयाश्रय महाकाव्य, इसमें भाषिकोंकी तरह प्रत्येक श्लोकके दो अर्थ निकलते हैं ।

१ एक विद्वान्त इस व्याकरणकी प्रशंसा निम्न श्लोकमें की था—

ग्रान सृष्टु पाणिनीप्रलपित कातरकथा वृथा

मा कर्षी षड्दशाक्षयवनवच क्षुदेण चाद्रेण किम् ।

किं कष्टप्रवर्णान्निबन्धरयत्यात्मानमन्यैरपि

इत्यन्ते यदि तावदधमधुरा धीसिद्धहेमोक्तय ॥ जैन साहित्यको इतिहास पृ २९४ ।

३ कोप—अभिमानचिन्तामणि—समृत्ति [ हेर्मानाममात्र ], अनेकार्थसंग्रह, दर्शनाम-  
माला—समृत्ति और निघण्टुशेष ।

४ अलंकार—काव्यानुशासन—समृत्ति ।

५ ङ — ङ्गोनुशासन—समृत्ति ।

६ न्याय—प्रमाणमीमासा [ अपूर्ण ], अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका ।

७ याग—योगशास्त्र—समृत्ति [ अध्यात्मोपनिषद् ] ।

८ स्तुति—वीतरागस्तोत्र ।

९ चरित—त्रिपष्टिशलाकापुररूपचरित ।

इन प्रयोगोंके अतिरिक्त हेमचन्द्रने और भा बहुतरसे प्रयोगोंका निमाण किया है । निम्नन्देह हेमचन्द्र भारतके एक दर्दोप्यमान रत्न थे । हेमचन्द्र आचार्यके बिना उन साहित्य ही नहीं बल्कि गुजरात भरका साहित्य सूना कहा जाता है ।

### अन्ययोग और अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायें

शास्त्रिक विचारोंको समृद्ध भाषाके पद्योंमें लिखनकी रीति भारतपर्यमें बहुत समयमें चली आता है । उपर्युक्त भारतीय साहित्यमें सर्वप्रथम विज्ञानशास्त्री श्रीर आचार्य वसुवन्दुद्वारा विज्ञानशास्त्रीके सिद्धिके त्रिय वीम श्लोकप्रमाण शिक्षिका, और तीन श्लोकप्रमाण शिक्षिकाकी रचना देखनेमें आता है । जैन साहित्यमें सबसे पहले प्रसिद्ध जन दाशानिक सिद्धसेन द्वाराकरने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओंका रचना की । हरिभद्रने भी विंशतिशिक्षिकाओंको बनाया है । हेमचन्द्रने सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाओंका अनुकरण करके ही सरल और अत्यन्त मार्मिक भाषामें अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद नामकी दो द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है ।

हेमचन्द्रकी उक्त दोनों द्वात्रिंशिकायें मटारीर भगवानकी स्तुतिरूप हैं । इन दोनोंमें बत्तीस बत्तीस श्लोक हैं । इनमें इकतीस श्लोक उपनिषत्त आर अन्तका एक श्लोक शिखरिणी छन्दमें लिखे गये हैं । अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें अन्य दर्शनोंका दृष्टगणोंका प्रदर्शन किया गया है । इनमें आदिके तीन और अन्तके तीन श्लोकोंमें भगवानकी स्तुति, सतरह श्लोकोंमें न्यायवैशेषिक, मीमासा, वेदान्त, सांख्य, श्रौत और चार्वाकदर्शनोंकी समीक्षा, तथा नौ श्लोकोंमें स्याद्वादकी सिद्धि की गई है—

१—स्तुतिरूप छह श्लोकोंमें भगवानके अतिशय, उनके यथार्थवाद, नयमार्ग, और निष्पक्ष शासनका वर्णन करते हुए अन्तमें तिन भगवानके द्वारा ही अज्ञानाकारमें पड़े हुए जगतकी रक्षाकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है ।

२—(क) अन्य दर्शनोंके समीक्षात्मक रूप सतरह श्लोकोंमें ४—१० श्लोक तक उह श्लोकामें न्यायवैशेषिकोंके सामान्यविशेषवाद, निव्यानियवाद, ईश्वरकृत्य, धर्म धर्मिका

१ अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके बड़े श्लोकोंका उद्देश्य माधवाचार्यने सबदर्शनसंग्रहमें किया है ।

भेद, सामान्यता भिन्नपदार्थ, आत्मा और ज्ञानका भिन्नत्व, वृद्धि आदि आमामें गुणोंके उच्छेदको मोक्ष मानना, आत्माकी सर्वथापकता, तथा उठ, जाति और निग्रहस्थानसे मुक्ति मानना—इन सिद्धांतोंकी समीक्षा की गई है ।

(ख) ११-१२ वें श्लोकमें मीमांसकोंकी,

(ग) १३ वें श्लोकमें वेदान्तियोंके मायावादकी,

(घ) १४ वें में एकांत सामान्य और एकांत विशेष रूप वाच्य-वाचक भावकी,

(ङ) १५ वें में मास्यदर्शनके सिद्धांतोंकी, तथा

(च) १६-१९ में श्रद्धाके प्रमाण और प्रमितिकी अभिन्नता, ज्ञानद्वैत, शून्यवाद, क्षणभंगवादकी, और

(उ) २० वें श्लोकमें चार्वाकदर्शनकी समीक्षा की गई है ।

३—शेष नौ श्लोकोंमें प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रीयकी सिद्धि, सकलदेश और निरुद्धदेशसे सप्तभगीका प्ररूपण, स्याद्वादमें विरोध आदि दोषोंका खटन, एकान्तवादोंका खंडन, दुर्भय, नय और प्रमाणका स्वरूप, और सर्वज्ञकथित जीवोंकी अनन्तताके प्ररूपणके साथ स्याद्वादकी सर्वोत्पत्ता सिद्ध की गई है ।

अयोगव्यनच्छेदिका नामकी दूसरी द्वारिशिकामें स्वपक्षकी सिद्धि की गई है । अन्य योगव्यनच्छेदिका और अयोगव्यनच्छेदिकाके श्लोकोंका उल्लेख हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसावृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि ग्रंथोंमें मिलता है, इससे भाद्रम होता है इन ग्रंथोंके बननेसे पहले ही इन द्वारिशिकाओंकी रचना हो चुकी थी । अयोगव्यनच्छेदिकामें हेमचन्द्र आचार्यने तीर्थिकोंके आगमको सद्यो सिद्ध करके चिनशासनकी महत्ताका विविध प्रकारसे बड़ी ओजस्विनी भाषामें प्रतिपादन किया है । हेमचन्द्राचार्यका सुदृढ विश्वास है, कि जेनेतर आगमोंमें हिंसा आदि का विगन पाया जाता है, अतएव पूर्वापरविरोधसे रहित यथार्थनादी जिन भगवानका हितापदेशी शासन ही प्रामाणिक हो सकता है । जिन शासनके सर्वोत्पत् और कल्याणरूप होने पर भी जो लोग चिन शासनकी उपेक्षा करते हैं, यह उन लोगोंके दुष्कर्मका ही फल समझना चाहिये । हेमचन्द्र घोषणा करके कहते हैं, कि वीतरागको छोड़कर दूसरा कोई देव, और अनेकांतको छोड़कर दूसरा कोई न्यायमार्ग नहीं है—

इमां समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामनघोषणा भुवे ।

न वीतरागात्परमस्ति दैवत न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिति ॥

अतमें हेमचन्द्र चिनदर्शनके प्रति अपना पक्षपात और चिनेतर दर्शनोंके प्रति द्वेष भावका निराकरण करते हुए अपन समदर्शीयनेकी भावनाको व्यक्त करते हैं, और यथार्थनाद गुणके कारण चिनशासनकी ही महत्ता सिद्ध करते हैं—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपाती न द्वेषमात्रादरुचि परेषु ।

यथानदासत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रमुमाश्रिता स्म ॥

### टीकाकार मल्लिपेण

मल्लिपेण नामके अनेक जैन आचार्य हा गये हैं। हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यञ्जेदिका-के ऊपर स्याद्वादमञ्जरी नामकी टीका लिखनेवाले प्रस्तुत मल्लिपेणमूर्ति इनेनाम्बर विद्वान हैं। मल्लिपेणन अन्ययागव्यञ्छेद द्वात्रिंशिकाकी टीकाक अतिरिक्त अन्य कौनसे प्रयोगी रचना की हैं, ये भारतके कौनसे प्रदेशके रहनेवाले थे, आदि बातोंके सबमें कुछ विशेष पता नहीं लगता। स्याद्वादमञ्जरीके अंतिम दी हुई प्रशस्तिसे केवल इतना ही माद्म होता, है कि नागेंद्रगच्छीय

१ वं नाथूराम प्रेमोजीने अपना विद्वत्कलमाला ( प्रथम भाग ) में मल्लिपेण नामके दो दिग्म्बर विद्वानोंका उल्लेख किया है। एक मल्लिपेण उभयभाषाचरुवर्ती कहे जाते थे, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे। अब तक इनके महापुरुष नागकुमार महाकाव्य, और सखनचितवल्गुम नामके तीन प्रधाका पता लगा है। दूसरे मल्लिपेण 'मलधारिन्' के नामसे प्रसिद्ध थे। ये मल्लिपेण शक संवत् १०५० में पञ्चमहृष्ण तृतीयाके दिन अरण्यवेङ्गुलमें समाधिस्थ हुए थे। प्रवचनमारटीका पंचाम्निनाय टीका, ज्वालनाक्षर्य, पञ्चावतीक्षर्य ब्रह्मपरविधान ब्रह्मविद्या और आदिपुरुष नामक ग्रंथ भी मल्लिपेण आचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रंथ कौनसे मल्लिपेणने रचे थे।

नागेंद्रगच्छगोविन्दवशाऽङ्कारकौस्तुभा ।

ते विश्ववन्द्या नान्यस्यद्वयप्रमसूरय ॥

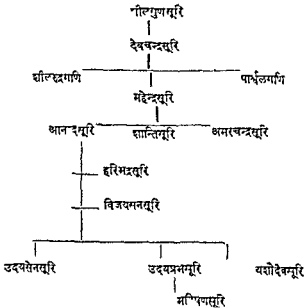
श्रीमल्लिपेणमूर्तिभरकारि तत्त्वदगगनदिनमणिभि ।

वृत्तिरिय मनुर्विमितशास्त्रान् दीपमहसि शनौ ॥

श्रीजिनप्रमसरिणा साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।

श्रुताउत्तमनु मतां वृत्ति स्याद्वादमञ्जरी ॥

३ मोतीलाल साधाजने आर्हन्मनप्रभाकर पुतासे प्रकाशित स्याद्वादमञ्जरीकी प्रस्तावनामें नागेंद्रगच्छक आचार्योंका परम्परा निम्न प्रकारसे दी है।—



उदयप्रभसूरि मछिपेणके गुरु थे, तथा शक सन्त् १२१४ ( ई स १२९३ ) म दीपमालिकाको शनिवारके दिन विनप्रभसूरिकी सहायतासे मछिपेणने स्याद्वादमजरीको समाप्त किया हे ।

मछिपेणसूरि अपने समयके एक प्रतिभाशाली विद्वान् थे । मछिपेण 'याप, व्याकरण ओर साहित्यके प्रकाण्ड पण्डित थे । इन्होंने जैनन्याय और जैनसिद्धान्तके गर्भार अच्यन करनेके साथ न्याय-वैशेषिक, सारय, पूर्वमीमांसा, वदात और बौद्धदर्शनके मोक्षिक प्रयोगका विशाल अच्यन किया था । मछिपेणकी निग्रय-वर्णनकी शैली सुस्पष्ट, प्रसाद गुणसे युक्त और हृदयको स्पर्श करनेवाली हे । 'याप और दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन नियमोंको अत्यन्त सरल और हृदयग्राही भाषामें रखकर पाठकको मुग्ध करनेकी कलामें मछिपेण अत्यन्त कुशल थे । इमीलिये स्याद्वादमजरी-मछिपेणकी एक मात्र उपलब्ध रचना-न्यायका ग्रन्थ कहे जानेकी अपेक्षा 'साहित्यका एक अंश' ( Piece of literature ) कहा जाना हे । यद्यपि रत्नाप्रभसूरिकी स्याद्वादरत्नावतारिका भी साहित्यके दृगपर ही लिखी गई है, परन्तु रत्नावतारिकामें समासोंकी दीर्घता और अर्ध-काठिन्य होनेके कारण उसमें भाषाकी अत्यन्त जटिलता आ गई है<sup>१</sup> । इस लिये एक ओर समतितर्क अष्ट-सहस्री, प्रमेयकर्मलमार्तण्ड आदि जन न्यायके गहन वनमेंसे, और दूसरी ओर स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नावतारिका जैसी निकट और घोर अटनीमेंसे निकलकर स्याद्वादमजरीको निश्राम करनेका सवागसुन्दर आधुनिक पार्क कहा जा सकता है । यहापर प्रत्येक दर्शनके महत्त्वपूर्ण सिद्धांतोंका बहुत सक्षेपमें अत्यन्त सरल, स्पष्ट ओर मनोरञ्जक भाषामें वर्णन किया गया है ।

१ उदयप्रभसूरिने धनाभ्युदयमहाकाव्य आरभसिद्धि, उपदेशभागावर्णितावृत्ति आदि ग्रंथोंकी रचना की हे ।

जिनप्रभसूरिने तीर्थकल्प अजितशान्तिस्तव आदि ग्रन्थ बनाये हे ।

३ उदाहरणसे लिये—इह हि स्व्यमाणाऽश्वोदीयोऽथाशूणाक्षरक्षीरनिरन्तरे, तत इतो हृदयमात्स्याद्वादमहासुता सुदितानि<sup>२</sup> प्रमेयसहस्राणुगतगत्तरगभगिस्त्रगसौभारयमानने अनुत्फलमरभ्राजिणुभूयिष्ठागमाऽभिरामाऽनुत्तरिच्छ-  
दमन्नाहृशाद्वलसप्रकानननिनुषे निरुपममनीयामहायानगायव्यापारपरायणपूर्वप्राप्यमाणाप्राप्तपूर्वत्तविशेषे वचन  
वचनप्रचनानुत्तरगत्तरम्परप्रवालजान्तिरे, वचन सुकुमारकान्ताब्जकनीयास्तोऽन्तकमौक्तिकप्रकररम्भिते  
वचिदेनकान्तवाशोपकल्पितानव्यविकल्पना<sup>३</sup> शोभसितोहामदूषणादिविगन्धमाणानेवतीर्थिकनत्रचप्रचक्राऽ वचिदप  
गलाशोपदोपासुमानाभिधोनोदूरीमानाममानपाटीनपुच्छछटाऽच्छोटनाच्छल्दनुच्छशीकरदलेपसंजायमानमातण्डमण्डल  
प्रचण्डच्छमत्कारे व्रापि तीर्थिकग्रन्थप्रधिसाधसमयवर्धनोपस्थापितायानवस्थितप्रदीपायमानध्वमालज्वल मणिपणी  
न्द्रभाषणे सहृदयमेद्धान्तिकनार्थिकवैयाकरणरविचक्रचक्रवर्तिमुविहितपुष्टहीतनामधेयाम्मद्गुरुश्रीदवसूरिभिविरचिते  
स्याद्वादरत्नावरे । स्याद्वादरत्नावतारिका पृ ३ ।

उपाध्याय यशोविजयजाने स्याद्वादमजरीके ऊपर स्याद्वादमजरी नामकी वृत्ति लिखी है ।  
स्याद्वादमजरीका उल्लेख भाष्यकार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें किया है ।

मल्लिषेण हरिभद्रमुरिकी कोटिके सरउ प्रवृत्तिके उदार ओर मध्यस्थ विद्वान थे । सिद्धमेन आदि जैन विद्वानोंकी तरह मल्लिषेण भी ' सम्पूर्ण जनेतर दर्शनोंके समूहको जैनदर्शन ' कहकर ' अग्रजन्वाय ' का उपयोग करते हैं । अन्य दर्शनोंके विद्वानोंको पशु, वृषभ आदि असभ्य शब्दोंसे न कहकर वेदान्तियोंको सम्यग्दृष्टि, व्यामको रूपि, कपिलको परमर्षि, उदयनको प्रामाणिकप्रकाण्ड रूपसे उल्लेख करना, तथा श्वेताम्बर होते हुए भी ममतभद्र, निवानन्द आदि दिगम्बर विद्वानोंके नि सक्तोच भाससे उद्धरण देना मल्लिषेणकी धार्मिक सहिष्णुताके साथ उनके समदर्शानेकी भावनाको स्पष्ट रूपसे प्रमाणित करता है । स्याद्वादमजरीमें सर्वज्ञमिदिकी चर्चाने प्रसंगपर भी मल्लिषेण क्षामुक्ति और केवलभुक्ति जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके विवादस्थ प्रश्नोंके विषयमें मौन रहते हैं, इससे भी प्रतीत होता है, कि अन्य दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंकी तरह मल्लिषेणको साम्प्रदायिक चर्चाओंमें कोई भी रस नहीं था । अनेक वृत्तोंसे पुष्पोंको चुनने समान अनेक दर्शन सन्धी शास्त्रामे प्रमेयोंको चुन चुनकर निस्स्पन्देह मल्लिषेणमूरिने ' अदृष्टिमज्जमति ' जाली स्याद्वादमजरी नामकी माला गूथकर जैनदर्शनके साहित्यको सूत्र ही अलङ्कृत बनाया है ।

## स्याद्वादमजरीका विहंगावलोकन

### श्लोक १-३

ये श्लोक भगवानकी स्तुतिर्ष्य हैं । इन श्लोकमें चार अतिशयों सहित भगवानके यथार्थनात्का प्ररूपण करते हुए भगवानके शासनकी सर्वोत्कृष्टता उताई गई है ।

१ माहलाल हुलीचद देसाइने अपने ' जैनसाहित्यना इतिहास ' नामक पुस्तकके ६४५ शृणपर उपाध्याय यशोविजयकी उपरन्ध्य भाष्यकृत वृत्तियाम इत वृत्तिरा उख विद्या है ।

२ यदबोचदाचाय स्याद्वादमजरीम्-

अनवान्तात्मर्क वस्तु गोचर सबसविदाम् ।

एकदेशविशिष्टोऽथ नयस्य विषयो मन ॥

न्यायानामेकनिगना प्रवृत्तौ ध्रुवत्वमनि ।

सम्पूणार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु ध्रुतमुच्यते ॥

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षमावाद्

यथा परे मन्मरिण प्रवादा ।

नयानदोषानविशेषमिच्छन्

न पक्षपाती समयस्तथाहत् ॥ सबदर्शनसंग्रह-आहतदर्शन ।

उक्त तीन श्लोकमें पहलेके दो श्लोक सिद्धमेनके न्यायावतारके, और अन्तिम श्लोक हेमनन्तकी अन्ययागव्यञ्जेदिकाका है । मालूम नहीं य श्लोक स्याद्वादमजरीके कतके नामसे कैय उद्धृत किये गये हैं ।

## श्लोक ४-१०

इन छह श्लोकोंमें न्याय-वैशेषिकोंके निम्न सिद्धान्तपर विचार किया गया है—

- ( १ ) सामाय और विशय भिन्न पदार्थ नहीं हैं ।
- ( २ ) यस्तुक्तो एकान्त नित्य अथवा एकात-अनिय मानना न्यायमगत नहीं है ।
- ( ३ ) एक, सर्वन्यायी, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और निय ईश्वर जगतका कर्ता नहीं हो सकता ।
- ( ४ ) धर्म-धर्मोंमें समवाय सत्य नहीं बन सकता । \*
- ( ५ ) सत्ता ( सामाय ) भिन्न पदार्थ नहीं है ।
- ( ६ ) ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है ।
- ( ७ ) आत्माने बुद्धि आदि गुणोंके नाश होनेका मोक्ष नहीं कह सकते ।
- ( ८ ) आत्मा सर्वन्यायक नहीं हो सकती ।
- ( ९ ) उल्ल, जाति, निग्रहस्थान आदि तत्त्व मोक्षके कारण नहीं हो सकते ।

तथा—

( क ) तम ( अहंकार ) अमानस्य नहीं है, वन्कि यह आकाशकी तरह स्वतंत्र द्रव्य है, और यह पौट्टलिक है ।

( ख ) ' अप्रच्युत, अनुपन्न और सत्स्थिरत्व ' नित्यता लक्षण मानना ठीक नहीं । ' पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना ' ही नित्यता लक्षण ठीक हो सकता है ।

( ग ) किरणें गुणरूप नहीं हैं, उन्हें तेजस पुद्गलरूप मानना चाहिये ।

( घ ) नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदिके लक्षण दोष पूर्ण हैं ।

इनके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

( अ ) जैनदृष्टिसे आकाश आदिम नित्यानित्यत्व,

( ब ) पतञ्जलि, प्रशास्तकार और बौद्धोंके अनुसार वस्तुओंका नित्यानित्यत्व,

( स ) अनित्यकान्तनादी बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण,

( ड ) वैदिक संहिता, स्मृति आदिके वाक्योंमें पूर्वापरविरोध, तथा

( इ ) केरलिसमुद्रात अत्रन्थामे जैनसिद्धातके अनुसार आम-न्यायकताकी सगतिका प्ररूपण किया गया है ।

## श्लोक ११-१२

इन श्लोकोंमें पूर्वमीमांसकोंके निम्न सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

( १ ) वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धमका कारण नहीं हो सकती ।

( २ ) श्राद्ध करनेसे पितरोंकी वृत्ति नहीं हाती ।

( ३ ) अपौरुषेय वेदको प्रमाण नहीं मान सकते ।

( ४ ) ज्ञानको स्वपरप्रकाशक न माननेसे अनेक दूषण आने हैं, इस लिये ज्ञानको स्व और परका प्रकाशक मानना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

( क ) तिन मंदिरके निर्माण करनेका विधान,

( ग ) माण्य, वेदात्ता और व्याम ऋषिका याज्ञिक हिंसाका निरोध, तथा

( ग ) ज्ञानका अनुव्यवसायगम्य माननेवाले न्यायवेदोपनिषदोंका खंडन किया गया है ।

### श्लोक १३

इस श्लोकमें ब्रह्माद्वैतमतियोंके भायानात्का खंडन किया गया है । ईहापर प्रत्यक्ष प्रमाणको विधि और निषेध दोनों रूप प्रतिपादन किया है ।

### श्लोक १४

इस श्लोकमें एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष वाच्य—वाचक भावका खंडन करते हुए कथचित् सामान्य और कथचित् विशेष वाच्य—वाचक भावका समर्थन किया गया है । इस श्लोकमें निम्न महत्वपूर्ण विषय आये हैं—

( १ ) केवल द्रव्यास्तिकनय अथवा सप्रह्वनयको माननेवाले अद्वैतवादी, साध्य आर मीमांसकोंका सामान्यकात्तवाद मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

( २ ) केवल पर्यायास्तिरुनयको माननेवाले शब्दोंका विशेषकात्तवाद ठीक नहीं है ।

( ३ ) कस्य नैगमनयको स्वीकार करनेवाले न्याय—वैशेषिकोंका स्वतंत्र और परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेषवाद मानना ठीक नहीं है ।

तथा—

( क ) गन्ध आकाशका गुण नहीं है, यह पौंड्रटिक है, आर सामान्य-विशेष दोनों रूप है ।

( ग ) आमा भी कथचित् पौंड्रटिक है ।

( ग ) अपोह, सामान्य अथवा विधिका शब्दार्थ नहीं मान सकते ।

### श्लोक १५

इस श्लोकमें साध्योंकी निम्न भायताओंकी समीक्षा की गई है—

( १ ) चित्शक्ति ( पुरुष ) को ज्ञानमें शून्य मानना परस्पर विरुद्ध है ।

( २ ) बुद्धि ( महत् ) का जब मानना ठीक नहीं है । अहकारको भी आमाका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं ।

( ३ ) मन्कार्यवाद माननेवाले साध्य लोगोंका आकाश आदिका पांच तमाशाओंसे उत्पत्ति मानना असंगत है ।

( ४ ) यम पुण्यके ही मानना चाहिये, प्रवृत्तिके नहा ।





( २ ) आमा धर्माभिकाय, अमर्माभिकाय, आदि सम्पूर्ण द्रव्यांमे नाना अपेक्षाओंसे नाना ऋम रहते हैं, अतएव प्रत्येक वस्तुको अनतमर्माभिक मानना चाहिये । जो वस्तु अनतधर्माभिक नहा होती, वह वस्तु सत् भी नहीं होती ।

( ३ ) प्रमाणशास्त्र और नयशास्त्रसे वस्तुमें अनत धर्मोंकी सिद्धि होती है । प्रमाणशास्त्रको मरुलादेश और नयशास्त्रको विक्रान्देश कहते हैं । पदार्थके धर्मोंका काल, आत्मरूप, अर्थ, सत्त्व, उपकार गुणित्वा, समर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेदरूप कथन करना मरुलादेश, तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेद विवक्षामे पदार्थोंके धर्मोंका प्रतिपादन करना विक्रान्देश है । स्यात्प्रति, स्यान्नास्ति, स्यात्प्रकृत्य, स्यादग्निअप्रकृत्य, स्यात्वास्ति-अप्रकृत्य, और स्यात्प्रतिनास्तिअप्रकृत्यके भेदस सकलादश और विक्रान्देश प्रमाणसत्त्वभगी और नयसत्त्वभगीके सात सात भेदोंमें विभक्त हैं ।

( ४ ) स्याद्वादियोग्य मतम स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तुम अस्तित्व है, और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व है । तिस अपेक्षासे वस्तुम अस्तित्व है, उमी अपेक्षामे वस्तुमें नास्तित्व नहीं है । अतएव सत्त्वभगी नयम विरोध, प्रयत्निकरण्य, अनन्यथा, सत्त्व, व्यतिकार, मशय, अप्रतिपत्ति आर अभाव नामक दोष नहीं आ सकते ।

( ५ ) द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा वस्तु निय, सामान्य, अत्राय्य, और सत् है, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् है । अतएव नित्यानित्यवाद, सामास्यविरोधवाद, अभिलाष्यानभिधाय्यत्वात् तथा सदसद्वाद इन चारों वादोंका स्याद्वात्तमें समावेश होनाता है ।

( ६ ) नयरूप समस्त प्रकारवादोंका समन्वय करनेवाला स्याद्वादका सिद्धांत ही सर्वमान्य हो सकता है ।

( ७ ) भावाभाव, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकांतवादोंमें सुषुप्तुषु, पुण्य-पाप, बंध मोक्ष आदिकी व्यन्यथा नहीं जनती ।

( ८ ) वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे एक समयमें किमी एक धर्मकी अपेक्षा लेकर वस्तुके प्रतिपादन करनेको नय कहते हैं । इम लिय जितने तरहके यजन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं । नयके एकमें लेकर सत्यात भेद तक हो सकते हैं । सामान्यसे नैगम, सग्रह, व्यन्यहार, ऋतुमूत्र, शत्रु, ममभिरुद्ध आर एतभूत ये सात भेद किये जाते हैं । पायवेदीयिक कोण्ड नगमनयके, अद्वैतवादी आर साध्य क्षेत्रल सग्रहनयके, चाराकडोग काल व्यन्यहारनयके, बौद्ध लोका क्षेत्रल ऋतुमूत्रनयके, और वेद्याकरण कोण्ड शब्दनयक माननेवाटे हैं । प्रमाण

( ५ ) वाक्, पाणि आदिको पृथक् इन्द्रिय नहीं कह सकते, इस लिये पाच ही इन्द्रिया माननी चाहिये ।

( ६ ) केवल ज्ञान मात्रमें मोक्ष नहीं हो सकता ।

### श्लोक १६-१९

इन श्लोकाम बौद्धोंके निम्न मुख्य सिद्धातापर विचार किया गया है—

( १ ) प्रमाण और प्रमाणके फलको संध्या अभिन्न न मानकर कश्चित् भिन्नाभिन्न मानना चाहिये ।

( २ ) सम्पूर्ण पदार्थोंको एकांत रूपसे क्षणभंगी न मानकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित स्वीकार करना चाहिये ।

( ३ ) पदार्थिक ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारतानो कारण न मानकर क्षयोपशम रूप योग्यतानो ही कारण मानना चाहिये ।

( ४ ) विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञानाद्वैत मानना ठीक नहीं है ।

( ५ ) प्रमाता, प्रमेय आदि प्रत्यय आदि प्रमाणोंमें सिद्ध होते हैं, इस लिये माध्यामिक बौद्धोंका शून्यवाद युक्तिमगत नहीं है ।

( ६ ) बौद्धोंके क्षणभंगवादमें अनेक दोष आने हैं, इस लिये क्षणभंगवादका सिद्धांत दोष पूर्ण है ।

( ७ ) क्षणभंगवादकी सिद्धिके लिये नाना क्षणोंकी परस्पररूप वासना अध्यासतानको मानना भी ठीक नहीं बनता ।

तथा—

( क ) नैयायिकोंके प्रमाण और प्रमितिम एकांत भेद नहीं बन सकता ।

( ख ) आमाकी सिद्धि ।

( ग ) सर्जनी सिद्धि ।

### श्लोक २०

इस श्लोकम चात्राक माके सिद्धाताका स्पष्टन किया गया है ।

### श्लोक २०-२९

इन श्लोकोंमें स्वपक्षका समर्थन करते हुए स्याद्वादकी सिद्धि की गई है । इन श्लोकोंमें निम्न सिद्धातोंका प्रतिपादन किया गया है—

( १ ) प्रत्यक नस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें युक्त है । द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुमें ध्रौव्य और पयायकी अपेक्षा सदा उत्पाद और व्यय होता रहता है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष हैं ।

( २ ) आत्मा र्मास्तिनाय, अर्मास्तिनाय, आदि सम्पूर्ण द्रव्योंमें नाना अपेक्षाओंसे नाना धर्म रहते हैं, अतएव प्रत्येक वस्तुको अनतधमालम्बक मानना चाहिये । जो वस्तु अनतधमालम्बक नहीं होता, वह वस्तु सत् भी नहीं होती ।

( ३ ) प्रमाणवाक्य और नयवाक्यसे वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी सिद्धि होती है । प्रमाणवाक्यको मरुजदेश और नयवाक्यको त्रिकशदेश कहते हैं । पदार्थके धर्मोंका काल, आमरूप, अर्थ, समय, उपकार गुणित्वादेश, समर्ग आर शब्दकी अपेक्षा अभेदरूप कथन करना मरुजदेश, तथा काठ, आमरूप आदिकी भेद विरक्षामे पदार्थोंके धर्मोंका प्रतिपादन करना त्रिकशदेश है । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादनुक्त्य, स्यात्स्तिअनुक्त्य, स्यान्नास्तिअनुक्त्य, और स्यात्स्तिनास्तिअनुक्त्यक भेदसे मरुजदेश आर त्रिकशदेश प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगीके सात भात भेदोंमें विभक्त है ।

( ४ ) स्याद्वादियोंके मनमें स्व द्रव्य, क्षत्र, काठ और भासकी अपेक्षा वस्तुमें अस्तित्व है, और पर द्रव्य, क्षत्र, काठ आर भासकी अपेक्षा नास्तित्व है । जिम अपेक्षासे वस्तुमें अभित्व है, उसी अपेक्षामे वस्तुमें नास्तित्व नहा है । अतएव सप्तभगी नयम विरोध, वयविकरण्य, अननस्था, सकार, व्यतिकार, सशय, अप्रतिपत्ति और अभास नामक दोष नहीं आ सकते ।

( ५ ) द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा वस्तु निय, सामान्य, अनाद्य, और सत् है, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य आर अमत् है । अतएव नित्यानियवाद, सामान्यविशेषवाद, अभिलाषानभिलाष्यवात् तथा सदसद्वाद इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश होगाता है ।

( ६ ) नयरूप समस्त एकातनादोंका मन्वय करनेवाला स्याद्वादका सिद्धांत ही मर्ममाय हो सकता है ।

( ७ ) भासामात्र, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकातनाम सुप्तदुख, पुण्यनाप, व्ययमोक्ष आदिकी व्यग्रम्या नहीं जनती ।

( ८ ) वस्तुके अनन्त धर्मोंसे एक समय किमी एक धर्मकी अपेक्षा लेकर वस्तुके प्रतिपादन करनेको नय कहते हैं । इम ठिये नितने तरहके नचन हाते हैं, उतने ही नय हो सकत हैं । नयके एकमे लेकर सग्यात भेद तरु हो सकते हैं । सामान्यमे नैगम, सप्रह, व्यनहाण, ऋजुमूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवभूत ये सात भेद किये जाने हैं । न्यायवेदेतिहक केरु नैगमनयके, अद्वैतवादी और साण्य केरु सप्रहनयके, चामाकलोग केरु व्यनहारनयके, बौद्ध लोग केरु ऋजुमूत्रनयके, और त्रैयाकरण केरु शब्दनयके माननेवाते हैं । प्रमाण

सम्पूर्ण नयरूप हाता है। नयनार्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बालनकी प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षक भेदस प्रमाणके दो भेद होते हैं।

( ९ ) जितने जीव व्यवहार राशिस मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि निगोदका अव्यवहार राशिसे निकलकर व्यवहार राशिम आ जाते हैं, और यह अव्यवहार राशि आदि रहित हैं, इस लिये जीवोंके सतत मोक्ष जाते रहनेपर भी यह ससार जीवोंसे कभी ग्राही नहीं हो सकता।

( १० ) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिम जीवोंकी सिद्धि।

( ११ ) प्रत्येक दर्शन नयनादमें गर्भित हाता है। जिस समय नयरूप दर्शन परम्पर निरपेक्ष भावसे प्रस्तुतका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये दर्शन परतमय कहे जाते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण नदिया एक समुद्रमे जाकर मिलता है, उसी तरह अनेकाने दर्शनमें सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंका समन्वय होता है इस लिये जैनदर्शन स्वममय है।

### श्लोक ३०-३२

इन श्लोकोंम महावीर भगवानकी स्तुतिका उपमहार करते हुए अनकानवादस ही जगतका उद्धार हानेकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है।

## जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान

एकेनारुर्णन्ती श्लथयन्ती वस्तुत्वमितरेण ।

अतेन जयति जनी नातिर्मथानमिव गोपी ॥ ( अमृतचन्द्र )

स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका रहस्य—विज्ञानने इस बातको भत्र प्रकार सिद्ध कर दिया है, कि जिस पदार्थको हम नित्य और ठोम समझते हैं, वह पदार्थ बड़े वेगसे गति कर रहा है, जो हम काले, पीले, लाल आदि रंग दिखाई पड़ते हैं, वे सत्र सपेद रंगके रूपान्तर हैं, जो मूर्य हमें ठोटासा और त्रिलकुल पाम दिखाई देता है, वह पृथिवी मडलस सादे वारह लाख गुना बड़ा ओर यहाँसे ना करोड तीस लाख मीलकी ऊँचाईपर है। इससे महत् ही अनुमान किया जा सकता है, कि तत्र हम अनन्त समय बीत जानेपर भी त्रभाण्डकी ठोटीसे ठोटी वस्तुओंका भी यथा-ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके, तो जिनका हम त्रार्शनिक भाषामें पूर्णसत्य (Absolute) कहते हैं, उसका साक्षात्कार करना कितना दुष्कर होना चाहिये। भारतके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने तत्त्वज्ञान सवरी-इम रहस्यका ठीक ठीक अनुभव किया था। इसी-लिये जत्र कभी आत्मा, परब्रह्म, पूर्णसत्य आदिके त्रिययमें पूर्णकालकी त्रिपरिपदोंमें त्रिप्रनोंकी चर्चा उठती थी, तो 'नैवा तर्केण मतिरापनेया ( कठ ), नायमात्मा त्रिप्रचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ( मुण्डक ), सत्ये सत्रा नियदृति तत्रा तथ न त्रिज्ञइ ( आचाराग ), त्रिपरमार्था हि आर्याणा त्रिपूर्णभात्र ( चन्द्रकीर्ति )—वह केतत्र अनुभवगम्य है, वह वाणा और मनके अगोचर है, वहाँ जिह्वा रक जाती है, और तर्क काम नहीं करती, वास्तवमें त्रिपूर्णभात्र ही त्रिपरमार्थ सत्य है, आदि वाक्योंसे इन शकाओंका समाधान किया जाता था। इसका मतलब यह नहीं, कि भारतीय ऋषि-अज्ञानवादी थे, अधवा उनको पूर्णसत्यका यथार्थ ज्ञान नहीं था। किन्तु इम प्रकारके समाधान करनेसे उनका यही अभिप्राय था, कि पूर्णसत्य तत्र पढ़ुँचना तत्र त्रिपरारकी धार पर चलनेके समान है, अतएव इसका त्रिप्रामिने लिये अधिकसे अधिक सागनाकी आवश्यकता है। वास्तवमें जितना त्रिचितना हम पदार्थोंका त्रिनिचार करते हैं, उतने ही पदार्थ त्रिशौर्यमाण दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि सुकराणके शब्दोंमें, हम त्रिचितना जितना शार्योंका अत्रलोकन करते हैं, हमें उतना ही अपनी त्रिपूर्वताका अत्रिकात्रिक आमास होता है।

जैनदर्शनका स्याद्वाद भी इसी तत्रत्तका समर्पन करता है। जेन दार्शनिकोंका सिद्धांत है, कि मनुष्यकी शक्ति बहुत अल्प है, और बुद्धि बहुत त्रिपरिमित है। इम लिये हम अपनी लक्ष्मस्थ दशामें त्रिहवासों-खासा त्रिप्रयत्न करनेपर भी त्रिह्लाण्डके अत्रतय पदार्थोंका ज्ञान करनेम असमथ रहते हैं। हम त्रिज्ञानको ही लेते हैं। त्रिज्ञान अनन्त समयसे त्रिनिधिरूपमें त्रिप्रकृतिका अभ्यास करनेमें त्रिउठा है, त्रिपरन्तु हम अभी तक त्रिप्रकृतिके एक अत्र मात्रको भी त्रिपूर्णतया नहीं जान

१ पाश्चिमात्य विचारक ब्रेडल (Bradley), बर्गसन (Bergson) आदि विद्वानने भी सत्यको बुद्धि और तर्कके बाध रहकर उसे Experience आर Intuition का त्रिप्रिय बताया है।

सके। दर्शनशास्त्रकी भी यही दशा है। सृष्टिके आरम्भमे आज तक अनेक ऋषि-महर्षियोंन तत्त्वज्ञान सम्यगी अनेक प्रकारके नये नये विचारोंकी गोन की, परन्तु हमारी दार्शनिक गुथिया आज भी पहल्की तरह उलझी पड़ी हुई हैं। म्यादाद यही प्रतिपादन करता है, कि हमारा ज्ञान पूर्णसय नहीं कहा जा सकता, वह पन्थोंकी अमुक अपेक्षाको केकर ही होता है, इस लिये हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है। प्रत्येक पदार्थन अनन्त र्म हैं। इन अनन्त धर्मोंस हम एक समयमें कुछ धर्मोंका ही ज्ञान कर सकते हैं, आर दूसरोंकी भी कुछ धर्मोंका ही प्रतिपादन कर सकत हैं। जन तत्त्ववेत्ताओंका कर्न ह, कि निस प्रकार कई अपे मनुष्य किसी हाथके भिन्न भिन्न अयनोंको हाथसे टटालकर हाथके उन भिन्न भिन्न अयनोंका ही पूर्ण हाथी समझकर परस्पर लड़ते हैं, ठीक इसी प्रकार सत्तारका प्रयेक दार्शनिक सयके केवल अशमात्रको ही जानता है, ओर सयके इस अशमात्रको सम्पूर्ण सय समझकर परस्पर निराद और नितण्डा खड़ा करता ह। सचमुच यदि सत्तारके दार्शनिक अपने एकात आपहको छोड़कर अनेकात अथवा स्यादाददृष्टिमे काम लेने लगे, तो हमारे जीवनके बहुतस प्रश्न सहजमे ही हल हो सकते हैं। वास्तवमे सत्य एक है, केवल सत्यकी प्राप्तिके माग जुटा जुटा है। अन्य शक्तिगले उद्यस्थ जीन इस सयका पूर्ण रूपसे ज्ञान करनेमें असमर्थ हैं, इस लिये उनका सम्पूर्ण ज्ञान आपेक्षिक सय ही कहा जाता है। यही जैन दर्शनकी अनेकात दृष्टिका गूढ़ रहस्य है।

यहाँ एक शका हो सकती ह, कि इस सिद्धातके अनुमार हमें केवल आपेक्षिक अथवा अप्रसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्यादादसे हम पूण सय नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमे कहा जा सकता ह, कि स्यादाद हमे अर्ध-सत्योंके पास ले जाकर पटक देता है, और इहीं अर्धमयोंका पूर्ण सय मान लेनेकी हमें प्रेरणा करता ह। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्धमयोंको मित्राकर एक साथ रख देनेसे वह पूणसत्य नहीं कहा जा सकता। तथा किसी न किसी रूपमे पूण सत्यको माने बिना कोई भी दशन पूण कहे जानका अधिकारी नहीं ह। इस भावको भारतके प्रसिद्ध विचारक विद्वान् प्रा रामानुजन्ने निम्न प्रकारसे उपस्थित किया है—

The theory of Relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute. The Jains admit that things are one in their universal aspect ( Jati or Karana ) and many in their particular aspect ( Vyakti or Karya ) Both these, according to them, are partial points of view. A plurality of reals is admittedly a relative truth. We must rise to the complete point of view and look at the whole with all the wealth of its attitudes. If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of

the world, connected with one another, vitally, essentially and immanently, it throws overboard its own logic and exalts a relative truth into an absolute one'

इस शक्तिका समामान बहुत स्पष्ट है, और वह यह है, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कि स्याद्वाद पदार्थोंके जाननेकी एक दृष्टि मात्र है। स्याद्वाद स्वयं अंतिम सत्य नहीं है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचानेके त्रियेकेवल मार्गदर्शकका काम करता है। स्याद्वादमें केवल व्यवहार मयके जाननेमें उपस्थित होनेवाले विरोधोंका ही समयय किया जा सकता है, इसीलिये जैन दर्शनकारोंने स्याद्वादको व्यवहार सत्य माना है। व्यवहार सत्यके आगे भी जैनमिद्वातमें निरपेक्ष सत्य माना गया है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दोंमें केवलज्ञानक नामसे कहा जाता है। स्याद्वादमें सम्पूर्ण पदार्थोंका क्रम क्रमसे ज्ञान होता है, परंतु केवलज्ञान सत्यप्राप्तिकी वह उत्कृष्ट दशा है, जिसे सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोंका एक साथ ज्ञान होता है। स्याद्वाद परो ज्ञान श्रुतज्ञानमें गर्भित होता है, इस त्रिये स्याद्वादमें केवल त्रियेजन्म पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, किंतु केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, इस लिये केवलज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। अतएव स्याद्वाद हमें

१ इन्डियन क्विंसेन्टी पि १ पृ ३०५६। इसा प्रकार विचार इन्डियन क्विंसेन्टीन का प्रश्नके विषय आधेयानके समय Jain Instrumental theory of knowledge नामक लेखमें सभवतः हनुमतराव एस ए ने प्रकाश किया है। लेखका कुछ अंश निम्न प्रकारमें है—

Its great defect lies in the fact that it (the doctrine of Syadvāda) yields to the temptation of an easy compromise without overcoming the contradictions inherent in the opposed standpoints in a higher synthesis.

It takes care to show that the truths of science and of every day experience are relative and one-sided but it leaves us in the end with the view that truth is a sum of relative truths. A mere putting together of half truths definite-indefinite cannot give us the whole truth.

२ स्याद्वादसे ही जैकेवल्यकार चतुःशक्तता है, इस बातका मिद्सेन दिवाकरने निम्न गायाम व्यक्त किया है—

अथ विष्णो लोकास्सत्त्वि विबह्वारो सत्त्वज्ञान निवृत्तः ।

तस्मिन् भुवनेऽङ्गुलुणा जनी जगोपतवायम् ॥

३ समतभेदने आसमीमाद्यम स्याद्वाद और केवलज्ञानक भेदको स्पष्ट रूपमें निम्न श्लोकान् प्रतिपादन किया है—

स्त्वज्ञान प्रमाण त युगपन्मवभासत ।

कमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादतयममृत ॥ १०१ ॥

उपक्षालमाद्यस्य शेषस्यादानज्ञानधी ।

पूर्वे वाऽऽननागो वा सर्वस्यास्य गोचर ॥ १०२ ॥

स्याद्वादवैलक्षण्ये सवतत्त्वप्रकाशने ।

भेद सास्यादसायाच ह्यवम्वन्यतम भवेत् ॥ १०५ ॥

तथा देखा अष्टमहर्षी पृ २७५-२८८



केवल जैसे-तैसे अर्धसयाक्तो ही पूर्णसत्य मान लनेके लिये वाच्य नहीं करता । किंतु वह सयका दान करनेके लिये अनेक मार्गोंको मान करता है । स्याद्वादका इतना ही कहना है, कि मनुष्यकी शक्ति बहुत सीमित है, इस लिये वह आपेक्षिक सत्यको ही जान सकता है । पहले हमें व्यावहारिक विरोधोंका समन्वय करके आपेक्षिक सत्यको प्राप्त करना चाहिये । आपेक्षिक सत्यके जाननेके बाद हम पूणसत्य—केवलज्ञान—का साक्षात्कार करनेके अधिकारी हैं ।

**स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि**—अहिंसा और अनेकात्म के जैनमक दो मूल सिद्धांत हैं । महावीर भगवानने इन्हीं दो मूल सिद्धान्तोंपर अधिक भार दिया था । महावीर शारीरिक अहिंसाके पालन करनेके साथ मानसिक अहिंसा ( intellectual toleration ) के ऊपर भी उतना ही जोर देते हैं । महावीरका कहना था, कि उपशम वृत्तिसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्षका साधन है । भगवानका उपदेश था, कि प्रत्येक महान् पुरुष भिन्न भिन्न द्रव्य, भेद, काल और भावके अनुसार ही सयकी प्राप्ति करता है । इस लिये प्रत्येक दर्शनके सिद्धांत किसी अपेक्षामें सय हैं । हमारा कर्तव्य यही है, कि हम व्यर्थके मत-विवादमें न पडकर अहिंसा और शांतिमय जीवन यापन कर । हम प्रत्येक सत्यको प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं, और साथ ही इस सत्यके नित्यमत्ता भी अनुभव करते हैं, अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षामें नित्य और सत्य, और किसी अपेक्षामें अनित्य और असत्य, आदि अनेक धर्मोंसे युक्त है । अनेकात्मवाद समर्था इस प्रकारके विचार प्राय प्राचीन आगम ग्रंथोंमें देवनेमें आते हैं । एक समय गौतम गणपर महावीर भगवानसे पूछते हैं ' कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप ? ' भगवान उत्तर देते हैं, ' कि आत्मा नियमसे ज्ञान स्वरूप है । क्योंकि ज्ञानके बिना आत्माकी वृत्ति नहीं देखी जाती । परंतु आत्मा ज्ञान रूप भा है और अज्ञान रूप भी है' । नाट्यमकथा

१ सवनयाना निनप्रवचनस्वैव निवधनत्वात् । किमस्य निग्रधनमिति चेत् । उच्यते । निवधन चास्य ' आया भन्त नाणे अन्नाण इति स्वामी गौतमस्वामिना पृष्टो ध्यात्सति गोदमा णाण गियमा ' अतो ज्ञान नियमादात्मनि । ज्ञानस्यान्यथ्यतिरेकेण वृत्त्वदानात् । नवधक लिखित ।

( नैतसाहित्यमशोधक १-४ पृ १४६ )

२ सुया, एगे वि अह दुवे वि अह तव अणेगभूयभावभविण वि अह ।

स केणणे भत, एग वि अह जार ।

सुया दव्वणए एग अह, नाणदत्तणए दुवे वि अह एए ए अत्तरए वि अह अव्वण वि अह अत्तरिण वि अह उवआणए अणेगभूयभावभविण वि अह । ज्ञानमकथा ५-४६ पृ १०७ ।

उ यशोविजयजाने एसी भावको निम्न रूपन यए किया है—

यथाह समिउप्रभ निन स्याद्वादसिद्धये ।

इत्याथादहमकाऽस्मि एगानाथादुभावपि ॥

अत्रवशाव्यवयवास्मि प्रदशाथविचारत ।

अनेकभूतभावन्ता पयथाथपप्रिहान् ॥ अथाससार ।

और भगवैता आगमोंमें भी एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा एक, ज्ञान आर दर्शनकी अपेक्षा अनेक, किमी अपेक्षासे अस्ति, किमीने नास्ति, ओर किमी अपेक्षासे अयत्तव्य कहा गया है। प्राचीन आगमोंमें स्याद्वादके सात भगोंका कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यहा त्रिपती ( उत्पाद, व्यय, ध्रोत्र्य ) सिय अधि, सिय णरि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि स्याद्वादके सूचक शब्दोंका अनेक स्थानोंपर उल्लेख पाया जाता है। आगम ग्रंथोंके ऊपर ईसाके पूर्व चौथी शताब्दिमें भद्रनाहुकी दस निर्युक्तियोंमें भी इन्हीं विचारोंको विशेष रूपसे प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् ईसवी सन् प्रथम शताब्दिके आचार्य उमास्वामिके तत्त्वार्थाभिगममसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यमें अनेकातत्राकी और विशेषकर नयनादकी चर्चा विस्तृत रूपमें पायी जाती है। यहा अर्पित, अनार्पित, नयाक भेद और उपभेदाका उगण विस्तारसे किया गया है। परन्तु यहा तक हम स्याद्वादके सात भगोंके नामाका उल्लेख नहीं मिलता।

इन सात भगोंका नाम सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्दके पचासितकाय आर प्रवचनसारमें दिखाई पड़ता है। यहा सात भगोंके केवल नाम एक गात्रम गिना दिधे गये हैं। जान पड़ता है, कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धांतोंपर होनेवाले प्रनिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे सतर्क हो गये थे, और इसीलिये बोद्धोंके शून्यवादकी तरह जैन श्रमण अनेकातत्राको सप्तभगीका तार्किकरूप देकर जैन सिद्धांतकी रक्षाके लिये प्रवृत्तिशील होने लगे थे। इसके पूर्व सप्तभगी नयना अत्रा अत्रिकमें अत्रिक स्थान्ति, स्थान्ति, स्याद्व्यक्त्य इन तीन मूल भगोंके रूपमें ही पाया जाता है। स्याद्वादको प्रस्तुत करने वाले जैन आचार्योंमें ईसवी सन्की चौथी शताब्दिके विद्वान् सिद्धसेन दिगम्बर और समतभद्रका नाम सबसे महत्वपूर्ण है। ये दोनों अपूर्व प्रतिभाशाली उच्चकोटिके दार्शनिक विद्वान् थे। इन विद्वानोंने जैन तर्कशास्त्रपर नमतितर्क, व्यायामतार, युक्तानुशासन, आभमीमासा आदि स्वतंत्र ग्रंथोंकी रचना की। सिद्धसेन आर समतभद्रने अनेक प्रकारके दृष्टांतोंसे आर नयोंके सापेक्ष आर निरपेक्ष उगणसे स्याद्वादका अभूतपूर्व ढंगसे प्रतिपादन किया, तथा जनेतर सम्पूर्ण दृष्टियोंको अनेकातदृष्टिके अशमात्र उताकर मिध्यात्तर्कोंके सम्-

१ आया भत रयणपभा पुन्वा अशा रयणपभा पुन्वी ?

गायमा रयणपभा सिय आया सिय नो आया,

सिय अबलव्य आया त्रिय नो आया त्रिय ।

भगवता १२-१० पृ ५९२ ।

२ उदधाविव सर्वाधिव समुदीगस्तत्रि नाथ दृश्य ।

न च तामु भवान् प्रणयने प्रविभक्तानु सरिन्विबोधाय ॥

द्वा द्वान्निर्वा ४-१५ ।

हको जैनदर्शन प्रताते हुए अपनी सनसमन्वयामर उदार भावनाका परिचय दिया। इनके बाद ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दिमें मल्लनादि और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके ज्ञेताम्बर विद्वानोंका प्रादुर्भाव हुआ। मल्लनादि अपने समयके महान तार्किक विद्वान समझ जाते थे। इन्होंने अनेकान्तनाका प्रतिपादन करनेके लिये नयचक्र आदि ग्रंथोंकी रचना की। जिनभद्रगणि ज्ञेताम्बर आगमाके मर्मज्ञ पण्डित थे, इन्होंने विशेषाध्यकभाष्य आदि शास्त्रोंकी रचना की। जिनभद्रने प्राय सिद्धसे दिवाकरकी शैलीका ही अनुसरण किया। इन विद्वानोंके पश्चात् ईसाकी आठवीं-नौवीं शताब्दिमें अकल आर हरिभद्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन विद्वानोंने स्याद्वादका नाना प्रकारसे ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिमृम्भ विवेचन करके स्याद्वादको सागोपाम परिपूर्ण बनाया। इन समय प्रतिपक्षी लोग अनेकान्तवादपर अनेक तरहके प्रहार करने लगे। कोई लोग अनेकान्तको सशय कहते थे, कोई कण्ठ उल्टा ही रूपांतर कहते थे, आर कोई इसमें विशेष अनन्यथा आदि दोषोंको बताकर इसका रटन थे। ऐसे समयमें अकल आर हरिभद्रने तत्पारान्यायार्तिक, सिद्धविनिश्चय, अनकालनयपताका, शास्त्रार्थान्तिमुञ्चय, पददर्शनसमुच्चय आदि ग्रंथोंका निर्माण करके बड़ी योग्यताके साथ दोषोंका निवारण किया, आर अनेकान्तकी जयपताका पहलाई। ईसाकी नौवीं शताब्दिमें विद्यानन्द और माणिक्यनिदि नामके महान् दिग्ग्वर विद्वान् हो गये हैं। विद्यानन्द अपने समयके बड़े भारी न्यायिक थे। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानोंके जनदर्शनपर होनेवाले आक्षेपोंका बड़ी योग्यतासे परिहार किया है। विद्यानन्दने तत्प्राथश्लोकार्थार्तिक, अष्टसहस्री, आत्मपराक्षा, आदि महान ग्रंथोंको लिखकर अनेक प्रकारसे तार्किक शैलीद्वारा स्याद्वादका प्रतिपादन आर समर्थन किया है। माणिक्यनिदिने सर्वप्रथम जन न्यायको परीक्षामुखके सूत्रोंमें गूथकर अपनी अर्थार्थिक प्रतिभाका परिचय दकर जनन्यायको समुन्नत बनाया है। ईसाकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दिमें होनेवाले प्रभाचन्द्र आर अमयदेव महान तार्किक विद्वान थे। इन विद्वानोंने समतितकृतीका (वाचमहार्थ), प्रमेयकमलमार्तण्ड, यायजुमुद्रचन्द्रोदय आदि जैन न्यायके ग्रंथ बना कर जैन दर्शनकी महान सेवा की है। इन विद्वानोंने सांक्रातिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि वादोंका समन्वय करके स्याद्वादका नैयायिक पद्धतिमें प्रतिपादन किया है। इनके पश्चात् ईसाकी बारहवीं शताब्दिमें वादिदेवसूरि आर कलिकालसर्वज्ञ हम्बचन्द्रका नम्बर आता है। वादिदेव वादशक्तिमें असाधारण मान जाते थे। वादिदेवने स्याद्वादका स्पष्ट विवेचन करनेके लिये प्रमाणनयतत्पारालोककार, स्याद्वादरूपांतर आदि ग्रंथ लिखे हैं। हेम्बचन्द्र अपने समयके असाधारण पुरुष थे। इन्होंने अन्ययोग-

१ भद्र मिच्छादासणसमूहमध्यस अमयसारसस ।

जिणवयणसस भगवआ सविग्गमुहादमग्गसस ॥ समान ३-६५ ।

२ देखो तत्प्राथश्लोकार्थार्तिक 'प्रमाणनयतत्पारालोककार, स्याद्वादरूपांतर आदि ग्रंथ लिखे हैं। हेम्बचन्द्र अपने समयके असाधारण पुरुष थे। इन्होंने अन्ययोग-

व्यग्रच्छेदिका, अयोग्यग्रच्छेदिका, प्रमाणमीमासा आदि ग्रंथ लिखकर अपूर्ण ढंगमें स्याद्वादकी निधि करके जैनदर्शनके सिद्धांतोंको पट्टित किया है। इसी मन्त्री सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दिमें उपाध्याय यशोभिनय और पटित निमज्जाम जैनदर्शनके अन्तिम विद्वान हो गये हैं। उपाध्याय यशोभिनयनी जैन परम्परामें लोकोत्तर प्रतिभाके धारक असाधारण विद्वान थे। वहान योग, साहित्य, प्राचीनन्याय आदिका गभीर पांडित्य प्राप्त करनेके साथ नव्यन्यायका भा अध्ययन किया था। स्याद्वादके द्वाग अभूतपूर्व ढंगसे सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करके स्याद्वादका 'सार्वत्रिक' सिद्ध करना यह निश्चयसे उपाध्यायजीकी ही प्रतिभा थी। यशो-विजयजीने शास्त्रार्थसमुच्चयकी स्याद्वादकन्यूलता टीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायपट्याय, न्यायालोक, अष्टमहत्ती-टीका आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। प निमज्जास दिगम्बर विद्वान थे। इन्होंने नव्यन्यायको अनुकरण करनेवाली भाषान समभगीनगिणी नामक स्वतंत्र ग्रंथकी सक्षिप्त और सरल भाषाम रचना करके पत्र महान क्षतिकी पूर्ति की है।

**स्याद्वादका जैनतर साहित्यमें स्थान**—जिसा वस्तुको भिन्न भिन्न अपेक्षाओंमें विभिन्न रूपमें दर्शन करनेके स्याद्वादसे मिउते जुलते मिद्वान जन साहित्यके अतिरिक्त अयत्र भी उपउत्र होते हैं। ऋग्वेदमें कहा गया है, कि 'उम ममय सत् भी नहीं था और अमत् भी नहीं था इशागम्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि प्राचीनतम उपनिषदमें भी 'वह हिउता है और हिउता भी नहीं है, वह अणुसे छोटा है और बडसे बडा है, सत् भी है, असत् भी है' आदि प्रकारमें विरुद्ध नाना गुणास्त्री अपेक्षा त्रयका वर्णन किया गया है। भारतीय पदुद्शनकारोंने भाइम प्रकारके विचारोंका प्रतिपादन किया है। उदाहरणके लिये वेदान्तम अनिर्चनीयनाई, लुमारिलका सापेक्षज्ञान, जाद्वारका मयममार्ग आदि मिद्वान स्याद्वादमें मिउते जुलते

१ तुलना करा—तुनागा भिन्नभिन्नाथास्यभेदव्यपत्तया ।

प्रतिउपयुक्तो वदा स्याद्वाद सावतानिकम् ॥ ५१ ॥ अध्यायनसार ।

२ नामदानात्र सदावीसदानाम् । ऋग्वेद । १०-१२९-१ ।

यद्यपि सदसदात्मक प्रत्येक विलक्षण भवति तथापि भावभावयो सहवस्त्वानमपि सम्भवति। सायण भाष्य । उ यशोभिनयकाका भा कथन है, कि वदाम भी स्याद्वादका विरोध नहीं किया गया है। दक्षाइम पृष्ठकी छि १ ।

३ तदेतत्ति तत्रैतत् तद्देह तदन्तिक । इग ५ । अणारणाजान् महता मरीजान् । कठ १-१० । सदसचासृत् च यन् । प्रश्न २-५ ।

४ श्री ध्रुवने वेदान्त और जैन दर्शनका तुलना करते हुए लिखा है—While the ved in tin sees intellectual peace in the absolute by transcending the antinomies of intellect, the Jain finds it in the fact of the Relativity of knowledge and the consequent revelation of the many-sidedness of Reality—the one leading to religious mysticism, the other to intellectual toleration

श्री ध्रुव—स्याद्वादमन्त्री प्रस्तावना पृ XII

५ तुलना करो—अन्तानि काश्यपा अयं एकोऽन्त नास्तीति काश्यपा अय एकोऽन्त यदनयाद्वया अन्तयामिष्य तद्रूप्य अनिद्वान अप्रतिष्ठ अनामस अनिकेत आविज्ञप्तिक यमुन्यने काश्यप मयमप्रति पदधमाणा । काश्यपपरिवर्तन महायानमूढ ।

निचारोंका ही समर्थन करते हैं। ग्रीक दर्शनमें भी एम्पीडोक्लीज (Empedocles), ऐटोमिस्ट्स (Atomists) और पनक्सागोरस (Anaxagoras) दर्शनिकोंने इलिअटिक्स (Eleatics) के नित्यत्ववाद और हेरेक्लिटस (Heraclitus) के क्षणिकवादका समन्वय करते हुए पनागोके नित्यत्ववादमें रहते हुए भी अपेक्षिक परिवर्तन (Relative change) स्वीकार किया है। ग्रीकोंके महान् निचारक प्लेटोने भी इसी प्रकारके निचार प्रगट किये हैं। पश्चिमके आधुनिक दर्शन (Modern Philosophy) में भी इस प्रकारके समान निचारोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके लिये जर्मनीके प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता हेगल (Hegel) का कथन है, कि विरुद्धगर्भामकता ही सत्ताका मूळ है। किसी वस्तुका यथार्थ ध्वणन करनेके लिये हम उस मनु सत्री सपूर्ण सय कहनेके साथ उस वस्तुके विरुद्ध धर्मोंका निस्त प्रसार

१ नैयायिक आदि दार्शनिकोंने इस प्रकारमें स्याद्वादके सिद्धांतको स्वीकार किया है, इनके विचार जाननेके लिये देखो पददर्शनसमुच्चय गुणरत्न टीका पृ ९६-९८, दशम और अनेकतवाद। तथा—

इच्छन् प्रथम सत्त्वाद्यैर्विद्वेद्युत्पित्त गुणै ।  
 साएय सख्यावतां सुख्यो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥  
 चित्रमेकमननं च रूप प्राणाणिकं षड्भू ।  
 यौगो वैशेषिणो वाऽपि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥  
 प्रत्यक्षं भिन्नमाश्लेषे मेयां ॥ तद्विद्विषयम् ॥  
 गुह्यज्ञानं षड्भू नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥  
 जानिष्यत्सत्यात्मकं वस्तु षड्भूनुमनाक्षितम् ।  
 भद्रं वापि मुरारिना नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥  
 अबद्धं परमार्थेन यद् च व्यवहारेण ।  
 भुवाणो ब्रह्मवदान्तो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥  
 भुवाणां भिन्नभिन्नाधीन्यभेदव्यपेक्षया ।  
 प्रतिक्षिप्युर्नो वेदा स्याद्वाद सावतामिकम् ॥

अध्यात्मसार ४५-५१ ।

२ There are beings or particles of reality that are permanent, original, imperishable, undivided, and these can not change into anything else. They are what they are and must remain so, just as the Eleatic school maintains. These beings, or particles of reality, however can be combined and separated, that is, foam bodies that can again be resolved into their elements. The original bits of reality can not be created or destroyed or change their nature, but they can change their relations in respect to each other. And that is what we mean by change.

Philly History of Philosophy पृ ३२ ।

३ When we speak of not being we speak, I suppose not of something opposed to being, but only different — *Dialogues of Plato*

समन्वय हो सकता है, यह बताना चाहिये। नये विज्ञानवाद (New Idealism) के प्रतिपादक ब्रेटलेके अनुसार प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओंसे तुलना किय जानेपर आश्चर्यकीय आर अनाश्चर्यकाय दोना मिद्ध होती है। मसामें कोई भा पदार्थ नगण्य अथवा अकिञ्चिकर नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रत्येक तुच्छसे तुच्छ विचारसे आर छोटीसे छोटी सत्तामें सयता नियमान है<sup>१</sup>। आधुनिक दार्शनिक जोअचिम (Joachim) का कहना है, कि कोई भी विचार स्वतः हा, दूसरे विचारसे मर्यादा अनपेक्षित होकर केवउ अपनी ही अपेक्षामे सय नहीं कहा जा सकता। उदाहरणके लिये, तीनेस तीनको गुणा करनेपर ना होता है (३×३=९), यह सिद्धात एक बालकके लिये सर्याया निष्प्रयाजन है, परतु डमे पढ़कर एक विज्ञानवेत्ताके सामने गणितशास्त्रके विज्ञानका सारा नकशा मानने आ जाता है<sup>२</sup>। मानसशास्त्रके विद्वान प्रो विलियम जेम्स (W James) ने भी लिखा है, हमारी अनेक दुनिया है। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओंका एक दूसरसे अमन्वद्ध तथा अनपेक्षित रूपसे ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्वज्ञता नहीं है, जो सम्पूर्ण दुनियाआमै एक दूसरेसे सम्वद्ध और अपेक्षित रूपमें जानता है<sup>३</sup>। इसी प्रकारक विचार पेरी (Perry), नेयाधिक जोनेफ (Joseph), एटमड

१ Reality is now this, now that, in this sense it is full of negations contradictions and oppositions the plant germinates, blooms, withers, and dies man is young, mature, and old To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate all those contradictions of it, and show how they are reconciled and preserved in the articulated whole which we call the life of the thing

Thilly History of Philosophy पृ ४६७।

२ Everything is essential and everything worthless in comparison with other Now where is there even a single fact so fragmentary and so poor that to the universe it does not matter There is truth in every idea however false, there is reality in every existence however slight

Appearance and Reality पृ ४८७।

३ No judgment is true in itself and by itself Every judgment is a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent, constituted by the apperceptive character of the mind

Nature of Truth अ ३ पृ १२-३।

४ The Principles of Psychology vol 1 अ २० पृ २९१।

५ Present Philosophical Tendencies Chapter on Realism

६ Introduction to Logic. पृ १५२-३१

हार्म्स (Edmund Holms) प्रभृति विद्वानोंने प्रगट किय हैं ।

**स्याद्वाद और सपन्वय दृष्टि**—स्याद्वाद सम्पूर्ण जनेतर दर्शनोंका समन्वय करता है । जैन दर्शनकारोंका कथन है, कि सम्पूर्ण दर्शन नयनादमें गर्भित हो जाते हैं, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयकी अपेक्षासे सत्य है । उदाहरणके लिये ऋजुमृत्नयकी अपेक्षा रीद्ध, सप्रहनयकी अपेक्षा त्रेदान्त, नैगमनयकी अपेक्षा चायवैशेषिक, शब्दनयकी अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी, तथा ज्यहारनयकी अपेक्षा चार्वाक दर्शनोंको सत्य कहा जा सकता है । ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भा समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते हैं । जिस प्रकार भिन्न भिन्न मणियोंके एकत्र गूथे जानेसे एक सुन्दर माला तय्यार हो जाता है, उसी तरह जिस समय भिन्न भिन्न दर्शन सापेक्ष वृत्ति धारण करके एकत्रित होते हैं, उस समय ये जैन दर्शन कहे जाते हैं । अतएव जिस प्रकार धन, धान्य आदि वस्तुओंके लिये निनाद करनवाउ पुरुषोंको कोई साधु पुरुष समन्वा बुझाकर शान कर देता है, उसी तरह स्याद्वाद परस्पर एक दूसरेके उपर आक्रमण करनेवाले दर्शनोंको सापेक्ष सत्य मानकर समन्वा समन्वय करता है । इनालिये जैन विद्वानोंने जिन भगवानके वचनोंको मिथ्यादर्शनोंका समूह मानकर अमृतना सार बताया है । उपायाय यगोत्रिजयनीके शब्दोंमें कहा जाय, तो हम कह सकते हैं, कि एक “सच्चा अनेकतवाणी किसी भी दर्शनसे द्वेष नहीं करता । वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनोंका इस प्रकारसे वासन्व्य दृष्टिमें देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रोंको देगता है । क्योंकि अनेकतवादीकी न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती । वास्तवमें सच्चा शास्त्र कहे जानेका

१ Let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow, swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself. In the Quest of Ideal p 29.

२ स्याद्वादपर एक एतिहासिक दृष्टि तथा स्याद्वादका जैनतर साहित्यमें स्थान' य दाना शापक मेर विश्वभारत माच १९३३ के अंकमें प्रकाशित 'जैनदर्शनमें अनकान्तपद्धतिव्या विकासक्रम' नामक लखरु आधरसे लिखे गये हैं । यह लेख The History and Development of Anekantavadi in Jain philosophy के नामसे पूनामें प्रकाशित होनेवाले Review of Philosophy and Religion नामक वाष्पाधिक पत्रके माच १९३५ के अंकमें अंग्रेजीमें भी प्रकाशित हुआ है ।

३ बौद्धानाम्नुमृत्ता मतमभूदेदान्तिना संप्रदात ।

सांख्यना तत एव नैगमनयाद् योगव वैशेषिक ॥

शाब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयत सर्वेनवैशुक्रिणां ।

जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्गीक्ष्यते ॥ अण्वात्मसार जिनमतिस्तुति ।

अधिकारी रही है, जो म्याद्वादका अग्रज लेकर सम्पूर्ण दशनोंमें समान भाग रखता है। रातमें मायस्थ भाग ही शास्त्रोंका गूट रहस्य है, यही धर्मवाद है। मायस्थ भाग रहनेपर शास्त्रोंके एक पदका ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रोंके पढ़ जानेसे भी कोई लाभ नहीं।" निस्सन्देह सच्चा स्याद्वादी सटिष्णु होता है, वह राग-द्वेषरूप आभाके विकारों पर विजय प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करता रहता है। वह दूसरोंके सिद्धांतोंको आदरकी दृष्टिसे देखता है, और मयस्थ भागसे सम्पूर्ण विरोधका समन्वय करता है। सिद्धसेन दिगम्बरने वेद, सांख्य, न्यायशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना करके, और हरिभद्रसुरिने पद्मदर्शनसमुच्चयमें उह दर्शनोंकी निष्पक्ष समालोचना करके इसी उदार दृष्टिका परिचय दिया है। इतना ही नहीं, बल्कि मज्जिमादि, हरिभद्रमूर्ति, रानशेखर, प आश्रापर, उ यशामिनय आदि अनेक जैन विद्वानोंने वैदिक और बौद्ध ग्रंथोंपर टीका टिप्पणिया लिखकर अपनी गुणग्राहिता, समन्वयवृत्ति और हृदयकी विगाहताको स्पष्टरूपमें प्रमाणित किया है<sup>१</sup>।

रातमें देखा जाय तो सत्य एक ही तत्ता वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें कोई परस्पर विरोध नहीं। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न भिन्न देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार सत्यके केवल अज्ञ मात्रको ग्रहण करता है। वैदिक धर्म व्यवहार प्रधान है, बौद्ध धर्मको श्रवण प्रधान, और जैनधर्मको कर्तव्य प्रधान कहा जा सकता है। एक दर्शन कर्म, उपासना और ज्ञानको मोक्षका प्रधान कारण कहता है, दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञाको, तृतीय तोमरा सम्पददर्शन, ज्ञान और चारित्रिक मोक्ष प्रधानका कारण मानता है, परन्तु मनुका ध्येय एक ही है। निम्न प्रकार सरल और टेढ़े मार्गसे जानेवाली भिन्न भिन्न नदियाँ अन्तमें जाकर एक ही समुद्रमें मिलती हैं, उसी तरह भिन्न भिन्न रचियोंके कारण उद्भूत होनेवाले समस्त दर्शन

- १ यम्य सर्वत्र समता नरेषु तनयेष्विव ।  
 तस्यनेत्रा तवादस्य वच न्यूनाधकशेमुयी ॥ ६१ ॥  
 तेन स्याद्वादमाग्य्य सर्वदर्शननुन्यता ।  
 मोक्षोद्देशविरोधेण य पदयानि स शास्त्रयित् ॥ ७० ॥  
 माध्यस्थमव शास्त्रार्थो यन तच्चाह सिष्यति ।  
 न एव धर्मवाद स्यादन्यद्वात्त्रिंशद्वचनम् ॥ ७१ ॥  
 माध्यस्थग्रहित लोकपदानमपि प्रमा ।  
 शास्त्रकोटि रूषैवान्या तथा चोक्त महात्मना ॥ ७२ ॥ अध्यात्मसार ।

२ मुना जाना है, कि एक बार गुणरातमें जैन विद्वानोंकी आरसे वाग्गणाके वेदको ध्वनानेका भी प्रयत्न हुआ था।

- ३ श्रोतव्यो सौगतो धम कतव्य पुनराहत् ।  
 वैदिनो व्यवहर्तव्यो ध्यातव्य परम शिव ॥ हरिभद्र ।



एक ही पूर्णसंयममें ममाग्रिष्ठ हो जाते हैं' । पद्दर्शनाको जिनेद्रके अग कहकर परमयोगी आनन्दधनर्जने आनन्दधन चौबीसीमें इम भाषको निम्न भाषाम व्यक्त किया है—

पद्दरमण जिन अग भणजि । न्याय पङ्ग जो सापे रे ।  
 नमिनिनरना चरण उपासक । पद्दर्शन आराधे रे ॥ १ ॥  
 जिनसुर पादप पाय बलाणु । साख्ययोग दोय भेदे रे ।  
 आतम मत्ता निरण करता । उहो द्रुग अग अत्तेदे रे ॥ २ ॥  
 भेद अभद सुगत मीमामरु । जिनर दोय कर भारी रे ।  
 लोकाजेरु अपलवन भजिये । गुरुगमपी अग्रारी रे ॥ ३ ॥  
 लोक्यायतिक बृख जिनरनी । अशत्रिचार जो काने ।  
 तरत्रिचार सुप्रारस धारा । गुरुगम विण केम पीन ॥ ४ ॥  
 जैन निनेश्वर उत्तम अग । अतरग बहिरग रे ।  
 अक्षरन्यास धरा आरापक । आरापे धरी सुगे रे ॥ ५ ॥

निस्मदेह प्कतामें त्रिप्रता और त्रिप्रधतामें एकताका दरान करक जैन आचार्यौन स्याद्वादका प्रतिपादन करके विश्वको महान सेना अर्पण की है ।

---

१ अथा साख्य योग पद्पतिमत वैष्णवमिति ।  
 प्रभिन्ने प्रस्थाने परभिदमत पध्यावति च ।  
 ह्यवीना वैचिन्त्यात् श्रुतुत्तुत्तिलनानापयत्तुया ।  
 वृणामेको गमयत् स्वमसि पयमामर्णव इव ॥ शिवमहिम्न स्तोत्र ।



नमः स्वराय

श्रीरायचन्द्रजैनशान्त्रमालाया

श्रीमल्लिपेणसूरिप्रणीता

## स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता  
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका  
हिन्दीभाषानुवादसहिता ।

### टीकाकारस्य मंगलाचरणम्

यस्य ज्ञानमनन्तस्तुविषय यः पूज्यते दैवतै-  
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।  
रागद्वेषमुग्धविषा च परिपत् क्षिप्ता क्षणाद् येन सा  
स श्रीधीरविभुर्विधूतकलुषा बुद्धि विधत्ता मम ॥ १ ॥  
निस्सीमप्रतिभैरुजीवितधरौ नि'शेषभूमिस्पृशा  
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरु स्वाङ्गैकरूपी दधत् ।  
यः स्याद्वादमसाधयन् निजप्रपूर्वष्टान्त' सांस्तु मे  
सद्बुद्ध्यभ्युनिधिप्रमोधविधये श्रीहेमचन्द्र प्रभुः ॥ २ ॥  
ये हेमचन्द्र मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसंग्रामिपत श्रयन्ते ।  
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलाना पद कलानामुचित् भवन्ति ॥ ३ ॥  
मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-  
निर्मातु विवृति प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।  
यद्वा विस्मृतमौष्ठयोः स्फुरति यत् सारम्वत शाश्वतो  
मन्त्र श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

## टीकाकारका मगलाचरण

अर्थ—जो अनन्त वस्तुओंको जानते हैं, देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं, जिनके वचन कुसिद्धार्तोंमें लुप्त नहीं होते, तथा जिन्होंने रागद्वेष-प्रधान शत्रुओंकी समाको क्षणभरमें परास्त कर दिया है, ऐसे वीरप्रभु मेरी बुद्धिको निर्मल करें ॥ १ ॥ समस्त मध्यलोकवर्ती प्राणियोंके पुण्य प्रतापसे अभीम प्रतिभारूप प्राणोंके धारक सरस्वती और बृहस्पतिको अपने शरीररूपमें धारण करते हुए जिन्होंने अपने शरीरके दृष्टान्तसे ही स्याद्वादके सिद्धांतको सिद्ध कर दिखाया है, अर्थात् जिन्होंने एक ही शरीरमें परस्पर भिन्न सरस्वती और सुरगुरुके धारण करनेसे, एक ही पदार्थको परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंका धारक सूचित किया है, ऐसे हेमचन्द्रप्रभु मेरे सद्बुद्धिरूपी समुद्रकी वृद्धि करें ॥२॥ जो लोग इस ग्रन्थके अध्ययनके वहाने हेमचन्द्रमुनिका आश्रय लेते हैं, वे उज्ज्वल कलाओंके गौरवको प्राप्त करके योग्य पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ हे सरस्वती माता ! तुम मेरे हृदयमें निवास करो, जिसमें मैं आसस्तुति ( द्वात्रिंशिका ) की व्याख्या ( स्याद्वादमन्त्री ) शीघ्र ही प्रारम्भ कर सकूँ । अधवा नहीं, मैं मूल गया, क्योंकि ' श्रीउदयप्रम '—रचनासे मनोहर शाश्वत सरम्बतीका मत्र तो दिनरात मेरे होठोंमें स्फुरित हो ही रहा है । उदयप्रम टीकाकारके गुरुका नाम है । यहाँ टीकाकार गुरु भक्तिके वश होकर कहते हैं, कि गुरुस्मरणके प्रभावसे सरस्वती माता स्वयं मेरे हृदयमें निराजमान हैं । अतएव सरस्वती मातासे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती ॥ ४ ॥

### अवतरणिका

इह हि विपमदुःखमाररजनितिमिरतिरस्नारभास्करानुभारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणोदश्यदंशनाप्रितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालस्मापालप्रवर्तिताभयदानाभिधानजीयातुसजीप्रितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादिमाहात्म्यकल्पायधिस्थायिविशदयशशरीरेण निरवप्रचातुत्रिंशनिर्माणैन्नन्धना श्रीहेमचन्द्रमुरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसंनदिवाकरप्रिचितद्वात्रिंशद्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदान्ययोगव्यवच्छेदाभिधान द्वात्रिंशिकाद्वितय विद्वज्जनमनस्तत्रावमोधिनिग्रन्धनविदधे । तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोज्ञेयत्वाद् तत्रारयानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःपददुर्वाटिपरिपद्भिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविचरणकरणेन म्यस्मृतिवीजप्रमोघविधिनिधीयते । तस्याश्चेदमादिनाव्यम्—

१ विशेषतः सङ्गतेयकारोऽयोगव्यवच्छेदवाचक, यथा गङ्गा पाण्डुरएवेति । अयागव्यवच्छेदस्य लक्षणचोदयनावच्छेदकठमानाधिकरणामात्रप्रतियोगित्वम् । २ विनोपसगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, यथा पार्थ एव घनुपरः । अन्ययोगव्यवच्छेदा नाम विशिष्यभिजतादात्म्यादिव्यवच्छेद ।

## अवतरणिका

अर्थ—इस लोकमें दुपमा आरा ( पचमकाल ) की रात्रिके अधिकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान, तथा पृथ्वीतलपर उतरकर आई हुई अमृत-नहरके समान धमापदेशसे उत्कृष्ट जैनधर्मानुयायी बनाये हुए कुमारपाल राणाकी अभयदानरूप जीवनीपधिसे जीवनको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंके जाशीर्वादसे कल्पकालपर्यंत स्थायी निर्मल यशस्वपी शरीरको धारण करनेवाले, तथा चार विद्याओं ( लक्षण, आगम, साहित्य, तर्क ) की निर्दोष रचना करनेके लिये ब्रह्माके समान, श्रीहेमचन्द्रसूरिने जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धमेनट्टिवाकरद्वारा रचित ' द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' का अनुसरण करनेवाली श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप, विद्वानांको तत्त्वज्ञान देनेवाली अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी दो बत्तीसियोंकी रचना की है। भाव यह है, कि सिद्धमेनट्टिवाकरकी बत्तीस बत्तीसियोंकी रचनाका अनुसरण करके हेमचन्द्रसूरिने भी नौ बत्तीसियाँ बनाई हैं। अयोगव्यवच्छेद नामक बत्तीसियोंमें जैनसिद्धान्तोंकी स्थापना करके ' स्वपथ-माधन ' तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें परवादियोंके मतोंका सडन करते हुए ' परपथदूषण ' का प्रदर्शन किया गया है। यहाँ टीकाकार मल्लिषेण अयोगव्यवच्छेदिका नामक पहली बत्तीसियोंके सरल होनेके कारण उसकी व्याख्याकी उपेक्षा करके, समस्त दुर्वाचियोंकी समाको परान्त करनेमें समर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामकी दूसरी बत्तीसियोंके कुछ पदार्थोंका विमृत्त विवरण करते हैं। दूसरी बत्तीसिना यह प्रथम श्लोक है—

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमवाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।

श्रीवर्धमान जिनमाप्तमुख्य स्वयम्भुव स्तोत्रमह यतिष्ये ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—अनतज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, अवाध्यसिद्धातसे युक्त, देवों-द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओंमें प्रधान, और स्वयम्भू, श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये मैं प्रयत्न करूँगा ।

श्रीवर्धमान जिनमह स्तोत्र यतिष्य इति क्रियासन्धः । त्रिविशिष्टम् ? अनन्तम्—अप्रतिपाति, त्रि विशिष्ट सर्वद्रव्यपर्यायप्रियत्वेनोत्कृष्ट, ज्ञान केरलगाय विज्ञानम्, ततोऽनन्त विज्ञान यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीता—निःसत्ता-कीभूतत्वेनातिक्रान्ता, दोषा रागादयो यस्मात् स तथा तम् । तथा अवाध्य—

१ पण्डा तत्त्वानुगा मोडे ज्ञान विज्ञानमयत । शुभ्रया धरण चैव ग्रहण धारण तथा ॥ इत्यभिधान-चिन्तामणौ द्वितीयकाण्ड २१४ श्लोक ।

पैर्वाधितुमशक्यं, सिद्धान्त - स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । तथा अमर्त्या - देवा , तपामपि पूज्यम् - आरा यम् ॥

व्याख्यानार्थ—मैं वर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका प्रयत्न करूँगा । वर्धमान जिनेन्द्र अनन्त केवलज्ञानके धारक, रागद्वेष आदि अठारह दोषसे रहित, प्रतिवादिषोडश अरण्डनीय स्याद्वादरूप सिद्धातसे युक्त तथा देवसे पूजनीय हैं ।

अत्र च श्रीवर्धमानस्वामिनो विशेषणद्वारेण चत्वारो मूलातिशया प्रतिपादिताः । तत्रानन्तविज्ञानमित्यनेन भगवत रेणलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यप्रतिपादनाद्ज्ञानातिशय । अतीतदोषमित्यनेनाष्टादशदोषसक्षयाभिधानाद् अपायापगमातिशय । अत्रायसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमुद्वाशक्यनाथस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद्वचनातिशय । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायननिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञानात्पूजातिशय ॥

यहाँ उपरके चार विशेषणोंसे वर्धमानस्वामीके चार मूल अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है । 'अनन्तज्ञान' से विशिष्टज्ञान—केवलज्ञानकी अनन्ततारूप ज्ञानातिशय, 'अतीतदोष' से अठारह दोषोंके क्षयरूप अपायापगमअतिशय, 'अत्रायसिद्धात' से तीर्थिकोंके हेतुओंद्वारा अरण्डनीय स्याद्वादकी प्ररूपणारूप वचनातिशय तथा 'अमर्त्यपूज्य' विशेषणसे सहजभक्तिभायसे विनम्र देव और असुरोंके नायक दृष्टद्वारा की हुई महाप्रातिहार्य पूजारूप पूजातिशयका सूचन किया गया है ।

अत्राह पर । अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु, नातीतदोषमिति । गतार्थत्वात् । दोषात्यय त्रिज्ञानन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तः । अत्रोच्यत । कुनयमतानुसारिपरि-  
कल्पिताप्तव्यवच्छेदार्थमिदम् । तथा चाहुराजीविमनयानुसारिणः—

“ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तार परम पदम् ।

गत्वागच्छन्ति भूयाऽपि भव तीर्थनिःकारतः ” ॥

इति । तद् नून न ते अतीतदोषाः । नथमन्यथा तेषा तीर्थनिःकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥

१ अन्तराया दानलाभवीत्यभोगोपभोगया । हास्यस्वस्ती भीतिर्हुगुप्सा शङ्क एव च । ७२॥ कामो मिथ्यात्ममज्ञान निद्रा चारिपतिमत्तया । रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामश्लक्ष्णदशाप्यमी ॥७३॥ अभिधानचिन्तामणि-  
प्रथमकाण्ड श्लोकी ।

२ क्विलि कुमुमकुष्ठि देवगुणि चामरानगाह च । भावलयभेरिच्छत जयन्ति त्रिगपादिहेयह ॥१॥  
प्रवचनसारोद्धार द्वार ३९ (गाथा ४४०) । लाया-१ अगोकृष्ण, २ कुमुमकुष्ठि, ३ दिव्यध्वनि, ४ चामरे,  
५ आसनानि च, ६ भागण्डल, ७ भेरी, ८ छत्रम्, ।

उपर्युक्त चार विशेषणोंकी सार्थकता

( क ) शक्रा—वर्धमानस्वामीके ' अनन्तविज्ञान ' विशेषण देना ही पर्याप्त है, ' अतीततोष ' विशेषणकी आवश्यकता नहीं। कारण कि विना दोषोंके नाग हुए अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती : समाधान—कुत्राण्यिन्द्रा कल्पित आसके निराकरण करनेके लिये ' अतीतदोष ' विशेषण दिया गया है। उदाहरणके लिये आजीविकमतके अनुयायी कहते हैं " धर्म तीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं, तथा अपने तीर्थका तिरस्कार होते देखकर वे फिर मोक्षमे समारमें चले जाते हैं। " जैनसिद्धांतका कथन है, कि ये ज्ञानी दोषोंमे रहित नहीं हैं। कारण कि यदि वे सम्पूर्ण दोषसे रहित होते, तो तीर्थका तिरस्कार देखकर उन्हें समारमें फिरसे आनेकी आवश्यकता न होती। इसीलिये आजीविकमतका निराकरण करनेके लिये ' अतीततोष ' विशेषण दिया गया है।

आह। यत्रैवम् अतीततोषमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते। दोषा स्ययेऽनश्यभाषित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य । न। कैश्चिदापाभावोऽपि तदनभ्युपगमात् । तथा च वैशेषिकप्रवचनम्—

“ सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।

कीटसङ्घापरिज्ञानं तस्य न' क्षीपयुज्यते ” ॥

तथा—“ तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।

प्रमाणं दूरदर्शी चेदृते गृहानुपास्महे ” ॥

तन्मतव्यपोहार्वमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव । विज्ञानानन्त्यं विना एतस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात् । तथा चार्पम्—

“ जे एग जाणइ, से सब्ब जाणइ, जे सब्ब जाणइ से एग जाणइ ॥ ”

तथा—“ एको भाव सर्वथा येन दृष्टः सव भावा' सर्वथा तेन दृष्टाः ।

सव भावा सर्वथा येन दृष्टा एको भाव' सर्वथा तेन दृष्ट ” ॥

( ख ) शक्रा—यदि ऐसा ही है, तो केवल ' अतीततोष ' विशेषण ही लिया जाय, ' अनन्तविज्ञान ' की क्या आवश्यकता है : कारण कि दोषोंके नष्ट होनेपर अनन्तविज्ञान-

१ आचारगणने प्रथमश्रुतस्वरूपे तृनायाप्ययन चतुर्षोद्देशे सूत्रम् १२२ । छाया य एव जानाति स सर्वे जानाति । य सर्वे जानाति स एक जानाति । तुलना करो—जो ण विज्ञानदि युगव अत्ये तिष्ठालिगे तिष्ठवणरथ । जातु तस्य ण सक् सपञ्च द'वमग वा ॥ द'व अणतपञ्चमेगमणताणि द'वतादाणि । ण विज्ञानदि जदि युगव किष से स'ताणि ताणादि ॥ ( प्रवचनसार अ १ गा ४८, ८९ ) छाया-या न विजानाति युगपदायान् श्रैकालिकान् विभुवनस्थान् । ज्ञातु तस्य न शक्य सपयय द्रव्यमेक वा ॥ द्रव्यमनन्त पर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि । न विजानानि यदि युगपत् कथ स सर्वाणि जानानि ॥

की प्राप्ति अवश्यभावी है । समाधान—कितने ही वाणी दोषोंके नाश होनेपर भी अनन्त-विज्ञानकी प्राप्ति नहीं स्वीकार करते । अतएव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है । वैशेषिकोंका मत है, " ईश्वर सप्त पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, यह दृष्ट पदार्थोंको जाने इतना ही बस है । यदि ईश्वर चीटोंकी सरया गिनने बैठे तो वह हमारे किस कामका ? " तथा " अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है । क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाय, तो फिर हमें गीध पक्षियोंकी भी पूजा करनी चाहिये । " कहनेका तात्पर्य यह है, कि वैशेषिक लोग ईश्वरको अतीतदोष स्वीकार करके भी उसे सकल पदार्थोंका ज्ञाता नहीं मानते । इस लिये हम मतका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है, और यह विशेषण सार्थक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके बिना किसी वस्तुका भी ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता । आगमका वचन भी है " जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह एकको जानता है । " तथा " जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देखा लिया है । तथा जिसने सप्त पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सप्त प्रकारसे जान लिया है । " कहनेका भाव यह है, कि जबतक हम एक पदार्थका पूर्ण रीतिमें ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, उस समयतक हमें सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव ' एक ' और ' अनेक ' सापेक्ष हैं, अर्थात् ' एक ' का ज्ञान प्राप्त करना, ' अनेक ' को जानना है । इस लिये अतीतदोष विशेषणके समान अनन्तविज्ञान विशेषण भी उतना ही आवश्यक है । इसीलिये वैशेषिकमतका निराकरण करनेके लिये अतीतदोषके साथ अनन्तविज्ञान विशेषण दिया गया है ।

ननु तर्हि अनाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थक्यम्, यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारिरचन-  
त्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य प्राधायोगात् । न । अभिप्रायापरिज्ञानात् । निदोषपुरुषप्रणीत  
एव अनाध्यसिद्धान्तः । नापरेऽप्यारूपेयात्रा । असम्भवादिदोषाघ्रातत्वात्, इति  
ज्ञापनार्थम् । आत्ममात्रतारकमूकान्तकृत्वेवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्त-  
प्रणयनासमर्थस्य व्यञ्ज्यदार्थं वा विशेषणमेतत् ॥

( ग ) शंका—'अनाध्यसिद्धान्त' विशेषण देना व्यर्थ है । कारण कि जो पुरुष 'अनन्तविज्ञान' और 'अतीतदोष' है, उसके वचनोंमें कोई दोष नहीं होता, इस लिये

१ तान्वादिसमा ननु वणनो वणात्मको वेद इति स्फुट च । पुत्रश्च तात्वादि तत् कथ  
स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीति ।

२ ( १ ) द्वयभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधवाक्यातिगयश्च केवली ( २ ) सपिप्रो भवनिर्वेदादात्म-  
नि सरण तु य । आमार्थे सप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यामुण्डकेवली ॥ ( ३ ) य पुन सयकत्वावाप्तो भवनेगुण्य-  
दशनतस्तत्रिर्वेदादात्मनि सरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चण्टे स मुण्डकवला भवति । इति ।

उसका सिद्धात अत्राय्य होना ही चाहिये : समाधान—अत्राय्यसिद्धात विशेषण देनेसे यहाँ यही अभिप्राय है, कि निर्दोष पुरुषके निर्मित सिद्धात ही अत्राय्य है, तथा असमय आदि दोष युक्त होनेसे अपौरुषेय आदि अर्थात् पुरुषके विना निर्मित वेद आदि सिद्धात दोषरहित नहीं हैं। अथवा, सिद्धातोंके रचनेमें असमर्थ, स्वयं अपना ही उद्धार करनेवाले मूर्ख तथा अन्तःतत् मुण्डकेवलियोंके निराकरण करनेके लिये अत्राय्यसिद्धात विशेषण दिया गया है। भावार्थ यह है, कि अत्राय्यसिद्धात विशेषणकी सार्थकता दो प्रकारसे बतायी गई है। (अ) निर्दोष पुरुषद्वारा निर्मित सिद्धात ही बाधा रहित हो सकता है, पुरुषके विना निर्मित (अपौरुषेय) वेद अत्राधित नहीं हो सकता। क्योंकि तालु आत्तिसे उत्पन्न वर्णोंके समूहको वेद कहते हैं, तथा तालु जादि स्थान मनुष्य जन्य हैं, अतएव वेदोंका अपौरुषेय मानना असंभव दोषसे दूषित है। (आ) मुण्डकेवलियोंका निराकरण उक्त विशेषणकी दूसरी सार्थकता है। वाच्य अतिशयोक्ति रहित, ससारमें वैगम्यभावको प्राप्त होकर जो केवली केवल अपनी ही आत्माके उद्धारका प्रयत्न करते हैं, वे 'मुण्डकेवली' कहे जाते हैं। ये केवली 'अन्तःतत्' और 'मूर्ख' दो प्रकारके होते हैं। दोनों ही केवली कर्मोंके नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थोंके द्रष्टा होते हैं। इनमें अन्तर केवल इतना ही है, कि अन्तःतत् केवलीके ससारसे मुक्त होनेका समय बहुत नगनीक रहता है, या यह कहना चाहिये, कि मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही अन्तःतत् केवलीको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। तथा मूर्खकेवली किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश देनेमें असमर्थ होते हैं, इसलिये वे मौन रहते हैं। उक्त दोनों केवली किसी सिद्धातकी रचना नहीं कर सकते हैं। यही कारण है, कि अतीतगोप और अनन्तविज्ञानके धारक होते हुए भी मुण्डकेवलियोंका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने अत्राय्यसिद्धात विशेषण दिया है। मुण्डकेवली सिद्धातकी रचना करनेमें ही असमर्थ हैं, फिर उस सिद्धातके अत्राय्य होनेकी तो बात ही दूर रही।

अन्यम्त्राह । अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम् । यावता यथादिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यत्व न कथञ्चन व्यभिचरतीति । सत्यम् । लौकिकानां हि अमर्त्याः पूज्यतया प्रसिद्धाः, तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणनानेन ज्ञापयन्नाचार्य परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावदयति ॥ एव पूर्वाध चत्वारोऽतिशया उक्ता ॥

(घ) शक्ता—'अमर्त्यपूज्य' विशेषणकी क्या आवश्यकता है : समाधान—लौकिकपुरुष देवोंको ही पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। ये देव भी भगवानको पूज्य मानते हैं, यही सूचित करनेके लिये आचार्यमहोदय भगवानको देवाधिदेव कहते हैं। इस प्रकार पूर्वार्धके श्लोकमें चार अतिशयोक्तियोंका वर्णन किया गया है।



अनन्तविज्ञानत्व च सामान्यत्रैल्लिनामप्यवश्यभावीत्यतस्तद्ध्यवच्छेदाय श्रीवर्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते । श्रिया चतुर्विंशदतिशयसमृद्धयनुभवात्मनभावार्हन्त्यरूपया वर्धमानं वर्धिष्युम् । नन्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वान् कथं वर्धमानतोपपत्ति इति चेत् । न । यथा निशीथंचूर्णो भगवता श्रीमदहंतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यावाहलक्षणसङ्ख्याया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम् । एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम् । ततो नातिशयश्रिया वर्धमानत्वदोषाशय इति ॥

श्रीवर्धमान आत्ति विशेषणोकी सार्थकता

अनन्तविज्ञान सामान्यकेवलियोंमें भी पाया जाता है, अतएव सामान्यकेवलियोंके परिहारके लिये ' श्रीवर्धमान ' विशेष्य होनेपर भी इसकी विशेषणरूपसे व्याख्या की गई है । ' श्रीवर्धमान ' अर्थात् चौंतीस अतिशयोकी समृद्धि भावार्हतरूप लक्ष्मीसे बने हुए । शका—जैनसिद्धातमं अतिशयोकी सख्या चौंतीस प्रतिपादित की गई है, फिर ' अतिशय समृद्धिसे बने हुए ' कहना ठीक नहीं है । समाधान—जिस प्रकार ' निशीथंचूर्ण ' में श्रीअरहत भगवानके एक हजार आठ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर मत्त्व आदि अतरग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है, इसी प्रकार उपलक्षणसे अतिशयोको परिमित मान करके भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है, इस लिये कोई शास्त्रविरोध नहीं है । अतएव ' अतिशय लक्ष्मीसे बने हुए ' कहना दोषयुक्त नहीं है ।

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहारया-प्रतिपातिगुणस्थानप्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमिति विशषणम् । रागादिजवृत्त्वाद् जिनः समूलकापङ्कपितरागादिदोष इति । अनाध्यसिद्धान्तता च श्रुतत्रैल्ल्याद्विष्वपि दृश्यतेऽतस्तदप्रोहायाप्तसुर्यमिति विशषणम् । आसिद्धिं रागद्वेषमादानांमैकान्तिरु आत्यन्तिकैश्च क्षय, सा येषामस्ति त खल्लाप्ता, अभ्रौदित्वाद् मत्वर्थीयांऽप्रत्यय । तेषु मये मुखमिद सर्वाङ्गाना प्रधानत्वेन सुर्यम् । " शाखादिर्यः " इति

१ निशीथंचूर्णप्रथे १७ उदेश ।

२ गुणस्थानस्थचतुदश भेदा । १ मिच्छे २ साधन ३ मीसे ४ अरिय ५ देसे ६ पमत्त ७ अपमत्ते । ८ निषङ्घि ९ अनियङ्घि १० सुहृत्तु ११ वसम १२ रीण १३ सजोगि १४ अजोगिगुणा । ( द्वितीयक्रमस्य द्वितीय गाथा ) छाया—मिष्यात्वलाहादनभिभ्रमविरतदेश प्रमत्ताप्रमत्तम् । निवृत्त्यनिवृत्ति यस्मोपगमधीणसयाम्ययागिगुणा ॥

३ श्रुतेन केवलिन श्रुतकेवलिन । चतुर्दशपुत्रत्वात् । ' अथ प्रभव प्रभु । शय्यमनो यशोभद्र सभूतविजयस्तन ॥ ३३ ॥ मद्रवाटु स्थूलभद्र श्रुतकेवलिना हि पद ॥ ४४ ॥ इति अभिधान चिन्तामणौ प्रथमकाण्डे । ४ नि शपीहृतेऽपि पुनरुद्भवमाणादृक्यात्यन्तिक, अभूय सभयदापविनाश । ५ ' अभ्रादिभ्य ' हैमयज्ञम् ७।२।४६ । ६ हैमयज्ञम् ७।१।११४

तुल्ये य' । अमर्त्यपूज्यता च तथाविधगुरुरपदेशपरिचर्यापर्याप्तविद्याचरणसपद्माना  
सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा, अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमिति विशेषणम् ।  
स्वयम्-आत्मनैव, परापदेशानिरपक्षतयावगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भू' स्वय सजुद्ध,  
तम् । एवविध चरमजिनेन्द्र स्तोतु-स्तुतिपरिचर्यास्तुम् अह यतिप्ये यत्न करिष्यामि ॥  
अत्र चाचाया भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठान भगवद्गुणस्तवन  
मन्यमान' श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारण कारण ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मद्धान न  
पुनर्यथास्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि  
परापदेशान्यानुष्ठ्यादिनिरपक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ॥

'अतीतगोपत्व' 'उपगान्तमोह' नामक ग्यारहवें गुणस्थानशालोके भी समान है, इस लिये  
अप्रतिपाति 'क्षणमोह' नामक बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतानेके लिये 'जिन' विशेषण  
दिया गया है । जिनेने रागादि दोषोंको जडमूलसे उखाड़ लिया है, उसे जिन कहते  
हैं । 'अनाध्यसिद्धान्त' श्रुतकेरली आदिमें भी पाया जाता है, उसका निराकरण करनेके  
लिये 'आप्तमुच्य' विशेषण दिया गया है । जिसके राग, द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो  
गया है, उसे आप्त कहते हैं । [ यहाँ अज्ञादिगणमें मत्वधमें 'अ' प्रत्यय हुआ है,  
( 'अज्ञादिभ्य' हेमसूत्र ७।२।४६ ) ] जिस प्रकार सम्पूर्ण अर्गोंमें मुख प्रधान है, इसी तरह  
जिनेन्द्रभगवान् आप्तोंमें प्रधान हैं, इस लिये उन्हें आप्तमुच्य कहा गया है । यहाँ  
'शास्तादेर्य' ( ७।१।११४ हेमशब्दानुगामन ) सूत्रसे तुल्य अर्थमें 'य' प्रत्यय हुआ  
है । ] सहस्रोंके उपदेश और सेवासे जान और चारित्रको प्राप्त करनेवाले सामान्यमुनि  
भी देवोंद्वारा पूजे जाते हैं, इस लिये उनका निराकरण करनेके लिये 'स्वयम्भू' विशेषण  
दिया गया है । जिसने दृमरेके उपदेशके बिना स्वय ही तत्त्वोंको जान लिया है, वह स्वयम्भू  
कहलाता है । इन पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त अतिम जिनेन्द्र वर्धमानम्यामीकी स्तुति करनेका  
में ( हेमचन्द्र ) प्रथम कहेंगा । भगवानके गुणोंका स्तवन योगियोंद्वारा भी अशक्य है, और  
असाधारण श्रद्धाके बशमें ही उन गुणोंकी स्तुति की जाती है, यह सूचित करनेके लिये  
आचायने 'यतिप्ये' भविष्य कालका प्रयोग किया है । यद्यपि 'यतिप्ये' कहनेसे  
'अह' का म्यध बोध हो जाता है, फिर भी दृमरोंके उपदेशके बिना केवल अपनी ही भक्तिसे  
में इस स्तवनको आरम्भ करता हूँ, यह बनानेके लिये 'अह' पद दिया गया है ।

अथवा । श्रीवर्धमानाद्विशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतु-  
मद्भावेन व्याख्यायते । यत एव श्रीवर्धमानम्, अत एवानन्तविज्ञानम् । त्रिया—  
कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूतानन्तचतुष्टयसपद्रूपया वर्धमानम् । यत्रापि श्रीवर्धमानस्य परमे-

श्वरस्थानन्तचतुष्कसपचैरत्पच्यनन्तर सर्वाङ्ग तुल्यत्वात् चयापचर्यौ न स्त', तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद् वर्धमानत्रमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्धमान-  
प्रशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तप्रिज्ञानत्रयमपि सिद्धम्, तथाप्यनन्तप्रिज्ञानस्यैव  
परोपकारसाधकतमत्वाद्, भगवन्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिग्रन्थनत्वाद्, अनन्तप्रिज्ञानत्व  
शेषानन्तत्रयात् पृथग् निर्धार्याचापणोक्तम् ॥

अथवा—( १ ) श्रीवर्धमान, ( २ ) जिन, ( ३ ) आसमुख्य, ( ४ ) स्वयमुव ये क्रमशः  
( १ ) अनन्तविज्ञान, ( २ ) अतीतदोष, ( ३ ) अगाध्यसिद्धान्त, ( ४ ) अमर्त्यपुत्र्यके  
साथ कारण और कार्यरूपसे प्रतिपादित किये जासकते हैं । भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके  
नाशसे उत्पन्न होनेवाली अनन्तचतुष्टय रक्षीसे वृद्धिगत हैं अतएव अनन्तविज्ञानके  
धारक हैं । यद्यपि वर्धमानस्वामीके अनन्तचतुष्टय रक्षी सर्वा एक समान रहती है,  
अतएव उसमें घटना बदना नहीं होता, फिर भी उस रक्षीके सर्वा एक समान रहनेके  
कारण उसमें वर्धमानताका उपचारसे प्रतिपादन किया गया है । तथा, यद्यपि श्रीवर्धमान-  
प्रशेषणसे अनन्तविज्ञान अनन्तचतुष्टयमें गर्भित होजाता है, फिर भी अनन्तविज्ञानसे ही  
जीवोंका परोपकार होता है, और परोपकारके लिये ही भगवानकी प्रवृत्ति होती है, इस लिये  
अनन्तविज्ञानको अनन्तदर्शन आत्ति तीर्णोमे पृथक् कहा है ।

ननु यथा जगन्नाथस्थानन्तविज्ञान परार्थ, तथानन्तदर्शनस्यापि केवलदर्श-  
नापरपर्यायस्य पाराल्यमव्याहृतमेव, केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी त्रम  
प्रवृत्तिभ्यामुपलब्ध सामान्यविशेषान्तर पदार्थसार्थ परेभ्य प्ररूपयति, तत्किमर्थ  
तत्रोपात्तम् ? इति चत् । उच्यते । विज्ञानशब्देन तस्यापि सग्रहादन्तोप, ज्ञानमात्राया  
उभयत्रापि समानत्वात् । य एव हि अभ्यन्तरीकृतसंमतारूपधर्मा विषमताधर्मविशिष्टा  
ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्था, त एव अभ्यन्तरीकृतविषमताधर्मा समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन  
गम्यन्ते, जीवस्वाभाव्यात् । सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषधर्मग्रहण दर्शासुच्यते ।  
तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्य च ज्ञानमिति ॥

ज्ञाना—निरूपकार भगवानका अनन्तज्ञान परोपकारके लिये कहा जाता है, उसी  
तरह अनन्तदर्शन ( केवलदर्शन ) भी परोपकारके लिये ही होता है । क्योंकि क्रमसे होने-  
वाले केवलज्ञान और केवलदर्शनमें जाने हुए पदार्थोंको ही भगवान् दूसरोंको प्रतिपादित  
करते हैं । फिर यहाँ अनन्तदर्शनके उल्लेख नहीं करनेका क्या कारण है ? समाधान—अनन्त-  
ज्ञानमें ज्ञान शब्दसे दर्शनका भी सूचना होता है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोंमें  
ज्ञानकी मात्रा समान ही है । कारण कि जो पदार्थ सामान्यधर्मोंको गौण करके विशेषधर्मों

सहित ज्ञानमे जाने जाते हैं, वे ही पदार्थ विशेषणोंकी गौणतापूर्वक सामान्यणों सहित दर्शनसे जाने जाते हैं। ज्ञान और दर्शन दोनों ही जीवके स्वभाव हैं। सामान्यकी मुख्यता-पूर्वक विशेषको गौणकरके पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते हैं। तथा सामान्यको गौणकरके विशेषकी मुख्यतापूर्वक किसी वस्तुके जानको दर्शन कहते हैं।

तथा यत् एव जिनम्, अत एवातीतदोषम्, रागादिजेत्रत्वाद्धि जिनः । न चाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत् एवाप्तमुरयम्, अत एवात्रायसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते । तत आप्तेषु मुरय श्रेष्ठमाप्तमुरयम् । आप्तमुरयत्व च प्रभोरपिसवादिबचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात् । अत एवात्रायसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुन्यैर्नाधितु गन्यते । यत् एव स्वयम्भुवम्, अत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यत हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षण स्वयसम्बुद्धत्वगुणन सौधर्मैन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति । अत्र च श्रीवर्धमानमिति विशेषणतया यद् व्याख्यात तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वारित्रिशिकाप्रथमकाव्यतृतीयपादवर्तमान " श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम् " इति विशेष्यवर्तमान जुद्धा सप्रधार्य विशेष्यम् । तत्र हि आत्मरूपमिति विशेष्यपदम्, प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्त परमात्मानमिति यावत् । आदृच्या वा विश्लेषणमपि विश्लेष्यतया व्याख्येयम् ॥ इति प्रथमवृत्तार्थः ॥ १ ॥

अतएव भगवान् जिन हैं, इसी कारण दोषोंसे रहित हैं। रागादि जीतनेवालेको जिन कहते हैं। जो जिन नहीं हैं, वे दोषोंसे रहित नहीं हैं। भगवान् आप्तोंमें मुख्य हैं, इस लिये उनका सिद्धात बाधरहित हैं। जो प्रतीति ( विश्वास ) के योग्य है, उसे आप्त कहते हैं। इस कारण जो आप्तोंमें प्रधान अर्थात् श्रेष्ठ हो वह आप्तमुख्य है। भगवान्के बचनोंमें कोई विसवाद न होनेसे तथा सब प्राणियोंके विश्वासभूत होनेसे भगवान् आप्तमुख्य हैं। इसी कारण भगवान्का सिद्धात अत्राय कहा गया है। क्योंकि जिन प्रकार पदार्थ ज्ञानमें श्लक्ते हैं, उन्हें उसी प्रकार कथन करनेमें बाधा नहीं आ सकती। भगवान् स्वयम्भू हैं, इस लिये देवोंसे वन्दनीय हैं। तीनों लोकोंमें विलक्षण स्वयसम्बुद्धत्व ( स्वयं जानको प्राप्त करना ) गुणके होनेसे देवोंकेदेव भगवान् सौधर्मैन्द्रादि देवोंसे पूजे जाते हैं। इस श्लोकमें ' श्रीवर्धमान ' विशेषणका सत्रय अयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथम श्लोकके तृतीय चरण ' श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम् ' विशेष्यके साथ लगाना चाहिये। अथवा पुन आवृत्ति करके, श्रीवर्धमान पदको पहले विशेषण बनाकर फिर विशेष्यरूपसे प्रतिपादन करना चाहिये। यह प्रथम श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें ग्रथके आदिमें भगलाचरणद्वारा भगवानका स्तवन करते हुए, अनन्तविज्ञान, अतीतदोष, अवाध्यसिद्धात, अमर्त्यपूज्य विशेषणोंसे भगवानके ज्ञानातिशय, अपायापगमअनिशय, वचनातिशय, पूजातिशय नामक चार अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है। तथा आजीविक और वैशेषिकमतके निराकरण करनेके लिये क्रमशः अनन्तविज्ञान और अतीतदोष तथा अपौरुषेय वेदान्तिकी निवृत्तिके लिये और भगवानके दवाधिदेवत्वकी सूचित करनेके लिये क्रमसे अवाध्यसिद्धात और अमर्त्यपूज्य विशेषण दिये गये हैं।

अस्यां च स्तुताग्रन्ययागव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पितत्त्वाभासनिरासेन तपामाप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम् । तच्च भगवतो यथास्थितवस्तुतत्त्ववादिस्वरूपापननैव प्रामाण्यमश्नुते । अतः स्तुतिकारस्त्रिजगद्दर्शोर्भिः शेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्गतस्तुवादिस्वारय गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

इस स्तुतिमें ‘अन्ययोगव्यवच्छेद’ अर्थात् ‘दृमे दर्शनोंका व्यवच्छेद’ किया गया है। अन्य मतावलम्बियोंद्वारा मान्य तत्त्वाभासोंके खण्डन करनेमें ही उनके आप्तत्वका व्यवच्छेद किया जा सकता है, तथा यह कार्य भगवानके यथार्थवादिस्वगुणकी विवेचनासे ही साध्य हो सकता है। अतएव स्तुतिकार आचार्य तीन लोकके अधिपति भगवानके सम्पूर्ण गुणोंकी स्तुतिमें श्रद्धा रखते हुए भी यथार्थवादित्व गुणका ही वर्णन करते हैं—

अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।

विगाहता किन्तु यथार्थवादमेक परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥

श्रुकार्थ—हे नाथ ! परीक्षा करनेमें अपनेको पडित समझनेवाला मैं ( हेमचन्द्र ) आपके दृमे गुणोंके प्रति श्रद्धाका भाव रखते हुए भी आपके स्तवनके लिये आपके ‘यथार्थवाद’ नामक गुणका प्रतिपादन करता हूँ।

हे नाथ ! अयं—महत्क्षणो जन, तव गुणान्तरेभ्यो—यथार्थवादव्यतिरिक्तान्याऽन्यमाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव । किमर्थम् ? स्तवाय-स्तुतिस्तरणाय । इयं “तादर्थ्यं चतुर्थी” । पूर्वत्र तु “स्पृह्यर्वाप्य वा” इतिलक्षणा

चतुर्थी। तत्र गुणान्तराण्यपि स्तोतु स्पृहावीनय जन इति भावः। ननु यदि गुणान्तरस्तुतापि स्पृहयालुता तर्किं तान्यपि स्तोप्यति स उत नेत्याशङ्क्योचरार्थमाह-  
किन्त्रिति-अभ्युपगमपूर्वविशेषप्रयत्ने निपातः। एनम्-एकमेव। यथार्थवाद-यथा-  
वस्थितवस्तुतत्त्वमर्यापनारय त्वदीय गुणम्, अय जनो विगाहता-स्तुतित्रियया  
समन्नाद् व्याभ्रांतु। तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयद्वैतभ्यां  
वैशिष्ट्यर्यापनद्वारेण प्रस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धे ॥

व्यार्यार्थ-हे नाथ। मैं ( हेमचन्द्र ) आपके ' यथार्थवाट ' के अतिरिक्त दूसरे  
गुणोंके प्रति भी श्रद्धा रखता हूँ। [ ' स्तवाय ' यहाँ ' तादर्थ्ये चतुर्थी ' ( २।२।५४ )  
सूत्रसे तादर्थ्यमें चतुर्थी तथा ' गुणान्तेभ्य ' पदमें ' स्पृहेर्याप्यत्र ' ( २।२।२६ )  
सूत्रसे स्पृह घातुके कर्मम विकल्पसे चतुर्थी विभक्ति हुई है। ] शक्रा-यदि  
आपकी अन्य गुणोंके स्तवन करनेमें भी श्रद्धा है तो उसी उपेक्षा क्यों  
करते हैं? समाधान-इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्थ भागसे दिया गया है। इस  
यथार्थवाद नामक एक ही गुणके वर्णनसे अन्यमतोंके देवताओंसे भगवानकी  
विशिष्टता सिद्ध होती है, इस लिये इस एक गुणके स्तवनसे भगवानके सपूर्ण गुणोंका स्तवन  
होजाता है।

अथ प्रस्तुतगुणस्तुति सम्यग्परीक्षाक्षमाणा दिव्यैशामर्चितीमञ्चति,  
नार्वाग्दंशा भवादशामित्याशङ्का विशपणद्वारेण निराकरोति। यतोऽय जनः परीक्षा-  
विधिदुविदग्ग-अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणार्थो दुर्विदग्ग-पण्डितमन्य इति यावत्।  
अयमाशयः। यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षा मादृशा मतेरगोचरः, तथापि  
भक्तिश्रद्धातिशयात् तस्यामहमात्मान विदग्धमिव मन्य इति। विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्ति-  
मात्रस्वरूपत्वात् स्तुते ॥ इति षट्त्तार्थः ॥ २ ॥

शक्रा-उत्तम रीतिमें परीक्षा करनेमें समर्थ दिव्य नेत्रवाले मुनीश्वर लोग ही भगवानके  
गुणोंकी स्तुति कर सकते हैं, आप जैसे छत्रस्रोमें स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है ?  
समाधान-प्रस्तुत गुणोंकी परीक्षामें अपनेको पंडित मानकर मैं ( हेमचन्द्र ) स्तुति आरम्भ  
करता हूँ। तात्पर्य यह है, कि यद्यपि भगवानके यथार्थवात्त्व गुणोंकी परीक्षा करना मेरी  
बुद्धिके बाहर है, फिर भी भक्ति और श्रद्धाके बल होकर मैं उस परीक्षामें अपनेको  
पंडित समझता हूँ। क्योंकि विशुद्ध श्रद्धा और भक्ति प्रगट करना ही स्तुति है। यह  
श्लोकका अर्थ है।

१ ' स्पृहावीनयवायम् ' पाठान्तरः। २ ' तस्मिन्नेभ्य ' तत्रोपेक्षा इत्याहशक्योत्तरार्थमाह- ' पाठान्तरः।  
३ अतीन्द्रियशानिना। ४ योग्यतां। ५ छत्रस्थाना।

भावार्थ—यद्यपि भगवान् अनन्त गुणोंसे भूषित हैं, परन्तु अयमतोद्वारा मान्य आसोंसे भगवानकी असाधारणता दिखानेके लिये भगवानके ' यथार्थवाद ' गुणका स्तवन करना ही पर्याप्त है । अतएव हेमचन्द्राचार्य दूसरे गुणोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी यहाँपर भगवानके ' यथार्थवाद ' गुणकी ही स्तुति करते हैं ।

अथ ये कुतीर्थ्या कुशास्त्रमासनावासितस्मान्ततया त्रिभुवनस्वामिन स्वामित्वेन न प्रतिपन्ना , तानपि तत्त्वविचारणा प्रति शिक्षयन्नाह—

मिथ्याशास्त्रोंकी वासनासे दूषित परमतावलम्बी तीनलोकके स्वामी जिनभगवानको स्वामी नहीं मानते, उ हैं उपदेश देनेके लिये कहते हैं—

गुणेष्वसूया दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।

तथापि समील्य विलोचनानि विचारयन्ता नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

श्लोकार्थ—हे नाथ, यद्यपि आपके गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले उमतावलम्बी आपको स्वामी नहीं मानते, परन्तु ये लोग आपके सच्चे न्याय-मार्गको जरा नेत्रोंको बन्द करके विचार करें ।

अमी इति—“ अदसस्तु विप्रकृष्टे ” इति घचनात् तत्त्वातत्त्वविमर्शनाद्यतया दूरीकरणार्हत्वाद् विप्रकृष्टा, परे—कुतीर्थिना, भवन्त-त्साम्, अनन्यसामान्यसखलगुण-निलयमपि; मा ईश शिश्रियन्-मा स्वामित्वेन प्रतिपयन्ताम् । यता गुणेष्वसूया दधत-गुणेषु बद्धमत्सरा, गुणेषु दोषाविष्करण ह्यसूया, यो हि यत्र मत्सरी भवति स तदाश्रय नानुरयत, यथा माधुर्यमत्सरी करभ, पुण्ड्रेषुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एव परतीर्थिकाना भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिपिच्य स्तुतिहारो माध्यस्थमिवास्थाय, तान् प्रति द्वितशिक्षामुत्तरार्धेनापदिशति । तथापि—त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि, लोचनानि नेत्राणि—समील्य—मिलितपुटीकृत्य, सत्य—युक्तियुक्त, नयवर्त्म—न्यायमार्ग, विचार यन्ता—विमर्शनिपयीकुर्वन्तु ॥

व्याख्यानार्थ—‘ अमी परे भवन्त मा ईश शिश्रियन्, यत गुणेषु असूया दधत ’ —अच्छे बुरेका विचार न करनेवाले परमतावलम्बी असाधारण गुणोंके समूह आपको ईश्वर नहीं मानते, क्योंकि वे आपके गुणोंमें ईर्ष्या करते हैं । गुणोंके रहते हुए भी दोषोंके ढूँढनेको असूया ( ईर्ष्या ) कहते हैं । जो तिन गुणोंमें ईर्ष्या करता है, वह उन गुणोंको गुणरूपसे नहीं स्वीकार करता । जैसे मीठे रससे ईर्ष्या करनेवाला

ऊँट मीठे गनेको नहीं चाहता । परन्तु आपमें गुण अग्रय मोजूद हैं । इस प्रकार भगवानकी आज्ञाका प्रतिषेध करनेवाले परमतावलम्बियोंके प्रति उदासीन भाव रखते हुए आचार्य उपदेश करते हैं । तथापि—आपकी आज्ञाको न मानकर भी तैथिक लोग आँसों बन्द करके आपके युक्तियुक्त न्याय—मार्गका अरा विचार तो करें ।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैव ज्ञापयत्याचाया यद्वितथनयपथविचारणया तेषामेव फल, यय केवलमुपदेष्टार. । किं तत्फलम् ? इति चेत्, प्रेक्षापत्तेति द्यम्. । समील्य पिलोचनानीति च वदत प्रायस्तत्रविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वक लोके प्रसिद्धमित्यभिप्राय. । अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण निर्तीयते, ततोऽस्मदमानाऽप्यय कटुकौषधपानन्यायेनायतिमुखत्वाद् भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्पाकृतम् ॥

यहाँ 'विचारयन्ता' आत्मनेपत्का प्रयोग किया गया है, इस लिये क्रियाका फल कर्ताको ही मिलना चाहिये । अर्थात् सच्चे न्याय मार्गका विचार करनेसे तैथिक लोगोंको ही फल मिलेगा क्योंकि हम तो केवल उपदेशके देनेवाले हैं । प्रेक्षावान होना ही फलकी सार्थकता है । यहाँ किमी तत्त्वको विचार करते समय एकाग्रता प्राप्त करनेके लिये आँसोंको बन्द कर विचार करनेकी लौकिक विधिका सूचन किया गया है । अथवा उपदेशके रचिकर नहीं होनेपर भी आचार्य इसका उपदेश देते हैं । अतएव 'कटुक औषध पान' न्यायसे इस उपदेशके कटुक होनेपर भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखकर होगा, इसलिये इस उपदेशको आँसों बन्द करके पान करना चाहिये ।

ननु यद्वि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविनेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशत इति ? नेचम् । परोपकारसारप्रवृत्तीना महात्मना प्रतिपाद्यगता रचिमरचि वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्, तेषा हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्, न च हितोपदेशादपरं पारमार्थिक परार्थ. । तथा चार्पम्—

“रुसउं वा परो मा ना, विस वा परियत्तऊ ।

भासियव्या हिया भासा सपवखगुणकारिया ” ॥

उत्राच च वाचरुमुल्य —

“ने भवति धर्म श्रोतुं सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।

तुवताऽनुग्रहदुद्धया वस्तुस्त्वेकान्तता भवति ” ॥

इति वृत्तार्थः ॥ ३ ॥

१ बाध्यअत्रविषयिणीम् । २ छाया—रुतु वा परो मा वा विष वा पर्यटु । भाषित या हित भाषा स्वपक्षगुणकारिका । एतदथक एव श्लाकी आदिमच द्रवृत्तश्रेणिकचरिते द्वितीयसर्गे ३२ उपलभ्यते । तथाहि—परो रयतु वा मा वा विषवत् प्रतिमातु वा । भाषितया हित भाषा स्वपक्षगुणकारिका ॥ २२ ॥ ३ उमास्त्वानि । अपमुमास्वामीत्यभि भण्यते । ४ तत्त्वार्थस्य सत्रधकारिकानु २९ श्लोक ।



ज्ञाता—यदि अविवेककी प्रचुरतासे किसीको जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्यों उपदेश देनेका परिश्रम उठाते हैं ? समाधान—यह बात नहीं है। परोपकार स्वभाववाले महात्मा पुरुष किसी पुरुषकी रुचि और अरुचिको न देखकर हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरेके उपकारको ही अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके बरानर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। ऋषियोंने भी कहा है—“ उपदेश दिया जानेवाला पुरुष चाहे रोप करे, चाहे वह उपदेशको विपश्य समझे, परन्तु हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिये” उमास्वाति वाचस्पत्युष्यने भी कहा है—“सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है। परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश करनेवालेको निश्चय ही पुण्य होता है।” यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—एकान्तरूपसे वस्तु तत्त्वको स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी आपके गुणोंमें ईर्ष्याबुद्धि रखते हुए आपकी अपना इष्टदेव नहीं मानते। परन्तु यदि वे लोग एकान्तका आग्रह छोड़कर आपके प्रतिपादन किये हुए न्याय मार्गका विचार करें, तो उन्हें आपकी महत्ता स्वयं ही प्रगट हो जायगी।

अथ यथाप्रत्ययवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिमततत्त्वानां प्रामाण्य निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यपदकनौत्स्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुं कामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतर सामान्यविशेषां दूषयन्नाह—

अत्र ‘ यथार्थ नयमार्ग ’ का ही विचार करनेके लिये परमतावलम्बियोंद्वारा मान्य तत्त्वोंकी प्रमाणताका निराकरण करनेके बाले छह श्लोकोंमें वैशेषिकमतके तत्त्वोंमें दूषण मताते हुए पहले पहल ‘ सामान्य विशेष ’ में दोष लिखाते हैं।

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिर्भाजो भावा न भावान्तरनैयरूपाः ।

परात्मतत्त्वादत्थात्मतत्त्वाद् द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्वलन्ति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पदार्थ स्वभावसे ही सामान्यविशेषरूप हैं, उनमें सामान्य विशेषकी प्रतीति करानेके लिये पदार्थोंतर माननेकी आवश्यकता नहीं। इस लिये जो अनुगलवादी पररूप और मित्रारूप सामान्य-विशेषको पदार्थसे भिन्नरूप कथन करते हैं, वे न्याय मार्गसे भ्रष्ट होते हैं।

अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति, चेति भावाः—पदार्था, आत्मपुद्गलादयस्ते, स्वत इति—सर्व हि प्राण्य सावधारणमामनन्ति इति स्वत एव—आत्मीयस्वरूपा दव, अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिर्भाजः—एनाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्ति ।

१ अनुवृत्ति—अवय । व्यतिवृत्ति—व्यतिरेक । २ पुण्यगलनघमाण पुद्गला ( दगवैकालिक प्रथमाभ्ययने ) ।

व्यतिवृत्तिः—व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः, ते उभे अपि सवलिते भजन्ते—आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, सामान्यविशेषो-  
भयात्मका इत्यर्थः ॥

व्यार्यार्थः—आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थोंकी बिना सहायताके ही सामान्यविशेषरूप होते हैं। एकाकार और एक नामसे कही जानेवाली प्रतीतिको अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं। सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ स्वभावसे ही इन दोनों धर्मोंमें—सामान्य विशेषमें युक्त हैं।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह । न भावान्तरनेयरूपा इति । नेति निषेधे । भावान्तराभ्यां—पराभिमतभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्त-सामान्यविशेषाभ्याः । नेय-प्रतीतिविषय प्रापणीय । रूप-यथासक्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्ति-लक्षण स्वरूप येषां ते तथोक्ताः । स्वभाव एव स्य सर्वभावाना यदनुवृत्तिव्यावृत्ति-प्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति । तथाहि । घट एव तावत् पृथुनुप्पोदरायाकारवान् प्रतीति-विषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभूत पदार्थान् घटरूपतया घटैरुशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्या लभत । स एव चतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते । इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वमल्पनं न्याय्यम् । पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात् । न च धर्मा धर्मिणः सजातादत्यन्त व्यतिरिक्ताः । एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभासानुपपत्तेः, ररभरासभयोरिव धर्मधर्मिव्यपदेशाभावप्रसङ्गाच्च । धर्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्व-कल्पने एकस्मिन्नेव उस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः । अनन्तधर्मस्त्वाद् उस्तुनः ॥

इसीको प्रकारान्तरसे कहते हैं । आत्मा पुद्गलादि पदार्थ, वैशेषिकोंद्वारा माय द्रव्य, गुण, कर्म और समवायसे पृथक् सामान्य और विशेषमें, भिन्न नहीं हैं । क्योंकि स्वयं ही सामान्य और विशेषरूप जानकी उत्पन्न करना पदार्थोंका स्वभाव है । उदाहरणके लिये मोटा, गोल, उदर आदि आकारवाला घड़ा स्वयं ही उसी आकारके अन्य पदार्थोंको भी घटरूप और घटशब्दरूप जानता हुआ 'सामान्य' कहा जाता है । इस लिये घटको छोड़कर घटसामान्य अथवा घटत्व कोई पृथक् वस्तु नहीं है । यही घटा दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ 'विशेष' कहा जाता है । अतएव सामान्य और विशेषको अलग पदार्थ मानना न्यायसंगत नहीं है । क्योंकि सामान्य-विशेषका ज्ञान पदार्थके धर्म (गुण)

रूपसे ही होता है। तथा धर्मा (गुणी) से धर्म सर्वथा भिन्न नहीं होते। क्यो कि धर्म और धर्माको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेषण विशेष्यसंबंध नहीं बन सकता। उदाहरणके लिये ऊँट और गधा दोनो सर्वथा भिन्न हैं, इस लिये इनमें धर्म धर्मासंबंध नहीं हो सकता। यदि धर्मको धर्मासे अलग पदार्थ माना जाय, तो एक ही वस्तुमें अनंत पदार्थोंका प्रसंग होगा कारण कि, वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छह पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन छह पदार्थोंमें सामान्य और विशेष नामक पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदिसे भिन्न माने गये हैं। दूसरे शब्दोंमें, वैशेषिक मतके अनुसार पदार्थोंमें 'सामान्य-विशेष' का ज्ञान होना पदार्थोंका गुण (धर्म) नहीं है, बल्कि यह ज्ञान सामान्य और विशेष नामके भिन्न पदार्थोंसे होता है। उदाहरणके लिये घटत्व घटका गुण नहीं है, यह घटमें सामान्यसंबंधसे रहता है। इसी प्रकार नीलपीत आदि भी घटके गुण नहीं हैं, घटमें विशेषसंबंधसे रहते हैं। जैनदर्शन अनेकतात्मक (सामान्यविशेषात्मक) है, इस लिये वह वैशेषिकोंके इस सिद्धांतका खंडन करता है। जैनदर्शनके अनुसार पदार्थोंमें स्वभासे ही सामान्य-विशेषकी प्रतीति होती है। क्योकि सामान्य विशेष पदार्थोंके ही गुण हैं, कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं। धर्मासे धम भिन्न नहीं हो सकता। अतएव सामान्य विशेषको भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है।

तदेव सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अबुशलाः अतच्चाभि-  
निविष्टं हृष्टय तीर्थान्तराया स्वलन्ति न्यायमार्गाद् अश्रयन्ति निरत्तरीभवन्तीत्यर्थः ।  
स्वलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता ध्वन्यते । किं कुर्वाणाः , द्वयम् अनुवृत्ति-  
व्यावृत्तिलक्षण प्रत्ययद्वय वदन्त । कस्मादेतत्प्रत्ययद्वय वदन्त , इत्याह । परात्मत-  
त्वात्-परौ पदार्थभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षा च यौ सामान्यविशेषौ  
तयोर्यदात्मतत्त्वरूपम् अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षण, तस्मात्तद्वाश्रित्येत्यर्थः । "गम्येषप  
कर्मधारे" इत्यनेन पञ्चमी । कथभूतात् परात्मतत्त्वाद्, इत्याह । अतथात्मतत्त्वात्  
मा भूत् पराभिमतस्य परात्मतत्त्वरूपस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम् । यथा येन  
ज्ञान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परै प्रकल्पितं, न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्वरूप  
यस्य तत्तथा । तस्मात् यत् पदार्थस्वरूपव्यभिचारेण सामान्यविशेषौ वर्तते, तैश्च तौ  
तेभ्य परत्वं कल्पितौ । परत्वं चान्यत्वं तच्चान्तभेदाधिनाभावि ॥

इस प्रकार सामान्य विशेषके स्वरूपको ठीक ठीक न समझकर कदाग्रही तैरिक्त  
लोग निरत्तर होनेके कारण प्रामाणिक मनुष्योंके हास्यास्पद होते हैं। कारण कि ये

लोग सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे भिन्न और परम्पर निरपेक्ष स्वीकार करते हैं। परंतु यह मान्यता सत्य नहीं है। क्योंकि सामान्य विशेष पदार्थोंमें अभिन्न रूपसे रहते हैं, और वैशेषिकोंने सामान्य विशेषको पदार्थोंसे एकान्तभिन माना है। वैशेषिक लोग सामान्य-विशेषको पदार्थोंमें सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार सामान्य विशेष पदार्थोंके स्वभाव हैं, क्योंकि गुण-गुणीका एकान्त भेद नहीं बन सकता। जैनदर्शनमें सामान्य विशेष पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वीकार किये गये हैं।

अथ, पदार्थभ्य सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकरस्तुविषय-मनुवृत्तिव्यावृत्तिरूप प्रत्ययद्वय नोपपद्येत । एकान्ताभेदे चान्यतरन्यासस्वप्नसङ्ग । सामान्यविशेषव्यवहाराभासश्च स्यात् । सामान्यविशेषोभयात्मस्वरूपेन वस्तुन प्रमाणेन प्रतीते । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्ताद्विलोडयिष्यते । अत एव तत्रा यादिना स्वस्वनक्रिययोपहसनीयत्प्रमभिव्यज्यते । यो हि अन्यथास्थित वस्तुस्वरूपमन्यर्थव प्रतिपद्यमान परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् मय नष्ट परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम् ॥ इति वृत्तार्थ ॥ ४ ॥

तथा सामान्य विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न माननेपर एक वस्तुमें सामान्य और विशेष सबध नहीं बन सकते। क्योंकि पदार्थोंके सामान्य विशेषसे एकान्त भिन्न होनेके कारण पदार्थ और सामान्य विशेषका संबध ही नहीं हो सकता। यदि सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा अभिन्न मानें, तो पदार्थ और सामान्य विशेषके एकरूप हो जानेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव मानना चाहिये। तथा इस तरह सामान्य विशेषका व्यवहार भी न बन सकेगा, क्योंकि प्रमाणसे सामान्य विशेषरूप ही वस्तुकी प्रतीति होती है। सामान्य विशेषकी परस्पर निरपेक्षताका आगे खडन किया जावेगा ( देखो १४ वीं कारिकाकी व्याख्या )। इसीलिये बादियोंके स्वस्वनसे यहाँ उनके हास्यास्पद होनेका सूचन किया गया है। जो पुरुष वस्तुके अमुक स्वरूपको उम रूपमें स्वीकार न करके अन्यथा रूपसे स्वीकार करता है, तथा दूसरोंको भी उसी तरह प्रतिपादन करता है, वह पुरुष स्वयं नष्ट होता है, और दूसरोंको नष्ट करता है। इसवास्ते ऐसा पुष्प हास्यका पात्र होता ही है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकदर्शनके द्वारा मान्य सामान्य विशेषका खडन किया गया है। वैशेषिकोंका कहना है, कि सामान्य और विशेष पदार्थोंसे भिन्न और एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं। उदाहरणके लिये वैशेषिकमतके अनुसार घटमें घटत्व सामान्यसबधसे रहता है, तथा नीलपीतादि विशेषमनधमे रहता है। परन्तु जैनदर्शन अनेकात्मरूप है, इस लिये वह सामान्य विशेषको पदार्थोंसे एकान्त-भिन्न स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शनके अनुसार घटमें घटत्व अथवा नीलपीतादि किसी अन्य सबधविशेषसे नहीं रहते, ये स्वयं घटके ही गुण हैं।

इस लिये पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष नामके पदार्थोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

८

अथ तदभिमतान्नान्तनित्यानित्यपक्षौ दूषयन्नाह—

अब वैशेषिकोंके एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्षमें दोष दिखाते हैं—

**आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।**

**तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विपतां प्रलापा ॥ ५ ॥**

एतत्कार्य—दीपकसे लेकर आकाश तक मर्मा पदार्थ नित्यानित्य स्वभाववाले हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करती। ऐसी वस्तुभित्तिमें भी आपके विरोधी लोग दीपक आदिको सर्वथा अनित्य और आकाश आदिको सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं।

आदीप—दीपादारभ्य, आव्याम—व्योम मर्यादीकृत्य, सर्वरस्तुपदार्थस्वरूप, समस्वभाव—समः तुल्य, स्वभाव—स्वरूप यस्य तत्तथा। किञ्च वस्तुन. स्वरूप द्रव्यपर्यात्मकत्वमिति ब्रूम। तथा च वाचकमुच्य—“उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इति। समस्वभावत्व कुतः। इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—स्याद्वादमुद्रानतिभेदि स्यादित्यव्ययमनेनान्तथातरुम्। तत, स्याद्वाद—अनेकान्तवाद, नित्यानित्याग्रनेरुधर्मशर-लैरुवस्त्रभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा—मर्यादा, ता, नातिभिनति—नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि। यथा हि न्यार्यरुनिष्ठ राजनि राज्यश्रिय शसति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशत, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् एव विजयिनि निष्कण्टक स्याद्वादमहानरेन्द्रे, तदीयमुद्रा सर्वऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति, तदुल्लङ्घन तेषा स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्ते ॥

व्याख्या—दीपसे लेकर आकाशपर्यंत सब पदार्थोंका स्वरूप एकसा है। क्योंकि हम वस्तुके स्वभावको द्रव्य और पर्यायरूप मानते हैं। वाचकमुख्य भी कहते हैं—“ओ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है।” अनएव वस्तुका स्वभाव नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करता। जिम प्रकार न्यायी राजाके शासन करनेपर उसकी प्रजा राज्यमुद्राका उल्लंघन नहीं कर सकती, क्योंकि उसके उल्लंघन करनेपर प्रजाके सर्वम्बका नाश होता है। उसी प्रकार विजयी निष्कण्टक स्याद्वाद महाराजोंके विद्यमान रहते हुए कोई भी पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाको अतिक्रमण नहीं करते। क्योंकि हम मर्यादाके उल्लंघन करनेपर पदार्थोंका स्वरूप नहीं बन सकता।

सर्ववस्तूना समस्वभावत्वकथन च पराभीष्टस्यैव वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यञ्च प्रदीपादि अनित्यमेव इति वादस्य प्रतिषेधवीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिजनयापेक्षया नित्या , पर्यायार्थिजनयादेशात् पुनरनित्या । तत्रैवान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिद्दमात्रमुच्यते ॥

यहाँ सब पदार्थोंके द्रव्य और पर्यायरूप कथन करनेसे आकाश आदिके सर्वथा नित्यत्व और प्रदीप आदिके सर्वथा अनित्यत्वका खडन हो जाता है । कारण कि सभी पदार्थ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायाधिकारी अपेक्षासे अनित्य हैं । यहाँ पर परवादियोंद्वारा मान्य दीपककी एकान्त अनित्यतापर विचार करते हुए दीपकको नित्य-अनित्य सिद्ध करनेके लिये कुछ सक्षेपमें कहा जाता है ।

तथाहि । प्रदीपपर्यायापत्नास्नैजसाः परमाणव स्वस्वतस्तैलक्षयाद् वाताभिघाताद्वा ज्योतिष्पर्याय परित्यज्य तमोरूप पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैवान्तेनानित्या , पुद्गलद्रव्यरूपतयास्थितत्वात् तपाम् । नद्येतावतैवानित्यत्व यावता पूर्वपर्यायस्य विनाश , उत्तरपर्यायस्य चात्पाद . न खलु मृद्द्रव्य स्थासम्भारशुशूलशिवक-घटाग्रस्थान्तराण्यापत्रमानमप्यैकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्यागालगोपाल प्रतीतत्वात् । न च तमस पाद्मलिमत्वमसिद्धम्, चाश्रुपत्वान्यथानुपपत्तेः, प्रदीपालोभवत् ॥

दीपककी पर्यायमें परिणत तैजस परमाणु तेलके समाप्त हो जानेसे अथवा हवाका शोका लगनेसे प्रकाशरूप पर्याय टोड़कर तमरूप पर्यायको प्राप्त करनेपर भी सर्वथा अनित्य नहीं हैं । क्योंकि तैजके परमाणु तमरूप पर्यायमें भी पुद्गल द्रव्यरूपमें मौजूद हैं । तथा पूर्वपर्यायके नाश और उत्तरपर्यायके उत्पन्न होने मात्रसे ही दीपककी अनित्यता सिद्ध नहीं होती । उदाहरणके लिये मिट्टी द्रव्यके म्यासक, कोश, कुशल, शिवक, घट (मिट्टीके पिंठसे घड़ा बनने तक उत्तरोत्तर अग्रस्थायी) आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर लेनेपर भी मिट्टीका सर्वथा नाश नहीं होता । क्योंकि म्यासक आदि पर्यायोंमें प्रत्येक पुरुषको मिट्टीका ज्ञान होता है । जैनदर्शनके अनुसार ससारके समस्त पदार्थोंमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म विद्यमान हैं । इस लिये दीपकमें भी नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म पाये जाते हैं । दीपकका अनित्यत्व सर्व साधारणमें प्रसिद्ध ही है । इस लिये यहाँ दीपकमें केवल नित्यत्व सिद्ध किया जाता है । नैयायिक लोग अधकारको अभावरूप मानते हैं, इस लिये नैयायिकोंके अनुसार अधकार कोई स्वतंत्र पदार्थ न होकर वह केवल प्रकाशका अभाव मात्र है । इस लिये तमको अभावरूप माननेसे नैयायिक दीपकको नित्य नहीं मानते । परन्तु जैनसिद्धांतके अनुसार तम

केवल प्रकाशका अभाव मात्र नहीं है, वह प्रकाशकी तरह ही स्वतंत्र द्रव्य है। जैनदर्शनमें प्रकाशकी तरह अधिकारको भी पुद्गलकी पर्याय माना है। जैनसिद्धांतके अनुसार तेजके, परमाणु दीपककी पर्यायमें परिणत होते हैं। जब तेल आदि समाप्त हो जाता है, अथवा हवाका झोका लगता है, उस समय ये ही परमाणु प्रकाशकी पर्याय छोड़कर तमकी पर्यायमें बदल जाते हैं। जैनदर्शनके अनुसार केवल पर्यायान्तरको प्राप्त करना ही अनित्यत्वका लक्षण नहीं है। उदाहरणके लिये मिट्टीका घड़ा बनाते समय मिट्टी अनेक पर्यायोंको धारण करती है, परन्तु इन अनेक पर्यायोंमें मिट्टीका नाश नहीं हो जाता, मिट्टी हरेक पर्यायमें सदा विद्यमान रहती है। इसी तरह दीपकके तेज परमाणुओंका अधिकार परमाणुओंमें परिणमन होनेसे द्रव्यका नाश ( अनित्यत्व ) नहीं होता। यह केवल परमाणुओंका एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें पलट जाना मात्र है। इस लिये हमें दीपकको सर्वाथ अनित्य ही नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तम अभावरूप नहीं है। पर्यायमें पर्यायान्तर होनेको ही तम कहते हैं। अधिकारका पौद्गलिक होना असिद्ध नहीं है क्योंकि वह प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है। जो जो चक्षुका विषय होता है, वह पौद्गलिक होता है। प्रकाशकी तरह अधिकार भी चक्षुका विषय है, इस लिये वह पौद्गलिक है।

अथ यच्चाक्षुष तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोक्यमपेक्षत । न चैव तम । तत्कथं चाक्षुषम् । नैयम् । उल्लसदीनामालोक्यमन्तरेणापि तत्प्रतिभासान् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुष घटादिकमालोक्य विना नापलभ्यते तरपि तिमिरमालोक्यिष्यते । विचित्रत्वात् भायानाम् । कथमन्यथा पीतभेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोक्यपेक्षदर्शना । प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा । इति सिद्ध तमश्चाक्षुषम् ॥

ज्ञाना—जो चाक्षुष पदार्थ है, वह प्रतिभासित होनेमें आलोककी अपेक्षा रखता है। परन्तु तमके प्रतिभासेमें प्रकाशकी गन्ध नहीं, इस लिये तम चक्षुका विषय नहीं कहा जा सकता। समाधान—उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है। क्योंकि उल्ल आदि विना आलोकके भी तमको देखते हैं। यह ठीक है, कि हम चाक्षुष घट पट आदिको विना प्रकाशके नहीं देखते, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि हमें तमके देखनेमें भी प्रकाशकी आवश्यकता पड़े। सारमें पदार्थोंके स्वभाव विचित्र होते हैं। इसीलिये पीत सुवर्ण और श्वेत मोती वगैरह तेजस होनेपर भी विना प्रकाशके प्रतिभासित नहीं होते, तथा दीपक, चन्द्र आदि प्रकाशके विना ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव तम चाक्षुष है।

रूपवच्चाद्यस्पर्शवच्चमपि प्रतीयत, शीतस्पर्शमत्ययजनत्वात् । यानि त्वनिविद्यायनरूपप्रतिप्रातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषरूपप्रतीयमानत्वण्डाद्यविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमस पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपपयस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिपेक्ष्यानि, तुल्ययोगसेमत्वात् ॥

तथा अधकार रूपान होनेके कारण स्पर्शवान भी है । क्योंकि इसमें शीतस्पर्शका ज्ञान होता है । वैशेषिक लोग तमको पौद्गलिक निषेध करनेके लिये ( १ ) कठोर अवयवोंका न होना, ( २ ) अप्रतिघाति होना, ( ३ ) स्पर्शका न होना, ( ४ ) सङ्घित अवयवरूप द्रव्यके विभागकी प्रतीति न होना, आदि हेतु देते हैं । इन हेतुओंको ग्रन्थकार प्रतीपकी प्रभाके दृष्टातसे सङ्घित करते हैं । क्योंकि अधकार और प्रतीपप्रमा दोनों ही समान हैं । तात्पर्य यह है, कि जैनदर्शनमें प्रकाश और अधकारको पुद्गलकी पर्याय माना है । अनएव प्रकाशकी तरह अधकार भी एक स्वतंत्र वस्तु है । इस लिये अधकार भी प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है । परन्तु वैशेषिकोंके मतमें प्रकाशका अभाव ही तम है, वह कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं । वैशेषिकोंका कहना है, कि जो घट पट पदार्थ चक्षुसे जाने जाते हैं, उन सबमें प्रकाशकी आवश्यकता होती है । परन्तु तमको जाननेमें प्रकाशकी जरूरत नहीं पडती, इस लिये तम चक्षुका विषय नहीं है, और इस लिये वह पुद्गलकी पर्याय भी नहीं कहा जा सकता । इसके उत्तरमें जैन आचार्योंका कथन है, कि वैशेषिकोंकी उपर्युक्त व्याप्ति ठीक नहीं कही जा सकती । कारण कि बिह्वी, उल्लू वगैरह प्रकाशके न रहते हुए भी तमका ज्ञान करते हैं । इस लिये यह व्याप्ति नहीं बना सकते, कि समस्त चाक्षुष पदार्थ आलोककी अपेक्षा रखते हैं । सुवर्ण, मोती वगैरह चाक्षुष होनेपर प्रकाशकी सहायतासे प्रतिभामित होते हुए देखे जाते हैं, परन्तु दीपक, चन्द्र वगैरह नहीं । इस लिये प्रकाशकी तरह तमको भी चक्षुका विषय मानना ही युक्तियुक्त है । अधकारके चाक्षुष होनेसे जैनदर्शनमें उसे स्पर्शज्ञान भी माना गया है । क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमेंसे किसी एकके रहने पर बाकीके तीन गुण उसमें अवश्य रहते हैं । यही पुद्गलका लक्षण भी है । परन्तु वैशेषिकोंको अधकारमें स्पर्शन स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है । उनका कहना है, कि अधकारमें कठोरता नहीं है, वह अप्रतिघाति है, उसमें स्पर्ण और और विभाग नहीं हो सकता, इस लिये अधकार पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता । जैनदर्शनमें उक्त हेतुओंका प्रदीप प्रभाके दृष्टातसे खडन किया गया है । जैनदर्शनके अनुमार अधकार जोर दीपककी प्रभामें पर्यायरूपमें फोटे अन्तर नहीं । हम लिये यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अधकारको भी पुद्गलकी पर्याय मानना चाहिये । क्योंकि प्रकाशकी तरह अधकार भी द्रव्यकी पर्याय है, फिर दोनोंमें इतनी विषमता क्यों ?

न च वाच्य तैजसा परमाणव ऋथ तमस्त्वेन परिणमन्त इति । पुद्गलाना तत्तत्सामग्रीसदकृताना निसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यद्रव्यनसयोग वशाद् भास्वरूपस्यापि चन्द्रेरभास्वरूपधूमरूपकार्योत्पादः । इति सिद्धो नित्यानित्यः



प्रदीप\* । यदापि निर्वाणाद्वाग्देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाश-  
भावत्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्यानित्य एव ॥

दीपकके तेजपरमाणु तमरूपमें कैसे परिणत हो सकते हैं, यह शका भी निर्मूल है । क्योंकि पुद्गलोंकी अमुक सामग्रीका सहकार मिलनेपर विमदृश कार्योकी भी उत्पत्ति होती है । उदाहरणके लिये प्रकाशमान अमिसे गाले ईंधनके सहयोगसे अप्रकाशमान धूमकी उत्पत्ति होती है । इस लिये यह नियम नहीं है, कि तेजके परमाणुओंसे तेजरूप कार्योकी ही उत्पत्ति हो, अधकाररूप नहीं । क्योंकि तेजरूप अमिसे भी अधकाररूप धूमकी उत्पत्ति देखी जाती है । इस लिये यह सिद्ध होता है, कि दीपककी पर्यायमें परिणत तेजके परमाणु तेल आदिके क्षय हो जानेसे ही अधकाररूप पर्यायान्तरको धारण करते हैं । वास्तवमें द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, वह केवल पर्यायकी अपेक्षासे ही अनित्य कहा जा सकता है । तथा दीपकके बुझनेसे पहले देदीप्यमान दीपक अपनी नयी नयी पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेकी अपेक्षा अनित्य है परन्तु इन पर्यायोंके बदलते रहनेपर भी हमें यह भान होता रहता है, कि एक ही दीपककी ये असंख्य पर्याय हैं, इस लिये दीपक नित्य है । इस लिये दीपकका नित्यानित्यत्व सिद्ध होता है ।

एव व्योमापिउत्पादव्ययध्रौव्यात्मस्त्वाद् नित्यानित्यमेव । तथाहि । अत्रगाह-  
काना जीवपुद्गलानामवगाहदानांपंग्रह एव तल्लक्षणम् । “अत्रनाशदभोनाशम्” इति  
वचनात् । यदा चात्रगाहका जीवपुद्गला\* प्रयोगतो विस्संसातो वा एस्मान्नाभ-भदेशात्  
प्रदेशान्तरमुषसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहर्हे\* सममेस्मिन् प्रदेशे विभाग\*  
उत्तरास्मिंश्च प्रदेशे सयोग\* । सयागविभागौ च परस्पर विरुद्धौ धर्मौ । तद्वेदे चावश्य  
धर्मिणो भेद\* । तथा चाहुः “अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यास\*  
कारणभेदश्चेति” । ततश्च तदाकाश पूर्वसयोगविनाशलक्षणपरिणामापस्या विनष्टम्,  
उत्तरसयोगोत्पादाद्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम् । उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चो-  
त्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् ॥

इसी प्रकार आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होनेसे नित्य और अनित्य है । जीव और पुद्गलोंको अवकाश दान देना ( म्यान देना ) ही आकाशका लक्षण है । कहा भी है “अवकाश देनेवालेको आकाश कहते हैं ।” जब आकाशमें रहनेवाले जीव और पुद्गल किसीकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे

१ उपग्रह — उपकार इति तत्त्वाधमाये । २ उत्तराध्ययनसूत्रे अध्ययने २८ गाथा ९ । अत्र वृत्तौ मदीगध्याय-धीमन्नावविजयगणितृतायामिदमुपपन्न्यते । ३ पुद्गलशक्त्या । ४ स्वभावेन । ५ घन्नि द्विविधानि लक्षणभेदात्कारणभेदाच्च । घटो जलाहरणादिगुणवान् पटश्च शीतद्राणादिगुणवान् । तथा घन्स्य कारण श्रुतिगडादि । पटस्य कारण तन्वादि ।

प्रदेशमें जाते हैं, उस समय आकाशका जीव-पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें विभाग और दूसरे प्रदेशमें सयोग होता है। ये सयोग और विभाग एक दूसरेके विरुद्ध हैं। इस लिये सयोग-विभागमें भेद होनेसे, सयोग-विभागको धारण करनेवाले आकाशमें भी भेद होना चाहिये। क्योंकि कहा भी है “विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न भिन्न कारणोंका होना यही भेद और भेदका कारण है।” यहाँपर लक्षण और कारणके भेदसे भेद दो प्रकारका बताया गया है। जैसे घट जल लाने और पट ठडसे बचाने के काममें आता है, यही घट और पटमें लक्षण-भेद है। तथा घट मृत्तिकाके पिंड और पट ततु-से उत्पन्न होता है, यही घट पटका कारण भेद है। इस लिये यहाँ पुद्गलके एक प्रदेशमें सयोगके विनाशसे आकाशमें व्यय होता है, और दूसरे प्रदेशमें सयोगके होनेसे आकाशमें उत्पाद होता है। तथा उत्पाद और व्यय दोनों अवस्थाओंमें आकाश ही एक अधिकरण है, इस लिये आकाश प्रौढ्य है। भाव यह है, कि जैनदर्शनके अनुसार दीपककी तरह आकाश भी नित्यानित्य है। जैनसिद्धान्तमें आकाश एक अनंत प्रदेशवाला अखंड द्रव्य माना गया है। आकाशद्रव्यका काम जीव और पुद्गलको अवकाश देना है। जिस समय जीव और पुद्गलद्रव्य आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ सयोग करते हैं, उस समय आकाशका जीव-पुद्गलके साथ विभाग और सयोग होता है। अर्थात् जीव-पुद्गलके आकाश प्रदेशोंको छोड़नेके समय आकाशमें विभाग और जीव-पुद्गलके आकाश प्रदेशोंके साथ सयोग करनेमें आकाशमें सयोग होता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिए, कि एक ही आकाशमें सयोग विभाग नामके दो विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। क्योंकि सयोग-विभाग नामके धर्मोंमें भेद होनेसे सयोग-विभाग धर्मोंको धारण करनेवाले आकाश धर्मोंमें भी भेद पाया जाता है। अनएव जीव पुद्गलके आकाश प्रदेशोंको छोड़कर अन्यत्र जानेमें जीव पुद्गलका आकाशके प्रदेशोंके साथ सयोगका विनाश होता है, अर्थात् आकाशमें विनाश (व्यय) होता है। तथा जीव पुद्गलका आकाशके दूसरे प्रदेशोंके साथ सयोग होनेके समय आकाशमें उत्पाद होना है। तथा उक्त उत्पाद और व्यय दोनों दशाओंमें आकाश भाजूद रहता है, इस लिये आकाशमें प्रौढ्य भी है। अतएव आकाशमें उत्पाद-व्यय होनेसे अनित्यत्व और प्रौढ्य होनेसे नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

तथा च यद् “अमन्युतानुत्पन्नस्थिररूप नित्यम्” इति नित्यलक्षणमाचक्षते। तदपास्तम्। एवमिधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। “तद्भावाव्यय नित्यम्” इति तु सत्य नित्यलक्षणम्, उत्पादविनाशयो सद्भावेऽपि तद्भावाद्वान्वयिरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अमन्युतादिलक्षण नित्यमित्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वमसङ्गः। न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः।

“द्रव्य पर्यायवियुत पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।

क यदा केन किरुपा दृष्टा मानेन यन्न या ॥”

इति वचनात् ॥

इस पूर्वोक्त कथासे “ जो नाश और उत्पन्न न होता हो, और एकरूपसे स्थिर रहे, उसे नित्य कहते हैं ” इस नित्यत्वके लक्षणका भी खडन हो जाता है । क्योंकि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो उत्पत्ति और नाशसे रहित हो, और सदा एकसा रहे । “ पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना नित्यत्व है ” यह जैनोका नित्यका लक्षण ठीक है । क्योंकि उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी जो अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता वही नित्य है । यदि अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त नित्यका लक्षण माना जाय, तो उत्पाद और व्ययका कोई भी आधार न रहेगा । जैनसिद्धान्तके अनुसार जो नित्य पदार्थमें उत्पाद और व्यय माना गया है, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं आती । कहा भी है—“ पर्याय-रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय किमने, किस समय, कहाँपर, किस रूपमें, कौनसे प्रमाणसे देखे हैं ” अर्थात् द्रव्य विना पर्याय और पर्याय विना द्रव्य कहीं भी समभव नहीं । भाव यह है, कि जैनोको वैशेषिकोंका नित्यत्वका लक्षण मान्य नहीं है । वैशेषिकोंके अनुसार जिसमें उत्पत्ति और नाश न हो और जो सदा एकसा रहे, वही नित्य है । जैन इस मान्यताको स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार उत्पाद और व्ययके होने हुए भी पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना ही नित्यत्व है । जैनसिद्धान्तके अनुसार वैशेषिकोंके नित्यत्वके लक्षण स्वीकार करनेसे उत्पाद और व्ययको कोई स्थान नहीं मिलता । क्योंकि कूटस्थ नित्यत्वमें उत्पत्ति और नाशका होना समभव नहीं । तथा उत्पाद और व्ययके अभावसे कोई भी पदार्थ ‘सत्’ नहीं कहा जा सकता । इस लिये जैन लोग कहते हैं, कि नित्यत्वको सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात् आपेक्षिक नित्य मानना चाहिये । क्योंकि कहीं भी द्रव्य और पर्याय अलग अलग नहीं पाये जाते । द्रव्यको छोड़कर पर्यायका और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका अस्तित्व समभव नहीं । अतएव द्रव्यकी अपेक्षासे पदार्थ नित्य है और पर्यायकी अपेक्षामें अनित्य । इस तरह नित्य अनित्य दोनों साथ रहते हैं । इसीलिये आकाश भी नित्यानित्य है ।

लौकिकिज्ञानामपि घटाकाश पट्टाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्या-  
नित्यत्वम् । घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे, पटेनाक्रान्त, तदा पट्टाकाशमिति  
व्यवहार । न चायमौपचारिकत्वात्प्रमाणमत्र । उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्य-

१ एतदर्थिका गाथा समतितके प्रथमकाण्डे दृश्यते—‘ द्रव्य पञ्चवियुत द्रव्यवियुता य  
पञ्चवा नित्य ’ ॥ १२ ॥

द्वारेण मुग्ग्यार्थस्पर्शित्वात् । नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्व मुग्ग्य परिमाण तत्  
तदाप्रेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेद सत् प्रतिनियतदेशव्यापि-  
तया व्यवहियमाण घटाकाशपटाकाशादितत्तद्व्यपदेशनिबन्धन भवति । तत्तद्घटादि-  
सम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्याप्त्तौ स्वस्थान्तरापत्तिः, ततश्चात्रम्याभेदे स्वस्था-  
वतौऽपि भेदः । तासा ततोऽपि स्वभावात् । इति सिद्ध नित्यानित्यत्व व्योम्नः ॥

प्रकारान्तरसे भी आकाश नित्यानित्य है, क्योंकि सर्वमाधारणमें भी ' यह  
घटका आकाश है', ' यह पटका आकाश है' यह व्यवहार होता है। जिस  
समय घटका आकाश घटके दूर हो जानेपर पटमे संयुक्त होता है, उस समय वही  
घटका आकाश पटका आकाश कहा जाता है। यह ' घटका आकाश', ' पटका  
आकाश' का व्यवहार उपचारमे उत्पन्न होता है इस लिये अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।  
क्योंकि उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अथको धोतित करने-  
वाला होता है। आकाशका सर्वव्यापकत्व मुग्ग्यपरिमाण आकाशमें रहनेवाले घटपटादि  
सबधी नियतपरिमाणसे भिन्न होकर प्रतिनियत प्रदेशोंमें व्यापक होनेसे ही घटाकाश,  
पटाकाश आदि व्यवहारका कारण होता है। अर्थात् मुख्यरूपसे सर्वव्यापकत्व  
परिमाणवाला आकाश अपने आधेय घटपटादिके सबधसे प्रतिनियतदेशव्यापित्व  
परिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे यह घटाकाश है, यह पटाकाश है, यह व्यवहार  
होता है। तथा न्यापक आकाशके अमुक घट पट आदिके सन्धसे एक अवस्थासे  
अवस्थान्तरकी उत्पत्ति होती है। अवस्थाभेद होनेपर अवस्थाके धारक आकाशमें  
भेद होता है। क्योंकि ये अवस्थाय आकाशसे अभिन्न हैं। भाव यह है, कि जिस समय  
घट एक स्थानसे ( आकाशसे ) अलग होता है, और उसकी जगहपर पट रखा जाता है,  
तो यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है, इस प्रकारका व्यवहार होता है। अर्थात्  
आकाशमें एक ही जगह घटाकाशका नाश होता है, और पटाकाशकी उत्पत्ति होती है।  
इस लिये आकाशमें नित्यानित्य दोनो धर्म विद्यमान हैं। यह घटाकाश और पटाकाशका  
व्यवहार औपचारिक है अर्थात् वास्तवमें आकाशमें उत्पाद-विनाश नहीं होता,  
केवल आकाशके आधेय घटपटादिके परिवर्तनसे ही आकाशमें परिवर्तन होनेका व्यवहार  
होता है, यह शका ठीक नहीं। क्योंकि मुख्य अथके सन्धके विना उपचार नहीं  
होसकता। प्रस्तुत प्रसंगमें आकाशका सर्वव्यापकत्व मुग्ग्यपरिमाण है। यही मुख्यपरिमाण  
आकाशके आधेय घटपटादिके सबधसे प्रतिनियतदेशपरिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे  
घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहार होता है। अतएव सर्वव्यापी आकाशके साथ घटपट  
आदिका सबध होनेपर आकाशकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। आकाशकी अवस्था-

ओंमें परिवर्तन होनेसे आकाशमें परिवर्तन होता है। इस लिये आकाशको नित्य-अनित्य ही मानना चाहिये।

स्वायंभुवा अपि हि नित्यानित्यमव वस्तु प्रपन्ना । तथा चाहुस्त-“ त्रिविधं खल्वय धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः । सुवर्णं धर्मि । तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादिः । धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः । यदा खल्वय हेमकारो वर्धमानक भङ्गत्वा रचरुमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते । रचरुस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते । वर्तमानगतापन्न एव तु रचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामयान् भवति । सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः । धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च । तथा च ते धर्म्यभेदात् तन्नित्यत्वेन नित्या । भेदाद्योत्पत्तिभिनाशनिपयत्वम् । इत्युभयमुपपन्नमिति ॥ ”

पातनलयोगको माननेवाले भी वस्तुको नित्यानित्य स्वीकार करते हैं। उनका कथन है “ धर्माका परिणाम धर्म, लक्षण, और अवस्थाके भेदसे तीन प्रकारका है। धर्मी सुवर्णका धर्मपरिणाम वर्धमान रुचक वगैरह है। धर्मके आगामी कालमें होनेको लक्षणपरिणाम कहते हैं। जिस समय सुनार वर्धमानकको तोड़कर रुचक बनाता है, उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षणको छोड़कर अतीत लक्षणको, तथा रचक अनागत लक्षणको छोड़कर वर्तमान लक्षणको प्राप्त करता है। वर्तमान दशाको प्राप्त रचक नये और पुरानेपनको धारण करता हुआ धर्मीका अवस्थापरिणाम कहा जाता है। यह धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे धर्मीका परिणाम धर्मासे भिन्न भी है, और अभिन्न भी। धर्म, लक्षण और अवस्था धर्मी से अभिन्न हैं, इस लिये धर्मीके नित्य होनेमें ये भी नित्य हैं और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण, उत्पन्न और नाश होनेवाले हैं इस लिये अनित्य हैं। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था नित्य-अनित्य दोनों हैं। ”

अथोत्तरार्धं त्रिप्रियते । एव चात्पादव्ययध्रौव्यात्मरूपे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमात्राशात्मानि नित्यमेव अन्यच्च प्रदीपघटादिकरुमनित्यमेव इत्येवमारोऽपि सम्मध्यत । इत्थं हि दुर्नयरादापत्ति । अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिमेत-नित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तदलक्षणात् ।

१ पातञ्जलयोगानुसारेण । २ पातञ्जलयोगसूत्र ३।१३ इत्यत्रैतदर्थकं वाक्ययानम् ।

३ नि शेषाणञ्जुषा प्रमाणत्रिपदीभूय समासिदुर्णा । वस्तुना नियन्त्राकल्पनपरा सप्त श्रुतास्यगिन ॥ औदात्तायपरायणास्तदपरे चाद्ये भनेयुर्नयाभिदेकाशकलङ्ककलुपास्ते स्युस्तदा दुनया ॥ १ ॥ इति नवदुर्नययोर्लक्षणं धीउमास्वानिहृतपचाशतो प्रथ ।

इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विपतां—भवत्मणीतशासनविरोधिना प्रलापाः—प्रलपितानि, असम्बद्धवाक्यानीति यावत् ॥

इस प्रकार सब पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सिद्ध होनेपर आकाश, आत्मा आदि सर्वथा नित्य हैं और प्रदीप, घटआदि सर्वथा अनित्य हैं, यह मानना दुर्नयवादको स्वीकार करना है। वस्तुके अनन्तधर्मात्मक होनेपर भी सन धर्मोंका तिरस्कार करके केवल अपने अमीष्ट नित्यत्व आदि धर्मोंका ही समर्थन करना 'दुर्नय' है।

अत्र च प्रथममादीपमिति परमसिद्धान्तित्यपक्षाल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासरय-परिहारण पूर्वतर नित्यमवैकमित्युक्तम् तदेव ज्ञापयति। यदनित्य तदपि नित्यमेव कथञ्चित्। यच्च नित्य तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्। प्रकान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्या नित्यानित्यत्वाभ्युपगमात्। तथा च प्रशस्तकार—“सां तु द्विविधा नित्या चानित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या” इति ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें ग्रन्थकारने अनित्य दीपक और नित्य व्योमका क्रमसे उल्लेख किया है। परन्तु उत्तरार्ध में इस क्रमका उल्लेखन करके पहले नित्य और बादमें अनित्यका उल्लेख किया गया है। इस तरह पूर्वार्धमें जो क्रमसे अनित्य और नित्य हैं, वही उत्तरार्ध में क्रमसे नित्य और अनित्य प्रतिपादित किया गया है। इस क्रमके उल्लेखन करनेका केवल यही अभिप्राय है, कि कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं कहा जा सकता। जो अनित्य है, वह भी कथञ्चित् नित्य ही है, और जो नित्य है, वह भी कथञ्चित् अनित्य है। विशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमें नित्य और अनित्य दोनों धर्म माने हैं। प्रशस्तकारने कहा है “पृथिवी नित्य-अनित्य दो प्रकार की है। परमाणुरूप पृथिवी नित्य और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है।”

न चात्र परमाणुनार्यद्रव्यलक्षणविषयद्वयभेदाद् नैकाधिकरण नित्यानित्यत्व-मिति वान्यम्, पृथिवीत्वस्योभयनाप्यव्यभिचारात्। एवमनादिष्वपीति। आकाशेऽपि सयोगविभागाङ्गीकारात् तैरनित्यत्व युक्त्या प्रतिपन्नमेव। तथा च स एवाह—“गन्धकारणत्वप्रचानात् सयोगविभागौ” इति नित्यानित्यपक्षयोः सवलितत्वम्। एतच्च लेशतो भावितमेवेति ॥

यहाँपर शका हो सकती है, कि भाष्यकारके उक्त कथनमें पृथिवीका नित्यानित्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नित्यानित्य दोनों धर्मोंका अधिकरण एक पृथिवी नहीं है, किन्तु परमाणु और कार्य दो अलग अलग पदार्थ हैं। परन्तु यह शका ठीक नहीं है। क्योंकि पृथिवीत्व नित्यपृथिवी अर्थात् परमाणुपृथिवी और अनित्यपृथिवी अर्थात् कार्यरूपपृथिवी दोनोंमें

१ विशेषिकदशने प्रशस्तपादभाष्ये पृथिवीनिरूपणप्रकरणे। २ दण्डुकादि लक्षणा। ३ प्रशस्तपादभाष्ये आकाशनिरूपणे।

रहता है, इस लिये पृथिवीत्वका नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ एकाधिकरण है। जल आदिमें भी वैशेषिकोंने नित्यानित्यरूप दोनों धर्म स्वीकार किये हैं। तथा सयोग विभागके अगीकार करनेसे आकाशमें भी युक्ति द्वारा अनित्यत्व सिद्ध हो ही जाता है। प्रशस्त भाष्यमें कहा भी है “ आकाश शब्दका कारण है, इसमें आकाशमें सयोग और विभाग होते हैं। ” इस प्रकार भाष्यकारने आकाशको नित्य-अनित्य स्वीकार किया है।

प्रत्यापप्रापत्य च परवचनानामित्थ समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियामारित्व लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिररूपो हि नित्यः । सच क्रमेणार्यक्रियां कुर्यात्, अक्रमेण वा ? अन्यान्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरा-सम्भवात् । तत्र न तावत् क्रमण, स हि कालान्तरभाविनी, त्रियाः प्रथमक्रियामाल एव प्रसह्य कुर्यात्, समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षपिणो वा असामर्थ्यमाप्ते । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने न तमर्थं करातीति चेत्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षशुचित्वात् । “ सापक्षमसमर्थम् ” इति न्यायात् ॥

अब यहाँपर यादियोंके वचनोंको असबद्ध बताकर सामान्यरूपसे वस्तुके नित्यत्व-नित्यत्वका समर्थन करते हैं। अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। वस्तुको एकान्तनित्य अथवा एकान्तअनित्य स्वीकार करनेसे यह लक्षण ठीक पड़ित नहीं होता। क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार जिसका कभी नाश न हो, जो उत्पन्न न हो, और जो सदा एकरूप रहे, वही नित्य है। अब यदि नित्य वस्तु वास्तवमें कोई वस्तु है, तो उसमें अर्थत्रियारित्व होना चाहिये। यह अर्थक्रिया इस नित्य पदार्थमें क्रमसे होती है, अथवा अक्रमसे ? नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती। क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ है, इस लिए कालान्तरमें होनेवाली क्रियाओंको वह प्रथम क्षणमें होनेवाली क्रियाओंके समर्थमेंही एक साथ कर सकता है। क्योंकि जो समर्थ है, वह कार्य करनेमें विलम्ब नहीं करता। तथा यदि वह कार्य करनेमें विलम्ब करता है, तो वह सामर्थ्यवान नहीं कहा जा सकता। यदि कोई गका करे, कि पदार्थके समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोंके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्य करता है, तो इससे नित्य पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है। क्योंकि यह नित्य पदार्थ दूसरोंके सहयोगकी अपेक्षा रखता है। यायका वचन भी है, कि “ जो दूसरोंकी अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ है। ”

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते अपि तु कार्यमेव सहकारिण्विषयसत्त्वं भवत् तान पेक्षत इति चेत्, तत् किं स भावोऽसमर्थ, समथा वा ? समर्थश्चेत्, किं सहकारि-भुग्वमेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्ज्ञेयिति घटयति । ननु समर्थमपि वीजम्

इलांजलानिलादिसहकारिसहितमेवाह्कुर करोति, नान्यथा । तत् किं तस्य सहकारिभिः  
किञ्चिदुपक्रियेत, न वा ? यदि नोपक्रियेत, तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव सिं  
न तदाप्यर्थत्रियायामुदास्ते । उपक्रियेत चेत् सः, तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो, भिन्नो  
वा क्रियेत इति वाच्यम् । अभेदे स एव क्रियेत । इति लाभमिच्छतो मूलक्षति-  
रापाता कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्ते ॥

अब यदि कहा जाय, कि नित्य पदार्थ स्वयं सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करते,  
परंतु सहकारी कारणोंके अभाव में नहीं होनेवाला कार्य ही सहकारी कारणों की अपेक्षा  
रखता है, तो प्रश्न होता है, कि वह नित्य पदार्थ समर्थ है या असमर्थ ? यदि वह समर्थ है,  
तो वह सहकारी कारणोंके मुँहकी तरफ क्यों देखता है, क्यों शटपट कार्य नहीं कर डालता ।  
यदि कहो, कि जिस प्रकार बानके समर्थ होते हुए भी बीज पृथिवी, जल, वायु आदिके  
सहकार से ही अन्नको उत्पन्न करता है, अन्यथा नहीं । इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते  
हुए भी सहकारियों के बिना कार्य नहीं करता, तो प्रश्न होता है, कि सहकारीकारण नित्य  
पदार्थका कुछ उपकार करते हैं या नहीं ? यदि सहकारीकारण नित्य पदार्थ का कुछ उपकार  
नहीं करते हैं, तो वह नित्य पदार्थ जैसे सहकारीकारणोंके सबधके पहले अक्रिया करनेमें  
उदास था, वैसे ही सहकारियोंके सयोग होनेपर भी क्यों उदास नहीं रहता । यदि कहो, कि  
सहकारी नित्य पदार्थका उपकार करते हैं, तो प्रश्न होता है, कि वह उपकार पदार्थसे अभिन्न  
है या भिन्न ? यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते हैं, तो सिद्ध हुआ  
कि नित्य पदार्थ ही अर्थत्रियाको करता है । इस प्रकार लाभकी इच्छा रखनेवाले वादीके  
मूलका भी नाश होता है । क्योंकि यदि नित्य पदार्थ सहकारियोंकी अपेक्षा रखेगा, तो वह  
कृतक हो जायगा और कृतक होनेसे वह नित्य नहीं रह सकता ।

भेद तु कथं तस्योपकारः, किं न सद्भाविन्यादेरपि । तत्सम्बन्धात् तस्या  
यमिति चेत्, उपनायापकारयो क' सम्बन्धः । न तावत् सयोगः, द्रव्ययोरत्र  
तस्य भावात् । अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च त्रियेति न सयोगः । नापि  
समवायः, तस्यैतत्त्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविपरुर्भावेन सर्वत्र तुल्यत्वाद् न  
नियतै सम्बन्धिभि सम्बन्धो युक्तः । नियतसन्निसम्बन्धे चाह्निक्रियमाणे तत्कृत  
उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः । तथा च सति उपकारस्य भेदाभेदकल्पना  
तदवस्थैव । उपकारस्य समवायस्य समवायादभेदे समवाय एव कृत स्यात् । भेदे  
पुनरपि समवायस्य न नियतसन्निसम्बन्धत्वम् । तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमणार्थ  
क्रिया कुरुत ॥

१ पृथिवी २ यदा कश्चिद्वाह्ये स्वद्रव्यं कुसीदच्छयाधमणाय प्रयच्छति । तेनाधमणेन न मूलद्रव्यं  
न वा कुसीदं प्रत्यावर्त्यते तदाय न्याय समाप्तति । इतिमिच्छतो मूलद्रव्यनिश्चयः ।



जिस क्षण ( काल ) में है, वह उसी स्थान और और उसी क्षणमें है, क्षणिक भावोंके साथ देश और कालकी व्याप्ति नहीं बन सकती । ”

न च सन्तानापेक्षया पूर्वाचरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्यास्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्व, न तर्हि क्षणेभ्यः कथिद्विशेषः । अपाक्षणिङ्त्व, तर्हि समाप्तं क्षणभङ्गनादः ॥

यदि कहा जाय, कि सतानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणमें क्रम समन हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सतान कोई वस्तु ही नहीं । यदि सतानको वस्तु स्वीकार भी की जाय, तो सतान क्षणिक है, अथवा अक्षणिक । सतानको क्षणिक माननेपर सतानमें क्षणिक पदार्थोंसे कोई विशेषता न होगी । अर्थात् जिस प्रकार पदार्थोंके क्षणिक होनेपर उनमें क्रम नहीं होता, वैसे ही सतानमें भी क्रम न होगा । यदि सतान अक्षणिक है, तो क्षणभगनाद नहीं बन सकता ।

नाप्यन्नयेणार्थक्रिया क्षणिके सभरति । स द्वेको बीजपूरादिक्षणों युगपदनान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा ? यद्येकं तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्व स्यात्, एकस्वभावरन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्वर्जनयति निश्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिक सहकारित्वेन, इति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूता, अनात्मभूता वा ? अनात्मभूताश्चेत् स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूताः तर्हि तस्यानेरत्वम्, अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एरत्व प्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषां तस्य चैकत्वात् ॥

क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया समन नहीं । क्योंकि एक बीजपूर ( त्रिचैरा )-आदिक्षण ( बौद्ध लोग वस्तुओंको क्षण कहते हैं, क्योंकि उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक हैं ) एक साथ अनेक रसआदिक्षण(वस्तु)को एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, अथवा नाना स्वभावसे । यदि एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण रस आदि पदार्थोंमें एकता हो जानी चाहिये । यदि बीजपूरक्षण रसआदिक्षणको नाना स्वभावसे उत्पन्न करता है, अर्थात् किसी रूपआदिको उपादानभावसे, और किसी रसआदिको सहकारीभावसे उत्पन्न करता है, तो प्रश्न होता है, कि वे उपादान और सहकारीभाव बीजपूरके आत्ममूल ( निज स्वभाव ) हैं, या अनात्ममूल ( परस्वभाव ) ? यदि उपादानादिभाव बीजपूरके परस्वभाव हैं, तो उपादानादिभाव बीजपूरके स्वभाव ही नहीं हैं । यदि उपादानादिभाव बीजपूरके आत्ममूल हैं, तो अनेक स्वभावरूप होनेसे बीजपूरपदार्थमें अनेकता हो जायगी, अर्थात् जितने स्वभाव

१ ' बीजपूरादिरूपादि ' पाठान्तर । एते बौद्धा क्षणयदेन पदार्थो गृह्यन्ति । यत्र सर्वे पदार्था क्षणिका ।

होगे, उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजरूपपदार्थ भी होंगे । अथवा उपादानादिभाव बीजरूपपदार्थसे अभिन्न हैं, और बीजरूप एक है, इस लिये स्वभावोका एकत्व होगा ।

अथ य एव एव उपादानभाव स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते । तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेद कार्यसाङ्ख्ये च कथमिष्यते क्षणिकत्वादिना । अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रम, अत्रमात्र क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः इति चेत्, अहो स्वपक्षपाती देवानामियं यं सल्लु स्वयमक्रस्माद् निरशाद् रूपादिसणलक्षणात् कारणाद् युगपदनेकरकार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विराधमुद्गावयति । तस्माद् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा । इत्यनित्यकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निरुपयैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते । तद्वाट्टौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिवलनैव निरर्तते । इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीय ॥

यदि कहो, कि जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता है, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इस लिये हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते, तो क्षणिकत्वादी लोग नियम और एकरूप क्रमसे नाना कार्य करनेवाले पदार्थका स्वभावभेद और कार्यसमरत्व कैसे स्वीकार करते हैं ? कहनेका भाव यह है, कि बौद्ध लोग नित्य पदार्थके माननेमें जो दोष देते हैं, कि 'यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावमें अर्थक्रिया करे, तो वह एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसकरता ( सत्र कार्योंकी अभिन्नता ) हो जायगी, और यदि अनेक स्वभावमें अर्थक्रिया करे, तो स्वभावका भेद हो जानेके कारण नित्य पदार्थ क्षणिक होगा', सो ठीक नहीं । क्योंकि बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थसे उपादान और सहकारी भावोंद्वारा कार्य की उत्पत्ति मानकर स्वभावका भेद मानते हैं । यदि कहा जाय, कि नित्य पदार्थ एक रूप होनेसे क्रम रहित हैं, और अक्रमपदार्थमें अनेक क्रमसे होनेवाले पदार्थोंकी क्रमे उत्पत्ति हो सकती है, तो यह बौद्धोंका पक्षपात मात्र है । क्योंकि बौद्ध लोग एक और अक्षर रहित स्वरआदिलक्षणकारणसे एकसाथ अनेक कार्योंको स्वीकार करके भी, नियम वस्तुमें क्रमसे नाना कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध खड़ा करते हैं । अर्थात् बौद्ध लोग नित्य पदार्थ ही से अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं, फिर वे नित्य पदार्थमें क्रमसे अनेक कार्योंकी उत्पत्तिमें क्यों दोष देते हैं ? अतएव क्षणिक पदार्थके अक्रमसे भी अर्थक्रियान्तरित्व सिद्ध नहीं हो सकता । इस लिये एकान्तानित्य पदार्थमें क्रम अक्रममें अर्थक्रिया नहीं बन सकती । तथा, पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेसे क्षणिक पदार्थके अस्तित्वका भी अभाव हो जाता है । भाव यह है, कि जैन लोग सर्वथा नित्य वशादकी तरह सर्वथा अनित्यत्वशास्त्रको भी नहीं मानते हैं । उनका कहना है, कि एकात-अनित्य पदार्थमें क्रम अक्रममें अर्थक्रिया नहीं हो सकती । एकात-अनित्य

क्रमसे अर्थक्रिया इस लिये नहीं बन सकती, कि एकान्त-क्षणिक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है। इसीलिये सर्वथा क्षणिक पदार्थोंमें देशकाल अथवा कालकाल क्रम सम्भव नहीं है। तथा क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि यदि क्षणिक पदार्थमें अक्रम से अर्थक्रिया हो, तो एक ही क्षणमें समस्त कार्य हो जाया करें, इस लिये दूसरे क्षणमें कुछ भी करनेको बाकी न रहे। अतएव दूसरे क्षणमें वस्तुके अर्थक्रिया से शून्य होनेके कारण वस्तु अवस्तु हो जानी चाहिये।

स्याद्वादे तु पूजाचक्राकारपरिहारस्वीकारस्थितिक्षणपरिणामेन भावानामर्थ क्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वरन्तुभवात्। तथा च पठन्ति—

“ भागे सिंहे नरो भागे योऽथा भागद्वयात्मन् ।

तमभाग निभागेन नरसिंह प्रचक्षते ” ॥ इति ॥

वेशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यात्रयमिनांऽभ्युपगमात् एकस्यैव पदादेः अलाचल-रक्तारक्तावृतानावृतत्वादिबिरुद्धधर्माणामुपलब्धे । सौगतरूप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीला-नीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् ॥

स्याद्वादसिद्धातके स्वीकार करनेमें पूर्ण आकारका त्याग, उत्तर आकारका ग्रहण, और पूर्वांतर दोनों दशाओंमें पदार्थके ध्रुव रहनेके कारण पदार्थोंमें अर्थक्रिया माननेमें कोई विरोध नहीं आता। यदि कहे, कि एक ही पदार्थमें परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे सम्भव हैं, तो हम कहते हैं, कि स्याद्वादमें एकान्त नित्य और एकान्त अनित्यमें विलक्षण तीव्रता ही पक्ष स्वीकार किया गया है। क्योंकि स्याद्वादमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य और किसी अपेक्षासे अनित्य स्वीकार की गई है। यह नित्यानित्यरूप सब लोगोंके अनुभवमें भी आता है। कहा भी है—“ एक भागमें सिंह दूसरे भागमें नर, इस प्रकार दो भागोंको धारण करने से भागरहित नृसिंहावतारको नरसिंह कहा जाता है। ” भाव यह है, कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भागमें नर है और दूसरेमें मनुष्य है, अर्थात् नर और सिंहकी दो विरुद्ध आदृतियों को धारण करता है, और फिर भी नृसिंहावतार नृसिंह नामसे कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य दो विरुद्ध धर्मोंके रहनेपर भी स्याद्वादके सिद्धातमें कोई विरोध नहीं आता है। इसी तरह वेशेषिक लोग भी एक अवयवीको ही चित्ररूप ( परस्पर विरुद्ध-रूप ) तथा एक ही पटको चल ( हिरता हुआ ) और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत और अनावृत आदि विरुद्ध धर्म-युक्त स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपट में नील और अनिल दो विरुद्ध धर्मोंको मानते हैं।

अत्र च यत्रप्यधिकृतवादिन प्रतीपादिन कालान्तरावस्थायित्वात् क्षणिक न मन्यन्ते तन्मते पूर्वापरान्ताप्रच्छिन्नाया. सत्ताया एवानित्यतालक्षणात् । तथापि बुद्धिमुखादिक तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्ना इति तदधिभारेऽपि क्षणिकत्वादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु तदापि नित्यानित्यमत्र । क्षणोऽपि न रत्न सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययप्रौढ्यात्मक नास्ति ॥ इति शब्दार्थः ॥ ५ ॥

यद्यपि वैशेषिक लोगोंने दीपक आदिको एक क्षण के बाद कालान्तरमें म्वायी माना है, इस लिये उसे क्षणिक स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके मतमें आदि और अन्तही अभावरूप सत्ताको अनित्य कहा है ( बौद्धोंकी तरह क्षण क्षणमें होनेवाले अभाव को नहीं ), फिर भी वैशेषिक लोगोंने बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक स्वीकार किया ही है । इस लिये यहाँपर क्षणिकताद की चर्चा अप्रासंगिक नहीं समझनी चाहिये । ( नोट—वैशेषिक लोग बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक मानते हैं, इससे मालूम होता है कि वैशेषिक लोग अर्ध बौद्ध गिने जाते थे । इसीलिये शम्भुनाथोंने उन्हें अर्ध-वैनाशिक अर्थात् अर्ध-बौद्ध कहकर संबोधन किया है—प्रो ध्रुव स्याद्वादमजरी, पृ ५४ ) । वैशेषिक लोग जिन तरह बुद्धि, सुख आदिको सर्वथा क्षणिक मानते हैं वैसे ही वे लोग बहुतसे पदार्थोंको सर्वथा नित्य भी स्वीकार करते हैं । परतु वस्तुको नित्यअनित्य मानना ही ठीक है । क्योंकि जो वस्तु एक क्षणसे दूसरे क्षणमें रहनेवाली है, वह नित्यानित्य ही होती है । इसी तरह ऐसा कोई भी क्षण नहीं जिसमें उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य न होते हों । यह श्लोकका अर्थ है ।

भाषार्थ—जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है । साधारणत दीपक अनित्य और आकाश नित्य माना जाता है । परन्तु जैनदर्शनके अनुसार दीपकसे लेकर आकाश तक, अर्थात् छोटेसे लेकर बड़े तक सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और प्रौढ्यस्वरूप हैं, और इसीलिये नित्य-अनित्य हैं । जिस समय दीपकके तेज परमाणु तमरूप पर्यायमें परिवर्तित होते हैं, उस समय तेज परमाणुओका व्यय होता है, तमरूप पर्यायना उत्पाद होता है, तथा दोनो अवस्थाओंमें द्रव्यरूप दीपक मौजूद रहता है । इस लिये द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । इसी प्रकार आकाश भी नित्य-अनित्य है । क्योंकि जिस समय आकाशमें रहनेवाले जीव पुट्ट आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ सयुक्त होने हैं, उस समय आकाशके पूर्व प्रदेशोंसे जीव पुट्टोंके विभाग होनेकी अपेक्षामें आकाशमें व्यय, उत्तर प्रदेशोंके साथ सयोग होनेसे उत्पाद, तथा पूर्वतर दोनों पर्यायोंमें आकाश द्रव्यके मौजूद रहनेसे प्रौढ्य अवस्थाओं पायी जाती हैं । इस लिये द्रव्यकी अपेक्षा आकाश नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । दूसरे शब्दोंमें, जैनसिद्धांतके अनुसार द्रव्य और पर्याय कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न । जिस प्रकार

विना द्रव्यके पर्याय नहीं रह सकती, उसी तरह विना पर्यायके द्रव्य नहीं रह सकते । परन्तु वैशेषिक लोग कुछ पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं और कुछको सर्वथा अनित्य । इसीलिये वैशेषिकों द्वारा मान्य 'अप्रच्युत, अनुपन और स्थिररूप' नित्यका लक्षण न स्वीकार करके जैन लोग 'पदार्थके भावका नष्ट नहीं होना' ही नित्यत्वका लक्षण मानते हैं । इस श्लोककी व्याख्यामें टीकाकार महिषेणने निम्न विषयोंपर भी विचार किया है ।

( १ ) अधकार तेजकी ही एक पर्यायविशेष है, यह सर्वथा अभावरूप ही नहीं है । जैनदर्शनके अनुसार प्रकाशकी तरह तम भी चञ्चुका विषय है । इस लिये जैनशास्त्रोंमें अधकारको पौद्गलिक-स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त-स्वीकार किया गया है । जैन लोगोना कहना है, कि यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अधकारको पुद्गलकी पर्याय माननेमें क्या आपत्ति है ?

( २ ) पदार्थको एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य स्वीकार करनेसे उसमें अर्थ-निर्याकारित्व अर्थात् वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होता । इस विषयको नाना उदाहोहात्मक विस्तारोंके साथ टीकाकारने खूब विस्तारके साथ प्रतिपादित किया है ।

( ३ ) नित्यानित्यके सिद्धांतको दूसरे वादी भी रूपान्तरमें स्वीकार करते हैं । उदाहरणके लिये, वैशेषिक लोग पृथ्वीको नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं । तथा एक ही अवयवोंके चित्ररूपकी कल्पना करते हैं । बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपटमें नील अनील धर्मोंको मानते हैं । इसी तरह पातञ्जलमतके अनुयायी धर्म, लक्षण और अवस्थाको धर्मासिद्धि और अभिन्न मानते हैं ।

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगम मिथ्याभिनिवेशरूप निरूपयन्नाह—  
इसके बाद वैशेषिकोंद्वारा मान्य ईश्वरके जगत्कर्तृत्वमें दूषण देते हुए कहते हैं —

कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववगः स नित्य' ।  
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषा न येपामनुजासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे नाथ, अप्रामाणिक लोग 'जगतका कोई कर्ता है, (१) वह एक है, (२) सर्वव्यापी है, (३) स्वतंत्र है और (४) नित्य है' आदि दुराम्भसे परिपूर्ण सिद्धांतोंको स्वीकार करते हैं ।

जगत—प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य, कश्चिद्—  
अनिर्वचनीयस्वरूप, पुरुषविशेष, कर्ता—स्रष्टा, अस्ति—विद्यते । ते हि इत्थ प्रमाण-  
यन्ति । उर्गोपर्वततर्वादिक सर्व, बुद्धिमत्कर्तृन्, कार्यत्वात्, यद् यत् कार्यं तन् तत्सर्व  
बुद्धिमत्कर्तृन्, यथा घटः, तथा चेद, तस्मात् तथा, व्यतिरिक्ते व्योमादि । यश्च बुद्धि-  
मांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति ॥

व्यारयार्य—पूर्वपक्ष—‘जगत कश्चित् कर्ता अस्ति’—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाने हुए स्वावर और जगमरूप तीनों विश्वका स्वरूपसे अनिर्वचनीय कोर्ट पुरुषविशेष सृष्टि करनेवाला है। इस लिये पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो जो कार्य होते हैं वे सब किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए होते हैं, जैसे घट। उसी तरह पृथिवी पर्वत आदि भी कार्य हैं, इस लिये ये भी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए होने चाहिये। आकाश आदि कार्य नहीं है, इस लिये किसी बुद्धिमान कर्ताका बनाया हुआ भी नहीं है। जो कोई इन सब पदार्थोंका बुद्धिमान कर्ता है वह भगवान ईश्वर ही है।

न चायमसिद्धो हेतुः । यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणरूपापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्व सर्वादिना प्रतीतमेव । नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा । विपश्चादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः । प्रत्यक्षानुमानागमायाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात् । नापि प्रकरणसमं तत्प्रतिपन्धिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात् ॥

उक्त हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेके और अग्नयी होनेके कारण पृथिवी, पर्वत आदिका कार्यत्व सभी वादियोंने स्वीकार किया है। यह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि इसकी विपक्षसे अत्यन्त व्यावृत्ति है। जिस हेतुकी विपक्षमें भी अविरुद्ध वृत्ति हो, अर्थात् जो हेतु विपक्षमें भी चला जाय उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे घडा ठडा है, क्योंकि मूर्तिक है। यहा मूर्तित्वकी व्याप्ति ठडा और गरम दोनोंके साथ है, अर्थात् मूर्तित्व हेतु विपक्ष (गरम) में भी चला जाता है, इस लिये दूषित है। यदा कार्यत्वहेतुकी विपक्ष अर्थात् आकाश आदिसे व्यावृत्ति है, इस लिये यह हेतु अनैकान्तिक नहीं है। इसीलिये कार्यत्वहेतु विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि जिस हेतुका अविनाभावसम्बन्ध साथसे विरुद्धके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द परिवर्तनशील है, क्योंकि उत्पत्तिवाला है। यहा उत्पत्तिकी व्याप्ति परिवर्तनशीलताके साथ है, जो साथसे विरुद्ध है। प्रस्तुत कार्यत्वहेतु अपने साथ बुद्धिमत्कर्तृत्वके साथ अविनाभावसम्बन्धसे रहता है, इस लिये विरुद्ध नहीं है। कार्यत्वहेतु कालान्ययापदिष्ट (प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे याधित) भी नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे अयाधित, धर्म और धर्मोंके सिद्ध हो जानेपर प्रतिपादन किया

१ अयं साध्यसमाशब्देनाभिधीयते । ‘साध्याविशिष्ट साध्यत्वात्साध्यसमः’ । गौतमसूत्रे । १२८ ।  
 २ ‘अनैकान्तिक व्यभिचारः’ । गौतमसूत्रे १२५ । ३ ‘सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विराधी विरुद्धः’ । गौतमसूत्रे १२२ । ४ ‘कालान्ययापदिष्ट कालातीतः’ । गौतमसूत्रे १२९ । ५ ‘यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट प्रकरणसमः’ । गौतमसूत्रे १२७ ।

गया है। अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म धर्माका कथन करके बादमें हेतुका कथन किया गया है। यह हेतु प्रकरणसम भी नहीं है। जहा साध्यके अभावका साधक कोई दूसरा मौजूद हो उसे प्रकरणसम कहते हैं। यहा कार्यत्वहेतुके प्रतिफल अकर्तृत्व धर्मको सिद्ध करनेवाला कोई प्रत्यनुमान नहीं है।

न च वाच्यम् ईश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेविधाता न भवति, अशरीरत्वात्, निर्वृत्तात्मप्रत्, इति प्रत्यनुमान तद्वाधकमिति । यतोऽनेश्वररूपो धर्मा प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः ? न तावदप्रतीत, हेतोरश्रयासिद्धिप्रसगात् । प्रतीतश्चेत्, येन प्रमाणेन स प्रतीतमतेनैव वि स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते । इत्यतः कथमशरीरत्वम् । तस्मान्निरवय एनाय हतरिति ॥

प्रतिपादी—‘ ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीरी है, मुक्तात्माकी तरह’ यह प्रत्यनुमान उक्त कार्यत्वहेतुका बाधक है, इस लिये कार्यत्वहेतु प्रकरणसम हेतुप्रमाणसे दूषित है। वैशेषिक—यह शका ठीक नहीं। क्योंकि ‘ ईश्वर पृथिवी आदिका कर्ता नहीं हो सकता ’ इस वाक्यमें ईश्वररूप धर्मा प्रतीत है, ब्रथवा अप्रतीत ? यदि धर्मा अप्रतीत हो, तो हेतु आश्रयासिद्ध होगा, अर्थात् जब धर्मा ही अप्रतीत है तब अशरीरत्वहेतु कहा रहेगा। यदि कहे, कि उक्त अनुमान में ईश्वर प्रतीत है, तो जिस प्रमाणसे ईश्वर प्रतीत है, उसी प्रमाणसे यह क्यों नहीं मानते कि ईश्वर स्वय उत्पन्न किये हुए शरीरको ही धारण करता है। अर्थात् ईश्वरको प्रतीत ( जाना हुआ ) माननेसे यह भी मानना चाहिये, कि ईश्वरने अपना शरीर बनाया है, और वह जगत को बनानेमें समर्थ है। इस लिये ईश्वरको शरीर रहित नहीं कह सकते। अतएव ईश्वरके कर्तृत्वमें हमारा दिया हुआ कार्यत्वहेतु असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष ही है।

स चैक इति । च पुनरर्थ । स पुनः—पुरुषविशेष, एक,—अद्वितीयः । बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसभावनाया अनिवार्यत्वाद् एकस्य वस्तुनाऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वसमञ्जसमापद्येत इति ॥

(१) वह अद्वितीय पुरुषविशेष एक ( एक ) है। क्योंकि यदि बहुतसे ईश्वरोंको समारका कर्ता स्वीकार किया जाय, तो एक दूसरेकी इच्छामें विरोध उत्पन्न होनेके कारण एक वस्तुके अन्यरूपमें निर्माण होनेसे ससारमें ऐक्य और नमका अभाव होगा।

तथा स सर्वग इति । सर्वत्र गच्छतीति सर्वग—सर्वव्यापी । तस्य हि प्रतिनियतदेशवतित्वेऽनियतदेशवृत्तीना विश्वत्रयान्तर्गतिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः । कुम्भकारादिषु तथा दर्शनाद् । अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः—

सर्वज्ञः “ सर्वे गत्यर्थं ज्ञानार्थी ” इति वचनात् । सर्वज्ञत्वाभावात् हि यथोचितोपादानकारणाग्रभङ्गत्वाद् अनुरूपकार्यात्पत्तिर्न स्यात् ॥

(२) तथा वद ईश्वर सर्वज्ञापी (सर्वज्ञ) है । यदि ईश्वरको नियमित प्रदेशमें ही ज्ञान माना जाय, तो अनियमित भागोंमें समारके समस्त पदार्थों की यथारीतिमें उत्पत्ति संभव न होगी । जैसे कुम्हार एक प्रदेशमें रहकर नियमित प्रदेशके घटादिक पदार्थ को ही बना सकता है, वैसे ही ईश्वर भी नियमित प्रदेशमें रहकर अनियत प्रदेशके पदार्थोंकी रचना नहीं कर सकता । अथवा, ईश्वर मन पदार्थोंकी जाननेवाला (सर्वज्ञ) है । क्योंकि कहा भी है “ गत्यर्थकं घातु ज्ञानार्थकं होती है ” यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें, तो यथायोग्य उपादान कारणोंके न जाननेके कारण वह ईश्वर अनुरूप कार्योंकी उत्पत्ति न कर सकेगा ।

तथा स स्ववश-स्वतन्त्रः, सकलप्राणिना स्वच्छया सुगदु स्यारनुभावन-समर्थत्वात् । तथा चोक्तम्—

“ ईश्वरप्रेरिता गच्छतु स्वर्गं वा श्वन्नम वा ।

अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुगदु खयो ” ॥

पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुरप्रक्षिप्तया मुरपमर्तृत्वव्याघाताद् अनीश्वरत्वापत्ति ॥

(३) तथा ईश्वर स्वतंत्र (स्ववश) है । क्योंकि वह अपनी इच्छामें ही सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख-दुःखका अनुभव कराना है । कहा भी है—“ यह नीच ईश्वरका प्रेरित किया हुआ ही स्वर्ग और नरकमें जाता है । क्योंकि ईश्वरके सिवाय अन्य जीव अपने सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें स्वतंत्र नहीं हैं । ”

तथा स नित्य इति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिररूप । तस्य एतन्नित्यं परोत्पाद्य-तया कृतस्त्वभातिः । अपक्षितपरव्यापारा हि भाव स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते । यच्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यत, स नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? नित्यश्चेत् अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्, तस्याप्युत्पादप्रान्तरण भाव्यम् । तस्यापि नित्यानित्यत्व-कल्पनायाम् अनन्यस्थादौस्थ्यमिति ॥

(४) तथा वह ईश्वर अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिररूप है । ईश्वरको अनित्य माननेमें एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे उत्पन्न होगा, इस लिये वह कृत्क ( अपने स्वरूपकी भिद्धिमें दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला ) होगा । तथा ईश्वरका जो कोई दूसरा कर्ता मानोगे, वह नित्य है, या अनित्य ? यदि नित्य है, तो एक ही ईश्वरको नित्य क्यों नहीं मान लेते । यदि ईश्वरका कर्ता अनित्य है, तो उस अनित्य कर्ताका कोई दूसरा उत्पादक होना चाहिये । फिर वह कर्ता नित्य है या अनित्य ? इस प्रकार अनवम्यादोष होगा ।



तदेवमेकत्वान्निविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्य  
उत्तरार्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे । इमाः—एताः, अनन्तरोक्ता, कुहेवाकविडम्बना—  
कुत्सिता हेवाका—आग्रहविशेषा कुहेवाका. कदाग्रहा इत्यर्थः । त एव विडम्बना.  
विचारचातुरीयाहत्वेन तिरस्काररूपत्वाद् विगोपरूपकारा । स्पृ—भवेयुः । तेषा  
प्रामाणिकरूपसदाना । येषा हे स्वामिन् त्व नानुशासन—न शिक्षादाता ॥

उत्तरपक्ष—‘इमा कुहेवाकविडम्बना’—इस प्रकारकी कुत्सित आमहुरूप विडम्बनायें  
विचाररहित होनेके कारण तिरस्कार के योग्य हैं, इस लिये अप्रामाणिक लोगोकी ये विडम्बनायें  
अपने दोषोंको छिपानेके लिये ही हैं ।

तदभिनिवेशाना विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरूपविशेषणेषु प्रत्येक  
तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमारिर्भाषयाश्चकार स्तुतिकार\* । तथा चैवमेव निन्दनीय प्रति  
वक्तारो वदन्ति । स मूर्ख\* स पापीयान् स दरिद्र इत्यादि । त्वमित्येकवचनसयुक्त-  
युष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितु\* परमकारुणिकतपानपेक्षितस्वपरपक्षत्रिभागमद्वितीय  
हितोपदेशकत्व ध्वन्यते ॥

न्यायवैशेषिकोंकी मान्यताको विडम्बना सिद्ध करनेके लिये ही श्लोकमें न्याय-  
वैशेषिकोंद्वारा अभीष्ट ईश्वरके प्रत्येक विशेषणोंके साथ ‘तत्’ शब्दका प्रयोग किया गया  
है । जिस प्रकार वक्ता लोग किसी निन्दनीय पुरुषको कहते हैं, कि वह मूर्ख है, वह पापी  
है, वह दरिद्र है, आदि, उसी प्रकार यहाँ भी ईश्वरके लिये कहा गया है, कि वह जगत्का  
कर्ता है, वह एक है, वह नित्य है आदि । श्लोकमें युष्मत् (त्व) शब्दके प्रयोगसे परमदयालु  
होनेके कारण पक्षपातकी भावना रहित त्रिनेन्द्रभगवानका अद्वितीय हितोपदेशकपना  
ध्वनित होता है ।

अतोऽनायमाशयः । यद्यपि भगवानविशेषेण सरुलजगज्जन्तुजातहितावहा सर्वेभ्य  
एव देशनावाचमाचष्टे, तथापि सैव केषाञ्चिद् निश्चितनिकाचितपापकर्मकल्पितात्मना  
रुचिररूपतया न परिणमते । अपुनर्नन्धकाद्रिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात् । तथा च  
कादम्बवैरी वाणोऽपि वभाण—“अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिरुग-  
भस्तयो विशन्ति मुखमुपदशगुणा\* । गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति  
श्रणस्थित शूलमभव्यस्य” इति । अतो वस्तुवृत्त्या न तेषा भगवाननुशासन इति ॥

१ उदये सक्रममुदय चउसुवि दातु कर्मण नो सक्त । उवसत च गिपति णिकाञ्चिद् श्चेदि ज कम्म ।  
छाया—उदये सक्रमोदययो चतुर्णपि दातु कर्मण नो शक्यम् । उपशात च निश्चि निकाचित यत् कर्म ॥  
(गाम्मटसारवभकाण्ड गा ४४०)

२ ‘पाव ण ति वमावा वृणइ ण बहुमज्झं भव धोरम् । उचिअच्चिद् च सेवद् सवत्थ वि अपुणव  
‘धाति इति’ ॥ छाया—पाप न तीव्रमाणात् करोति न बहु मन्यते भव धोर । उचितार्थं च सेवते सर्वथापि  
अपुनवधक इति ॥ इति धर्मसंग्रहे वृत्तीयाधिकरणे । ३ वाणम—इत्तकादम्बपि पूर्वार्धे पृ १०३ प १०

भाव यह है, कि यद्यपि भगवान सामान्यरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंको हितोपदेश करते हैं, परन्तु वह उपदेश पूर्वजन्ममें उपाजन किये हुए निकाचित ( जिस कर्मकी उदीरणा, सक्रमण उत्कर्षण और अपकर्षणरूप अवस्थायें न हों सकें उमें निकाचित कर्म कहते हैं ) पापकर्मोंसे मलिन आत्मावाले प्राणियोंको अच्छा नहीं लगता । कारण कि, इस प्रकारके पापी जीव अपुनबंधक ( जो जीव तबि भावोंसे पाप नहीं करता है तथा जिसकी मुक्ति पुद्गलपरावर्तनमें हो जाती है, उसे अपुनबंधक कहते हैं ) आदि जीवोंसे भिन्न हैं, इस लिये उपदेशके पात्र नहीं हैं। बाणने भी कादवरीमें कहा है “ जिस प्रकार निर्मल स्फटिकमणिमें चन्द्रमाकी किरणोंका प्रवेश होता है, उसी तरह निर्मल चित्तमें उपदेश प्रवेश करता है । तथा जैसे कानोंमें भरा हुआ निर्मल जल भी पीडाको उत्पन्न करनेवाला है, वैसे ही गुरुओंके वचन भी अमव्यजीवको श्लेश उत्पन्न करनेवाले होते हैं । इस लिये वास्तवमें भगवान दुरामही पुरुषोंके उपदेश नहीं हो सकते ।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना । न हि काल्मष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीविततरदृष्ट्या विपभिपयुपालम्बनीय , अतिप्रसगात् । स हि तेषामेव दौषः । न खलु निखिलशुभनाभोगमभासयन्तोऽपि भानवीया भानव कौशिकलोऽस्यालो- कहेतुतामभजमाना उपालम्बसम्भावनास्पदम् । तथा च श्रीसिद्धसेन —

“ सद्धर्मनीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकान्धव तवापि रिलान्यभूवन ।

तन्नाद्भुत खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्याशवा मधुकरीचरणानदाताः ॥ ”

इस कथनसे तीन लोकके गुरु भगवानकी असमर्थता प्रगट नहीं होता, क्योंकि सामान्य सर्पोंसे डरे हुए प्राणियोंको जिलनेवाला विषवैध यदि कालसर्पसे डरे हुए प्राणियोंको न चला सके, तो यह वैधका दोष नहीं है । अर्थात् यदि कोई साधारण सर्पोंके विषको अच्छा करनेवाला विषवैध भयकर कालसर्पका विष न उतार सके, तो यह वैधका दोष नहीं, यह दोष कालसर्पसे टसे हुए मनुष्यका ही है, क्योंकि कालसर्पके विषपर यत्र-मत्र आदि भी प्रभाव नहीं टार सकते हैं । इसी तरह यदि भगवान अमव्योंको उपदेश न दे सकें, तो यह दोष भगवानका नहीं है । यह दोष अमव्योंका ही है, क्योंकि तीव्र कपायसे मलिन अमव्योंकी आत्माओंपर उपदेशका कुछ असर नहीं होता । सम्पूर्ण विधमडलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें यदि उल्लङ्घकोंके प्रकाशका कारण नहीं हो सकें, तो यह सूर्यकी किरणोंका दोष नहीं है । सिद्धसेनआचार्यने भी कहा है “ हे लोकनाथव, उत्तम धर्मके तीन बोनमें आप अत्यन्त कुशल हैं, फिर भी आपका उपदेश बहुतसे लोगोंको नहीं

लगता, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि अधिकारमें फिरनेवाले उलूख आदि पक्षियोंको सूर्यकी किरण भौरोंके चरणोंके समान कृष्णवर्णकी ही दिग्गई पड़ती है।”

अथ कथमिदं तत् कुहेवाकांना विडम्बनारूपत्वम् इति। सूत्रम्। यथावदुक्त परै-  
‘क्षित्यादया बुद्धिमत्कर्मणा’, कार्यत्वाद् षट्पदिति’। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्।  
“साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धाया साध्यं गमयेत्” इति सर्ववादिसत्तात्।  
स चायं जगन्ति सृजन् सशरीराऽशरीरो वा स्यात्? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद्  
दृश्यशरीरविशिष्ट, उत पिशाचादिप्रदृश्यशरीरविशिष्ट? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षसाध-  
तमन्तरेणापि च जायमानं तणतरुपुरन्दरधनुर्भ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत्  
साधारणानैकान्तिको ह्युत्तः ॥

न्यायवैशेषिकोंकी विडम्बनाओंको दुराग्रह रूप बताते हुए प्रथकार न्यायवैशेषिकोंके कार्यत्वहेतुना विस्तारमें सडन करते हैं। वैशेषिकोंने जो कहा है कि ‘पृथिवी आदि किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, कार्य होनेसे, घटकी तरह’ यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नहीं होता। “प्रमाणद्वारा व्याप्तिके सिद्ध होनेपर ही साधनमें साध्यना जान होता है”। इस लिये प्रथम होता है, कि ईश्वरने शरीर धारण करके जगतको बनाया है, अथवा शरीर रहित होकर? यदि ईश्वरने शरीर धारण करके जगतको बनाया है, तो वह शरीर हम लैगोफी तरह दृश्य वा अथवा पिशाच आदि की तरह अदृश्य (दिखाई न देनेवाला)? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। क्योंकि हमें ऐसा कोई दृश्यशरीरवाला ईश्वर दिखाई नहीं देता जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल वगैरहकी सृष्टि करता हो। इस लिये ‘जहा जहा कार्यत्व है वहा वहा सशरीरकृत्व है’ यह व्याप्ति नहीं बनती। अतएव कार्यत्वहेतु साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है। साध्यके अनिश्चित साध्याभावके साथ भी जिसकी व्याप्ति हो उसे अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे पर्वत अभिवाला है, प्रमेय होनेसे। यहा प्रमेयत्वहेतु अभिरूपसाध्यके धारक पर्वतमें रहता है, और पर्वतमें भिन्न जलाणय आदि म भी रहता है। इस लिये प्रमेयत्वहेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसी प्रकार यहा भी ईश्वरके शरीरसे बनाये हुए पदार्थोंके अलावा ईश्वरके शरीरद्वारा नहीं बनाये हुए घास, वृक्ष वगैरहमें भी कार्यत्वहेतु चला गया, इस लिये यह हेतु साधारणानैकान्तिक हेत्वाभास होनेसे दोषपूर्ण है।

द्वितीयपरिच्छेदे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यमिच्छेत्। कारणम्, आक्षेपस्विद-  
स्पदाद्यदृष्टवैगुण्यम्? प्रथमप्रकारं कोशपानप्रत्यायनाय, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्।

इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्व प्रत्येतव्यम् । तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति । द्वैतापिक्रस्तु प्रकारो न सचरत्येव विचारगोचरे, सज्ञयानिवृत्तः । किं तस्यासत्त्वाद् अदृश्यशरीरत्व वान्येयादिवत् किंनस्मदाग्रदृष्ट्यगुण्यात् पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात् ॥

यदि कहे, कि ईश्वर पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरसे जगतकी सृष्टि करता है, तो इस शरीरके अदृश्य होनेमें ईश्वरका माहात्म्यविशेष कारण है, अथवा हम लोगोंका दुर्भाग्य २ प्रथम पक्ष विश्वासके योग्य नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अदृश्य शरीर सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है । तथा ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होनेपर उसके अदृश्य शरीर सिद्ध हो, और अदृश्य शरीर सिद्ध होनेपर माहात्म्य विशेष सिद्ध हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष भी आता है । यदि कहो, कि हम लोगोंके दुर्भाग्यसे ईश्वरका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता, तो यह भी ठीक नहीं जचता । क्योंकि, बध्यापुत्रकी तरह ईश्वरका अभाव होनेसे उसका शरीर दिखाई नहीं देता, अथवा जिस प्रकार हमारे दुर्भाग्यसे पिशाच वगेरहका शरीर दिखाई नहीं देता, वैसे ही ईश्वरका शरीर भी अदृश्य है, इस तरह उठ भी निश्चय नहीं होता ।

अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिरन्यौवैपम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीर-  
कर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यमवृत्तौ कुत सामर्थ्यम् आकाशादित्यत् ।  
तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्तिसिद्धिः ॥

तथा ईश्वरको अशरीरलक्षणा माननेमें दृष्टात और दार्ष्टान्तिक विषम हो जाते हैं । क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ताके बनाये हुए ही देखे जाते हैं, फिर आकाशकी तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करनेमें समर्थ हो सकता है २ अर्थात् ' जगत अशरीर ईश्वरका बनाया हुआ है, कार्य होनेसे, घटकी तरह ' इस अनुमानमें घट दृष्टात और जगत दार्ष्टान्तिकमें समता नहीं है, क्योंकि घट सशरीरकी बनाया हुआ माना जाता है । तथा जित तरह अशरीर आकाश कोई कार्य बगैरह नहीं करसकता, उसी तरह अशरीर ईश्वर भी कार्य करनेमें असमर्थ है । इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षोंमें कार्यत्व हेतुकी समर्तृकत्व साम्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती ।

किञ्च, तन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्यय हेतुः । धर्म्यदेशस्य तरुविणुदभ्राद-  
रिदानीमप्युत्पद्यमानस्य त्रिधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षवाधितधर्म्यनन्तर हेतुभणनात् ।  
तदत्र न बन्धिद् जगतः कर्ता । एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि  
तद्विशेषणानि पण्ड प्रति कामिन्या रूपसपन्निरूपणप्रायाण्येव । तथापि तेषां विचारा-  
सहत्तरयापनार्थं किञ्चिदुच्यते ॥

तथा, तुम्हारे मतसे कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट भी है। क्योंकि जगतरूप धर्मी (साध्य) के एकदेश वृक्ष, विद्युत्, मेघ वगैरह किमी कर्ताके बनाये हुए नहीं देखे जाते हैं, इस लिये यहाँ प्रत्यक्षसे वाधित धर्मीके साथ हेतुका कथन किया गया है, अतएव यह हेतु दोषपूर्ण है। अतएव कोई जगत्का बनानेवाला नहीं है। तथा ईश्वरके जगत्कर्तृत्व साधनमें जो एकत्व आदि विशेषण दिये गये हैं वे सन नपुसक के प्रति स्त्रियोंके रूपलावण्य आदिका कथन करनेके समान हैं। फिर भी इन विशेषणोपर कुछ विचार किया जाता है।

तत्रैकत्वचर्चेस्तावत् । बहुनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावना इति नायमंकान्तः । अनेककीटिकाशतनिष्पात्रत्वेऽपि शरुमूर्धः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैरुसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात् । अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति रूपे । एव चेद् भवतां भवानीर्पतिं प्रति निष्प्रतिष्ठा वासना, तर्हि बुवि द्रुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते । अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्ध कर्तृत्व कथमपह्लात्तु शक्यम् । तर्हि कीटिकादिभिः किं तत्र विराद् यत् तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्य कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते । तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वरूपना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तबल्लभपुत्ररूपनादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाभासते ॥

एकत्व— बहुनसे ईश्वरोद्द्वारा जगतरूप एक कार्यके किये जानेपर ईश्वरमें मतिका भेद उत्पन्न होगा, यह वार्दा लोगोंका कथन एकान्त सत्य नहीं है। क्योंकि सैकड़ों कीड़ियाँ एक बर्मी को बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महलको बनाते हैं, बहुतसी मधुमक्खी एक ही शहद के छत्तेका निर्माण करती हैं, फिर भी वस्तुओंकी एक रूपतामें कोई विरोध नहीं आता। यदि वादी कहे, कि बर्मी, प्रासाद आदिका कर्ता भी ईश्वर ही है, तो इससे ईश्वरके प्रति आप लोगों की निरुपम श्रद्धा प्रगट होती है, और इस तरह तो जुलाहे और उभकार वगैरह को पट और घट वगैरहका कर्ता न मानकर ईश्वरको ही इनका भी कर्ता मानना चाहिये। यदि आप कहें, कि घट पट आदिके कर्ता कुम्भकार और जुलाहा आदि प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं, तो फिर कीटिका आदि को बर्मी आदिका कर्ता मानने में क्या दोष है। आप लोग कीटिका आदिके असाधारण परिश्रमसे साध्य कर्तृत्वको एक क्षणभर में ही उड़ा देना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। इस लिये परम्पर मतिभेद होनेके भयमें जो एक ईश्वरकी कल्पना है, वह भोजन आदिके व्ययके डरसे कृपण पुरुषके अत्यन्त प्रिय पुत्र स्त्री आदिको छोड़कर शून्य जगलमें वास करनेके समान है। जैसे कोई कृपण पुरुष स्वर्चके भयसे अपने स्त्री पुत्रादिको छोड़कर वनमें चला जाय, उसी तरह मतिभेदके भयसे आप लोग भी एक ईश्वरकी कल्पना करते हैं।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात् ? प्रथमपक्षे तद्विद्येन्न देहन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानरकाश । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता । अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणभ्युपगमात् । यदि परमव भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्—“ विश्वतश्चसुरंत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिस्त विश्वतः पात् ” इत्यादिश्रुतेः ॥

सर्वगतत्व—तथा ईश्वर सर्वगत भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वरका सर्वगतत्व शरीर की अपेक्षासे है, अथवा ज्ञान की ? प्रथम पक्षमें ईश्वरका शरीर ही तीनों लोकों में व्याप्त होगा, इस लिये दूसरे बनाने योग्य ( निर्मेय ) पदार्थोंके लिये कोई स्थान ही न रहेगा । यदि आप-लोग ज्ञान की अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी मानें, तो इसमें हमारे साध्य की सिद्धि है, क्योंकि हम लोग ( जैन ) भी परमात्माको निरतिशयज्ञान की अपेक्षा तीनों लोकोंमें व्यापी मानते हैं । परन्तु ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत माननेसे आपके वेदसे विरोध आता है । क्योंकि वेदमें ईश्वरको शरीरकी अपेक्षासे सर्वव्यापी कहा है । श्रुति भी है “ ईश्वर सर्वत्र नेत्रोंका, मुखका, हाथोंका और पैरोंका धारक है । ”

यच्चोक्त तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छयते । स जगत्त्रय निर्मिमाणस्तस्मादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण निर्मिमीति, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेविधानेऽक्षोटीयस कालक्षेपस्य सम्भवाद् वहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थापित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्याम । नियतदेशस्थापिना सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनमतिपत्तेः ॥

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापक माननेमें वार्दाने जो हेतु दिया है, कि यदि ईश्वरको नियतस्थानवर्ती माना जाय, तो तीनों लोकोंमें अनियत स्थानोंके पदार्थोंकी यथावत् उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, सो यहापर प्रश्न होता है, कि ईश्वर बड़ईकी तरह साक्षात् शरीरकी मददसे जगतको बनाता है, अथवा सकल्पमात्रसे ? पहला पक्ष स्वीकार करनेमें पृथिनी, पर्वत आदिके निर्माण करनेमें बहुत समय लगेगा, इस लिये बहुत समय तक भी तीनों लोकोंकी रचना न हो सकेगी । यदि कहो, ईश्वर सकल्पमात्रसे ही सृष्टिको बनाता है, तो यदि एक म्यानमें रहकर भी ईश्वर जगतको बनावे, तो उसमें भी कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि नियत देशमें रहनेवाले सामान्यदेव भी सकल्पमात्रसे ही अमुक कार्योंका सम्पादन करते हैं ।

क्रिञ्च, तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणे अशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादि-  
स्थानंष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यत । तथा चानिष्टापत्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा  
ज्ञानात्मना सर्वं जगत्त्रय व्याप्नोतीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपालम्भसभा-  
वनात् नरकादिदुःखस्वरूपसवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यै-  
वेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानम-  
प्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषय परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्या, तत्कुतो भवदुपा-  
लम्भः समीचीनः । नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तत्रमास्वादानुभूतिः । तद्भावे  
हि स्रृचन्दनाद्जनारसवत्पादिचिन्तनमात्रेणैव तप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्य-  
प्रसक्तिरिति ॥

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापी माननेसे वह ईश्वर अशुचि पदार्थोंमें और  
निरन्तर महाअधिकारमें व्याप्त नरक आदि में भी रहा करेगा और यह मानना आप लोगों  
को इष्ट नहीं है । ईश्वरवादी—ज्ञान की अपेक्षा विनभगवान को जगत्त्रय में व्यापी  
माननेसे आप लोगोंके भगवान को भी अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा  
नरक आदि दुखोंके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दुखका भी अनुभव होता है, इस लिये अनिष्टा-  
पत्ति दोनोंको समान है । जैन—यह कहना अमर्थ होकर घूल फेंकनेके समान है । क्योंकि  
हम ज्ञानको अप्राप्यकारी मानते हैं, अर्थात् ज्ञान आत्मा में स्थित होकर ही पदार्थोंको  
जानता है, ज्ञेय पदार्थोंके पास जाकर नहीं । इस लिये वादीका दिया हुआ दूषण ठीक नहीं  
है । तथा दूसरी बात यह भी है, कि केवल अशुचि पदार्थके ज्ञानसे ही भगवानके रसा-  
स्वादाकी अनुभूति नहीं होती है । यदि ऐसा होने लगे, तो माला, चन्दन, ली, जलेबी  
आदि पदार्थोंके चिन्तन मात्रमें ही तृप्ति हो जानी चाहिये, और इस लिये माला, चन्दन  
आदिके लिये प्रयत्न करना भी निष्फल हुआ करेगा ।

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम् तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम् ।  
तथा च वक्तारो भवन्ति । अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति । न च ज्ञान प्राप्य-  
कारि, तस्यात्मधर्मत्वेन बाहिर्निर्गमाभावात् । बाहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतयापत्त्या अजीव  
त्वप्रसङ्गः न हि धमा धमिणमतिरिच्य क्वचन क्वलो विलोकित । यच्च परे दृष्टान्त-  
यन्ति यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याद् निष्क्रम्य भुवन भासयन्ति, एव  
ज्ञानमप्यात्मन सकाशाद् बाहिर्निर्गत्य प्रमेय परिच्छिनत्तीति । तत्रदमुत्तरम् । किरणानां  
गुणत्वमसिद्धम्, तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात् । यच्च तेषां प्रकाशात्मा गुण स  
तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति । तथा च धर्मसद्ग्रहणिया श्रीहरिभद्राचार्यपादाः—

“ किरणा गुणा न द्रव्यं तैसिं पयासो गुणो न वा द्रव्य ।

ज नाण आयगुणो कहमद्वयो स अब्रतथ ॥ १ ॥

गन्तूण न परिच्छिन्दइ नाण णेय तयम्मि दसम्मि ।  
 आयत्थ चिय नवर अचित्तसत्ती उ त्तिण्णेय ॥ २ ॥  
 लाहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिग्घदेसपि ।  
 ळ्ह आगरिसती दीसइ इह कज्जपच्चरत्त्वा ॥ ३ ॥  
 एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव इदि त्वागत ।  
 जइ परिच्छिन्दइ सम्म षो णु त्तिराहो भव तत्थ ” ॥ ४ ॥  
 इत्यादि ॥

तथा हमने जो ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी माना है, वह ईश्वरके जानमें सन पदार्थोंके जाननेकी शक्तिकी अपेक्षासे है । जैसे किमी मनुष्यकी बुद्धिकी शक्तिकी देखकर लोग कहते हैं, कि इसकी बुद्धि सन शास्त्रों में चलती है, उसी तरह यद्वा भी हमने ईश्वरके जानकी शक्तिकी देखकर ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक कहा है । तथा ज्ञान प्राप्यकारी नहीं है, क्योंकि वह आत्माका धर्म है, इस लिये जान आत्मासे बाहर निकल कर नहीं जा सकता । यदि ज्ञान आत्माके बाहर निकल कर जाने लगे, तो आत्मा अचेतन हो जाय । लेकिन यह सभ्य नहीं । क्योंकि धर्माको छोड़कर केवल धर्म कहीं भी नहीं रहता । तथा वैशेषिक लोगोंने जो सूर्यका दृष्टात दिया है, कि जैसे सूर्यकी किरणें गुणरूप होकर भी सूर्यसे बाहर जाकर समारम्भ प्रकाशित करती हैं, उसी तरह ज्ञान आत्माका गुण होकर भी आत्मासे बाहर जाकर प्रमेय पदार्थमें जानता है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि किरणोंका गुणत्व ही अमिद्ध है, कारण कि किरणें तैजसपुद्गलरूप हैं, इस लिये वे द्रव्य हैं । तथा किरणोंका प्रकाशात्मक गुण कभी किरणोंसे अलग नहीं होता । हरिमद्राचार्यने धर्मसंदिग्धीर्म भी कहा है—“ किरणें द्रव्य हैं, गुण नहीं हैं । किरणोंका प्रकाश गुण है । यह प्रकाशरूप गुण द्रव्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता । इसी तरह ज्ञान आत्माका गुण है, वह आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता । निम्न देगमें ज्ञेय पदार्थ स्थित है उस प्रदेशमें ज्ञान जाकर ज्ञेयको नहीं जानता, किन्तु आत्मामें रहते हुए ही दूर देशमें स्थित ज्ञेयको जानता है । आत्माके जानमें

१ किरणा गुणा न द्रव्य तेषा प्रकाशो गुणा न वा द्रव्य ।

यज्ञानमात्मगुण कथमद्रव्य स अथय ॥

गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञान ज्ञेय तस्मिन्देशे ।

आत्मस्थमेव नवर अचिन्त्याकत्वा तु विज्ञेयम् ॥

लाहायलस्य शक्ति आत्मस्थैव भिन्नदशमपि ।

लाहमाकर्षती दृश्यत इह कार्यप्रत्यक्षा ॥

एवमिह ज्ञानशक्ति आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम् ।

यदि परिच्छिनत्ति सर्वे को तु विरोधो भवेत्तत्र ॥



अचित्य शक्ति है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थरकी शक्ति चुम्बकर्म ही रहकर दूर रखे हुए लोहेको अपनी ओर खेंचती है, इसी प्रकार ज्ञानशक्ति आत्मानमें ही रहकर लोकके अतनक रहनेवाले सब पदार्थोंको जानती है, इसमें कोई विरोध नहीं है।" इत्यादि।

अथ सर्वगतः सर्वज्ञ इति व्याख्यातम् । तत्रापि प्रतिविधीयत । ननु तस्य सार्वश्येन प्रमाणेन गृहीतम् । प्रत्यक्षेण, परोक्षेण वा ? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नतपातीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात् । नापि परोक्षेण । तद्धि अनुमान, शान्द वा स्यात् । न तावदनुमानम्, तस्य लिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात् । न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किञ्चिदव्यभिचारी लिङ्ग पश्यामः । तस्यात्यन्तविप्रकृष्टत्यन तत्प्रतिपद लिङ्गसम्बन्धग्रहणाभावात् ॥

सर्वज्ञत्व—वैशेषिकोंके ईश्वरका सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरका सर्वज्ञत्व इस लिये सिद्ध नहीं हो सकता, कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनके सयोगसे उत्पन्न होता है, इस लिये वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं जान सकता। परोक्ष ज्ञानसे भी ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान अनुमान से सर्वज्ञत्वको जानता है, अथवा शब्दसे 'अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगी और लिंग (साध्य और हेतु) दोनोंके सम्बन्धके स्मरणपूर्वक ही अनुमान होता है। जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धूम्रमान होनेसे' यहाँ पहले धूम्ररूप लिंगका ग्रहण होता है और फिर अग्निरूप लिंगीके साथ लिंगके सम्बन्धका स्मरण होता है। इसी तरह 'ईश्वर सर्वज्ञ है' इस अनुमानमें किमी लिंगका ग्रहण और उस लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ सम्बन्धका स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा ईश्वरके सर्वज्ञत्व रूप अनुमेयमें हम कोई भी अव्यभिचारी लिंग नहीं देखते, क्योंकि वह ईश्वर अत्यन्त दूर है, इस लिये ईश्वरसे सम्बन्ध लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ सम्बन्धका स्मरण नहीं हो सकता।

अथ तस्य सर्वज्ञत्व विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमान सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत् । न । अविनाभावाभावात् । न हि जगद्वैचित्र्यं तत्सार्वश्यं विनान्यथा नोपपन्ना । द्विविधं हि जगत् म्थावरजङ्गमभेदात् । तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाशुभकर्म-परिपाकवशेनैव । म्थावराणां तु संचेतनानामियमत्र गतिः । अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति ॥

यदि वादी लोग कहें, कि ईश्वरके सर्वज्ञत्वके विना जगतकी विचित्रता नहीं बन सकती, इस कारण अर्थापत्तिसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि जगतकी विचित्रता और सर्वज्ञताकी व्याप्तिका अभाव है। क्योंकि जगम

( तस ) और सचेतन स्थावर जीवोंकी विचित्रता स्वय उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयसे ही होनी है । तथा अचेतन स्थावरोंके द्वारा जगम और सचेतन स्थावरोंको कर्मफल भोगना पडता है, इस लिये इनकी विचित्रता अनादिकालसे सिद्ध ही है ।

नाप्यागमस्तत्साधकः । स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् ? तत्कृत एव चेत् तस्य सर्वज्ञता साधयति तदा तस्य महत्त्वमिति । स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । अन्यच्च, तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते । शास्त्र हि र्णात्मन्म् । ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः । स च शरीर एव सम्भवी । शरीराभ्युपगमे च तस्य पूर्वाक्ता एव दोषा । अन्यकृतश्चेत् सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा ? सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्ततदेकत्वाभ्युपगमसाधः तत्साधकप्रमाणचर्यायामनवस्थापातश्च । असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वास ॥

आगमसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम ईश्वरका बनाया हुआ है, या किसी दूसरेका ? यदि वह आगम ईश्वरप्रणीत होकर ही ईश्वरका सिद्धि करता है, तो ईश्वरकी महान शक्ति होगी । क्योंकि महात्मा लोग स्वय ही अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं करते हैं । तथा, ईश्वर शास्त्रका कर्ता ही सिद्ध नहीं होना । क्योंकि शास्त्र अक्षररूप होता है, तथा अक्षर तालु आदिसे उत्पन्न होते हैं । यह तालु आदिका व्यापार शरीरी पुरुषके ही सम्व है । यदि ईश्वरको शरीरी मानोगे, तो ईश्वरमें पूर्वाक्त दोष मानने पडेंगे । यदि आप कहें, कि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम दूसरेका बनाया हुआ है, तो वह दूसरा पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ ? यदि वह सर्वज्ञ है, तो ईश्वरके द्वैतका प्रसंग होनेसे आपने जो पहले ईश्वरको एक माना है, उसमें बाधा उपस्थित होगी । तथा अन्य पुरुषको सर्वज्ञ माननेपर बहुतसे पुरुषोंके सर्वज्ञ स्वीकार करनेमें अनवस्था दोष आवेगा । तथा यदि आगमका प्रणेता अन्य पुरुष असर्वज्ञ है, तो उसके वचनोंमें विश्वास कौन करेगा ?

अपर च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति । पूर्वापर-  
त्रिरुद्धार्थवचनोपेतत्वात् । तथाहि “ न हि स्यात् सर्वभूतानि ” इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात्  
तत्रैव पठितम्—

“ पद्मज्ञानानि नियुज्यन्ते पशूना मध्यमेऽहनि ।

अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ” ॥

तथा “ अभीपोमीय पशुमालभत ”, “ सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत ”

इत्यादि वचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरूच्यन्ते । तथा “ नानृत ब्रूयात् ”  
इत्यादिना अनृतभाषण प्रथम निषि'य, पश्चात् “ ब्राह्मणार्थेऽनृत ब्रूयात् ” इत्यादि । तथा—  
“ न नर्पयुक्त वचन हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विनाहकाले ।

प्राणात्पये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ” ॥

तथा “ परद्रव्याणि लोष्ठवत् ” इत्यादिना अद्रत्तादानमनेरुधा निरस्य, पश्चा-  
दुक्तम् “ यत्रैपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा तथापि तस्य नादत्तादानम् ।  
यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् ब्राह्मणानां तु दीर्घल्याद् वृषला परिभुञ्जते ।  
तस्मादपहरन् ब्राह्मण स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्व वस्ते स्त्र ददाति ” इति ।  
तथा “ अर्षुणस्य गतिर्नास्ति ” इति लपित्वा,

“ अनेकांनि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।

दित्र गतानि विभाणामकृत्वा वुलसन्ततिम् ” ॥

इत्यादि । त्रियन्ता वा दधिमापभोजनात् कृपणा निवेच्यन्ते । तदेवमागमोऽपि न  
तस्य सर्वज्ञता वक्ति । किञ्च, सर्वज्ञ सन्नसां चराचर चेद् विरचयति, तदा जगदुप-  
प्लवकरणैरिण पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरैरिण एतदधिकपकारिणश्चास्मदानान्  
किमर्थं सृजति इति, तन्नाय सर्वज्ञः ॥

इसके अतिरिक्त, आप लोगोना आगम अपने प्रणेताको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है ।  
क्योंकि वह आगम पूर्वापरविद्वद्द है । जैसे “ किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये ”  
यह कहकर, पीछेसे “ अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमें ५९७ पशुओंका वध किया  
जाता है, ” तथा “ अग्नीषोम सबधी पशुका वध करना चाहिये, ” “ सतरह प्रजापति  
सबधी पशुओंको मारना चाहिये ” आदि वचनोंका कथन करना शास्त्रोंके पूर्वापरविरोधको  
सिद्ध करता है । तथा “ असत्य नहीं बोलना चाहिये ” आदि वचनोसे  
असत्यका निषेध करके, पीछेसे “ ब्राह्मणके लिये असत्य बोलनेमें दोष नहीं है, ”  
तथा “ हास्यमें, स्त्रियोंके साथ समोगके समय, विवाहके अवसरपर, प्राणोंका नाश  
होनेपर और सर्व धनके हरण होनेके समय असत्य बोलना पाप नहीं है ” आदि वचनोंका  
कथन करना, तथा “ दूसरेकी सम्पत्ति मिट्टीके ढेरके समान है ” आदि वचनोंसे चोरीका  
निषेध करके, “ यदि कोई ब्राह्मण हठसे या छलसे दूसरेके द्रव्यको हरण करता है, तो भी  
उसे चोरीका दोष नहीं लगता, क्योंकि जगतकी सर्व सपत्ति ब्राह्मणोंको ही दी गई है,

१ आपस्तम्बश्रुतेः ।

२ “ उद्गाहकाले रतिसम्प्रयोगे प्राणात्पये सर्वधनापहारे ।

विप्रस्य चापे हनृत वदेषु पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ वशिष्ठधर्मश्रुते १६-३६ ।

३ मनुस्मृतौ १-१०१ इत्यप्रात्याशेनैतत्समम् । ४ देवीभागवते । ५ आपस्तम्बश्रुतेः ।

ब्राह्मणोंकी दुर्बलतासे शूद्र लोग इस सपत्निका उपभोग करते हैं । इस लिये यदि ब्राह्मण दूसरेके धनको छीनता है, तो भी वह अपने ही धनको लेता है, अपने ही का उपभोग करता है, अपना ही पहरता है और अपना ही देता है " आदि वाक्योंका उल्लेख करना, तथा " पुत्ररहितकी गति नहीं होती " कहकर, " कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मण अपने पुत्रकी मृततिको उत्पन्न करनेके मर्ग गये हैं " आदि वाक्योंको कहना आगमके पूर्वापरविरोधको स्पष्टरूपसे प्रगट करता है । इस लिये आगममें भी ईश्वरकी सर्वनता सिद्ध नहीं होती । तथा, यदि सर्वत्र ईश्वर इस स्थावर-जगमरूप जगतको बनाता है, तो वह जगतमें उपद्रव करनेवाले दुष्टा और दानवोंको, तथा ईश्वरपर आशेष करनेवाले हम जैसे लोगोंको क्यों बनाता है ? इससे मालूम होता है, कि वह ईश्वर सर्वत्र नहीं है ।

तथा स्ववशत्व—स्वातन्त्र्य । तदपि तस्य न क्षात्रक्षमम् । स हि यद्वि नाम स्वाधीन सन् विश्व विभक्त, परमशरणिः त्वया वर्ण्यते, तत् कथं मुग्धितदु खि तापरस्थाभेन्मृदस्थपुटित घटयति भुवनम् एकान्तगर्भसपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते । अथ जन्मान्तरोपाजिततत्तद्रीय गुभाशुभधर्मप्ररितं सन् तथा करोतीति दत्तस्नर्हि स्वयशंताय जलाञ्जलि ॥

स्वतन्त्र—तथा ईश्वर स्वतन्त्र भी नहीं है । यदि ईश्वर स्वाधीन होकर जगतको रचता है, और वह परम दयालु है, तो वह सर्वथा सुख-सम्पदाओंसे परिपूर्ण जगतको न बनाकर सुख-दुखरूप जगतका क्यों सर्जन करता है ? यदि कहो, कि जीवोंके जन्मान्तरमें उपाजन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंसे प्रेरित होकर ईश्वर जगतको बनाता है, तो इस तरह ईश्वरके स्वाधीनत्वका लोप ही हो जाता है ।

धर्मजन्ये च निभुवनवैचिज्ये भिषिषिष्टहेतुमिष्टपसृष्टिकल्पनाया कष्टरूपलत्वात् अस्मन्मतमेवाङ्गीकृत प्रेक्षावता । तथा चापोतोऽप " घटकुट्ट्या प्रभातम् " इति न्यायः । किञ्च, प्राणिना धर्मागर्मावपेक्षमाणश्रेष्ठय सृजति, प्राप्त तद्दि यदयमपक्षते तन्न करोतीति । न हि बुलालो दण्डादि करोति । एव कर्मापेक्षश्रेष्ठीश्वरा जगत्कारण स्यात् तर्हि अर्मेणीश्वरत्वम्, ईश्वराऽर्नीश्वर स्यान्निति ॥

तथा ससारकी विचित्रताको धर्मजन्य स्वीकार करनेपर मृष्टिको ईश्वरजन्य मानना केवल कष्टरूप ही है । इससे अच्छा तो आप हमारा ही मत स्वीकार करें । तथा हमारे

१ स्ववशत्व नवमित्यय । २ महेश्वर ३ विश्व ४ उदेत्यासिद्धिर्यत्र प्रतीयते तत्राय न्याय उपपुन्यते । न्यायार्थ—कश्चित् श्वाकटिको मरुते मार्गे रात्रदेव द्रव्य दातुमनिच्छन्नागान्तर समासादयति पर रात्रौ अग्रमार्गं प्रमात राजब्राह्मद्र यमाहिङ्गटीषविधोऽनागच्छति । तेन तद्दृश्येय न विष्यतीति ।

मतको स्वीकार करनेपर आपको “ घटकुट्ट्याप्रमातम् ” न्यायका प्रसंग होगा । अर्थात् जैसे कोई मनुष्य महमूर्खी सामानका महसूल न देनेके विचारमे रास्तेमें आनेवाले महसूल देनेके मुकामको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये रातभर इधर उधर फिर फिराकर प्रातःकाल उसी महसूल देनेके मुकामपर जा पहुँचता है ( घटकुट्ट्याप्रमातम् ), उसी प्रकार आप लोगोंने ईश्वरको जगतका नियन्ता सिद्ध करनेमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर आखिरमें हमारा ही मत स्वीकार करना पडा । तथा, ईश्वर जीवोंके पुण्य पापकी सहायतासे जगतको बनाता है, इससे सिद्ध होता है, कि वह पुण्य-पाप को नहीं बनाता । जैसे कुम्हार घटके बनानेमें दण्डकी सहायता लेता है, इस लिये वह दण्डको नहीं बनाता, उसी तरह यदि ईश्वर जगतके बनानेमें जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता है, तो वह पुण्य पापको नहीं बनाता है, इस लिये यदि ईश्वर जगतके बनानेमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है, तो वह कर्मोंके बनाने वाला नहीं कहा जा सकता, इस लिये ईश्वर अनैश्वर्य ( असमर्थ ) है, स्वतंत्र नहीं ।

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वग्रह एव प्रणिगद्यमान ह्यम् । स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतस्त्वभावो वा ? प्रथमविधायया जगन्निर्माणान् कदाचिदपि नोपरमेत । तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः । एव च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः । घटो हि स्वारम्भक्षणगादारभ्य परिसमाप्तेरपान्त्यक्षणं यावद् निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ॥

नित्यत्व—तथा ईश्वर नित्य भी नहीं है । क्योंकि नित्य होनेसे एकरूपके धारक उस ईश्वरके त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, या विना स्वभावके भी वह त्रिभुवनका सर्जन करता है । यदि ईश्वरका त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, तो वह जगतके बनानेसे कभी भी विश्राम न लेगा । यदि विश्राम लेगा, तो ईश्वरके स्वभावकी हानि होगी । इस प्रकार जगतकी रचनाका कभी अन्त न होगा, अतएव एक भी कार्यकी रचना न हो सकेगी । क्योंकि वास्तवमें घटकी रचनाके आरम्भ होनेके प्रथम क्षणसे लगाकर घटकी रचनाकी समाप्तिके अन्तिम क्षण तक ‘ घट ’ व्यवहार नहीं होता । कारण कि जब तक घट बन कर तैयार न हो जाय, उस समय तक घटमें जल लाने आदिकी क्रिया नहीं हो सकती । भाव यह है, कि यदि ईश्वर नित्य है, तो उसका जगत बनानेका स्वभाव भी नित्य ही होना चाहिये । इस लिये उसे सदा जगतको बनाते ही रहना चाहिये । जगतके इस अविराम निर्माणसे एक भी कार्यकी रचना समाप्त न हो सकेगी । तथा जब तक किसी कार्यकी रचना समाप्त न हो, उस समय तक हम ईश्वरकी मद्य नहीं कह सकते ।

अतस्त्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तत्स्वभावायोगाद् गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् सहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्ते । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि सहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ? तेनैव चेत् सृष्टिसंहारयोयोगपद्यमसद्, स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिरिरोधात् । स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानि\* । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यताया । यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वात्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवता सृष्टिसंहारयोः शम्भो स्वभावभेदः । रजागुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहारणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् । एव चावस्थाभेदः तद्वेदे चावस्थावतोऽपि भेदाद् नित्यत्वसति ॥

यदि ईश्वरका जगतके रचनेका स्वभाव नहीं है, तो ईश्वर कभी भी जगतको नहीं बना सकता । जैसे आकाशका स्वभाव जगतको बनानेका नहीं है, वैसा ही ईश्वरका स्वभाव भी जगतको बनानेका न रहेगा । तथा, ईश्वरको एकान्त नित्य माननेपर सृष्टिकी तरह सहार भी न बन सकेगा । क्योंकि यदि ईश्वर सृष्टि, संहार आदि अनेक कार्योंको करेगा, तो वह अनित्य हो जायगा । तथा, जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिकी रचना करता है, उसी स्वभावसे वह सृष्टिका संहार करता है, अथवा दूसरे स्वभावसे ; यदि ईश्वर उसी स्वभावसे संहार करता है, तो सृष्टि और संहार एक हो जावेग, क्योंकि दोनोंमें स्वभावका अभेद है । एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभावरूप, कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कहो, कि जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिको बनाता है, उस स्वभावके अतिरिक्त दूसरे स्वभावसे वह संहार करता है, तो यह माननेमें ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता । क्योंकि स्वभावका भेद होना ही अनित्यताका लक्षण है । जिस प्रकार आहारके परमाणुओंसे युक्त पार्थिव शरीरमें प्रतिदिन नवीन नवीन उदरसि होनेके कारण स्वभाव भेद होता है, इस लिये पार्थिव शरीर अनित्य है, उसी तरह ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य होगा । परन्तु आप लोग जगतकी सृष्टि और संहारमें ईश्वरके स्वभाव-भेदको स्वीकार करते हैं । क्योंकि आप लोगोंके अनुसार ईश्वर सृष्टिमें रजोगुणरूप, संहारमें तमोगुणरूप, और स्थितिमें सत्त्वगुणरूप प्रवृत्ति करता है । इस प्रकार अनेक अवस्थाओंके भेद होनेसे ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता ।

अथास्तु नित्य\*, तथापि ऋष सततमव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छा स्वसत्तामात्रनिन्दनान्तात्मलाभा\* सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवीपालम्भ\* । तथा शम्भोरष्टगुणाधिहरणत्वे, कार्यभेदानुमेयाना तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानि केन वार्यते ॥

यदि ईश्वरको नित्य माग भी लिया जाय, तो वह जगतके बनानेमें सदा ही प्रयत्नवान क्यों नहीं रहता ? यदि कहो, कि जब ईश्वरकी इच्छा होती है, उस समय वह जगतको बनाता है, तो यदि ईश्वरकी इच्छा ईश्वरके ही आधीन रहती है, तो वह सदा ही ईश्वरको जगतके बनानेमें क्यों नहीं लगाती । इस प्रकार यहाँ भी ईश्वरको अरिभाररूपसे जगतको बनाने रहनेका पूर्वोक्त दोष जाता है । तथा आप लोग ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, साया, परिणाम, पृथक्त्व, सयोग और विभाग नामके आठ गुणोंको स्वीकार करते हैं । परन्तु कार्य भेदसे अनुमेय ईश्वरकी इच्छाओंके विपर्यय होनेसे ईश्वरके नित्यत्वकी हानिको कौन दूर कर सकता है ? अर्थात् यदि ईश्वर नित्य है, तो उसकी इच्छायें भी सदा समान ही रहनी चाहिये । परन्तु ससारके नाना कार्योंको देखकर अनुमान होता है, कि ईश्वरकी इच्छायें भी नाना प्रकारकी ( विपर्यय ) हैं, और ईश्वरकी इच्छाओंके विपर्यय होनेसे ईश्वरको भी अनित्य मानना चाहिये ।

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृत्ति स्वार्थं कर्णाभ्या व्याप्ता । ततश्चाय जगत्समं व्यापियते स्वार्थात्, कारण्याद् वा ? न तावन् स्वार्थान् तस्य कृतकृत्यत्वात् । न च कारण्यात्, परदुःखमहाणेच्छा हि कारुण्यम् । नत प्राक् सर्गाज्जीवागामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सगात्तरकाले तु दुःखिनोऽत्रलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुचरमितरेतराश्रयम् कारुण्येन सृष्टि सृष्ट्या च कारुण्यम् । इति नास्य जगत्कर्तृत्व कथमपि सिद्धयति ॥

तथा बुद्धिमान पुरपौत्री प्रवृत्ति स्वार्थं ( किसी प्रयोजनसे ) अथवा कर्णाबुद्धिपूर्वक ही होती है । लेकिन स्वार्थसे ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह कृतकृत्य है । यह प्रवृत्ति कर्णासे भी संभव नहीं, क्योंकि दूसरेके दुखोंको दूर करनेकी इच्छाको कर्णा कहते हैं । परन्तु ईश्वरके सृष्टि रचनेमें पहले जीवोंके इन्द्रिय, शरीर और विषयोंका अभाव था, इस लिये जीवोंके दुख भी नहीं था, फिर किम दुखको दूर करनेकी इच्छासे ईश्वरके कर्णाका भाव उत्पन्न हुआ ? यदि कहो, कि सृष्टिके बाद दुखी जीवोंको देखकर ईश्वरके कर्णाका भाव उत्पन्न होता है, तो इतरेतराश्रय नामका दोष आता है । क्योंकि कर्णासे जगतकी रचना हुई, और जगतकी रचनासे कर्णा हुई । इस प्रकार ईश्वरके किसी भी तरह जगतका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता ।

तदेवमेवविधयापञ्चलपिते पुरुषविशेषे यस्तेषा सेवाहेवाकं स खलु केवल बलवन्माहविदम्भनापरिपाक इति । अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिना नकारस्य “घण्टा-लालान्यायेन ” योजनादर्धान्तरमपि स्फुरति यथा इमा कुहेनाकनिदम्भनास्तेषा न

स्युयपा त्वमनुशासक' इति तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः, अन्ययोगव्य-  
वच्छेदस्याधिकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अनेक दोषोंमें दूषित पुरुषविशेष ईश्वरको जगतके कर्ता माननेका  
आग्रह केवल बलवान मोहकी निडम्बनाका फल है। 'इमा उहेवाक्विडम्बना स्युस्तेषा न  
येषामनुशासकत्वम्', यहा मध्यमर्ती नकारका 'घण्टालालान्याय' से ( मध्यमणिन्याय  
अथवा देहलीदीपकन्याय या घण्टालालान्याय एक ही हैं। जैसे एक ही मणि, अथवा  
दीपक घरकी देहली पर रखनेमें दोनों ओरकी वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं, अथवा एक ही  
घटा अपनी दोनों तरफ प्रकटता है, उसी तरह यहाँ भी एक ही 'नकार' का दो तरहसे अन्वय  
होता है )। इस श्लोकका दूसरा अर्थ भी निकलता है, कि चिनके आप अनुशासक हैं, उनके  
कडाम्बररूप विडम्बनायें नहीं हैं। परन्तु यह अर्थ विद्वानोंको नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यहाँ  
स्तुतिकारने अन्ययोगव्यवच्छेदका अलम्बन लिया है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके इश्वरके स्वरूपका खडन किया गया है। वैशे-  
षिकोंके अनुसार इश्वर ( १ ) जगतका कर्ता है, ( २ ) एक है, ( ३ ) सर्वव्यापी है,  
( ४ ) स्वतंत्र है, और ( ५ ) नित्य है।

वैशेषिक—( १ ) पृथिवी, पर्वत आदि किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं,  
क्योंकि ये कार्य हैं, जो जो कार्य होता है, वह किसी बुद्धिमान कर्ताका बनाया हुआ देखा  
जाता है, जैसे घर। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इस लिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए  
हैं। जो किसी कर्ताका बनाया हुआ नहीं होता, वह कार्य भी नहीं होता, जैसे आकाश'।

जैन—(क) उक्त अनुमान प्रत्यक्षसे साधित है, क्योंकि हमें पृथिवी, पर्वत आदिका  
कोई कर्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। (ख) घटका दृष्टात विषय है। क्योंकि घटादि कार्य  
संशरीर कर्ताके ही बनाये हुए देखे जाते हैं, तथा ईश्वरको अशरीर कर्ता माना गया है। तथा  
ईश्वरको संशरीर माननेमें इतरेतराश्रय आदि अनेक दोष आते हैं।

वैशेषिक—( २ ) ईश्वर एक है, क्योंकि अनेक ईश्वर होनेसे जगतमें एकरूपता  
और क्रम नहीं रह सकता। जैन—उक्त मान्यता एकान्तरूपसे सत्य नहीं है। क्योंकि  
गहड़के छत्ते आदि पदार्थोंको अनेक मधुमक्षियों तैय्यार करती हैं, फिर भी छत्तेमें क्रम और  
एकरूपता देखी जाती है।

वैशेषिक—( ३ ) ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। जैन—ईश्वर सर्वव्यापी  
नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सर्वव्यापी होनेसे प्रमेय पदार्थोंके लिये कोई स्थान न  
रहेगा। ईश्वरका सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं



सर्वज्ञत्व प्राप्त किये बिना हम प्रत्यक्षमे ईश्वरका साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकते। अनुमानसे भी हम ईश्वरको नहीं जान सकते, क्योंकि वह बहुत दूर है, इस लिये सर्वज्ञत्वसे सन्देह किसी हेतुसे उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञत्वके बिना जगतकी विचित्र रचना नहीं होसकती' इस अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जगतकी विचित्रताकी व्याप्ति सर्वज्ञत्वके साथ नहीं है। आगम प्रमाणसे भी हम सर्वज्ञको नहीं जानसकते, क्योंकि वेद आदि आगम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे युक्त हैं, इस लिये आगम विश्वनीय नहीं है।

**वैशेषिक—**( ४ ) ईश्वर स्वतंत्र है। जैन—यदि ईश्वर स्वतंत्र है, तो वह दु खोंसे परिपूर्ण विश्वकी क्या रचना करता है, अथवा ईश्वरको क्रूर और निर्दय मानना चाहिये। यदि कहा जाय, कि प्राणियोंके अदृष्टबलसे ही ईश्वर जीवोंको सुख-दुःख देता है, तो फिर कर्म प्रधान ही सृष्टि माननी चाहिये, ईश्वरको कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं।

**वैशेषिक—**( ५ ) ईश्वर नित्य है। जैन—सर्वथा नित्य ईश्वर सतत क्रियाशील है, अथवा अक्रियाशील। ईश्वरको सततक्रियाशील माननेपर कोई कार्य कभी समाप्त ही नहीं हो सकेगा। तथा अक्रियाशील माननेपर ईश्वर जगतका निर्माण नहीं कर सकता।

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादंश्च धर्मिणोऽत्यन्त व्यतिरिक्तोऽपि समवायसम्बन्धेन सवद्धा सन्तो धर्मधर्मिण्यपदेशमश्नुवते तन्मत दूपयन्नाह—

'चैतन्य तथा रूप आदि धर्म आत्मा तथा घट आदि धर्मियोंसे सर्वथा भिन्न हैं, तथा धर्म-धर्माका सबध समवाय सबधसे होता है,' वैशेषिकोंकी इस मान्यताको सर्वोप सिद्ध करते हैं—

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितय चकास्ति ।

इहेदमित्यास्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकावाधः ॥७॥

**श्लोकार्थ—**धर्म और धर्माके सर्वथा भिन्न माननेपर धर्म धर्माका सबध नहीं बन सकता। यदि कहो, कि समवाय सबधसे परस्पर भिन्न धर्म और धर्माका सबध होता है,

१ उत्तरसु ब्रह्म क्षणमगुण निष्क्रिय च तिष्ठतीति समवाय गुणानां गुणिनो व्यतिरिक्तत्वम् ।

२ 'अयुतविद्वानामापायाधारभूतानां य संबध इहप्रत्यवेदतु स समवाय' इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायप्रकरणे ।

तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस तरह हमें धर्म और धर्माका ज्ञान होता है, वैसे समवायका ज्ञान नहीं होता । यदि कहो, कि 'तन्तुओंमें यह पट है' इम प्रत्ययसे धर्म धर्मामें समवायका ज्ञान होता है, तो हम कहते हैं, कि यह प्रत्यय स्वयं समवायमें भी होता है । इस लिये एक समवायमें दूसरा, दूसरेम तीसरा, इस प्रकार एक समवायमें अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आवेगा । यदि कहो, कि एक समवायको मुख्य मानकर समवायमें समवायत्वको गौणरूपसे स्वीकार करेंगे, तो यह कल्पना मात्र है । तथा इसे माननेमें लोकविरोध भी है ।

धर्मधर्मिणोरतीवभेदे [ अतीवैत्यत्र इवशब्दो वाक्यालंकार त च प्रायोऽतिशब्दात् किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिका. यथा—“आवर्जितां किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्” “उद्वृत्तं क इह सुरावह परेषाम्” इत्यादि ] ततश्च धर्मधर्मिणोः अतीवभेद—एकान्तभिन्नत्वऽङ्गीक्रियमाणं, स्वभावाद्दानेर्धर्मधर्मित्वं न स्यात् अस्य धर्मिण इम धर्मा, एषा च धर्माणामयथाश्रयभूतो धर्मा इत्येव सर्वमासिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति । तयो- रत्यन्तभिन्नत्वऽपि तत्कल्पनाया पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वापत्त ॥

व्याख्यानार्थ—‘धर्मधर्मिणोरतीवभेदे’—[ यहा अतीवमें ‘इव’ शब्द वाक्यके अलंकारमें प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई अर्थ नहीं है । शाब्दिक लोग ‘इव’ शब्दका ‘अति’ और ‘किम्’ शब्दके साथ प्रयोग करते हैं । जैसे—“आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्” “उद्वृत्तं क इह सुरावह परेषाम्” ] । धर्म और धर्माका एकांत भेद माननेपर धर्म-धर्माका स्वरूप नहीं बनता, इम लिये इस धर्माके ये धर्म हैं, और इन धर्माका आश्रय यह धर्मा है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता । धर्म धर्माको सर्वथा भिन्न मानकर भी यदि धर्म-धर्मा भावकी कल्पना की जायगी, तो एक पदार्थके धर्म दूसरे पदार्थके धर्म हो जाया करेंगे । वैशेषिक लोग द्रव्य (धर्मा) और गुण (धर्म) को सर्वथा भिन्न मानते हैं । वैशेषिकोंके अनुसार उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणमें द्रव्य गुणोंमें रहित होता है । जैनदर्शनके अनुसार धर्म और धर्माका एकान्त भेद समव नहीं है, क्योंकि एकांत भेद माननेमें एक पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थका धर्म हो जाना चाहिये । जैसे अमिके उष्णत्वधर्म अमिके और जलका शीतत्वधर्म जलमें सर्वथा भिन्न है, तो अमिके उष्णत्वधर्मका जलके साथ और जलके शीतत्वधर्मका अमिके साथ सन्ध हो जाना चाहिये । क्योंकि धर्म और धर्मा सर्वथा भिन्न हैं ।

एषमुक्ते सति परः प्रत्ययतिष्ठते । घृत्त्यास्तीति—अयुतासिद्धानामाधारार्थाधारभूतानामिहप्रत्ययहेतु सम्बन्ध समवायः । स च समवयनात् समवाय इति द्रव्यगुणरूप सामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् घृत्तिरिति चारयायत । तथा घृत्त्या समवाय-

सम्बन्धेन, तयोर्धर्मधर्मिणो इतरेतरविनिर्मुञ्चितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते । इति नानन्तरोक्तो दोष इति ॥

वैशेषिक—हम वृत्ति (समवाय) से धर्म और धर्मिं सप्रथ मानते हैं । अत्युत्सिद्ध (एक दूसरेके बिना न रहनेवाले) आधार्थ (पट) और आधार (तट) पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु (इन तटुओमें पट है) सबध 'समवाय' है । समवायसे पदार्थोंमें सबध होता है, इस लिये इसे समवाय कहते हैं । तथा यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें रहता है, इस लिये इसे वृत्ति भी कहते हैं । इस समवाय-सबधसे सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मिं धर्म धर्माका व्यवहार होता है । यह समवाय अवयव अवयवी, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य और विशेषमें रहता है ।

अत्राचार्य समाधत्ते । चदिति । यत्रैत्र तत्र मति सा प्रत्यक्षप्रतिसिद्धा । यत्ता न त्रितय चक्रास्ति । अय धर्मा, इमे चास्य धर्मा, अय चेतत्सम्बन्धानिन्धन समवाय इत्येतत् त्रितय-वस्तुत्रय, न चक्रास्ति-ज्ञानत्रिपयतया न प्रतिभासते । यथा क्लिष्ट शिलाशकल-युगलस्य मिथोऽनुसन्धायक रालादिद्रव्य तस्मात् पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभासनम्, किन्तु द्वयोरत्र धर्मधर्मिणो इति शपथप्रत्यायनी-योऽय समवाय इति भारार्थः ॥

जैन—उक्त मान्यता प्रत्यक्षसे बाधित है । क्योंकि हमें 'यह धर्मा है', 'ये इस धर्माके धर्म है' और 'यह धर्म धर्मामें सप्रथ करानेवाला समवाय है' इस प्रकार तीन पदार्थोंका अलग अलग ज्ञान नहीं होता । जिस प्रकार एक पत्थरके दो टुकड़ोंको परस्पर जोड़नेवाले राल आदि पदार्थ पत्थरके दो टुकड़ोंमें अलग दिखाई देते हैं, उस तरह धर्म और धर्माका सप्रथ करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर नहीं होता । हमें केवल धर्म और धर्माका ही प्रतिभास होता है । इस लिये धर्म धर्मा सबध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ नहीं है ।

त्रिश्च, अय तैत्र त्रिदिना एतौ नित्यः सर्वव्यापक अमूर्तश्च परिकल्प्यते । तता यथा घटाश्रिता पात्ररूपाटयो धर्मा समवायसम्बन्धेन घट समवेता तथा किं न पटेऽपि । तस्यैकत्वनिवृत्त्यव्यापकत्वात्, सर्वत्र तुल्यत्वात् ॥

तथा, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य, सर्वव्यापक और अमूर्त स्वीकार करते हैं । इस लिये घटके अग्निम पकानेस उत्पन्न होनेवाले रूप आदि धर्म यदि समवाय सबधमें घटमें रहते हैं, तो ये रूप आदि घटमें भी क्यों नहीं रहते । क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक है । इस लिये वह सब जगह है । इस लिये समवाय सबधसे घटमें रहनेवाले

धर्म पटमें भी रहने चाहिये । क्योंकि घटधर्मसमवाय और पटधर्मसमवाय दोनो ही एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त हैं ।

यथानाश एको नित्या व्यापकः अमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्गुणपदविशेषेण सम्प्रच्यते, तथा ऋि नायमपीति । विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते । तत्तदवच्छेदकभेदाद् नाय दोष इति चेत्, एवमनित्यत्वापत्तिः । प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति ॥

जैसे एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त आकाश एक ही साथ सब सबधियोंसे समानरूपसे सबद्ध होता है, उसी तरह समवाय भी सब सबधियोंसे समानरूपसे ही क्यों सबद्ध नहीं होता । तथा, घटके नष्ट होने पर घटके समवायका अभाव हो जाता है, इस लिये समवायका ही सर्वथा अभाव मानना चाहिये । क्योंकि समवाय एक है, इस लिये घटके नष्ट होनेसे नष्ट होनेवाले घट-समवायका फिर कभी सद्भाव ही नहीं होगा । यदि वैशेषिक लोग कहें, कि समवाय वास्तवमें एक ही है, लेकिन यह घटत्वावच्छेदक-समवाय, पटत्वावच्छेदक समवाय आदि भिन्न भिन्न अवच्छेदकोंके भेदसे घट, पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थमें रहता है, इस लिये घटत्वावच्छेदक समवायके नाश होनेसे पटत्वावच्छेदक-समवायका नाश नहीं होता, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि इस तरह प्रत्येक वस्तुके साथ समवायके स्वभावका भेद होनेसे समवाय अनित्य ठहरेगा ।

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनम् यतस्तन्म्येहेतिप्रत्ययः सावधानसाधनम् । इह प्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव । इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानम्, इह घटे रूपादप इति प्रतिनेरूपलम्भात् । अस्मि च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्मनालम्बनत्वात्तस्ति समवायारय पदार्थान्तर तद्हेतुः इति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनराह । इहेदमित्यस्ति मतिश्च घृत्ताविति । इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो घृत्तावप्यस्ति—समवायसवन्धेऽपि विद्यते । चशब्दोऽपिशब्दार्थः । तस्य च व्यवहितः सम्बन्ध तथैव च व्याख्यातम् ॥

वैशेषिक—समवायका ज्ञान अवश्य होता है । 'इहप्रत्यय' (इन् तन्तुओंमें पट है) समवायके ज्ञान करानेमें प्रबल साधन है । 'इन् तन्तुओंमें पट है,' 'इस आत्मामें ज्ञान है,' 'इस घटमें रूप आदि हैं,' यह 'इहप्रत्यय' अनुभवसे सिद्ध ही है । यह 'इहप्रत्यय' केवल धर्म और धर्मोंके आधारसे नहीं होता, इस कारण धर्म-धर्मोंसे भिन्न इहप्रत्ययका हेतु समवाय अवश्य मानना चाहिये ।

इदमत्र हृदयम् । यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसवन्धात् पृथिवी, तत्र पृथिवीत्व

पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वात्थ नापर वस्त्विन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव सम याऽसाव-  
भिसम्बन्ध' पृथिव्या स एव समवाय इत्युच्यते । " प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः " ।  
इति वचनात् । एव समवायत्वाभिसम्बन्धात् समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते ।  
यतस्तस्यापि यत् समवायत्वं स्वस्वरूप, तेन सार्धं सम्बन्धोऽस्त्यय । अन्यथा निः-  
स्वभावत्वात् शशविपाणवद्रवस्तुत्रमेव भवत् ततश्च इह समवाये समवायत्वं इत्यु-  
ह्येखेन इहप्रत्यय समवायऽपि युक्त्या घटत एव । ततो यथा पृथिव्या पृथिवीत्व  
समवायेन समवेत्, एव समवायऽपि समवायत्व समवायान्तरेण सम्बन्धनीयम्,  
तदप्यपरेण, इत्येव दुम्तरानवस्थामहान्ती ॥

जैन—धर्म ( आश्रयी ) और धर्मी ( आश्रय ) में इहप्रत्ययका हेतु समवाय सन्ध  
ठीक नहीं बनता । क्योंकि धर्म और धर्मीका हेतु 'इहप्रत्यय' समवाय सन्धमें भी रत्ता है ।  
वैशेषिकोंके मतमें पृथिवीत्वके सबधसे पृथिवीका ज्ञान होता है, तथा पृथिवीत्व ही पृथिवीका  
अस्तित्व ( स्वभाव ) है । इसी पृथिवीत्वके साथ पृथिवीके सन्धको समवाय कहते हैं ।  
कहा भी है " प्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति ही समवाय है " । इसी तरह वैशेषिकोंको समवायत्वके  
सन्धसे ही समवाय भी मानना चाहिये, क्योंकि समवायत्व समवायका स्वभाव है, और समवा  
यका समवायत्वके साथ सबध है । अन्यथा यदि समवायवको समवायका स्वभाव नहीं मानोगे,  
तो समवायको स्वभावरहित मानना चाहिये, और स्वभावरहित होनेसे खरगोशके सींगकी  
तरह समवाय अवस्तु टूटेगा । इस लिये 'समवायमें समवायत्व है' ऐसा इहप्रत्यय समवायमें भी  
युक्तिसे सिद्ध होता है । अतएव जिम प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व समवाय सबधसे है, वैसे ही  
समवायमें समवायत्व दूसरे समवायसे, दूसरेमें तीसरेसे, इसप्रकार एक समवायकी सिद्धिर्म  
जनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दीय आता है ।

एव समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य  
पुन पूर्वपक्षवादी वदति । ननु पृथिव्यादीना पृथिवीत्वात्प्रभिसम्बन्धानिसन्धन समवायो  
सुरय । तत्र तत्रलादिप्रत्ययाभिव्यङ्गधस्य सदृष्टहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्ति-  
भेदस्य सामान्यस्योद्भवात् । इह तु समवायस्यैकत्वन व्यक्तिभेदाभावे जातेरनुद्भूतत्वाद्  
गौणोऽय युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्य समवायत्वाभिसम्बन्धः तत्साध्यश्च  
समवाय इति ॥

वैशेषिक—समवाय मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । पृथिवीमें  
पृथिवीत्व मुख्य-समवाय सबधसे रहता है । इस मुख्य समवायका ज्ञान 'त्व' 'तल' आदि  
प्रत्ययोंसे होता है, और यह समवाय पृथिवी आदिकी सम्पूर्ण अवान्तर जातिरूप व्यक्तिभेदको  
सामान्यस्य ग्रहण करता है । परन्तु समवायवमें समवाय एक है, इस लिये उसमें व्यक्तियोंके

भेदका अभाव है, अतएव वह सामान्यका उत्पत्तिक नहीं। अतएव आप लोगोंने जो कहा था, कि 'इन समवायियोंमें समवाय रहते हैं, क्योंकि 'इन समवायियोंमें समवाय है,' ऐसा ज्ञान होता है,' सो यह गौण समवाय है।

तदतद् न विपश्चिच्चमत्कारकारणम् । यतोऽत्रापि जातिरद्भवन्ती केन निरुध्यते ।  
व्यक्तेरभेदेनेति चेत् । न । तत्तदवच्छेदकवशात् तद्वेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदमप्यनाया  
दुनिवारत्वान् । अन्यो घटसमवायोऽन्यथ पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि  
व्यक्तिभेद इति, तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः । तस्मादन्यत्रापि मुरय एव समवाय'  
इहप्रत्ययस्योभयत्राप्य यभिचारात् ॥

जैन—यह मान्यना ठीक नहीं। क्योंकि निम्न प्रकार आप लोग पृथिवीमें मुख्य समवायसे रहनेवाले पृथिवीत्वको सामान्य (जाति) का ग्राहक मानते हैं, उसी प्रकार ममत्रायमें रहनेवाले समवायत्वको भी सामान्यका ग्राहक क्यों नहीं मानते ? यदि आप लोग कहें, कि यहाँ व्यक्तिका भेद नहीं है, अर्थात् समवाय एकही है, इस कारण समवायमें जातिना अभाव है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी अमुक अरन्धेदकोसे यह घट-ममवाय है, यह पट समवाय है, इस प्रकार समवायके भी व्यक्तिभेद सिद्ध है। क्योंकि घटत्व-च्छेदकमे होनेवाला घटममवाय पटत्व-च्छेदकमे होनेवाले पटसमवायमे भिन्न है। इस लिये समवायमें भी व्यक्तिका भेद सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-ममवाय सवधसे रहता है, उसी तरह समवायमें समवायत्व भी मुख्य-समवाय सवधसे मानना चाहिये, क्योंकि इहप्रत्ययकी दोनों जगह समानता है।

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्ष समाधान मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह । न  
गौणभेद इति । गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति । गौणलक्षणाभावात् । तद्वक्ष्य  
चेत्यपाचक्षत—

“ज्व्यभिचारी मृगयोऽविक्रलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च ।

विपरीतो गौणोऽर्थः सति मृग्ये धी कथं गौणे ॥”

तस्माद् धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मृग्यः समवाय , समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्ध  
गौण इत्ययं भेदा नानान्व नास्तीति भावार्थः ॥

तथा, वैशेषिकोद्वारा समवायमें गौणरूपसे स्वीकृत समवायत्व भी नहीं बन सकता । क्योंकि यहा गौणका लक्षण ही ठीक नहीं बैठता, कारण कि “ज्व्यभिचारी, विकल, साधारण और बहिरग अर्थको गौण कहते हैं। मुख्य अर्थके रहनेपर गौण बुद्धि नहीं हो सकती ।”

१ 'यत्तेरभदस्तुल्यत्व सक्येऽप्यानवस्थिति । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसमग्र' । इति किरणा-  
वत्वानुदयनाचायकृत्यायाम् ।

समवायमें समवायत्व माननेमें मुख्य अर्थ मौजूद है, इस लिये समवायका गौणरूप नहीं बन सकता। इस लिये धर्म और धर्मीका सबध मुख्य समवायसे होता है, और समवाय और समवायत्वका सबध गौण समवाय है, यह समवायका मुख्य और गौण भेद मानना ठीक नहीं है।

क्रिञ्च, योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात् समवायसाधनमनारथः स खल्वनुहरते नपुसकाटपत्यप्रसवमनोरथम् । इह तन्तुषु पट इत्यादिव्यवहारस्यालौकिकत्वात् । पाथुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात् । इह भतले घटाभावा इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् ॥ अत एवाह अपिच लोकबाध इति । अपि चति-दूषणाभ्युच्चय, लो०.-'प्रामाणिकलोक', सामान्यलोकश्च, तेन बाधो-विरोधः, लोकबाधः । तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहायां प्रत्ययभेदतः" इति पुस्त्रीलिङ्गता । तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्ध प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायादि । इति वाच्यार्थ ॥ ७ ॥

तथा 'इन तन्तुओंमें पट है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि करना नपुसकसे पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छाके समान है। क्योंकि 'इन तन्तुओंमें पट है' यह व्यवहार लोकमें बाधित है, कारण कि साधारणसे साधारण पुरुषको भी 'इन तन्तुओंमें पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमें तन्तु हैं' ऐसी प्रतीति होती है। अथवा इस भूतलमें घट है, यहाँ भी समवाय मानना चाहिये, क्योंकि यहाँ भी इहप्रत्यय होता है। इसीलिये ग्रन्थकारने कहा है 'अपि च लोकबाध'—यह अप्रतीत व्यवहार साधारण लोगोंके भी अनुभवके विरुद्ध है [बाध शब्द 'ईहायां प्रत्ययभेदतः' इस सूत्रसे पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनोंमें प्रयुक्त होता है]। इस लिये धर्म और धर्मीमें तादात्म्य सबध ही स्वीकार करना चाहिये, समवाय सन्ध नहीं। यह श्लोकका अर्थ है।

भारार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके समवाय पदार्थका गडन किया गया है। वैशेषिकोंकी मायता है, कि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों भिन्न पदार्थोंका सन्ध समवायसे होता है। जैनोंका कहना है, कि जिस प्रकार दो पत्थरके टुकड़ोंको जोड़नेवाले लाख आदि पदार्थका हमें प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, वैसे धर्म और धर्मीका सन्ध करानेवाले समवाय सन्धको हम प्रत्यक्षसे नहीं जानते, इस लिये समवायको धर्म-धर्मीसे पृथक् तीसरा पदार्थ मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य और सर्वव्यापक मानते हैं, अतएव एक पदार्थमें समवायके नष्ट हो जानेपर ससारके समस्त पदार्थोंमें रहनेवाला समवाय नष्ट हो जाना चाहिये। क्योंकि समवाय एक और सर्वव्यापक है। तथा, वैशेषिक लोग इहप्रत्यय (इन तन्तुओंमें पट है) से समवाय

संबन्धका ज्ञान करते हैं, परन्तु जैसे पटमें पटत्व समवाय सप्रथमे स्वीकार करते हैं, वैसे ही वे लोग समवायमें भी समवायत्व दूसरे समवायसे और दूसरेमें तीसरे समवायसे, क्यों नहीं मानते । तथा समवायमें समवायान्तर माननेमें अनवस्था दोष आता है ।

यदि वैशेषिक लोग पृथिवी आदिके बहुत होनेमें पृथिवीमें पृथिवीव मुख्य-समवायमें, तथा समवायके एक होनेमें समवायमें समवायव गौण-समवायसे मानकर मुख्य और गौणके भेदसे समवाय सप्रथम स्वीकार करते हैं, तो यह भी कल्पना मात्र है । क्योंकि समवाय बहुत्व भी अनुभवसे सिद्ध है । कारण कि घट और घटरूपका समवाय पट और पटरूपके समवायमें भिन्न है । तथा इहप्रत्यय हेतु समवाय माननेसे लोकनाथा भी आती है । क्योंकि जनसाधारणको 'द्वन ततुओंमें पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमें ततु हैं' यह ज्ञान होता है । अतएव धर्म धर्मोंमें समवाय सप्रथम मानना ठीक नहीं, इस लिये धर्म और धर्मोंमें अत्यन्त भेद मानना भी युक्तियुक्त नहीं है ।

अथ सत्ताभिधान पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्त ज्ञानाग्न्य गुणम्, आत्मनिगेषगुणाच्छेदस्वरूपा च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवत् परानुपहसन्नाह—

( १ ) सत्ता भिन्न पदार्थ है, ( २ ) आत्मासे ज्ञान भिन्न है, ( ३ ) आत्माके विशेष गुणोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है—इन मान्यताओंको अज्ञानसे स्वीकार करनेवाले वादियोंका उपहास करते हुए कहते हैं—

सतामपि स्यात् काचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत् ।  
न सविदानन्दमयी च मुक्तिः मुसूत्रमासृत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—सत् पदार्थोंमें भी सप्रथम पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती, ज्ञान उपाधिजन्य है, इस लिये ज्ञान आत्मासे भिन्न है, मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप नहीं है—इस प्रकारकी मान्यताओंको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र आपकी आप्तामें बाह्य वैशेषिक लोगोंके त्वे हुए हैं ।

वैशेषिकाणां द्रव्यगुणधर्मसामान्यविभाषणसमायाग्या पदपदार्थान्तश्चतया-भिधेता । तत्र “ पृथिव्यापस्तजा वायुराग्नाश्च कालो दिगात्मा मन ” इति नव द्रव्याणि । गुणाश्चतुर्विंशतिः । तत्रथा “ रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं सयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धि सुखदुःखे इच्छाद्वेषा प्रयत्नश्च ” इति सूत्रोक्ता सप्तदश । चरुचन्द्रसमुचिताश्च सप्त-द्रव्यत्व गुरुत्व सम्भार स्पर्श धर्माधर्मो शब्दश्च इत्येव चतुर्विंशतिगुणा । सस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापनभेदाद् त्रैविध्येऽपि

१ वैशेषिकदर्शने १-१-५ । २ वैशेषिकदर्शने १-१-६ । ३ प्रवृत्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे ।



सस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वात्, शौर्योदार्यादीना चानैवान्तर्भावत्वाद् नाधिक्यम् ।  
कर्माणि पञ्च । तत्रया—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारण गमनमिति । गमनग्रहणाद्  
भ्रमणरेचनस्यन्दनाप्रतिराध\* ॥

व्याख्यानार्थ—वैशेषिकीने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह  
पदार्थोंको तत्त्वरूपसे स्वीकार किया है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्,  
आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं । रूप, रस, गंध, स्पर्श, साया परिमाण, पृथक्त्व, सयोग,  
विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, तथा ( च  
दशमे ) द्रव्य, गुणत्व, सस्कार, मोह, धर्म, अधर्म, और शब्द ये चौबीस  
गुण हैं । इन गुणोंमें वेग, भावना, और स्थितिस्थापकमे भेदसे सस्कार तीन  
प्रकारका है, परन्तु वह सस्कारत्व जातिही अपेक्षास एक ही है, शौर्य, ओदार्य,  
आदिका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है । कर्म उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण  
ओर गमनके भेदसे पांच प्रकारका है । गमनसे भ्रमण, रचन, स्पन्दन, आदिका  
कोई विरोध नहीं है ।

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणाद् अन्योन्यस्वरूपानुगम प्रतीयते,  
तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । तच्च द्विविध परमपर च । तत्र पर सत्ता भावा  
महासामान्यमिति चोच्यते । द्रव्यत्वात्प्रवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् । अपर  
सामान्य च द्रव्यत्वादि । एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यत । तथाहि । द्रव्यत्व  
नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यां व्यावृत्तत्वाद् विशेष । तत्र  
कर्मधारय सामान्यविशेष इति । एव द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपर, तद्रपेक्षया  
घटत्वादिकम् । एव चतुर्विगतौ गुणेषु घृत्तैर्गुणत्व सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यां व्यावृत्तेश्च  
विशेष । एव गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिम्, तद्रपेक्षया नीलत्वादिम् । एव पञ्चसु  
कर्मसु वर्तनात् कर्मत्व सामान्यम्, द्रव्यगुणभ्यां व्यावृत्तत्वाद् विशेष । एव कर्मत्वा-  
पेक्षया उत्क्षेपणत्वादिम् ज्ञयम् ॥

जिन कारणोंमे अत्यन्तव्यावृत्त पदार्थोंका स्वरूप जाना जाता है, वह अनुवृत्तिप्रत्यय  
( सामान्य ज्ञान ) का कारण सामान्य है । यह सामान्य दो प्रकारका है—परसामान्य और अपर  
सामान्य । परसामान्यको सत्ता, भाव, और महासामान्य भी कहते हैं । यह परसामान्य द्रव्यत्व  
आदि अपरसामान्यकी अपेक्षासे महान विषयवाला है, इस लिये द्रव्यत्व द्रव्यमें

१ ऊपरदशयोगकारण कर्मोत्क्षेपणम् । अधोदशयोगकारण कर्मावक्षेपणम् । वस्तुत्वापादक  
कर्माकुञ्चनम् । ऋजुत्वापादक कर्म प्रसारणम् । अनियतदेशसयोगकारण कर्म गमनम् । प्रशस्तपादभाष्ये  
उद्देशप्रकरणे । २ 'द्रव्यादित्रिरुत्तिस्तु सत्ता परतयोन्यते' । कारिकावली प्रत्ययसङ्घे का ८ ।

ही रहता है, परन्तु परसामान्य द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंमें रहता है। द्रव्यत्व आदि अपरसामान्य है, इसे सामान्यविशेष भी करते हैं। जैसे द्रव्यत्व नो द्रव्योंमें रहनेसे सामान्य, और गुण, कर्ममें न रहनेसे विशेष कहा जाता है, इसी प्रकार द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षा घटत्व आदि अपरसामान्य है। इसी तरह गुणत्व चौनीस गुणोंमें रहनेसे सामान्य, तथा द्रव्य और कर्ममें न रहनेसे विशेष है। अतएव गुणत्वकी अपेक्षा रूपत्व आदि, और रूपत्व आदिकी अपेक्षा नीलत्व आदि अपरसामान्य है। इसी प्रकार कर्मत्व पाच कर्मोंमें रहता है, इस लिये सामान्य, और द्रव्य और गुणोंमें नहीं रहता, इस लिये विशेष है, तथा कर्मत्वकी अपेक्षा उत्क्षेपण आदि अपरसामान्य है। वैशेषिक लोग सामान्यको परसामान्य और अपरसामान्यके भेदसे दो प्रकारका मानते हैं। इन लोगोंके मतानुसार परसामान्य केवल द्रव्य, गुण और कर्म तीन पदार्थोंमें ही रहता है, अपर नहीं। इस परसामान्यको महासामान्य भी कहते हैं। परसामान्यका विषय अपरसामान्यसे अधिक है। द्रव्यत्व, गुणत्व, आदि अपरसामान्यके विषय हैं, 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंमें रहनेवाला) परसामान्यका विषय कहा जा सकता है। अपरसामान्यको सामान्य विशेष भी कहते हैं। क्योंकि यह अपरसामान्य अपने विशेषोंको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके साथ उनकी अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति भी करता है। द्रव्यत्व द्रव्योंमें रहता है, इस लिये सामान्य, और गुणकर्मसे व्यावृत्त होता है, इस लिये विशेष कहा जाता है। इसीलिये अपरसामान्यको सामान्य विशेष भी कहा है।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्याऽर्थान्तर कया युक्त्या इति चेद् । उच्यते । न द्रव्य सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थ । एतद्द्रव्यवत्त्वाद् । एकैकस्मिन् द्रव्य वर्तमानत्वादित्यर्थ । द्रव्यत्ववत् । यथा द्रव्यत्व नवसु द्रव्येषु प्रत्येक वर्तमान द्रव्य न भवति, किन्तु सामान्यविशेषरक्षण द्रव्यत्वमव एव सत्तापि । वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम् । तत्राद्रव्यं आकाशं कालो दिग् आत्मा मन परमाणव । अननद्रव्यं तु द्वयशुभादिस्त्वन्धा । एतद्द्रव्यं तु द्रव्यमव न भवति । एतद्द्रव्यवती च सत्ता । इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम् । एव न गुण सत्ता । गुणेषु भावाद् । गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्तते । निर्गुणत्वाद् गुणानाम् । वर्तते च गुणेषु सत्ता । सन् गुण इति प्रतीति । तथा न सत्ता कर्म । कर्मसु भावात् । कर्मत्ववत् । यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्तते । निष्कर्मत्वात् कर्मणाम् । वर्तते च कर्मसु भावः, सन् कर्मति प्रतीतिः । तस्मात् पदार्थान्तर सत्ता ॥

१ द्रव्य द्विधा । अद्रव्यमनेकद्रव्यं च । न विद्यते द्रव्यं अन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्यं द्रव्यम् । यथाकाशकालादि । अनेक द्रव्यं अन्यतया च जनकतया च यस्य तदनकद्रव्यं द्रव्यम् ।

पूर्वपक्ष—( १ ) सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है ( द्रव्यगुणकर्मभ्योऽथान्तर सत्ता-वैशेषिकमूत्र १-२-४ )—सत्ता द्रव्यत्वकी तरह द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है । जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इस लिये द्रव्य नहीं कहा जाता, किन्तु सामान्य विशेषरूप द्रव्यत्व कहा जाता है, उसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्यमें रहनेके कारण द्रव्य नहीं कही जाती । वैशेषिकोंके मतमें अद्रव्यत्व अथवा अनेकद्रव्यत्व ही द्रव्यका लक्षण है । आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व ( जो द्रव्यसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो ) के उदाहरण हैं, क्योंकि न तो आकाश आदि किसी द्रव्यसे बनाये गये हैं, और न किसी द्रव्यके उत्पादक हैं । तथा द्वयगुणकादि एक अनेकद्रव्यत्व ( जो अनेक द्रव्योंमें उत्पन्न हुए हों, अथवा अनेक द्रव्योंके उत्पादक हों ) के उदाहरण हैं । एक द्रव्यमें रहनेवाला द्रव्य नहीं होता । सत्ता एक द्रव्यमें रहती है, इस लिये सत्तामें द्रव्यका लक्षण नहीं घटता, अतएव वह द्रव्य नहीं है । इसी प्रकार सत्ता गुण भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती है, यदि सत्ता गुण होती, तो वह गुणोंमें न रहती, क्योंकि गुणोंमें गुण नहीं रहते । सत्ता गुणोंमें रहती है, और गुण सत्त है, ऐसी प्रतीति होती है, इस लिये सत्ता गुणोंमें विद्यमान है । इसी तरह सत्ता कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है । यदि सत्ता कर्म हो, तो कर्ममें न रहे, क्योंकि कर्ममें कर्म नहीं रहते । सत्ता कर्ममें रहती है । अतएव सत्ताको पदार्थान्तर ही मानना चाहिये । भाव यह है, कि वैशेषिकसिद्धातने अनुसार सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न पदार्थ है । सत्ताको द्रव्यसे पृथक् बतानेके लिये वैशेषिक लोग ' एकद्रव्यवत् ' हेतु देते हैं । उनके मतानुसार द्रव्य ' अद्रव्य ' और ' अनेकद्रव्य ' के भेदसे दो प्रकारका माना गया है । आकाश, काल आदि द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते, और न द्रव्योंको उत्पन्न करते हैं, अतएव वे अद्रव्य-द्रव्य हैं । तथा द्वयगुणकादि अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न होते हैं, और अनेक द्रव्योंको उत्पन्न करनेवाले हैं, इस लिये वे अनेकद्रव्य-द्रव्य हैं । सत्ता न ' अद्रव्य ' है और न ' अनेकद्रव्य, ' वह द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाली है, इस लिये सत्ताका द्रव्यमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता । इसी प्रकार सत्ता गुण और कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्व और कर्मत्वकी तरह प्रत्येक प्रत्येक गुण और कर्ममें रहती है । अतएव सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंसे भिन्न है ।

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयः अन्त्यां—अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुः, नै द्रव्यादिर्वलक्ष-  
प्यात् पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तमार —“अन्तेषु भवा अन्त्या”, स्वाश्रयविगपकृताद्  
विशेषाः । विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वप्यप्राक्कालादिगात्पमनस्सु प्रतिद्रव्यमे

१ अन्ते-वचने प्रकृत इत्यत्या यदपेक्षया विशेषान्तीयथ । एकमात्रवृत्तय इति भाव ।  
२ विशयपकरणे प्रशस्तपदमाप्ये पृ १६८ ।

कैशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिरुद्दिहेतव । यथास्मदादीना गवादिपशुभ्यादिभ्यस्तुल्या-  
कृतिगुणक्रियात्रयवैपचयावयवविशेषसयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा । गौ, शुक्लः  
शीघ्रगति पीन ऋद्धान् महाघण्ट इति, तथास्मद्विशिष्टाना योगिना नित्येषु तुल्या  
कृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनस्सु चायनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्य-  
प्रत्याधार विलक्षणोऽय विलक्षणाऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टं च  
परमार्णो स एवायमिति प्रत्यभिज्ञान च भवति, तेष्वन्त्या विशेषा ” इति । अमी  
च विगेषरूपा एव न तु द्रव्यत्वादिना सामान्यविशेषोभयरूपा, व्यावृत्तरेव  
हेतुत्वात् ॥

तथा, नित्य द्रव्योर्मै रहनेवाले अत्यन्तव्यावृत्ति रूप ' विशेष ' भी द्रव्यादिसे विरम्यण  
होनेके कारण पदार्थान्तर हैं । प्रशस्तकारने कहा है “ अन्तमें होनेके कारण ये अन्य हैं, और  
अपने आश्रयके नियामक हैं, इस लिये विगेष हैं । ये विगेष आदि और अन्त रहित अणु,  
आत्मा, काल, त्रिक्, आमा और मन इन नित्य द्रव्योर्मै रहते हैं, और अत्यन्तव्यावृत्ति  
रूप चानके कारण हैं । जैसे गौ और घोडे आदिमें तुल्य आदृति, गुण, क्रिया, अवयवोंकी  
वृद्धि, अत्रयोंका सयोग देखकर यद् गो सफेद है, शीघ्र चलनेवाली है मोटी है, धूवेरानी  
है, महान घण्टेरानी है आदि रूपसे व्यावृत्तिप्रत्यय ( विशेषचान ) होता है, वैसे ही योगी  
लोगोंको नित्य, तुल्य आदृति, गुण और क्रियायुक्त परमाणु, मुक्त आत्मा और मनमें जिन  
निमित्तोंके कारण पदार्थोंकी विरम्यणताका चान होता है, तथा देश और कालकी दूरी होने-  
पर भी यह वही परमाणु है, यह प्रत्यभिज्ञान होता है, वे विशेष हैं । ” ये विशेष विशेष रूप ही  
हैं, द्रव्यत्व आदिकी तरह सामान्य विशेष रूप नहीं हैं, क्योंकि ये केवल व्यावृत्तिप्रत्ययके ही  
हेतु हैं । मात्र यह है, कि विगेष सचानीय और विजातीय पदार्थोंके व्यवच्छेद करनेवाले  
अत्यन्तव्यावृत्ति रूप होते हैं । दो पदार्थोंमें तुल्य आदृति, गुण, क्रिया आदि देखकर उनमेंसे  
अत्रय पदार्थोंको अलग करके एक पदार्थको ' जानना विशेष है । ये विगेष विगेष रूप होते  
हैं, सामान्य-विशेष रूप नहीं ।

तथा अयुतसिद्धानामाधाराधारभूतानामिहप्रत्ययहेतु सम्वन्ध. समवाय इति ।  
अयुतसिद्धया परस्परपरिहारण पृथगाश्रयानाश्रितयाराश्रयाश्रयिभाव' इह तन्तुषु पट  
इत्यादि प्रत्ययस्यासाधारण कारण समवाय. । यद्दशात् स्वभारणसामर्थ्यादुपजायमान  
पटात्राश्रयं तन्त्राद्याधार सम्वन्धते यथा छिद्रिक्रिया उद्येननि सांऽपि द्रव्यादिलक्षण  
वैधर्म्यात् पदार्थान्तरम् । इति पद् पदार्था ॥

अयुतसिद्ध आधार्थ, और आधार पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु समवाय सन्ध है ।  
एक दूसरेको छोड़कर भिन्न आश्रयोर्मै न रहनेवाले गुण, गुणी आदि अयुतसिद्धोंके ' इन

तन्तुओमें पट है' इत्यादि ज्ञानका असाधारण कारण समवाय है। जैसे छेदन क्रियाका छेद्य (छेदने योग्य) के साथ सवध है, वैसे ही जिमके द्वारा अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ पटादि आधार्य तन्तु आल्कि आधार रहता है, वह समवाय सवध है। अतएव समवाय भी द्रव्य आत्तिसे विरक्षण होनेके कारण भिन्न पदार्थ है।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते। सतामपीत्यादि। सतामपि सद्वुद्धिरेयतया साधारणानामपि, पण्णा पदार्थाना मध्ये कचिदेव केपुचिदेव पदार्थेषु सत्ता-सामान्ययोग, स्याद् भवेत्, न सर्वेषु। तेषामपि वाचोयुक्ति सदिति। यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति प्रचनाद् यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता। सत्प्रत्यय-व द्रव्यगुणकर्मस्वर, अतस्ते-प्येव, सत्तायोगः। सामान्यादिपदार्थत्रयं तु न, तदभावात्। इदमुक्तं भवति। यत्रपि वस्तुस्वरूप अस्तित्व सामान्यादित्रयेऽपि त्रियते तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति। य एव चानुवृत्तिप्रत्यय' स एव सदितिप्रत्यय इति, तत्रभावाद् न सत्तायोगस्तत्र। द्रव्यादीना पुनस्त्वयाणा पदपदार्थसाधारण वस्तुस्वरूपम् अस्तित्वमपि विद्यते। अनुवृत्तिप्रत्ययहेतु सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति। नि.स्वरूप शशविषाणार्दी सत्ताया. समवायाभावात् ॥

'सतामपि कचिदेव सत्ता स्यात्'—सत्त बुद्धिसे जानने योग्य छह पदार्थोंम कुछ पदार्थोंमें सत्तासामान्य रहता है, सब पदार्थोंम नहीं। कहा भी है, "द्रव्य, गुण और कर्ममें सत् प्रत्यय होता है," इस लिये द्रव्य, गुण, और कर्ममें ही सत्ता रहती है। सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता नहीं रहती, इस लिये उनमें सत् प्रत्ययका भी अभाव है। तालस्य यह है, कि यद्यपि वस्तुका स्वरूप अस्तित्व सामान्य, विशेष और समवायमें रहता है, तथापि वह सामान्य, विशेष और समवायके अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है। तथा अनुवृत्तिप्रत्ययको ही सत्प्रत्यय कहते हैं। सामान्य आदिमें सत्प्रत्यय नहीं है, इस लिये इनमें सत्ता नहीं रहती। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें समान रूपसे रहनेवाला वस्तुका स्वरूप अस्तित्व विद्यमान है, तथा अनुवृत्तिप्रत्ययका हेतु सत्तासवध भी है, क्योंकि अस्तित्व स्वरूपसे रहित पदार्थोंमें शशविषाणकी तरह सत्ताका समवाय नहीं बन सकता, इस लिये द्रव्य, गुण और कर्ममें अस्तित्व और सत्ता सवध दोनों रहते हैं।

सामान्यादित्रिके ऋथ नानुवृत्तिप्रत्यय. इति चेद्, बाधकसद्भावादिति ब्रूम'। तथाहि। सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे अनवस्था। विशेषेषु पुनस्तद्भ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वरक्षणतत्स्वरूपहानिः। समवाये तु तत्कल्पनाया सम्बन्धाभावः। केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बन्धते, समवायान्तराभावात्। तथा च मामाणिकरूपकाण्ड-मुदयन —

“ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्कराऽध्यानवस्थितिः ।

रूपदानिरसम्बन्धो जातिराधरसद्ग्रह ” ॥

उति । तत स्थितमेतत्सतामपि स्यात् कचिदेव सचेति ॥

प्रतिज्ञादी—सामान्य, विशेष और समवायमें सामान्यज्ञान (सत्ता) नहीं होता है ।

विशेषिक—सामान्य आत्मि सामान्यज्ञान माननेमें बाधक प्रमाण हैं । क्योंकि ‘ सामान्य ’ में सत्ता स्वीकार करनेमें अनवस्था दोष आता है, अर्थात् एक सामान्यमें दूसरा और दूसरेमें तीसरा, हम तरह अनेक सामान्य मानने पड़ते हैं । तथा यदि ‘ विशेष ’ पदार्थमें सत्ता माने, तो विशेषको व्यावृत्तिका कारण नहीं कह सकते । इसी तरह समवायमें सत्ता माननेसे सबधका अभाव होता है । क्योंकि समवायमें सत्ता कौनसे सन्धमें रहेगी, हम कोई दूसरा समवाय नहीं मानते । उदयनाचार्यने भी कहा है—“ व्यक्तिका अभेद, तुल्यत्व, सत्त्व, अनवस्था, रूपदानि और अमरध ये छह जाति ( सामान्य ) के बाधक हैं । ” भाव यह है, कि सामान्य एक व्यक्तिमें नहीं रहता । जैसे आकाशमें आकाशत्व-सामान्य नहीं रहता । क्योंकि आकाश एक व्यक्ति रूप है । घटत्व और कलशत्व में भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि घटत्व और कलशत्व दोनों एक ही पदार्थमें रहते हैं ( तुल्यत्व ) । भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि इसमें सत्त्व दोष आता है । अर्थात् भूतत्व केवल आकाशमें और मूर्तत्व केवल मनमें रहता है, लेकिन पृथिवी, अप्, तेज और वायुमें भूतत्व और मूर्तत्व दोनों रहते हैं, इस लिये सत्त्व दोष आनेमें भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता । अनवस्था दोष आनेसे सामान्यमें भी सामान्य नहीं रहता । विशेषमें भी सामान्य नहीं है, क्योंकि विशेषमें सामान्य माननेसे विशेषके स्वरूपकी हानि होती है । तथा समवायमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि समवाय एक है, समवायमें समवायत्वका सन्ध करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है ।

तथा, चैतन्यमित्पादि । चैतन्य-ज्ञानम्, आत्मन-क्षेत्रज्ञाद्, अन्यद्-अत्यन्त-व्यतिरिक्तम्, असमासङ्गणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मन सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः, इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम् समवायसम्बन्धलक्षणनापाधिना आत्मनि समवेतम् आत्मन स्वयं जडरूपत्वात् समवायसम्बन्धोपदौकितमिति यावत् । यथा-

१ उदयनाचार्यविरचितकिष्कावल्यां द्वयप्रकरणे पृष्ठ १६१ । अस्य व्याख्या-आकाशत्व न जाति । यकन्यैव्यात् । १ । घटकत्वत्वे न जानी । व्यक्तिव्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्तत्व न जाता । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिवचनद्वय उभयो सद्भावात् सत्त्वप्रसंग । जातेरपि जात्यन्तरागीकारेऽनवस्थाप्रसंग । ४ । अन्यविशेषणा न जाति । तदगीकारे तत्त्वस्वप्नयावृत्तिहानि स्यात् । ५ समवायत्व न जाति सन्धामावात् । ६ इत्येते जातिबाधकाः ॥



इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भागायतनग्रन्धनम् ।  
 उच्छिन्नभोगायतना नात्मा तैरपि युज्यते ॥ ४ ॥  
 तदेव त्रिपण्णाटीना नशानामपि मूलतः ।  
 गुणानामात्मनो ध्वंस सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥  
 ननु तस्यामप्रस्थाया त्रीदगात्मानशिन्यते ।  
 स्वरूपैरुप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ ६ ॥  
 ऊर्मिपद्कृतिग रूप तदस्याहुर्मनीषिणः ।  
 ससारग्रन्धानाधीनदुःखशास्त्राद्दूषितम् ॥ ७ ॥  
 कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षा ऊर्मिपद्कृमिति ।”

( ३ ) मोक्ष तान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण बुद्धि, सुग, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कारका अत्यत उच्छेद हो जाना ही मुक्ति है । ज्ञान क्षणिक है, इस लिये वह अनित्य है, और सुखमें हानि, वृद्धि होती रहती है, इस लिये सुख ससारकी अस्थायिसे भिन्न नहीं है, अतएव जिस समय अनित्य तान और अनित्य सुगका उच्छेद हो जाता है, उस समय आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होता है, यही मोक्ष है । अनुमान—‘मोक्षर्म बुद्धि आदि विशेष गुणोंका सर्वथा नाश हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सतान हैं, अर्थात् आत्माके नित्य स्वभाव नहीं हैं । जो जो सतान होते हैं, उनका सर्वथा नाश होता है, जैसे प्रदीपकी सतान । बुद्धि आदि विशेष गुण भी सतान हैं, इस लिये उनका भी नाश होता है । बुद्धि आदि गुणोंका अत्यत नाश ही मोक्ष है, सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना नहीं ।’ वेदान्तियोंका भी कथन है “शरीरधारियोंके सुख-दुःखका नाश नहीं होता, तथा अशरीरीको सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते ।” तथा, “जब तक वातना आदि आत्माके सम्पूर्ण गुण नष्ट नहीं होते, उस समय तब दुःखकी अत्यन्त व्यावृत्ति नहीं होती । सुख-दुःख धर्म और अधर्मसे ही समव है, इस-लिये धर्म अधर्म ही ससारके मूल स्तम्भ हैं । धर्म और अधर्मके नाश हो जानेपर धर्म-अधर्मके कार्य शरीर आदिका नाश हो जाता है । उस समय सुग-दुःख भी नष्ट हो जाते हैं । यही मुक्तावस्था है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि शरीरके कारण हैं, अनएव शरीरके उच्छेद होनेपर आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदिसे भी सबद्ध नहीं होनी । इस लिये बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नौ गुणोंका जन्मूलसे नष्ट हो जाना ही मोक्ष है । मोक्षावस्थामें आत्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होकर अपने ही स्वरूपमें अवस्थित रहता है । मुक्त जीव ससारके बंधन दुःख, शोक आदिसे मुक्त होता हुआ काम,

१ जयन्तविरचितन्यायमजयो पृ ५०८ । ऊर्मिपद्कृ तत्र-प्राणस्य सुत्पिपासे द्व लाममाहौ च वेनस । शीतारतवो शरीरस्य पद्मिर्महित शिव ॥



क्रोध, लोभ, गर्व, दम, और हर्ष ( अथवा क्षुधा, पिपासा, शोक, मूत्रा, जरा और मृत्यु ) इन छह ऊर्मियोंसे निर्लिप्त रहता है । ”

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थ समर्थयद्भि अत्वदीयै-त्वदाज्ञानाद्भिर्भूतं कणादमता-  
जुगामिभिः, सुसूत्रमासूत्रितम्-सम्यग्गागम. मपञ्चित. । अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेष-  
पणम् । शोभन सूत्र वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञान यत्रैत्रमासूत्रित-तत्तच्छास्त्रायापनिग्र-  
कृत , इति हृदयम् । “ सूत्रं तु सूचनाकाङ्गि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थया ” । इत्यनसार्थ-  
वचनात् । अत्र च सुसूत्रमिति त्रिपरीतलक्षणयोपहाम्मगर्भं प्रशसात्रचनम् । यथा-  
“ उपकृत बहु तत्र किमुच्यते मुजनता प्रथिता भवता चिरम् । ” इत्यादि । उपहसनीयता  
च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकरणम् । तथाहि । अविशेषण सद्बुद्धिवैत्रपि सर्गपत्तार्थेषु  
द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीय पश्यतो  
हैरता । यत् परिभाव्यता सत्ताशब्दार्थः । अस्तीति सन्, सता भाव सत्ता अस्तित्व  
तद्वस्तुस्वरूप । तच्च निविशेषमशेषेऽपि पदार्थेषु त्रैयाप्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजैरतीय  
यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायागो, नतरत्र त्रये इति ॥

उत्तरपक्ष—(१) इस प्रकार आपकी आज्ञामे वाश वैशेषिक लोग उपर्युक्त  
सिद्धांतोका प्रतिपादन करते हैं ( ‘ सुसूत्र ’ शब्द यहां पर कटाक्ष सूचक है, जैसे  
“ उपकृत बहु तत्र किमुच्यते मुजनता प्रथिता भवता चिर । विदधदीदृशमेव सदा सखे  
सुखितमास्व तत शरदा शतम् ॥ ” इस श्लोकमें कटाक्ष किया गया है ) ।  
सब पदार्थोंके सत् बुद्धिसे ज्ञेय होने पर भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें  
ही सत्ता सबव स्वीकार करते हैं, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं, यह उनका मज्ञान  
साहस है । क्योंकि सत् ( अस्तित्व ) के भावको सत्ता कहते हैं, यह अस्तित्व वस्तुका स्वल्प  
है । अस्तित्वको आप लोगोंने भी सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्वीकृत किया है, फिर आप लोग द्रव्य,  
गुण और कर्ममें ही सत्ता मानते हैं, ओर सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं  
इसका क्या कारण है ।

अनुवृत्तिप्रत्ययाभावाद् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् । न । तत्राप्य-  
नुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्थत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्य सामान्य  
मिति, विशेषेऽपि बहुत्राद् अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति; समवाये च प्रागुक्त-  
युक्त्या तत्तद्बन्धेदकभेदाद् एकाकारमतीतेरनुभवात् ॥

१ हेमचन्द्रकृतेऽनेकाधमग्रहे २-४५८ । २ “ विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व तत शरदा  
शतम् ” इत्युत्तरार्थम् । ३ पश्यतोहरता चौर्यम् । ४ ‘ पणा पदार्थाना साधर्म्यमस्तित्व ज्ञेयत्वमभिधेयत्र च  
इति प्रशस्तकारवचनात् ’ । ५ अथा जरती अर्था युगविरिधित्वत् ।

ज्ञाना—सामान्य आदिमें अनुवृत्तिप्रत्यय ( सामान्य ज्ञान ) नहीं होता, इस लिये इनमें सत्ता सत्त्व नहीं है। ममा ज्ञान—सामान्य, विशेष और समवायमें अनुवृत्तिप्रत्यय अस्त्य होता है। क्योंकि पृथिवीत्व गोत्व, घटत्व आदि सामान्योंमें 'यह सामाय है,' विशेषोंमें ' यह विशेष है,' ' यह विशेष है,' और समवायमें 'यह घट ममाय ह,' ' यह घट समवाय है' यह सामान्य ज्ञान होता ही है।

स्वरूपसत्त्वसाधन्यण सत्ताध्यारोपात् सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्, तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापश्यते । अथ भिन्नस्वभावेऽप्यनुगमां मिथ्यैवति चेद् द्रव्यादिष्वपि सत्ताधारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगम' । नैवम् । असति मुरयेऽयारापस्यासम्भवाद् द्रव्यादिषु मुरयोऽयमनुगत' प्रत्यय , सामान्यादिषु तु गौण इति चत् । न । निपर्ययस्यापि शक्यमल्पनत्वान् ॥

ज्ञाना—निम प्रकार द्रव्य आदिमें स्वरूपसत्ताके माधर्म्यसे सत्ता रहता है, उसी प्रकार सामान्य आदिमें भा उपचारसे सत्ता विद्यमान है, इस लिये सामान्य आदिमें 'यह मन है' ऐसा ज्ञान होता है। समाधान—यदि सामान्य आदिमें सत्ताको उपचारमें स्वीकार करोगे, तो सामाय आदिमें मत्का ज्ञान भी मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो, कि भिन्न स्वभावान्ते पदार्थोंमें एकताकी प्रतीति मिथ्या है, तो इस तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी सत्ताको उपचारसे मानकर सत्का ज्ञान मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो, कि सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें मुख्य रूपसे तथा सामान्य, विशेष और समवायमें गौण रूपसे रहती है, अथात् द्रव्यादिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करके ही सामान्य आदिमें उपचार सत्ता मानी जा सकती है, क्योंकि मुख्य अर्थके होनेपर ही उपचार होता है, तो हम ( जैन ) कहे हैं, कि मुख्य और गौण सत्ताकी इससे उन्टी कल्पना भी की जा सकती है, जहाँ न सामान्य आदिमें मुख्य और द्रव्यादिमें गौण सत्ता भी मान सकते हैं।

सामान्यादिषु माधर्म्यसम्भवाद् न मुख्योऽनुगत प्रत्यय , द्रव्यादिषु तु तदभावाद् मुरय इति चेद्, ननु किमिदं माधर्म्यम् । अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेषेषु पुन सामान्यसञ्ज्ञाने स्वरूपहानि , समवायऽपि सत्ताकल्पने तद्द्रव्यार्थ सम्यन्धान्तराभावात् इति बाधकानीति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यत्रनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु । तेषामपि स्वरूपसत्ताया प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुन सत्ताभ्युपगमेऽपि न रूपहानि', स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् । नि सामोक्तं न्यस्य विज्ञापस्य क्वचिद्रूप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्ताया स्वीकारे उपपन्न एवाविष्वग्भावात्मक' सम्यन्ध , अन्यथा तस्य स्वरूपा-

भाष्यसङ्गः । इति प्राथकाभावात् तेष्वपि द्रव्यादिवद् मुख्य एव सत्तासम्बन्ध इति  
व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वैव सत्ताकल्पनम् ॥

शङ्का—द्रव्य आदिमें मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, लेकिन  
सामान्य आदिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करनेमें बाधा आती है । ऊपर कहा  
भी है, कि सामान्यमें सामान्य माननेसे अनवस्था, विशेषमें सामान्य माननेसे रूप  
हानि, और ममवायमें सामान्य माननेसे समवायान्तरका अमगध, दोष आते हैं ।  
समाधान—यह कथा ठीक उही है । क्योंकि यदि सामान्यमें सत्ता माननेसे अनवस्था  
दोष आता है, तो द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता माननेसे भी अनवस्था दोष क्यों उही आना  
चाहिये क्योंकि सामान्यमें स्वरूप सत्ताकी तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी पहलेमें ही स्वरूप-  
सत्ता विद्यमान है । तथा, विशेषोंमें सत्ता अंगीकार करनेपर स्वरूपकी हानि नहीं होनी, बल्कि  
विशेषोंमें सामान्य माननेपर उल्टी विशेषोंकी सिद्धि होती है, क्योंकि सामान्यरहित विशेष  
कहीं भी नहीं पाये जाते । इसी तरह समवायमें भी समवायरूप स्वरूप सत्ता स्वीकार  
करनेपर तादात्म्य सत्ता सिद्ध होता है क्योंकि यदि समवायमें स्वरूप सत्ता न मानें, तो  
ममवायके स्वरूप का ही अभाव होगा । इस लिये सामान्य आदिमें भी द्रव्यादिककी तरह  
मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, इस लिये इनमें भी मुख्य सत्ता ही माननी चाहिये ।  
अतएव द्रव्य, गुण, कर्ममें ही सत्ता है और सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं, यह कल्पना  
व्यर्थ है ।

त्रिंशत्, तैर्नादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्य सत्तासम्बन्ध कक्षीकृतः, साऽपि  
त्रिचार्यमाणा विशीर्यत । तथाहि । यदि द्रव्यादिभ्योऽप्यन्तर्लक्षणा सत्ता, तदा  
द्रव्यादान्यसद्रूपाणि स्युः । सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्, अमता सत्तायागेऽपि  
दुतः सत्त्वम् । सत्ता तु निरफल सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्व भावनामस्त्येवेति चेत्, तर्हि  
त्रिंशत्शिखण्डिना सत्तायोगेन । सत्तायोगात् प्राग् भावा न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात्  
तु सन्निति चेद्, राहमात्रमेतन् । सद्रसद्विलक्षणस्य प्रशरान्तरम्यासम्भवात् । तस्मात्  
सत्तामपि स्यात् ऋचिदेव सत्तति तेषा वचन त्रिदुर्षा परिपदि ऋमिषि नोपहासाय  
जायते ॥

तथा, विशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्ममें जो मुख्य सत्ता स्वीकार की है, वह भी  
विचार करनेमें युक्तियुक्त नहीं ठहरती । क्योंकि यदि सत्ता द्रव्य आदिसे अलग भिन्न है, तो  
द्रव्यादिकों अमत् मानना चाहिये । यदि द्रव्यादिकों सत्ताके सत्त्वमें सत् मानो, तो  
स्वयं अमत् द्रव्यादि सत्ताके सत्त्वमें भी सत्त्व कैसे हो सकते हैं । और यदि द्रव्यादि  
सत्त्वमें सत् हैं, तो फिर उनमें सत्ताका सत्त्व मानना ही निष्प्रयोजन है । यदि पदार्थोंमें  
स्वरूपसत्त्व स्वीकार करनेपर भी सत्ता मानो, तो ऐसी अकार्यकारी सत्ताका सत्त्व माननेसे

ही क्या प्रयोन ? यदि कहो, कि सत्ताके सबधमे पहले द्रव्यादि पदार्थ न सत् थे, न असत्, किंतु मत्ताके सबधसे सत्रूप होते हैं, यह भी कथनमात्र है। क्योंकि मत् और असत्से निष्क्षण कोई प्रकारान्तर आपके मतमें समझ नहीं, जिससे आप लोग सत्ता सबधके पहले द्रव्यको 'न सत्' और 'न असत्' रूप मान सकें। अतएव सत् पदार्थोंमें भी सब पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती, यह वैशेषिकोंका वचन उपहासके ही योग्य है।

तानमपि यत्रैकान्तेनात्मनः सनाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मंत्रस्यैव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेत तान तत्रैव भावावभास करोतीति चेत् । न । समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकत्वानन सर्वथा विषयावरोधः प्रसङ्गः । यथा च घटे रूपाद्यः समवायसम्बन्धेन समवेता, तद्विनाश च तत्राश्रयस्य घटस्यापि विनाशः एव तानमप्यात्मनि समवेत, तच्च क्षणिक, ततस्तद्विनाश आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः ॥

(२) यदि आत्मानो तानसे सर्वथा भिन्न मानो, तो मैत्रके तानमे चैत्रकी आत्माके ज्ञान की तरह चैत्रके तानसे भी चैत्रकी आत्माका ज्ञान न होना चाहिये। अर्थात् जैसे चैत्रसे मैत्रका ज्ञान भिन्न है, इस लिये मैत्रके तानसे चैत्रकी आत्माको पदार्थका तान नहीं होता, वैसे ही चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, इस कारण चैत्रके तानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका तान न होना चाहिये। यदि कहो, कि जिस आत्मामें तान समवाय सबधसे विद्यमान है, उसी आत्मामें तान पदार्थोंको जानता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि समवाय एक नित्य और व्यापक है, इस लिये वह सब पदार्थोंमें समान रूपसे रहता है। तथा समवायकी तरह आत्मा भी व्यापक है, इस लिये एक आत्माके ज्ञानसे सब आत्माओंको पदार्थोंका तान होना चाहिये। तथा जिस प्रकार रूपादि घटमें समवाय सबधसे रहते हैं, उसी तरह तान भी आत्मामें समवाय सबधसे रहता है। और जैसे रूपादिका नाश होनेपर रूपादिके आश्रय घटादिका भी नाश होता है, वैसे ही क्षणिक तानके नाश होनेपर आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। इस तरह आत्मा अनित्य टहरती है।

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः । किंतु स एव समवाय केन तयोः सम्बन्ध्यते । समवायान्तरण चद् अनवस्था । स्वेनैव चेत् किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा । अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्याद् आत्मान, पर च प्रकाशपति, तथा समवायस्यदृग्ब स्वभायो यदात्मान, ज्ञानात्मानौ च सम्बन्ध्यतीति चेत्, ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवती सम्बन्ध्यते । किञ्च, प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जायतीति । यत्. प्रदीपस्तावद् द्रव्य, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्त

भेदोऽभ्युपगम्यत तत्त्वथ प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता ? तदभावे च स्वपरप्रकाशस्वभावा-  
ताभणितिर्निर्मूलैव ॥

यदि समवायमे ज्ञान और आत्माका सन्ध मान भी लिया जाय, तो वह समवाय  
आत्मा और ज्ञानमें कोनसे सबधसे रहता है ? यदि ज्ञान और आत्मामें रहनेवाला  
समवाय दूसरे समवायमे रहता है, तो इस प्रकार अनन्त समवाय माननेसे अनन्त्या दोष  
आता है । यदि कहो, कि समवायमें समवायान्तर मानने की आवश्यकता नहीं, समवाय अपने  
सबधसे ही समवायमें रहता है, तो आप लोग ज्ञान और आत्मामें भी स्वसबध ही क्यों नहीं  
मान लेते, समवाय सबध माननेकी क्या आवश्यकता है ? यदि आप लोग कहे, कि जैसे  
दीपक अपने आपको और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही समवाय भी स्वसबधसे  
अपनेमें रहता है, तथा ज्ञान और आत्माका भी सबध कराता है, तो आप लोग ज्ञान और  
आत्माका भी स्वसबध क्यों नहीं स्वीकार कर लेने, समवायको एक भिन्न पदार्थ क्यों मानते  
हैं । तथा इस कथनकी पुष्टिमें दीपकका दृष्टान्त ही नहीं घटता । क्योंकि दीपक द्रव्य है,  
और प्रकाश उसका धर्म है । तथा आप लोग धर्म और धर्मीका अत्यन्त भेद मानते हैं,  
अतएव दीपक प्रकाश रूप नहीं हो सकता । दीपकके प्रकाश रूप न रहनेसे आपने जा  
दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहा, वह निराधार ही मिद्ध होगा ।

यदि च प्रदीपात् प्रकाशम्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते,  
तदा घटादानामपि तदनुपपज्यते, भेदाविशपात् । अपि च तौ स्वपरसम्बन्धस्वभावा  
समवायाद् भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा ? यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाभित्ति  
कथ सम्बन्धः । सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्यानन्त्याभयादनभ्युपगमात् ।  
अथाभिन्नौ, तत समवायमात्रमयः न तौ । तद्व्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवदिति । किञ्च,  
यथा इह समवायिषु समवाय इति मति समवाय विनाप्युपपन्ना, "तथा इहात्मनि  
ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्त विनैव चेदुच्यते, तदा न दोष ॥

यदि दीपकसे प्रकाशके अत्यन्त भिन्न होनेपर भी दीपकको स्वपर प्रकाशक कही, तो  
घट आदिको भी स्वपर प्रकाशक कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दीपक-  
की तरह घट आदि भी प्रकाशसे अत्यन्त भिन्न हैं । तथा, स्व और पर पदार्थोंमें सन्ध  
करानेवाला समवायका स्वभाव समवायमे भिन्न है या अभिन्न ? यदि यह स्वभाव समवायसे  
भिन्न है, यह समवायका स्वभाव ही नहीं हो सकता । यदि इस स्वभावके भिन्न होनेपर  
भी समवायान्तरसे समवायके साथ इसका सन्ध मानो, तो अनन्त्या दोष आता है ।  
यदि स्वपरबन्ध स्वभाव समवायमे अभिन्न है, तो फिर इसे समवाय ही कहना चाहिये,  
इसे समवायसे पृथक् माननेकी आवश्यकता नहीं । तथा, जैसे ' इन समवायियोंमें  
समवाय है ' यह बुद्धि समवायमें समवायान्तरके विना माने भी हो सकती है, इसी

तरह ' इस आत्ममें जान है ' यह ज्ञान भी समवायको भिन्न पदार्थ माने बिना ही क्यों नहीं होता ।

अथात्मा कर्ता, ज्ञान च करण, कर्तृकरणयोश्च वर्धकृत्वासीत् भेद एव प्रतीत, तत्कथं ज्ञानात्मनोरभेद इति चत् । न । दृष्टान्तस्य वैपम्यात् । वासी हि बाह्य करण, ज्ञान चान्तर, तत्कथमनयो साधर्म्यम् । न चैव करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लक्ष्मिणाः—

“ करण द्वित्रिध ज्ञेय बाह्यमाभ्यन्तर युधै ।

यथा लुनाति दात्रेण मेरु गच्छति चेतसा ” ॥

यदि हि त्रिञ्चिन्करणमान्तरमेकान्तेन भिन्नमुपदर्शयत्, ततः स्याद् दृष्टान्तदा-  
ष्टान्तिक्रयो साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगता धर्म सत्त्वा-  
न्तरे याजपितृ शक्यते, अन्यथा दीपन चक्षुषा देवदत्त पश्यतीत्यत्रापि दीपादिवत्  
चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भद्र स्यात् । तथा च सति लारूपप्रतीतिविरोध इति ॥

शक्रा—आत्मा कर्ता है, और जान करण है । जैसे बटई कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न कुठार रूप करणमे कार्यको करता है, वैसे ही आमा कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न जान रूप करणसे पदार्थको जानता है, अतएव ज्ञान और आत्मा भिन्न हैं । समाधान—यद् ठीक नहीं, क्योंकि यज्ञ पर बटई और कुठारका दृष्टान्त विपम है । कारण कि कुठार बाह्य और ज्ञान आभ्यन्तर करण है । इस न्ये दोनोंमें साधर्म्य नहीं हो सकता । ये बाह्य और अन्तरग करण वैयाकरणोंने भी स्वीकार किये हैं । “ बाह्य और अन्तरगके भेदसे करण दो प्रकारका है । जैसे वह कुठारसे काटता है, यहा कुठार बाह्य करण है, और वह मनसे मेरु परतपर पहुचता है, यहा मन अन्तरग करण है । ” अतएव जैसे कुठार रूप बाह्य करण बटई रूप कर्तामे भिन्न है, वैसे ही यदि ज्ञान रूप अन्तरग करण जाना रूप कर्तासे भिन्न होता, तो दृष्टान्त और दाष्टान्तिकमें साधर्म्य हो सकता था, लेकिन आत्मा और जान भिन्न नहीं हैं । तथा बाह्यकरणका धर्म अन्तरगकरणसे सधर्म नहीं हो सकता, अन्यथा देवदत्त दीपक और नेत्रमे देगता है, यहा दीपककी तरह नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न होना चाहिये । परन्तु ऐसा माननेसे लोक विरोध आता है ।

अपि च, सा यद्विह्लोऽपि वासीवर्धकृत्विष्टान्तः । तथाहि । नाय वर्धकृः  
' काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्ये ' इत्येव वासीग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् ताम  
गृहीत्वा घटयति, किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा । तथा परिणामे च वासिरपि तस्य

अचेतनस्यापि चैतन्ययोगात् चेतनोऽङ्गमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमत्र निरस्तत्वात् । इत्यचेतनस्य सिद्धमात्मना जडस्यार्थपरिच्छेद पराङ्गमिति । त पुनरिच्छता चैतन्य-  
स्वरूपतास्य स्वीकरणीया ॥

यदि कहें, कि आत्मा समवाय समधसे चेतन है, म्यच चेतन नहीं, क्योंकि इसी प्रकारका जान होता है, यह भी ठीक नहीं । कारण कि यदि आप लोग ज्ञान (प्रतीति) को ही प्रमाण मानते हैं, तो आत्माको निश्चयमे उपयोग रूप ही मानना चाहिये । क्योंकि कभी भी ऐसा जान नहीं होता, कि मैं स्वयं अचेतन होकर चेतनाके समधसे चेतन हूँ, अथवा मेरा अचेतन आत्मामें चेतनका समवाय होता है । परन्तु इसके विपरीत ही आत्मा और ज्ञानके एक अधिकरणप रहनेका ही जान होता है, कि मैं जानता हूँ । यदि आप लोग कहें, कि आत्मा और जानका भेद माननेपर भी आत्मा और जानका एक अधिकरण बन सकता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि कथानि नामात्म्य ( अभिन्न ) समधसे बिना एक अधिकरणकी प्रतीति नहीं हो सकती । ' पुरुष यदि हूँ ' यह ज्ञान पुरुष और अधिके वास्तविक भेद होनेपर भी वास्तविक नहीं है, यह केवल उपचारसे होता है । तथा अधिके स्वभावता आदि गुणोंका पुत्रके साथ अभेद होनेसे ही उपचार होता है, क्योंकि मुख्य अर्थके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है । इसी तरह आत्मामें ' मैं जानता हूँ ' यह प्रतीति आत्मामें कथचित् चैतन्य स्वभावको ही द्योतित करती है, क्योंकि बिना चैतन्य स्वभावके ' मैं जानता हूँ ' ऐसी प्रतीति नहीं होती । जैसे घटम चैतन्य रूप नहीं है, इस लिये उसमें ' मैं जानता हूँ ' यह जान भी नहीं होता । यदि कहें, कि घटमें चैतन्यका समध नहीं होता है, इस लिये उसमें ' मैं जानता हूँ ' ऐसा जान नहीं होता, यह ठीक नहीं । क्योंकि अचेतनमें चैतन्यके समधमे ही ' मैं चैतन्य हूँ ' यह प्रतीति होती है, इस मतका हमने अभी खंडन किया है । अतएव यदि आत्मामें अचेतन माना जाय, तो उसमें पदार्थोंका जान नहीं हो सकता । इस लिये आत्मामें पदार्थोंका जान करनेके लिये आत्मामें चैतन्य स्वीकार करना चाहिये ।

ननु ज्ञानज्ञानद्विमिति प्रत्ययान्तात्मज्ञानयोर्भेद, अन्यथा धनज्ञानिति प्रत्ययादपि धनधनततोर्भेदाभावात्पुनरङ्ग । तदसत् । ज्ञानज्ञानद्विमिति नात्मा भयन्मते प्रत्यति, जड-  
ज्ञानरूपत्वात्, यदसत् । सर्वथा जडस्य स्यादात्मा, ज्ञानज्ञानद्विमितिप्रत्ययस्य स्याद-  
अस्य विरोधाभावात् गति मा निर्णयि । तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात् । ज्ञानज्ञानद्व-  
मिति हि प्रत्ययो नागृहीत ज्ञानारये विशेषणे, विशेष्ये चात्मनि जातृत्वघते,  
स्वमतविराधात् । " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् ॥

ज्ञान— ' मैं जानवान हूँ ' इस जानसे ही आत्मा और जानमें भेद सिद्ध होता है, अन्यथा ' मैं धनवान हूँ ' इस जानसे भी धन और धनवानमें भेद न होना चाहिये ।

समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि विशेषिकोंके मतमें घटकी तरह आत्मा सर्वथा जड़ है, इस स्थिे उसमें 'मैं जानवान हूँ' यह जान ही नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें, कि आत्माके समया जड़ होते हुए भी 'मैं जानवान हूँ' ऐसा प्रत्यय होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मैं जानवान हूँ' यह प्रतीति ही आत्मामें नहीं हो सकती, कारण कि 'मैं जानवान हूँ' यह प्रत्यय जान रूप विशेषण जोर आत्मा रूप विशेष्य जानके बिना कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि कदा ए "बिना विशेषणको ग्रहण किये हुए विशेष्यका जान नहीं होता।"

श्रुतीतयास्तयोरप्यत इति चेत्, कुतस्मद्श्रुतीति । न नात्र स्वत, स्वसत्त्वे दानानभ्युपगमात् । स्वसप्रतिष्ठितं ह्यात्मनि ज्ञान च स्वत सा युज्यत, नान्यथा, सन्तानान्तरत्वन । परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तर विशेष्य नाश्रुत ज्ञानत्वविशेषणं श्रुतं शक्यम् । श्रुतीति च 'प्रत्ये घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इयन्तस्थानात् कुत प्रकृतप्रत्यय' । तत्र नात्मनो जडस्वरूपता सगच्छते । तत्सद्गतो च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् ॥

जमा—जब आत्मा विशेषण ( जान ) और विशेष्य ( आत्मा ) को ग्रहण करता है, उस समय 'मैं जानवान हूँ' यह प्रतीति होती है। समाधान—यहां प्रश्न होता है, कि यह प्रतीति स्वत होती है, या परत ? यह प्रतीति स्वय नहीं हो सकती, क्योंकि आप लोग आत्मामें स्वसत्त्वेन जान नहीं मानते हैं। तथा टमरी मतानोकी तरह आत्मा और जानके स्वप्रतिष्ठित होनेपर यह प्रतीति स्वय हो सकती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् जैसे घट पटादि दूसरी मतानोमें स्वप्रतिष्ठित नहीं है, इस स्थिे उनमें 'मैं जाना हूँ' यह प्रतीति नहीं होती, वेमें ही आत्मामें भी यह प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि कहो, कि आत्मा दूसरे जानके द्वारा अपने जान रूप विशेषणको ग्रहण करती है, तो वह दूसरा जान रूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको ग्रहण स्थिे बिना आत्माके जान रूप विशेषणको ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् जैसे घटत्वका ग्रहण होनेपर ही घटका ग्रहण होता है, उभी तरह जानत्वका ग्रहण होनेपर ही जानका ग्रहण होना चाहिये। इस प्रकार एक जानत्वका दूसरे तीसरे स्थिे जानमें जान माननेपर अनवस्था टोप आता है। इस लिये 'मैं जानवान हूँ' ऐसी प्रतीति किसी भी तरह आत्मामें न हो सकेगी। अतएव आत्माको जड़ स्वीकार करना ठीक नहीं है। तथा आत्माके जड़ न सिद्ध होनेपर आत्माके जानको उपाधिजन्य मानना भी केवल कथन मात्र है।

तथा यद्यपि न सविज्ञानान्दमयी च शुक्तिरिति व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि सन्तानत्वादिति । तत्राभिधीयते । ननु किमिदं सन्तानत्व स्तन्त्रमपरापगपदा-यात्पत्तिमात्र वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? तत्राप पक्ष मव्यभिचार । अपरापर-यामुत्पात्तमाना घटपटकटादीना मन्तानत्वेऽप्यन्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात् । अथ



द्वितीय, पक्षः, तर्हि तादृश सन्तानत्व प्रदीपे नास्तीति साधनविरुद्धे दृष्टान्तः । परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतु । तथात्रिपसत्तानत्रस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्ताच्छेदाभावात् । अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति । विपर्यये वायुप्रमाणाभावात् । इति सद्विधत्तिसत्त्वावृत्तिक्रत्यादप्यनैकान्तिकोऽप्यम् । किञ्च, स्याद्वादवादिना नास्ति कचिदत्यन्तमुच्छेद, द्रव्यरूपतया स्थासूनामेव सताभावानामुत्पादव्यययुक्तत्वात् इति विरुद्धश्च । इति नाधिकृतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धि सिद्धयति ॥

(३) मुक्तिको ज्ञान और सुगुणका अभाव रूप सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने जो सतानत्व हेतु दिया है, वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि आपके मतमें स्वतंत्र रूपसे एकके बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे, इस तरह अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति मात्र सतानत्व है, अथवा एक ही आश्रयमें रहते हुए एकके बाद एक, अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति होना सतानत्व है । पहला पक्ष सदोष है । कारण कि घट, पट, आदि एकके बाद एक, अनेक पदार्थोंके उत्पादक हैं, परन्तु उनमें सन्तानत्व है, क्योंकि उनका अत्यन्त नाश नहीं देखा जाता ( वैशेषिकमतमें घट आदि सतानोंका निरवय नाश नहीं होता ) । दूसरा पक्ष, अर्थात् एक ही आश्रयमें रहते हुए एकके बाद एक, अनेक पदार्थोंकी उत्पत्तिको सतान स्वीकार करनेमें दीपकमें विरोध आना है, क्योंकि दीपकमें सतानत्व नहीं रहता । इस लिये प्रदीपका दृष्टान्त साधनविरुद्ध है । प्रदीपकी सतानका एक अधिकरण नहीं है, क्योंकि पूर्व अग्निकी ज्वाला रूप दीपक पूर्व अग्निकी ज्वालाके नष्ट होनेके क्षणमें नष्ट हो जाता है, इस लिये दीपकका दृष्टान्त साधनसे शून्य है । तथा सन्तानत्व हेतु परमाणुपाकज रूप (अग्निके द्वारा परमाणुमें उत्पन्न किया हुआ रूप) आग्निसे व्यभिचारी है, क्योंकि परमाणुपाकज रूपमें सतान होनेपर भी उसका अत्यन्त नाश नहीं होता । वैशेषिक लोग 'पीछुपाक' सिद्धांतको मानते हैं । उनके मतमें जिस समय कच्चा घडा अग्निमें पकानेके लिये रखा जाता है, उस समय यह कच्चा घडा नष्ट हो कर परमाणु रूप हो जाता है । उसके बाद अग्निके सयोगसे परमाणुओंमें लाल रंग उत्पन्न होता है । ये परमाणु एकत्र होकर पक्के घडेके रूपमें बदलते हैं । यह परमाणुपाकन प्रक्रिया अत्यन्त शीघ्रतासे होती है, और नौ क्षणोंमें समाप्त हो जाती है । जैन लोगोका कहना है, कि अग्निके द्वारा उत्पन्न किये हुए परमाणुमें रूप सतान होनेपर भी उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, इस लिये उक्त हेतु व्यभिचारी है । क्योंकि कच्चे घडेके अग्निमें रखनेसे जब उस घटका परमाणुपर्यन्त विभाग होता है, तब उन परमाणुओंमें पूर्व घटकी रूप-सतान बदलकर दूसरे रूपमें उत्पन्न होती है, इस लिये यद्यपि पूर्व और अपर सतान परमाणुरूप एक आश्रयमें रहती है, तो भी सतानका अत्यन्त नाश नहीं होता । तथा सतानत्वके रहते पर भी अत्यन्त नाश नहीं हो सकता हो, इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है । क्योंकि घट

आदि पदार्थ सनान हैं, फिर भी उनका सन्तानाश नहीं होता। अतएव 'मुक्तिम बुद्धि आदि गुणोंका अत्यत उच्छेद हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान हैं' इस अनुमानमें सनानत्व हेतु विपक्ष घटादिमें उच्छेद्यत्व साध्यके अभाव अनुच्छेद्यत्वके साथ रहता है, इस लिये सदिग्ध विपक्षव्यापृति होनेसे अनैकान्तिक हेत्वामास है। तथा, स्याद्वादियोंके किसी भी द्रव्यका अत्यत उच्छेद नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूपमें ध्रुव रहनेवाले पदार्थोंके ही उत्पाद और व्यय होते हैं, इस लिये सनानत्व हेतु निरुद्ध भी है। अतएव आप लोगोंके अनुमानमें मोक्षमें बुद्धि आदि गुणोंका अत्यत नाश सिद्ध नहीं होता।

नापि "न हि वै सशरीरस्य" इत्यादिसागमात्। स हि श्रुभाश्रुभादृष्टपरिपाकजन्ये सासारिकप्रियाप्रिये परस्परानुपक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थित। मुक्तिदशाया तु सरुलादृष्टक्षयहेतुरुमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवल प्रियमेव, तत्कथं प्रतिपिध्यते। आगमस्य चायमर्थ, सशरीरस्य-गतिचतुष्टयान्यतममथ्यानर्तिन आत्मनः, प्रियाप्रिया-परस्परानुपक्तयो मुखदुःखयो अपहति-अभावो नास्तीति। अवश्यं हि तत्र मुखदुःखाभ्यां भाव्यम्। परस्परानुपक्तत्वं च समासकरणादभ्युद्भते। अशरीर-मुक्तात्मानं, वाशब्दस्यैवकारार्थत्वात् अशरीरमेव, वसन्त-सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनः, प्रियाप्रिये-परस्परानुपक्ते मुखदुःखे न स्पृशतः ॥

तथा, मोक्ष अवस्थामें सुखका अभाव सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने "न हि वै सशरीरस्य सत् प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" जो आगमका प्रमाण दिया है, वह भी साधकी सिद्धि नहीं करता। क्योंकि यहाँ जो मोक्षमें प्रिय-अप्रिय (सुख-दुःख) का प्रतिषेध किया गया है, वह केवल शुभ, अशुभ अदृष्टके परिणामसे उत्पन्न, एक दूसरेसे सबद्ध, सासारिक सुख-दुःखकी अपेक्षासे ही किया गया है। मुक्तावस्थाका मुरा समस्त पुण्य-पापके क्षयसे उत्पन्न होता है, इस लिये यह सुख एकान्तिक (एकरूप) और आत्यन्तिक (नाश न होने-वाला) होता है, इस नित्य मुराका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। अतएव उक्त आगममें प्रिय-अप्रिय शब्दोंसे पुण्य-पापसे उत्पन्न होनेवाले सांसारिक सुग-दुःखका ही प्रतिषेध किया गया है, मुक्तावस्थाके अनन्त और अथागाध सुखका नहीं। इस लिये आगमका निम्न-प्रकारसे अर्थ करना चाहिये—'सशरीरस्य प्रियाप्रिययो अपहति नास्ति'—सशरीर आत्माके परस्पर अपेक्षित सुख-दुःखका अभाव नहीं होता। (यहाँ 'प्रियाप्रिय' में द्वन्द्व समास करनेसे मुरा दुःखको परस्पर अपेक्षित समझना चाहिये)। 'अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशतः'—मुक्तावस्थामें रहनेवाले मुक्तात्माको परस्पर अपेक्षित सुख-दुःखका स्पर्श नहीं होता।

इदमत्र हृदयम्। यथा मिल् ससारिणः मुखदुःखे परस्परानुपक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः किन्तु केवल मुरामेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाभावात्। मुख

त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमत्र । स्वप्नरूपावस्थान हि माक्ष' । अत एव चाशरीरमित्युक्तम् ।  
आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः । यत् पतदर्थानुपातिन्येत् स्मृतिरपि दृश्यते—

मुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियम् ।

तत्रैव मोक्षमिजानीयाद् दुष्पापमकृतात्मभिः ॥”

न चायं मुखशब्दो दुःखाभावात्प्रोच्यते । मुखसुखवाच्यताया वाधकाभावात् ।  
अयं रोगाद् विप्रमुक्तं मुखीं जातं इत्यादिवाक्येषु च मुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्य-  
प्रसङ्गाच्च । दुःखाभावात्प्रोच्यते रागाद् विप्रमुक्तं इतीत्येतव गतरान् ॥

तात्पर्यं यह है, कि जैसे ससारी जीवके मुख दुःख परम्पर अपेक्षित होते हैं, वैसे मुक्त  
जीवके नहीं होते । मुक्त जीवके केवल मुख ही होता है, क्योंकि उनके शरीरका  
अभाव है । तथा मुक्त जीव अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, इस लिये उनके मुख  
ही होता है । कारण कि अपने स्वरूपमें अस्थिर होना ही मोक्ष है । इसीलिये मुक्त जीव  
शरीर रहित हैं । स्मृतिमें भी इस अर्थका समर्थन होता है । “ चित्त अवस्थामे शब्दयोगे  
वाद्य केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य आत्यंतिक सुख विद्यमान है, वही मोक्ष है ।”  
यद्वापर मुखका अर्थ केवल दुःखका अभाव ही नहीं है । यदि मुखका अर्थ केवल दुःखका  
अभाव ही किया जाय, तो ‘यह रोगी रोग रहित होकर मुखी हुआ है’ आदि वाक्यामें पुन-  
रुक्ति दोष आना चाहिये । क्योंकि उक्त सम्पूर्ण वाक्य न कहकर ‘यह रोगी रोग रहित हुआ  
है’ इतना कहनेमें ही काम चल जाता है ।

न च भयदुर्लभिता मोक्षः पुसासुपादेयतया समतः । को हि नाम शिलावल्गु-  
मपगतमन्त्रसुखसंपदनमात्मानमुपपाठयितुं यतते । दुःखसंपदनरूपत्वादस्य सुखदु-  
खयोरैकस्याभावात्परस्यावश्यम्भावात् । अत एव त्वदुपपादस्य श्रयते—

“ उरुवृन्दानने रम्ये कोष्ठत्वमभिव्याञ्छितम् ।

न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमां गन्तुमिच्छति ॥”

तथा, शिलाके समान सम्पूर्ण सुखके संपदनमें रहित वैशेषिकोंकी मुक्तिकी प्राप्त  
करनेका कौन प्रयत्न करेगा ? क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार पापाणकी तरह मुक्त जीव भी  
सुखके अनुभवसे रहित होते हैं । अतएव सुखका इच्छुक कोई भी प्राणी वैशेषिकोंकी मुक्तिकी  
इच्छा न करेगा । तथा, यदि मोक्षमें सुखका अभाव हो, तो मोक्ष दुःख रूप होना चाहिये,  
क्योंकि सुख और दुःखमें एकका अभाव होनेपर दुःखका सद्भाव अवश्य रहता है । कुछ  
लोगोंने वैशेषिकोंकी मुक्तिका उपहास करते हुए कहा भी है “ गौतम त्वपि वैशेषिकाकी मुक्ति  
प्राप्त करनेकी अपेक्षा वृद्धावनर्मा गृह्यते होकर रहना अच्छा समझते हैं ।”

सोपाधिसंसारधिरुपरिमितानन्दनिष्पन्नात् स्वर्गादिप्यधिरु तद्विपरितानन्दम-

म्लानज्ञान च मोक्षमाचक्षते विचक्षणः । यदि नु जडं पापाणनिविशप एव तस्या-  
मवस्थायामात्मा भवतु, तदल्पपवर्गण । ससार एव वरमस्तु । यत्र तावदन्तरान्तरापि  
दुःखमल्पितमपि क्रियदपि सुखमनुभुज्यते, चिन्त्यता तावत् किमल्पसुखानुभवो  
भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव ॥

उपात्रि जेर अरधि रहित अपरिमित आनन्द ओर निर्मल चानके प्राप्त करनेको विद्वान  
लोग मोक्ष कहते हैं । यदि मोक्षम पापाणके समान आत्मा जट रूप ही रह जाती है, तो फिर  
ऐसे मोक्षकी ही क्या आवश्यकता है, हममे अच्छा समार ही है, जहा नीच बीचमें दुखसे  
परिपूर्ण कममे कम थोडा बहुत सुख तो मिलता रहता है । अतएव यह विचारणीय है, कि  
सम्पूर्ण सुखोका उच्छेद करनेवाले मोक्षको प्राप्त करना श्रेष्ठ है, अथवा ससारमें रहकर ही  
थोडे बहुत सुखका उपभोग करना अच्छा है ।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेऽप्रेक्षादक्षणायां । ते ह्येव विप्रचयन्ति ।  
ससार तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति, दुःखं चावश्यं द्रव्यम्, विप्रकृतान् चान-  
यारेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःखमयम्, अत एव द्वयमपि त्यज्यते । ततश्च ससारोऽपि  
मोक्षं श्रेयान् । यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्यात् । वरमियती कान्ताचित्कमुखमात्रापि  
त्यक्त्वा, न तु तस्याः दुःखभार इयान् व्यूढ इति ॥

अत्रा—मोक्षमें ससारकी अपेक्षा अधिक सुख है, इस लिये मोक्ष ही ब्राह्म है,  
क्योंकि ससारमें दुख रहित सुख संभव नहीं है । जैसे एक ही पात्रमें रखते हुए  
शर्करा आर विषका अलग करना बहुत कठिन है, उसी तरह सामारिक सुख-दुखमें विभेक  
पूर्वक दुखका त्याग करना कष्टसाध्य है । अतएव सुख-दुख दोनोंको ही छोड़ देना श्रेयस्कर  
है, इस लिये ससारसे मोक्ष अच्छा है, क्योंकि मोक्षमें दुखका सर्वथा अभाव है । कारण कि  
शुणिक सुखमे उपरत होनेवाले महान् दुखको भोगनेकी अपेक्षा उस क्षणिक सुखका त्याग  
कर देना ही श्रेयस्कर है ।

तन्तत्सत्यम् । सासारिकसुखस्य मधुद्विग्धपाराङ्गराल्पमण्डलाग्रप्रासजद् दुःख-  
रूपत्वादन युक्तं च मुमुक्षुणा तज्जिहासा । किन्त्वात्यन्तिस्मसुरविशपलिप्सुनामेव ।  
इहापि विषयनिवृत्तिज सुखमनुभवसिद्धमेव, तद् यदि मोक्षमिच्छितं नास्ति, ततो  
माक्षा दुःखरूप एवापगत इत्यर्थः । ये अपि विषयधुनी एकरुं सम्पृक्ते त्यज्येते,  
ते अपि सुखविशपलिप्सवैव । किञ्च, यत्र प्राणिना ससारवम्याया सुखमिष्टं दुःखं  
चानिष्टम्, तथा मोक्षवम्याया दुःखनिवृत्तिमिष्टा, सुखनिवृत्तिस्वनिष्टव । ततो यदि  
त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्, तदा न प्रेक्षापतामत्र प्रवृत्तिः स्यात् । भवति चेयम् । तत  
सिद्धा मोक्षः सुखसवदनस्वभाव प्रेक्षापत्यदृत्तेरन्यथानुपपत्तेः ॥

समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सासारिक सुख शहदसे लिपटी हुई तीक्ष्ण धारवाली तलवारकी नोकको चाटनेके समान है, इस लिये सासारिक सुख दुर रूप है, अतएव मुमुक्षु लोगोंको उसे त्यागना ही ठीक है। किन्तु अविनाशी सुखके चाहने वालोंको ही सामारिक दुख छोटना चाहिये। तथा ससारमें भी विषयोकी निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनुभूतसे सिद्ध है। अतएव यदि मोक्षमें ससारसे मिश्रित सुख नहीं है, तो मोक्षके दुर रूप होनेसे मोक्ष त्याज्य है। तथा, एक साथ सम्मिलित विष और मधुका त्याग भी विशेष सुखकी दृष्टासे ही किया जाता है। जैसे प्राणियोंको सासारिक अवस्थामें सुख इष्ट और दुर अनिष्ट है, वैसे ही मोक्षवस्थामें दुखकी निवृत्ति इष्ट, और सुखकी निवृत्ति अनिष्ट है। अतएव यदि मोक्षमें ज्ञान और आनन्दका अभाव है, तो मोक्षमें किमी भी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न होनी चाहिये। अतएव मोक्ष सुख और नान रूप है।

अथ यदि सुखसर्वदेनेस्वरभावो मोक्ष स्यात् तदा तद्गणेण प्रवर्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत् । न हि रागिणा माक्षोऽस्ति रागस्य बन्धनात्मकत्वात् । नैवम् । सासारिकसुखमव रागो बन्धनात्मकः विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात् । मोक्षसुखे तु राग-तन्निवृत्तिहेतुत्वाद् न बन्धनात्मकः । परां कोटिमरुदस्य च स्पृहामानरूपाऽप्यसौ निरर्तत “मोक्षे भवे च सर्वो नि स्पृहो मुनिसत्तमः” इति वचनात् । अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविषय कपायकालुष्य केन निषिध्येत । इति सिद्ध कृत्स्नकर्मक्षयात् परमसुखसर्वदनात्मको मोक्षा, न बुद्ध्यादिविशपगुणोच्छेदरूप इति ॥

शक्रा—यदि मोक्षको सुख और ज्ञान रूप माना जाय, तो मोक्षमें राग भावसे प्रवृत्ति करनेवाले मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति न होनी चाहिये। क्योंकि राग बधन रूप है, इस लिये रागी पुरुषोंको मोक्ष नहीं मिलता। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सासारिक सुख ही रागका कारण है, यः सासारिक सुख ही विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण है। किन्तु मोक्ष-सुखका अनुराग विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण नहीं है, इस लिये वह बधन रूप नहीं। तथा उल्टे दशाको प्राप्त हुए आत्माके यह इच्छा मात्र भी राग नहीं रहता। जैसा कहा भी है “उत्तम मुनि मोक्ष और ससार दोनोंमें निरुद्ध रहते हैं।” अन्यथा दुरकी अत्यन्त निवृत्ति रूप वैशेषिकोंके मोक्षमें भी दुख रूप कपायका उत्पन्न होना संभव है। अतएव सम्पूर्ण कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख और आनन्द स्वरूप ही मोक्ष मानना युक्तियुक्त है, बुद्धि आदि आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद होना मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

अपि च भोस्तपस्विन्, कथञ्चिदेपामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूप मनः कृथा । तथाहि । बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते । तच्च मतिश्रुतानधिमन पर्या

यनेवलभेदात् पञ्चधा । तत्रापि ज्ञानचतुष्टय क्षायोपगमिस्त्वात् कवलज्ञानाविर्भाव-  
काल एव प्रलीनम् । “ नहमि य छाउमत्थिए नाणे ” इत्यागमात् । केवल तु सर्व-  
द्रव्यपर्यायगत क्षायिस्त्वन निष्कल्हनात्मस्वरूपत्वाद् अस्त्येव माक्षारस्थायाम्, सुख  
तु वैपयिक तत्र नास्ति । तद्वतावदनीयरुर्मणाऽभावात् । यत्तु निरतिगय, अथय मनपक्ष  
मनन्त च सुख तद् वाढ विप्रते । दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात् तदुच्छेदादुच्छेदः ॥

तथा, हम लोग भी बुद्धि आदिका कथचित् उच्छेद मानते हैं, अतएव आप लोग निराश  
न हो । बुद्धिका अर्थ ज्ञान होता है । यह ज्ञान मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवल  
ज्ञानके भेदसे पाच प्रकारका है । इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपगमिक ( नानारणीय कर्मके  
एकदेश क्षय और उपशमसे उत्पन्न होनेवाले ) हैं, इस लिये केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके समय  
नष्ट हो जाते हैं । क्योंकि कहा भी है “ छाद्रस्थिक ( केवल ज्ञानके अतिरिक्त सब जानोंको  
छद्मस्थ ज्ञान कहते हैं ) ज्ञानके नष्ट होनेपर ( केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ) ” केवलज्ञान मन्  
द्रव्य और मन पर्यायोंको जानता है, और वह जानवरणीय कर्मके सर्वथा क्षयमे उत्पन्न होता  
है, इस लिये मोक्षारस्थामें निर्दोष केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है । वैपयिक सुख मोक्षमें नहीं है,  
क्योंकि बड़ा वैपयिक सुखके कारण वेदनीय कर्मका अभाव है । निरतिगय, अथय और  
अनन्त सुख मोक्षमें विद्यमान है । तथा दुखके कारण अधर्मका नाश हो जानेसे मोक्षमें  
दुखका भी अभाव हो जाता है ।

नवच मुखस्यापि धर्ममूलत्वाद् धर्मस्य चोच्छेदात् तदपि न युज्यते । “ पुण्य-  
पापक्षयो मोक्ष ” इत्यागमवचनात् । नैवम् । वैपयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद् भवतु  
तदुच्छेद न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः । इच्छाद्वेषयोः पुनर्माहभेदत्वात् तस्य  
च समूलनापत्तित्वादभावः । प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्य-  
त्वात् । वीर्यान्तेरापक्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नः, दानादिलब्धिर्नैव । न च क्वचिदु-  
पयुज्यते, कृतार्थत्वात् । धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरपर्याययारुच्छेदोऽस्त्येव । तदभावे  
मोक्षस्यैवायागात् । सस्फारश्च मतिज्ञानविशेष एव । तस्य च मोहक्षयानन्तर क्षीण-  
त्वादभाव इति । तदेव न सत्रिदानन्दमयी च मुक्तिरिति मुक्तिरिक्तयमुक्तिः ।  
इति काव्यार्थः ॥ ८ ॥

शस्त्रा—सुखका कारण भी धर्म है, अतएव धर्मके उच्छेद हो जानेसे मुक्तात्माके  
सुख भी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि कहा भी है “ पुण्य और पापके क्षय होनेपर मोक्ष

१ उप्यणमि अणत नहमि य छाउमत्थिए नाणे । राए एपत्ता महसणवणमि उज्जण्णे ॥ छाया-  
उत्पन्नेऽनन्त नेढे च छाप्रथियक शने । राय्या छप्राप्तो महघेनचन उज्जान ॥ ५३९ ॥ आणवक्कपूरविभाय ।  
२ बलवता मूना रोगरहितेनापि पुसा यस्य कमण उदयाजृणमपि न तियक्कर्तुं पायते तत्कम वीयान्तरायाख्यम् ।  
३ लब्धय पञ्च । तथाहि—दानलाभभागोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा । सूत्रकृताङ्ग १-१२ । तरजायू २-५ ।

होता है।" समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुख धर्मका कारण है, इस लिये मुक्त जीवके वैषयिक सुखका नाश हो जाता है, परन्तु उसके निरपेक्ष सुखका नाश नहीं होता। क्योंकि इच्छा और द्वेष मोहके भेद हैं, और मुक्त जीवके मोहका समूल नाश हो जाता है। तथा मुक्त जीवके कोड़ प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है। किन्तु मुक्त जीवके दान, लाम, भोग, उपभोग, वीर्य इन पाच लब्धियोंकी तरह वीर्यान्तराय कर्म ( तिस कर्मके उदयसे नीरोग बलवान युवक एक तृणके टुकड़ेको भी हिलानेमें असमर्थ होता है, उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं ) के क्षयसे उदय वीर्यान्तराय रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है। मुक्त जीव कृतकृत्य रहते हैं, अतएव वे प्रयत्नका कमी उपयोग नहीं करते। तथा मुक्त जीवके धर्म अधर्म अथवा पुण्य-पापका उच्छेद भी गृहता ही है, क्योंकि धर्म अधर्मके रहनेपर मोक्ष नहीं मिल सकता। सम्कार मतिज्ञानका ही भेद है, अतएव मतिज्ञानके क्षय होनेके बाद ही सम्कारका भी नाश हो जाता है। इस लिये मुक्त आत्माके सम्कार भी नहीं होता। अतएव मुक्त अवस्थामें चान और सुखका अभाव है, यह कटना युक्तियुक्त नहीं है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिक लोगोके तीन सिद्धांतोपर विचार किया गया है—(१) सत्ता द्रव्य, गुण आदिसे भिन्न है, (२) आत्मा चानसे भिन्न है, (३) मुक्त अवस्थामें चान और सुखका अभाव हो जाता है।

वैशेषिक—(१) क—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है ( द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता )—सत्ता ( परमामान्य अथवा महासामान्य ) द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं। वैशेषिकोंके अनुसार द्रव्य आदि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है, क्योंकि इन तीनोंमें ही सत् प्रयय होना है। यद्यपि द्रव्य आदि छह पदार्थोंमें 'अस्तित्व' रहता है, तथापि यह सामान्य आदि तीनोंमें अनुवृत्तिप्रयय ( सामा प्रज्ञान ) का कारण नहीं है, और द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें है, इस लिये द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है। यदि सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता सब प्रस्वीकार किया जाय, तो नमसे अनवस्था, रूपहानि और असम्प्रदाय दोष आते हैं, अतएव सत्ताको सामान्य आदि तीनमें स्वीकार न करके द्रव्य, गुण और कर्ममें ही स्वीकार करना चाहिये।

ख—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है ( सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तर )—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है। (अ) सत्ता द्रव्यसे भिन्न है। वैशेषिकोंके अनुसार जो द्रव्योंमें उत्पन्न न हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो ( अद्रव्यत्व ), तथा जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुआ हो, अथवा अनेक द्रव्योंका उत्पादक हो ( अनेकद्रव्यत्व ), उसे द्रव्य कहते हैं। सत्तामें द्रव्यका उक्त लक्षण घटित नहीं होता। सत्ता द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है, इस लिये सत्ता द्रव्य नहीं है। (३) सत्ता गुणसे भी भिन्न है। क्योंकि सत्ता गुणत्वकी

तरह गुणोंमें रहती है। तथा गुण गुणोंमें नहीं रहते ( निर्गुणत्वाद् गुणानाम् )। (स) इसी तरह सत्ता कर्मसे भी भिन्न है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। तथा कर्म कर्ममें नहीं रहने हैं।

‘सत्ता’ ( सामान्य ) परसामान्य और अपरसामान्यके भेदमें दो प्रकारकी है। ‘पदार्थत्व’ ( द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंमें रहनेवाले ) को परसामान्य अथवा महासामान्य कह सकते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपरसामान्य हैं। द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षासे पृथिवीव आदि, ओर पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षासे घटत्व आदि अपरसामान्य कहे जाते हैं। अपरसामान्य एक पदार्थको जानते समय उस पदार्थकी दूसरे पदार्थसे व्यावृत्ति करता है, इस लिये इसे सामान्य विशेष भी कहते हैं। सत्ता अथवा सामान्यकी तरह ‘विशेष’ भी भिन्न पदार्थ हैं। ‘विशेष’ सत्ताकी और विनासकी पदार्थोंसे अत्यन्त व्यावृत्ति कराते हैं। अतएव ‘विशेष’ विशेष रूप ही हैं, ये सामान्य विशेष रूप नहीं हो सकते। आचार और आचार्य पदार्थोंमें दृष्ट प्रत्ययका कारण ‘समवाय’ भी अलग पदार्थ है। ‘इन सत्ताओंमें पट है’ यह इह प्रत्यय हेतु सत्ता और पटमें समवाय सन्ध स्थापित करता है।

जन—(१) क-सत्ता ( अस्तित्व-वस्तुना स्वरूप ) को सम्पूर्ण छहों पदार्थोंमें स्वीकार करके भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही ‘अस्तित्व’ ( सत्ता ) स्वीकार करते हैं, यह युक्तियुक्त नहीं है। तथा द्रव्य, गुण, कर्मकी तरह ‘सामान्यप्रत्यय’ (सत्ता) सामान्य, विशेष और समवायमें भी हाता है, फिर कुछ पदार्थोंमें सामान्य (सत्ता) स्वीकार करना, और कुछमें नहीं, यह यायमगत नहीं कहा जा सकता। तथा सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता माननेसे अनवस्था, स्वरूपद्वय और, असन्ध नामक दोष नहीं आते हैं, क्योंकि सामान्यकी तरह द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता स्वीकार करनेसे भी अनवस्था दोष नहीं वच सकता। तथा विशेषमें सत्ता स्वीकार करनेपर उन्ही विशेषकी सिद्धि ही होती है, क्योंकि कहीं भी सामान्य रहित विशेषकी उपलब्धि नहीं होती, इसी प्रकार समवायमें भी सत्ता (स्वरूप सत्ता) माननी ही चाहिये।

म्—यदि सत्ताको द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न माना जाय, तो द्रव्यादिको अमत् मानना चाहिये। इस लिये सत्ता द्रव्य आदिसे भिन्न नहीं हो सकती।

वैशेषिक—(२)—ज्ञान आत्मासे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान समवाय सन्धसे आत्माके साथ रहता है। आत्मा स्वयं जट है। जिस समय हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं, उस समय पहले पदार्थ और इन्द्रियका संयोग होता है, बादमें इन्द्रिय मनसे, और मन आत्मासे सन्ध होता है। यदि आत्मा और ज्ञान एक हो, तो दुःख, जन्म वगैरहका नाश होनेपर जिस समय मुक्तानस्थामें बुद्धि, मुख आदिका नाश हो जाता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये।



शरणा—मत्र आदिके भिन्न देशमें रहते हुए भी सैकड़ों यौवनकी दूरीपर उनके आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण देखे जाते हैं, अनएव उक्त कथन बाधा युक्त है। समाधान यह ठीक नहीं। क्योंकि आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण मत्रके नहीं हैं, किन्तु ये गुण मत्र आदिके अधिष्ठाता देवताओंके हैं। मत्रके अधिष्ठाता देव लोग ही आकर्षण उच्चाटन आदिमें प्रभावित स्थानमें मय जाते हैं, इस लिये उक्त दोष ठीक नहीं है। क्योंकि कभी भी गुण गुणीको छोड़ कर नहीं रहते। इस प्रकार हमारे मिद्धातके निरापत्त मिद्ध होनेपर भी दुस्मित तत्ववाद (जैसे जनाचार शब्दमें दुस्मित अर्थ में नन् समास किया गया है, उसी तरह 'अनन्तवाद' में भी नन् समास दुस्मित अर्थमें है) से न्यामोहित वैशेषिक लोग आत्माको शरीरके बाहर भी स्वीकार करते हैं।

भावार्थस्त्वयम् । आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धे । यो य सर्वानुपलब्धमानगुणः स स सर्वगतो न भवति, यथा घट । तथा चायम् । तस्मात् तथा । व्यतिरिक्ते व्योमादि । न चायमसिद्धो हेतु, भावव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणाना बुद्ध्यादीना वादिना प्रतिवादिना वानभ्युपगमान् । तथा च भट्ट\* श्रीधर—  
“सर्वगतत्वस्यामनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र । शरीरस्यापभोगायतनत्वात् । अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति” ॥

भाव यह है, कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि सत्र जगह आत्माके गुण उपलब्ध नहीं होते। जिस वस्तुके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह सर्वव्यापक नहीं होती। जैसे घड़ेके रूप आदि गुण सर्वत्र नहीं दिखाने देते, इस लिये घड़ा सर्वव्यापक नहीं है। इसी तरह आत्माके गुण भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं हैं, इस लिये आत्मा भी सर्वव्यापक नहीं है। जो सर्वव्यापी होता है, उसके गुण सत्र जगह उपलब्ध होते हैं, जैसे आकाश। उक्त हेतु अमिद्ध नहीं है, क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादिने बुद्धि आदि आत्माके गुणोंको शरीरको छोड़कर अन्यत्र स्वीकार नहीं किया है। श्रीधर भट्टने कहा भी है “आत्माके सर्वव्यापक होनेपर भी शरीरमें रहकर ही आत्मा पदार्थोंको जानना है, दूसरी जगह नहीं। क्योंकि शरीर ही उपभोगका स्थान है, यदि शरीरको उपभोगका स्थान न मानाजाय तो शरीर न्यर्थ हो जाना चाहिये” इस लिये भट्टके कथनके अनसार आत्माके बुद्धि आदि गुण शरीरसे बाहर नहीं रहते।

अथास्त्यदृष्टमान्मनो विशेषगुण\* । तच्च सर्वोत्पत्तिप्रता निमित्त सर्वव्यापक च ।  
कामितरथा द्वीपान्तरादिव्यपि प्रतिनियतदेशवतिपुष्पोपभाग्यानि रुनरुग्त्वनचन्दनाङ्गनादीनि तेनात्पायते । गुणश्च गुणिन विहाय न वर्तते । अतोऽनुमीयते सर्वगत

आत्मति । नैयम् । अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधन प्रमाणाभावात् । यथास्त्यत्र प्रमाण  
 बद्धे 'वैज्वलन, प्रायोस्तिर्यङ्मपवन चान्द्राकारितमिति चत् । न । तयोस्तत्त्वभावात्त्वादेव  
 तत्सिद्धे, दहनस्य दहनशक्तिर्यत् । साप्यदृष्टकारिता चत्, तर्हि जगत्प्रयोजित्रीसू-  
 त्रणऽपि तदेव सूत्रधारयता, निर्माश्वरकल्पनया । तन्नायमभिद्धा हेतु । न चानैक-  
 न्तिक । सा 'यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात् । नापि विरुद्ध' । अत्यन्त  
 विपक्षव्यावृत्तत्वात् । आत्मगुणाश्च उक्तप्राप्तय शरीर एवापलभ्यन्त, ततो गुणिनापि  
 तत्रैव भाव्यम् । इति सिद्ध कायप्रमाण आत्मा ॥

शक्ता—आत्माके अदृष्ट नामका एक विशेष गुण है । यह अदृष्ट उत्पन्न होनेवाले  
 सत्र पदार्थोंमें निमित्त कारण है, और यह सर्वव्यापक है, क्योंकि यह दूसरे द्वीपोंमें भी निश्चित  
 स्थानमें रहनेवाले पुत्रोंके भोगने योग्य, सुवर्ण, रत्न, चन्दन तथा आत्माको उत्पन्न करता  
 है । इस लिये यदि आत्मा सर्वव्यापक नहीं होता, तो आत्माका अदृष्ट गुण अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं  
 कर सकता था । तथा गुण गुणीको छोड़कर नहीं रहते, अतएव आत्मा सर्वव्यापक ही है ।  
 इस लिये आत्माके अदृष्ट गुणको सर्वत्र देवनेमें सिद्ध होता है, कि आत्मा सर्वव्यापक है ।  
 समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि अदृष्टको सर्वव्यापी माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि  
 कहो, कि अग्निही शिखाका ऊँचा जाना, हवाका तिरछे बहना, यह सब अदृष्टमें ही होता है,  
 अतएव अदृष्टका साधक प्रमाण अवश्य है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि अग्निका ऊँचे जाना और  
 वायुका तिरछे बहना अदृष्टके बलमें ही सिद्ध नहीं होता । कारण कि जैसे अग्निमें दहन-  
 शक्ति स्वभावसे ही है, उसी तरह अग्निका ऊँचा जाना भी स्वभावमें ही मानना चाहिये, अदृष्ट-  
 के बलमें नहीं । यदि कहो, कि अग्निमें जगनेकी शक्ति भी अदृष्ट के बलमें ही है,  
 तो तीनों लोकोंके सर्जनेमें भी अदृष्टको कारण मानना चाहिये, फिर ईश्वरकी कल्पना  
 करनेमें कोई लाम नहीं । अतएव 'आत्मा सर्वगत नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह  
 नहीं पाये जाते,' यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं  
 मिलते । तथा, यह हेतु अनैकान्तिक भी नहीं, है क्योंकि यहाँ 'असर्वगत' साध्यकी 'आत्माके  
 गुण सब जगह नहीं पाये जाते' साधनके साथ व्याप्ति ठीक बैठनी है । यह हेतु निरुद्ध भी नहीं है,  
 क्योंकि 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' हेतु, 'सर्वगतत्व' निपक्षसे अत्यन्त व्यावृत्त  
 है । तथा आत्माके गुण बुद्धि आदि शरीरमें ही उपलब्ध होते हैं, अतएव गुणी (आत्मा) को  
 भी उसी स्थानमें रहना चाहिये । इससे सिद्ध होता है, कि आत्मा शरीरके प्रमाण है ।

अन्यच्च, त्वयात्मना बहुत्वमिष्यते "नानात्माना व्यरस्थात" इति वच-  
 नात् । ते च व्यापका । ततस्तेषा प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुबेध तदाश्रित-

शुभाशुभकर्मणामपि परस्पर सङ्कर म्यात् । तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्य सुखी भवेद्, इतरस्याशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत । अन्यच्च, एकस्यैवात्मन स्वापात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्व, परोपाजिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंपेदनप्रसङ्गः । अथ स्वावष्टेय भागायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोग, तद्दि स्वापाजितमप्यदृष्ट कथं भागायतनाद् गृह्णीतमप्य वद्वेत्स्व-ज्वलनादिन करोति इति चिन्त्यमेतत् ॥

तथा, वैशेषिकोंने आत्माका बहुत्व स्वीकार किया है । जैसे कटा भी है “ प्रयेक शरीरमें भिन्न भिन्न आत्मा होनेसे आत्मा नाना हैं ” अतएव यदि ये नाना आत्मा व्यापक हैं, तो दीपकोंकी प्रमाथोके परस्पर सम्मिश्रणकी तरह आत्माके शुभ अशुभ कर्मोंका भी परस्पर सम्मिश्रण हो जाना चाहिये । इस लिये आत्माको नाना और व्यापक माननेसे आत्माके भिन्न भिन्न शुभ-अशुभ कर्मोंके एक दूसरेमें सम्मिलित हो जानेपर एक के शुभ कर्मसे दूसरा सुखी, आर दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा मनुष्य दुखी हुआ करेगा । तथा, एक ही आत्माके स्वयं उपार्जित शुभ कर्मोंसे सुखी, और दूसरेसे उपार्जित अशुभ कर्मोंसे दुखी होनेके कारण एक ही समयमें एक साथ सुख दुःख होने चाहिये । यदि कहो, आत्मा अपने शरीरके आश्रित रहकर ही अपने शुभ अशुभ कर्मका फल भोगता है, तो स्वयं उपार्जन किया हुआ अदृष्ट शरीरसे बाहर निकल कर अभिके ऊंचे ले जाने आदि कार्यको कैसे कर सकता है, यह विचारणीय है । इस लिये आत्माको अपने शरीरके आश्रित रहकर ही सुख-दुःखका भोक्ता माननेसे आत्माका अदृष्ट शरीरके बाहर निकलकर अभिके ऊंचे जलाने आदि कार्यको नहीं करसकता । क्योंकि सुख-दुःखकी तरह अदृष्ट भी आत्माका ही गुण है ।

आत्मना च सर्गगतत्वे एकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः । सर्गगतत्वेनेश्वरान्तरानु-प्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात् । ईश्वरस्य वा तदनन्तरानुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः । न हि क्षीरनीरयोरन्यान्यसम्बन्धे, एकतरस्य पानादिक्रियान्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम् । किञ्च, आत्मनः सर्गगतत्वे नरनारकान्तिपर्यायाणां युगपदनुभवानुपपन्नः । अथ भोगायतनाभ्युपगमाद् नायं दोष इति चेत्, ननु स भोगायतनसर्वात्मना अवष्टम्नीयाद्, एतद्देशेन वा ? सर्वात्मनाचेद्, अस्मन्भिमतान्नीकारः । एतद्देशेन चन्, साययत्त्वप्रसङ्गः । परिपूर्णभोगाभावश्च ॥

तथा, आत्माको सर्व व्यापक माननेपर प्रत्येक आत्माको सृष्टि उत्पादक मानना चाहिये । क्योंकि आत्माओंके सर्वव्यापक होनेसे नाना आत्मा ईश्वरमें भी व्यापक होकर रहेंगी । अथवा, ईश्वर सर्वव्यापक है, इस लिये वह आत्मामें भी व्यापक होकर रहेगा, इस लिये ईश्वर भी कर्ता नहीं कहा जा सकता । जैसे दूध और पानीके मिल जानेपर उन्हें अलग अलग नहीं

किया जा सकता, उसी प्रकार ईश्वर और आत्मा दोनोंको सर्वव्यापक माननेमें दोनोंका परस्पर सम्मिश्रण होनेके कारण, या तो आत्मा स्वयं सृष्टिका कर्ता होना चाहिये, अथवा ईश्वर भी सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता। तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर मनुष्य, नरक आदि पर्यायोंका एक ही साथ अनुभव होना चाहिये। यदि कहे, कि आत्मा शरीरमें रह कर ही उपभोग करता है, इस लिये उक्त दोष ठीक नहीं है, तो प्रश्न होता है, कि आत्मा सम्पूर्ण रूपसे शरीरमें व्याप्त है, अथवा एक देशसे? प्रथम पथ हम लोग भी स्वीकार करते हैं। क्योंकि हम भी आत्माको शरीरके परिमाण ही मानते हैं। यदि द्वितीय पथ स्वीकार करो, तो सम्पूर्ण शरीरमें न रहनेसे आत्माको अवयव सहित मानना चाहिये, और आत्माके सावयव होनेसे वह पूर्ण रूपसे शरीरका भोग भी न कर सकेगी।

अथात्मनो व्यापस्त्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्सयोगाभावाद् आद्यकर्माभावात्, तद्भावाद् अन्त्यसयोगस्य, तन्निर्मितशरीरस्य, तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावाद् अनुपायसिद्ध सर्वदा सर्वेषां मोक्ष स्यात्। नैवम्। यद् घन सयुक्त तदेव त प्रत्युपसर्पतीति नियमासम्भवात्। अयस्कान्त प्रति अयसस्तेनासयुक्तस्याप्यार्षणोपलब्धे। अथासयुक्तस्याप्यार्षणे तच्छरीरारम्भ प्रत्येकमुखीभूताना निम्बुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गाद् न जाने तच्छरीर कियत्प्रमाण स्याद् इति चेत्, सयुक्तस्याप्यार्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापस्त्वेन सकल्पपरमाणूना तन सयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशात् विवक्षितशरीरगत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति। तदितरत्रापि तुल्यम्॥

शंका—आत्मा यदि व्यापक न हो, तो अन्य स्थानोंमें रहनेवाले परमाणुओंके साथ एक समयमें उसका सयोग न हो सकेगा, अतएव आद्य क्रियाका अभाव होगा। आद्य कर्मके अभावसे अत्य सयोगका भी अभाव होगा, अन्त्य सयोगके अभावसे अत्य सयोगके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव होगा, तथा शरीरका अभाव होनेसे शरीरका आत्माके साथ संबन्ध नहीं बन सकता, अतएव सब जीवोंको बिना प्रयत्नके मोक्ष मिल जाना चाहिये। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग अदृष्टसे युक्त आत्माके सयोगसे परमाणुओंमें क्रिया मानते हैं। परमाणुओंमें क्रिया होनेमें परमाणु आकाशके एक प्रदेशको छोड़ कर ( विभाग ) दूसरे प्रदेशसे मयुक्त ( सयोग ) होते हैं। इस तरह आकाशके प्रदेशमें परमाणुओंके इक्के होनेसे द्वययुक्त, त्रययुक्त आदि कार्य होते हैं। इस लिये यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो उसका परमाणुओंके साथ संबन्ध न हो सकेगा, इस लिये वह परमाणुओंमें कोई क्रिया नहीं कर सकती। इस लिये क्रियाका अभाव होगा। क्रियाका अभाव होनेमें परमाणुका आकाशके प्रदेशोंमें विभाग और सयोग नहीं बन सकता, इस लिये तिन द्वययुक्त, त्रययुक्त आदि अवयवोंका सयोग होनेसे शरीर बनता है, उस

अन्य सयोगका भी अभाव होगा। अतएव अत्य सयोगसे होनेवाले शरीरका भी अभाव हो जाना चाहिये। तथा शरीरका अभाव ही मोक्ष है, अतएव आत्माको सर्व-व्यापक न माननेसे सन जीवोंको अनायास ही मोक्ष मिल जाना चाहिये। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि यह नियम नहीं, कि जो जिसके साथ मयुक्त हो, वह उसके प्रति आकर्षित होता हो। चुम्बक और लोहके परस्पर मयुक्त न होनेपर भी उनमें आकर्षण देखा जाता है। इस लिये जैसे लोहे और चुम्बक का सयोग नहीं है, फिर भी उनमें आकर्षण होता है, वैसे ही आत्मा और परमाणुओंका सयोग न होनेपर भी आत्मा परमाणुओंको आकर्षित कर सकता है, उसे सर्व-व्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं। शक्य—यदि बिना सयोगके भी आत्माका परमाणुओंके प्रति आकर्षण हो, तो आत्माको बनानेवाले तीन लोकके परमाणुओंके प्रति आत्माका आकर्षण होनेसे आत्माको महान परिमाण-वाला मानना चाहिये। समाधान—वैशेषिक लोगोके मतमें आत्माके साथ मयुक्त पदार्थका आकर्षण माननेपर भी उक्त दोष वैसा ही रहता है। क्योंकि आत्माके व्यापक होनेसे उसका सम्पूर्ण परमाणुओंके साथ सन्ध रहता ही है। शक्य—अदृष्टके बलसे शरीरके उत्पन्न करनेके अनुकूल नियत परमाणु ही आत्माके प्रति आकर्षित होते हैं। समाधान—यही बात असयुक्त परमाणुओंके साथ आत्माका सन्ध माननेमें भी कही जा सकती है।

अथास्तु यथाकथञ्चिन्शरीरौत्पत्तिः, तथापि सावयव शरीरम् प्रत्ययवयवमनु प्रविशन्नात्मा सावयव स्यात्। तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वमसङ्गं। कार्यत्व चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणारम्भेत। न तावद्विजातीयैः तेषामनारम्भकत्वात्। न हि तन्तरो घटमारभते। न च सजातीयैः। यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषा कारणाना सजातीयत्वम्। पाथिवादिपरमाणूना विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्मा आरम्भत इत्यापातम्। तन्चायुक्तम्। एकत्र शरीरेऽनकात्मनामात्मारम्भनाणामसम्भवात्। सम्भव वा प्रतिमन्धानानुपपत्तिः। न हि अन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्नातुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तदारम्भत्वे चास्य घटवद्वयवयवत्रियातो विभागात् सयागपिनाशाद् विनाशः स्यात्। तस्मान् व्यापक एवात्मा युज्यते। कायप्रमाणतायामुक्तदोषसङ्गादिति चेत्। न। सावयवत्वकार्यत्वयो कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्व तावद् असरयवप्रदेशात्मन्त्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ—“आत्मनोऽपि सदेशः, सकृत्सर्वमूर्तीभिसम्बन्धार्हत्वात्” इति। यद्यप्ययवप्रदेशयार्गन्धहस्त्यान्पि भेदोऽस्ति तथापि नात्र सुक्ष्मेक्षिता चिन्त्या। प्रदशप्त्रवयव्यवहारात्। कार्यत्व तु वक्ष्याम ॥

शक्य—शरीरकी उत्पत्ति चाहे मयुक्त परमाणुओसे हो, अथवा असयुक्त परमाणुओसे, परन्तु शरीर अवयव सहित है। अतएव शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करनेसे

आत्माको भी सावयव मानना चाहिये । जैसे पट आदि सावयव होनेसे कार्य हैं, वैसे ही आत्माको भी सावयव होनेसे कार्य मानना चाहिये । तथा, यदि आत्मा कार्य है, तो वह सनातीय कारणोमे बनती है, अथवा विनातीय कारणोसे : आत्मा विनातीय कारणोसे नहीं बन सकती, क्योंकि विनातीय कारणोसे कोई भी कार्य नहीं होता है । उदाहरण के लिये, तनुओसे घटा नहीं बन सकता । आत्मा सजातीय कारणोमे भी उत्पन्न नहीं हो सकती । क्योंकि पाथिव आदि परमाणु विनातीय हैं, इस लिये सनातीय कारण आत्माके सन्धसे ही सनातीय करे जा सकने हैं । अर्थात् जिन कारणोमे आत्माका सन्ध हो, वे ही कारण आत्माके सनातीय हो सकते हैं । अतएव यह अर्थ निकला, कि आत्माओसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है । परन्तु जैन लोगोको यह मान्य नहीं है । क्योंकि एक ही शरीरमें अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न नहीं कर सकती । यदि अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न करें भी, तो क्रिमी पदार्थकी स्थिति न हो मकेगी । क्योंकि एक आत्मासे देगे हुए पदार्थको दूसरा आना स्मरण नहीं कर सकता । तथा, आत्मा रूप सनातीय कारणोमे आत्माके उत्पन्न होनेपर घटकी तरह आत्माना अन्वयन क्रियासे विभाग होगा, और इस प्रकार सयोगके नाश होनेमे आत्माका भी नाश होना चाहिये । अर्थात् जैसे घट रूप कार्यका अन्वयन क्रियासे विभाग होनेके कारण पूर्वसयोग का नाश होता है, उन्ही तरह आत्मा रूप कार्यका भी अन्वयन क्रियासे विभाग होनेपर सयोगका नाश होना चाहिये । अतएव आत्माको शरीरके परिमाण माननेमें अनेक दोष आते हैं । समाधान—यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि हम लोग सावयव और कार्यको क्रिमी अपेक्षसे आत्माना स्वीकार करते ही हैं । हम लोग आत्माको असंख्य प्रदेगी मानते हैं, इस लिये आत्मा सावयव है । 'द्रव्यालंकार' के कर्त्ता कहते हैं " आकाश भी प्रदेश सहित है, क्योंकि आकाशमें एक ही समयम सम्पूर्ण मूर्त पदार्थ रहते हैं । " यद्यपि 'गणहस्ति' आदि ग्रन्थोंमें अन्वयन और प्रदेशमें भेद बताया गया है, परन्तु यहा हम इस सूत्रम चर्चामें नहीं उतरते । क्योंकि प्रदेशोंमें भी अन्वयनका व्यवहार होता है । आत्माने कार्यका आगे प्ररूपण करेंगे ।

नन्वात्मना कार्यत्व घटादितत्प्राप्तिसिद्धसमानजातीयान्नयनारभ्यत्वमसक्ति । अन्वयना ह्यवयविनाग्भन्त, यथा तन्तय, पटमिति चेत् । न वाच्यम् । न न्वत्तु घटादात्रपि काय प्राप्तिसिद्धसमानजातीयान्नयनारभ्यत्वमप्युच्यते । बुम्भकारादि-व्यापारान्निताद् मृत्विण्डात् प्रथमेव पृथुनुप्राप्तारान्नयनारभ्यत्वात्पत्तिप्रतीति । द्रव्यस्य हि पूर्वान्नयनारभ्यत्वात्प्राप्तिसिद्धसमानजातीयान्नयनारभ्यत्वमप्युच्यते । तच्च वहिरितान्तरप्यनुभूयत एव तत्तत्वात्मापि स्यात् कार्यम् । न च पटादां सावयवसयोगपूर्वकार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावा युक्त । काष्ठ लाहलेरयत्वापलम्भाद् वज्रजपि तथाभावप्रसङ्गात् । प्रमाणनाशन-

शुभयत्रापि तुल्यम् । न चोक्तलक्षणभार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुपपन्नात्  
प्रतिसन्धानाभावेऽनुपपद्यते । कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवावस्थोपपन्नमानस्यात् । प्रतिसन्धान  
हि यमहमद्रास तमह स्मरामीत्यादिरूपम् । तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते । अत्रस्था-  
भेदात् । अन्या हानुभवावस्था, अन्या च स्मरणावस्था । अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि  
भेदादेकरूपत्वक्षतं कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यापातं न न वार्यताम् ॥

शंका—आत्माको कार्य माननेपर घटादीकी तरह आत्माकी उत्पत्ति भी  
सनातीय अवयवोंसे माननी चाहिये । क्योंकि अवयव ही अवयवोंकी उत्पन्न करते हैं, जैसे  
तन्तु पटको उत्पन्न करते हैं, वैसे ही आत्माकी भी अपने सनातीय अवयवोंसे उत्पत्ति माननी  
चाहिये । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि सनातीय दो कपालोंके सयोगसे घट  
आदि कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती कारण कि कुम्हारके व्यापारसे युक्त मिट्टीके पिंडसे  
दोनों कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले भी मोटे, गोल और उदर आकारवाले घटका ज्ञान होता  
है । जिस समय कुम्हार मिट्टीके पिंडसे घड़ा बनानेकी बैठता है, उस समय मिट्टीके पिंडसे दो  
कपालोंकी उत्पत्ति हुए बिना ही मोटे, गोल आदि आकारवाले घटकी उत्पत्ति होती है । तथा,  
द्रव्यके पहले आकारको छोड़कर दूसरा आकार धारण करनेको कार्यत्व कहते हैं । यह कार्यत्व  
जैसे घट आदिम बाध रूपमें देखा जाता है, वैसे ही आत्मामें अतरंग रूपमें देखा जाता  
है । अतएव आत्मा भी कथञ्चित् काय है । यदि कहो, कि जैसे पटमें तंतु रूप अवयवोंके  
सयोगसे पट आदि कार्य होते हैं, वैसे ही सप्त पदार्थोंमें अवयवोंके सयोगसे ही काय होते  
हैं, यह ठीक नहीं । क्योंकि सप्त जगह एकसे नियम नहीं होते । उदाहरणके लिये,  
लकड़ी लोहेसे खोदी जाती है, परन्तु वज्र लोहेसे नहीं खोदा जा सकता ।  
यदि कहो, कि वज्रका लोहेसे खोना जाना प्रत्यक्षसे बाधित है, तो इसी तरह कपालके  
सयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे बाधित है । तथा, पूर्ण आकार छोड़ कर उदर  
आकारको ग्रहण करने रूप कार्यत्वके माननेपर आत्माके अनित्य होनेसे स्मरणका अभाव  
नहीं हो सकता । क्योंकि आत्मामें कथञ्चित् अनित्य माननेपर भी स्मरणकी भिन्न होती है ।  
कारण कि 'जो मैंने देखा, उसे स्मरण करता हूँ' इसीको स्मरण कहते हैं । यह स्मरण  
आत्मामें एकान्त नित्य माननेपर नहीं बन सकता । क्योंकि अनुभवकी अवस्था स्मरणकी  
अत्रस्थामें भिन्न है । तथा अवस्थाके भिन्न होनेमें अवस्थावाले आत्मामें भी भेद मानना चाहिये ।  
अतएव आत्मामें एकान्त नित्य नहीं कहा जा सकता । इस क्रिये आत्मामें कथञ्चित् नित्य  
और कथञ्चित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है ।

अथात्मन शरीरपरिमाणत्वं भूतत्वानुपपन्नात् शरीरेऽनुभवेशो न स्यात्, भूतं  
मूर्तस्यानुभवशक्तिराभात् । ततो निरात्मम्भेवाखिल शरीरं भाप्नोतीति चेत्, विमिदं

मूर्तत्व नाम । असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्व, रूपादिमत्त्व वा १ तत्र नात्र पक्षो दोषाय, समतत्वात् । द्वितीयम्व्युक्त, व्याप्त्यभावात् । नहि यदसर्वगत तद् नियमन रूपादि-  
मदित्यत्रिणाभावांऽस्ति । मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मत तदसम्भवात् । आकाशकाल-  
न्दिगात्मना सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्तत्वाद् मनसो  
वैधर्म्यात्, सर्वगतत्वेन प्रतिपधनात् । अता नात्मन शरीरऽनुप्रवेशानुपपत्ति, येन  
निरात्मन तत् स्यात् । अमर्षगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत् प्रवेशप्रतिबन्धक  
त्वात् । रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वापेक्षस्यापि जलादेर्बालुकादायानुप्रवेशो न निषिद्यते  
आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिपिध्यत इति महच्चिन्म ॥

शुद्धा—आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर आत्माको मूर्त मानना चाहिये,  
अतएव आत्मा मूर्त शरीरमें प्रवेश न कर सकेगी, क्योंकि मूर्त मूर्तमें प्रवेश नहीं कर  
सकने । अतएव सम्पूर्ण शरीरको आत्मासे रहित मानना चाहिये । समाधान—आप शरीरके  
परिमाण को ( असर्वगत ) मूर्त कहते हैं, अथवा रूपादिको धारण करनेको मूर्त कहते हैं २  
प्रथम पक्ष हम लोग स्वयं स्वीकार करते हैं । तथा रूपादिको धारण करनेकी शरीर परिमाणके  
साथ व्याप्ति नहीं है, इस लिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं । क्योंकि जो असर्वगत है, अर्थात्  
शरीरके परिमाण है, वह रूपादिसे युक्त नहीं होता, क्योंकि मनके शरीर-परिमाण  
होनेपर भी वह आपके मतमें रूपादिसे युक्त नहीं है । आप लोगोंने आकाश, काल, दिक्  
और आत्माको सर्वगत, परम महान और सब मूर्त द्रव्योंके सयोगका धारक कह करके मनको  
अव्यापक सिद्ध किया है । अतएव आत्माका शरीरमें प्रवेश करना अमिद्ध नहीं है, निससे  
शरीरको आत्मासे रहित कहा जा सके । क्योंकि मनकी तरह शरीरके परिमाण मूर्त  
आत्मा भी शरीरमें प्रवेश कर सकता है । अतएव जैसे वैशेषिकोंके अनुसार मूर्त मन मूर्त  
शरीरमें प्रवेश कर सकता है, वैसे ही हमारे मतमें मूर्त आत्मा भी मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकती है ।  
तथा रूपादिसे युक्त जल आदि मूर्त पदार्थ मूर्त मिट्टी आदिमें प्रवेश करते देखे ही जाते हैं,  
किन्तु रूपादिसे रहित आत्मा मूर्त शरीरमें न प्रवेश कर सके, यह एक महान जाश्चर्य है ।

अथात्मन कायपरिमाणत्वे चालशरीरपरिमाणस्य सतो युजशरीरपरिमाण-  
स्वीकार कथं स्यात् । किं तत्परिमाणत्यागात्, तदपरित्यागाद् वा ? परित्यागात्  
चत्, तदा शरीरवत् तस्यानियत्वप्रसङ्गात् परलोकाद्यभावात् । अथापरित्यागात्,  
तत्र । पूर्वपरिमाणापरित्याग शरीरवत् तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्ते । तदयुक्तम् ।

१ मनमूर्तस्योक्तत्वम् । २ इयत्तानुहितत्वम् । ३ सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां आकाश समानो देश एक  
आधार इत्ययम् । एव दिगादिष्वपि चालयेत् । यद्यपि आकाशादिक सर्वसयोगिनामापाठे न भवति,  
इह तस्य विषय-वेनावस्थानात् । तथापि सर्वसयोगिसयामाधारभूतत्वात्तुपचारण सर्वसयोगिनामाधार उच्यते ॥



युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशासम्भ-  
वात्, त्रिफणाप्रस्थोत्पाद सर्पवत् । इति कथं परलोकभाषाज्ञानुपज्यते । पर्यायतस्तस्या-  
नित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वान् ॥

शक्रा—आत्माको शरीरके परिमाण स्वीकार करनेमें बालकका शरीर युवाके शरीरमें  
कैसे बदलना है ? हम पूछते हैं, कि बालकके शरीरके परिमाणको छोड़कर युवाका शरीर  
बनना है, अथवा पहले परिमाणको विना छोड़े ही उत्तर शरीरका परिमाण बन जाता है ?  
प्रथम पक्षमें, शरीरकी तरह आत्मा भी अनित्य होना चाहिये, तथा आत्माके अनित्य होनेपर  
परलोक आदि भी नहीं बन सकता । द्वितीय पक्षमें, शरीरके पहले परिमाणको छोड़े विना उत्तर  
परिमाणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि बालकका शरीर  
छोड़ कर युवा शरीर प्राप्त करते समय आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता । जैसे फण सहित  
अवस्थाको छोड़कर फण रहित अवस्थाको प्राप्त करते समय सर्पकी आत्माका सर्वथा विनाश  
नहीं होता, उसी तरह बाल शरीरमें युवा शरीरकी अवस्था प्राप्त करते समय आत्माका नाश  
नहीं होता । अतएव आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर परलोक आदिका अभाव नहीं  
होसकता । क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य ।

अथात्मनः कायपरिमाणान्वे तत्स्वण्डने स्वण्डनप्रसङ्गः, इति चेत्, क' स्मिहाह  
शरीरस्य स्वण्डने कथञ्चित् तत्स्वण्डनस्यैष्टत्वात् । शरीरसम्पद्धात्मप्रदेशभ्यो हि इतिपया  
त्मप्रदेशानां स्वण्डितशरीरप्रदेशावस्थानादात्मनः स्वण्डनम् । तच्चात्र विद्यत एव ।  
अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतानयनस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात् । न च स्वण्डितानयवानु  
प्रतिष्ठस्यात्मप्रदेशस्य पृथगा मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानुप्रवेशात् । न चैत्र न सन्तानेऽनके  
आत्मान । अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभामाभावप्रसङ्गात् ।  
शरारान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसप्रतिचित्वत् ॥

शक्रा—आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर शरीरके नाश होनेसे आत्माका भी  
नाश होना चाहिये । समाधान—शरीरके नाश होनेपर आत्माका कथञ्चित् नाश हमने स्वयं  
स्वाकाङ्क्ष किया है । क्योंकि शरीरसे संपद्ध आत्मप्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके स्वण्डित शरीरमें  
रहनेकी अपेक्षासे आत्माका नाश होता ही है । यदि इस अपेक्षासे आत्माका नाश न माना  
जाय, तो शरीरके तत्वार आदिसे कटे जानेपर शरीरसे भिन्न अवयवोंमें कम्पन नहीं होना  
चाहिये । परन्तु जिन समय पूर्ण शरीरसे कुछ अवयव कट कर अलग हो जाते हैं, उस समय  
उन अवयवोंमें कम्पन आदि क्रिया होती है । ( जैन मायताके अनुसार, इन  
कटे हुए अवयवोंमें आत्माके कुछ प्रदेश रहते हैं, इसीलिये यह कम्पन आदि  
क्रिया होती है ) अतएव आत्मा नाशमान है । शक्रा—शरीरके स्वण्डित अवयवोंमें  
आत्माके प्रदेशोंको स्वीकार करनेसे स्वण्डित अवयवोंमें भिन्न आत्मा मानना चाहिये ।

समाधान—यह बात नहीं है। क्योंकि खण्डित अवयवोंमें रहनेवाले आत्माके प्रदेश फिरसे पहले शरीरमें ही लौट आते हैं। तथा, एक स्थानमें अनेक आत्मा नहीं बन सकते, अन्यथा अनेक पदार्थोंका निश्चय करानेवाली नेत्र आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको एक ज्ञाता रूप आत्माके आधारसे पदार्थोंका निश्चय न हो सकेगा। इस लिये एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर जिम रूपको शरीरके नेत्र रूप अवयवमें स्थित आत्मा देखता है, उसका निश्चय नेत्रस्य आत्माको ही होना चाहिये, कानकी आत्माको नहीं। अतएव एक ज्ञाताके आधारसे प्रत्येक आत्मान 'मैं देखता हूँ,' 'मैं सूंघता हूँ' इस प्रकारका निश्चित ज्ञान नहीं होना चाहिये।

रुच खण्डितावयवया. सपट्टन पश्चाद् इति चेत्, एकान्तन छदानभ्युपगमात् । पद्मनालतन्तुवत् छन्दस्यापि स्वीकारान् । तथाभूतादृष्टवशात् तत्सचट्टनमपिरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्तव्य, न व्यापक । तथा च आत्मा व्यापका न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु व्यापकं न तत् चेतनम्, यथा व्याम, चेतनश्चात्मा, तस्माद् न व्यापकः । अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता । यत्पुनरष्टमसमय-साध्यरुचलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मनोरुच्यव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्, तत् कादाचित्कम्, इति न तेन व्यभिचारः । स्याद्वादमन्तरुचवाव-गुण्डिताना च नदृशनिर्भीषिकाभ्यो भयम् ॥ इति कान्व्यार्थ ॥ ९ ॥

पत्रा—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर पीछेसे एक केने होते हैं। समाधान—हम लोग आत्माके प्रदेशोंका सवधा विभाग नहीं मानते। हमारे मतमें कमलकी डडीके तनुओसी तरह आत्माका विभाग स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार कमलकी नालके टुकड़े करनेपर टूटे हुए तनु फिरसे आकर मिल जाते हैं, वैसा ही शरीरके खण्डित होनेपर खण्डित आत्माके प्रदेश फिरसे पहले आत्माके प्रदेशोंसे आकर मिल जाते हैं। इन आत्माके प्रदेशोंका मिल जाना अदृष्टके वस्से समझ है, इस लिये आत्माको व्यापक न मानकर शरीरके परिमाण ही मानना चाहिये। तथा, चेतन होनेसे आत्मा व्यापक नहीं है। जो व्यापक है, वह चेतन

१ हतेगामिक्रियात्मात्मभूयान्प्रदेशानां च बहिष्कृतमन समुदात् । स सप्तविध । वेदानाम्पाय मारणातिरुनेजोत्रिक्रियाऽहारककेवलिप्रियभेदात् । वेदनीयस्य बहुत्वात्पत्तनाच्चानुपाऽनाभोगपृवक्मायु समकरणार्थे द्र यश्नभावत्वात् सुयद्र यस्य केनवेगबुद्दुदाविभावात्समनचदेहस्यात्मप्रदेशानां बहि समुदात्तन केवलिसमुदात्त । केवलिसमुदात्त अधममयिक । दडनपाटप्रतरलाकपूरणानि चतुर्षु समयेषु, पुन प्रतरकपाटदहस्वशरीरानुप्रवेशादचतुषु इति । राजवर्तिके पृ ५३

२ उभियदलकमुरवदयसचयसण्णहो हवे लोभो ।

अद्भुदयो मुरवसमे चादसरज्ज्दओ सवो ॥

छाया-उद्भूतदलैकमुरजपञ्जसचयसलिभो भवेत् लोक ।

अर्धोदय मुरजसम चतुर्दशरज्ज् य सव ॥

नहीं है, जैसे आकाश । आत्मा चेतन है, इस लिये वह व्यापक नहीं है । आत्माके अव्यापक होनेपर, 'जहा जिसके गुण पाये जाते हैं' हेतुसे आत्मा शरीरके परिमाण ही सिद्ध होती है । तथा केवलीके समुद्घात दशममें आठ समयमें चौदह राजू परिमाण तीन लोकमें व्याप्त होनेकी अपेक्षा जो आत्माको व्यापक कहा है, वह कभी कभी होता है, नियमित रूपसे नहीं, इस लिये यहा पर समुद्घात दशममें आत्माके व्यापक होनेसे व्यभिचार नहीं आता । मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं । यह समुद्घात वेत्ना, कपाय, मारणातिक, तेजस, विन्रिया, आहारक और केनलीके भेदसे सात प्रकारका है । ( १ ) तीव्र वेत्ना होनेके समय मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको वेदनासमुद्घात कहते हैं । ( २ ) तीव्र कपायके उदयसे दूसरेका नाश करनेके लिये मूल शरीरको विना छोड़े आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कपायसमुद्घात कहते हैं । ( ३ ) जिस स्थानमें आयुका वध किया हो, मरनेके अन्तिम समय उस स्थानके प्रदेशोंको स्पर्श करनेके लिये मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको मारणातिकसमुद्घात कहते हैं । ( ४ ) तैजससमुद्घात शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका होता है । जीवोंको किसी व्याधि अथवा दुर्मिक्षसे पीडित देखकर मूल शरीरको न छोड़ कर मुनियोंके शरीरसे बाहर योजन लम्बे, मूलभागमें सूच्यगुल्के असन्ध्यभाग, अग्रभागमें नौ योजन, शुभ आहृति वाले पुतलेके बाहर निकल कर जानेको शुभ तैजससमुद्घात कहते हैं । यह पुतला, व्याधि, दुर्मिक्ष आदिको नष्ट करके वापिस लौट आता है । किसी प्रकारके अपने अनिष्टको देखकर क्रोधके कारण मूल शरीरके विना छोड़े ही मुनियोंके शरीरसे उक्त परिमाणवाले अशुभ पुतलेके बाहर निकल कर जानेको अशुभ तैजससमुद्घात कहते हैं । यह अशुभ पुतला अपनी अनिष्ट वस्तुको नष्ट करके मुनिके साथ स्वयं भी भस्म हो जाता है । द्वीपायन मुनिने अशुभ तैजससमुद्घात किया था । ( ५ ) मूल शरीरको न छोड़ कर किसी प्रकारकी विन्रिया करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको विन्रियामुद्घात कहते हैं । ( ६ ) ऋद्धिपारी मुनियोंको किसी प्रकारकी तत्त्वमवधी शका हानेपर उनके मूल शरीरको विना छोड़े शुद्ध स्फटिकके आकार, एक हाथके बरानर पुतलेका मस्तकके बीचसे निकलकर शकाकी निवृत्तिके लिये केवली भगवानके पास जाना, आहारकसमुद्घात है । यह पुतला अतर्मुहूर्तमें केनलीके पास पहुच जाता है, और शकाकी निवृत्ति होनेपर अपने स्थानको लौट आता है । ( ७ ) वेत्नीय कर्मके अधिक रहनेपर और आयु कमके कम रह जानेपर आयु कर्मको विना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्मके बराबर करनेके लिये आत्मप्रदेशोंका समस्त लोकमें व्याप्त हो जाना केवलीसमुद्घात है । वेदना, कपाय, मारणातिक, तैजस, वैन्रियक और आहारक समुद्घातमें उट समय ( 'लोकप्रकाश' आदि श्रेताम्बर शास्त्रोंम इनका समय अन्तमुहूर्त बताया गया है ) और केनलीसमुद्घातमें आठ समय लगते हैं । केनलीसमुद्घातमें पहले चार समयोंम

आत्माके प्रदेश नमसे दण्ड, कपाट, प्रतर ( मन्थान—' लोकप्रकाश ' ) और लोकपूर्ण होते हैं, तथा प्रादमें प्रतर, ( मन्थान ) कपाट और दण्ड परिमाण हो कर अपने स्थानको लौट जाते हैं । यहा केवलीसमुद्रात् अवस्थामें ही आत्माको सर्वव्यापक कहा है । यह श्लोकका अर्थ है ।

**भावाव्यर्थ—**इस श्लोकमें आत्माके सर्वव्यापकपनेका खडन किया गया है । अनुमान—' जहा जिस वस्तुके गुण पाये जाते हैं, वह वस्तु उसी जगह उपलब्ध होती है, जैसे जहा घटके रूपादि गुण पाये जाते हैं, वही पर घट उपलब्ध होता है । ' शक्ता—पुष्पके एक स्थानमें रहनेपर भी उसकी गंध दूसरे स्थानमें भी देखी जाती है । समाधान—दूर देशमें पाये जानेवाली गंध पुष्प का गुण नहीं है, परन्तु ये पुष्पमें रहनेवाले गंध पुद्गल ही उठकर हमारी नाक तक आते हैं ।

**शक्ता—**मत्र आदि दूर स्थानसे भी मारण, उच्चाटन आदि क्रिया करते हैं । समाधान—मारण, उच्चाटन मत्रका गुण नहीं हैं, परन्तु मत्रके अधिष्ठाता देव ही मारण आदि क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं । इस लिये ' आत्मा व्यापक नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते । जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह व्यापक नहीं होता, जैसे घटके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होने, इस लिये घट व्यापक नहीं है । आत्माके गुण भी सर्वत्र नहीं पाये जाते, इस लिये आत्मा भी व्यापक नहीं है । आकाश व्यापक है, इस लिये आकाशके गुण सर्वत्र पाये जाते हैं । '

**शक्ता—**अदृष्ट आत्माका गुण है । यह अदृष्ट दूर स्थानमें भी निया करता है । यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो अदृष्ट दूर देशोंमें क्रिया नहीं कर सकता । समाधान—अदृष्टके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अदृष्टकी भिद्धिमें हमें कोई प्रमाण भी नहीं मिलता । अग्निकी गिराका ऊँचा जाना आदि कार्य वस्तुओंके स्वभावमें ही होते हैं । यदि अदृष्टसे सन कार्य होने लगें, तो फिर ईश्वरकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती । तथा, आत्माको सर्वव्यापक मान कर उसे नाना स्वीकार करनेमें आत्माओंमें परस्पर भिन्नत होनी चाहिये, और एक आत्माका सुख दूसरी आत्माको उपभोग करना चाहिये । तथा सर्वव्यापक आत्माकी ईश्वरकी आत्माओंमें प्रवेश करना चाहिये, इस लिये या तो ईश्वरको भी सृष्टिकर्ता न मानना चाहिये, अथवा आत्माको भी सृष्टिका कर्ता कहना चाहिये ।

**शक्ता—**यदि आत्माको व्यापक न मानें, तो आत्मा अपने दूसरे चम्के शरीरके योग्य परमाणुओंको अपनी ओर कैसे आकर्षित कर सकता है । यदि किसी तरह वह अपने शरीरके योग्य परमाणुओंको आकर्षित कर भी ले, लेकिन आत्मा शरीर-परिमाण ही टटरेगा, इस लिये आत्माको सावयव होनेसे काय ( अनित्य ) मानना चाहिये । समाधान—जैन लोग आत्माको सावयव मानते हैं, इस लिये आत्मामें परिमाण भी होता है । हम लोग किसी भी पदार्थको एकान्त नित्य नहीं मानते ।

पाडित्यसे असपद्ध प्रलाप करनेवाले तत्व और अतत्त्वके विचारसे बहिर्मुख लोगोमें, छल जाति और निग्रहस्थानका उपदेश देकर दूसरोके निर्दोष हेतुओंका रडन करनेवाले, आपकी आज्ञा से बाध अक्षपाद ऋषि, आश्चर्य है, कि नीतराग कहे जाते हैं ।

एव च स्वरसत एव स्वस्त्राभिमतव्यस्यथापनाविसस्थुलो वैतण्डिकलोकः । तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषप्रशेषपरिऋलितपरवञ्चनमसुरवचनरचनोपदेशश्चत् सहाय-समजानि, तदा स्वत एव ज्वालाप्रलापजटिल मज्जलति द्रुताशन इव कृतो घृताहुनि-मक्षेप इति । तैश्च भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरेतादृशोपदेशदानमपि तस्य मुनि' कारणि-कत्वकोटावारोपितम् । तथा चाहुः—

“ दृ शिक्षितद्रुतर्कशिलेशराचालितानना ।

शमया' किमन्यथा जेतु वितण्डाटोपमण्डिता ॥ १ ॥

गतानुगतिकालां लोकां द्रुमार्गं तत्प्रतारित् ।

मा गादिति छलादीनि प्राह कारणिका मुनि, ” ॥ २ ॥

कारणिकत्व च वैराग्याद् न भिद्यते । ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारणोपहासवचनम् ॥

यदि अपने मतको स्थापित करनेके लिये आतुर वैतण्डिक लोगोको परम आप्त कहे जानेवाले पुरुषोके द्वारा दूसरोको ठगनेवाले वचनोंका उपदेश दिया जाय, तो वह जलती हुई अग्निमें धोकी आहुतिका काम देता है । ससारमें आनन्द माननेवाले वात्सियोंने इस प्रकारका उपदेश करनेवाले गौतमको भी कारणिक बताया है । उन लोगोंने कहा है “ कुतर्कसे बकवाद करनेवाले विनडावादी छल आदिक विना नहीं जीते जा सकते । लोग एक दूसरेके पीछे चलनेवाले होते हैं । इस लिये कुतर्कोंसे टगाये जाकर लोग उनका अनुकरण न करने लग जाय, अतएव कारणिक गौतमने छल आदिका उपदेश किया है । ” कर्णा और वैराग्य अलग अलग नहीं हैं । इस लिये स्तुतिकारने 'अहो विरक्त' एसा कह कर जो उपहास किया है, वह ठीक है ।

अथ भायोपदेशादिति सूचनामूत्र वितन्यत । अक्षपादमते किञ्च पादशपट्टार्था । “ प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तासिद्धान्तायप्रतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानाद् नि श्रेयसाधिगम ” इति वचनात् । न चैतपा व्यम्नाना समस्ताना वा अधिगमा नि.श्रेयसावाप्तिहेतु । न ह्येनेन त्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती । असमग्रसामग्रीकत्वात् । विघटितैरुचकरथन मनीषित नगरमाप्तिवत् ॥

१ भवाभिन दी-असारीऽप्येव ससार साखानिभ लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्भुतामूलपुण्यवप्याङ्गना-रि.भि ॥ इत्यादित्रचौ ससारभिन-दनशील । २ गौतमसूत्रे १-१-१

नैयायिकोंके मतमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। कहा भी है “ प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, बिनडा, हेत्वामास, छल, जाति और निग्रहम्यान के तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।” इन सोलह पदार्थोंमें दो चारका अथवा समस्त पदार्थोंका ज्ञान लेना मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं है। क्योंकि क्रियाके बिना केवल ज्ञानमें ही मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार रथके दो पहियोंके बिना केवल एक पहियेसे नगरमें नहीं घूमा जा सकता, उसी तरह ज्ञान और क्रिया दोनोंके बिना केवल ज्ञान मात्रसे ही मोक्ष नहीं मिलता।

— न च वाच्य न खलु वय क्रिया प्रतिक्षिपाम, मिन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विनाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं तत्त्वज्ञानाद् निश्चयसाधिगम इति ह्यम इति। न ह्यमीषा सहत अपि ज्ञानक्रिय मुक्तिप्राप्तिहेतुभूत। नित्यत्वात् तज्ज्ञानत्रिययो। न च वितथत्वमसिद्धम्। विचार्यमाणाना पांडशानामपि तत्राभासत्वात्। तथाहि तं प्रमाणस्य तावद् लक्षणमित्य म्नात्रितम्—“ अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् ” इति। एतच्च न विचारसहम्। यतोऽर्थोपलब्धी हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमान, तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मदिगपि प्रमाणत्वमसङ्गम्। अथ कर्तृकर्मदिबिलक्षण हेतुत्वादेन करणमेव विवक्षित, तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्त, न चेन्द्रियसन्निकर्षादि। यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति, स तत्करणम्। न चन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादां सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः। साधनम हि करणम्। अव्यवहितफलं च तदिष्यते। व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्भोजनादेरपि तथापसङ्गः। तत्र ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्। अन्यत्रोपचारात्। यदपि न्यायभूषणमूत्रकारणाक्तम्—“ सम्यग्गंतुभवसाधन प्रमाणम् ” इति, तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणमैव प्रमाणत्व सिध्यति। तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधनतमत्वं ज्ञानस्यैव इति न तत् सम्यग्लक्षणम्। “ स्वपरैव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम् ” इति तु तात्परिक लक्षणम् ॥

शङ्का—हम लोग क्रियाका निषेध नहीं करते, किन्तु सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमें होनेवाली क्रिया ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है, यह बतानेके लिये हमने कहा है “ तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।” समाधान—आप लोगोंके द्वारा माने हुए ज्ञान और क्रिया दोनों मिल कर भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि वे ज्ञान और क्रिया दोनों मिश्र्या हैं। ज्ञान और क्रियाका मिश्र्या होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सोलह पदार्थ तत्वामास सिद्ध होते हैं। कारण कि आप लोगोंने जो “ पदार्थके ज्ञानमें हेतुको प्रमाण ” स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय, तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि कर्ता, कर्म आदि भी पदार्थोंके ज्ञानमें

निमित्त कारण हैं। यदि आप कर्ता, कर्म आदि कारकोंसे विलक्षण कारणको ही हेतु कहे, तो इन्द्रिय और पदार्थके संबन्धको पदार्थके जानमें कारण न कह कर केवल ज्ञानको ही पदार्थोंके जानमें कारण मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका सन्ध होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका जान नहीं होता। जिसके होनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, वह पदार्थके जानना कारण है, परन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामर्थ्यके रहते हुए भी ज्ञानके अभावमें पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तथा साधकत्वको ही कारण मानना चाहिये। इसी साधकत्व ज्ञान रूप कारणके होनेमें ही पदार्थोंके जानने रूप कार्यका उत्पत्ति होती है। यदि कारणको परम्परासे फल देनेवाला माना जाय, तो दुःख, भोजन आदि भी पदार्थके जानमें कारण हो सकते हैं। अतएव ज्ञानको छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें कारण है, दूसरी जगह उपचारसे ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। तथा न्यायमूल्याकारने जो “सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधन करनेवाले” को प्रमाण कहा है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कर्ता और कर्मका निराकरण करके कारणको साधन माना जाय, तो प्रत्यक्ष फल देनेवाला साधकत्व कारण जान ही सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधक हो सकता है, इन्द्रिय और पदार्थोंका सन्ध नहीं। अतएव अपने और परको निश्चय करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये। (स्वपरयत्साधि ज्ञान प्रमाण)।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थयुद्धिमन प्रवृत्तिदोषप्रत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम्। तच्च न सम्यग्। यतः शरीरन्द्रिययुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानाम् आत्मन्येयान्तर्भावो युक्तः। ससारिण आत्मनः कथञ्चित् तन्निष्पन्नभूतत्वात्। आत्मा च प्रमेय एव न भवति। तस्य प्रमातृत्वात्। इन्द्रिययुद्धिमनसा तु करणत्वात् प्रमेयत्वाभावः। दापास्तु रागद्वेषमोहा, तच्च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति। बाह्यमनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दाच्च्यत्वात्। रागादिदोषाणां च मनोव्यापारस्वभावत्वात्। दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवातर्भावः। “प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं सुखं फलं, तत्साधनं तु गौणम्” इति जयन्तवचनात्। प्रत्येकशापवर्गया पुनरात्मन एव परिणामान्तर्गपत्तिरूपत्वात्, न पार्थक्यमात्मनः समाशादुचितम्। तत्रैव द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्निस्तरमात्रम् “द्रव्यपयायात्मकं वस्तु प्रमेयम्” इति तु समीचीनं लक्षणम्। सर्वसंगाहकत्वात्। अत्र सशयादीनामपि तत्राभासत्वं प्रेक्षाद्विरनुपेक्षणीयम्। अत्र तु प्रतीतत्वात्, ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम्। न्यक्षेण ह्यत्र न्यायान्त्रमरतारणीयम्, तच्चानतार्थमाणं पृथग्ग्रन्थातरतामप्यगाह्य इत्यास्ताम् ॥

नैयायिकोंने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, और अपवर्गके भेदसे जो बारह प्रकारका प्रमेय (मुमुक्षुद्वारा जानने योग्य विषय) स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, फल और दुःखका आत्मामें ही अन्तर्भाव हा जाता है। कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदिसे समारी पुरुषकी आत्मा किसी अपेक्षासे अमिन्न ही है। तथा आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं हो सकती। इन्द्रिय, बुद्धि और मन करण हैं, अर्थात् इनके द्वारा प्रमाता प्रामिति क्रियाका कर्ता है, इस लिये ये भी प्रमेय नहीं कहे जा सकते। राग, द्वेष और मोह प्रवृत्तिमें भिन्न नहीं हैं, क्योंकि नैयायिकोंके मतमें प्रवृत्ति शब्दमें गुण अगुण रूप वीस प्रकारका मन, वचन और कायका व्यापार लिया गया है। राग, आदि दोष मनका व्यापार है। दुःख और इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि फलमें गर्भित हो जाते हैं। जयन्तने कहा भी है “प्रवृत्ति और दोषसे उत्पन्न सुख दुःख मुख्य फल है, तथा सुख-दुःख रूप फलका साधन गौण है,” प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्मामें ही परिणाम हैं, अतएव इन्हें आत्मासे भिन्न नहीं मानना चाहिये। अतएव नैयायिकोंद्वारा मान्य बारह प्रकारका प्रमेय केवल वचनोंका आडम्बर ही है। अतएव “द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है” (द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमेय), यही प्रमेयका लक्षण सर्वसम्प्राहक होनेसे समीचीन है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेयकी तरह सशय आदि चौदह पदार्थोंको भी तत्त्वमात्र ही समझना चाहिये।

तदेव प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेषु तत्राभासत्वे प्रकृष्टरूपटनाटरुमुत्रधारणा त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां भायोपदशादिति पदेनापक्षेप कृत । तत्र परस्य वदताऽर्थिन्स्वल्पोपपादनेन वचनविधात' छलम् । तत् त्रिधा-चात्रछल, सामान्यछलम्, उपचारछल चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वचनुरभिप्रेतादर्थ्यादर्था-न्तरस्वल्पनया तन्निषेधो वाच्यः । यथा नयकम्यलोऽय माणवक इति नूतनविषयया कथित, परः सरयामारोप्य निषधति वृताऽस्य नव स्वल्पा इति । सभावनायातिप्रसङ्गिनाऽपि सामान्यस्यापन्यासे हतुत्कारापणेन तन्निषेध. सामान्यछलम् । यथा जहां नु स्वल्पसां ब्राह्मणो विद्याचरणसपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे, कश्चिद् वदति सम्भवति ब्राह्मणे, विद्याचरणसम्पदिति, तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हतुतामारोप्य निराशुवन्नभिमुद्भक्ते यदि ब्राह्मण विद्याचरणसपद् भवति, ब्राह्मणस्य सा भवेद्, प्रात्याऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिक प्रयोग मुरयप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारछलम् । यथा मञ्चा क्रोशन्तीत्युक्त, पर प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना. मञ्चा क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषा क्रोशन्तीति ॥

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके सामान्य रूपमें तत्वमात्र सिद्ध हो जानेपर भी, यहा छल, जानि और निग्रहस्थानका खडन किया जाता है। बोलनेवाले



वादकि अर्थको बदल कर वादीके वचनोंके निषेध करनेको छल कहते हैं। यह छल वाक्, सामान्य और उपचारके भेदसे तीन प्रकारका है। ( १ ) वक्ताके किसी साधारण शब्दके प्रयोग करनेपर उसके विवक्षित अर्थकी जान बूझकर उपेक्षा कर अर्थान्तरकी कल्पना करके वक्ताके वचनके निषेध करनेको वाक्छल कहते हैं। जैसे वक्ताने कहा, कि ' त्वकम्ब लोऽय ब्राह्मण ' यहा हम जानने हैं, कि ' नव ' कहनेसे वक्ताका अभिप्राय ' नूतनसे ' है, फिर भी दुर्भावनासे उसक वचनोंका निषेध करनेके लिये हम ' नव ' शब्दका अर्थ ' नौ ' करके वक्तासे पूछने हैं, कि इस ब्राह्मणके पास नौ फल कहा है? ( २ ) सभावना मात्रसे कहीं गई बातको सामान्य नियम बनाकर वक्ताके वचनोंके निषेध करनेको सामान्यछल कहते हैं। जैसे ' आश्चर्य है, कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे युक्त है, ' यह कह कर कोई पुरुष ब्राह्मण की स्तुति करता है, इसपर कोई दूसरा पुरुष कहता है, कि विद्या और आचरणका ब्राह्मणमें होना स्वामाविक है। यथा यद्यपि ब्राह्मणत्वका सभावना मात्रसे कथन किया गया है, फिर भी छलवादी ब्राह्मणमें विद्या और आचरणके होनेके सामान्य नियम बना करके कहता है, कि यदि ब्राह्मणमें विद्या और आचरण का होना स्वामाविक है, तो विद्या और आचरण वात्य ( पतित ) ब्राह्मणमें भी होना चाहिये, क्योंकि वात्य ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही है ( ३ ) उपचार अर्थमें सुग्य अर्थका निषेध करके वक्ताके वचनोंको निषेध करना, उपचारछल है। जैसे कोई कहे, कि मच रोते हैं, तो छलवादी उत्तर देता है, कही मच जैसे अचेतन पदार्थ भी रो सकते हैं, अतएव यह कहना चाहिये, कि मचपर बैठे हुए आदमी रोते हैं।

तथा सम्यगहेतौ हेत्वाभासे या वादिना प्रयुक्ते, झटिति तदोपतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिनिम्बनप्राय किमपि प्रत्ययस्थान जाति' दूषणाभास इत्यर्थ'। सा च चतुर्विंशतिभेदा। साधर्म्यादिप्रत्ययस्थानभेदेन यथा "साधर्म्यवैधर्म्यात्कर्पाऽपरुषःपर्याऽवर्ण्य-विकल्पसाध्यप्राप्तिसप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसशयप्रकरणहेत्वर्थापर्यवशिष्टोपपत्त्युपलक्षणानित्यानित्यकार्यसमा " ॥

वादीके द्वारा सम्यक् हेतु अथवा हेत्वाभासके प्रयोग करनेपर, वादीके हेतुकी सदेवपत्ताकी विना परीक्षा किये हुए हेतुके ममा मालम होनेवाला शीघ्रतासे कुछ भी कह देना जाति है। यह जाति " साधर्म्य, वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसंग, प्रतिदृष्टात, अनुत्पत्ति, सशय, प्रकरण, हेतु, अर्थावृत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, अनुपलब्धि, नित्य, अनित्य और कार्यसमा " के भेदसे चौबीस प्रकारकी है।

तत्र साधर्म्येण प्रत्ययस्थान साधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्य शब्द, कृतकत्वाद, घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्ययस्थानम् नित्य शब्दो, निरय-

यवत्वाद्, आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादन्तित्य' शब्द', न पुनरात्मसाधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थान वैधर्म्यसमा जातिर्भवति । अनित्य शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे, स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यत नित्य शब्दो निरवयवत्वात् । अनित्य हि सावयव दृष्टम् घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादन्तित्य शब्द, न पुनस्तद्वैधर्म्याद् निरवयवत्वात् नित्य इति । उत्कर्षार्थपकर्षाभ्या प्रत्यवस्थानम् उत्कर्षार्थपकर्षसमे जाती भवत । तत्रैव प्रयोगे, दृष्टान्तधर्मं कश्चित् साधर्म्येण्यापादयन् उत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वादन्तित्य' शब्द घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु, न चद् मूर्तं, घटवदन्तित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरात्कर्षमापादयति । अपरुर्पस्तु घट कृतक. सन् अश्रावणो दृष्टः, एव शब्दोऽप्यस्तु, नो चेद् घटवदन्तित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्मपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जानय उक्ताः । एव शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेया । अत्र त्वनुपयोगित्वाद् न लिखिता ॥

( १ ) साधर्म्यसे उपसहार करनेपर दृष्टातमी समानता दिखला कर साध्यमे विपरीत कथन करनेको साधर्म्यसमा जाति कहते हैं । जैसे, वादीने कहा, ' शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घड़ा ' । हममें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, ' यदि कृतक रूप धर्मसे शब्द और घडेमें समानता है, तो निरवयव रूप धर्मसे शब्द और आकाशमें भी समानता है, इस लिये शब्द आकाशके समान नित्य होना चाहिये ' । यहा वादीद्वारा शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमें कृतकत्व हेतुका प्रतिवादीने बिल्कुल खडन नहीं किया । क्यकि केवल दृष्टातकी समानता दिखानेसे साध्यका खडन नहीं होता, उसके लिये हतु देना चाहिये, या वाणीके हेतुका खडन करना चाहिये ।

( २ ) वैधर्म्यके उपसहार करनेपर वैधर्म्य दिखला कर खडन करना, वैधर्म्यसमा जाति है । जैसे, ' शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह ' इस प्रकार वादीके प्रयोग करनेपर प्रतिवादी कहता है, ' शब्द नित्य है, निरवयव होनेसे, आकाशकी तरह ' । यहा प्रतिवादी का कहना है, कि यदि नित्य आकाशके वैधर्म्यसे शब्द अनित्य है, तो अनिय घटके वैधर्म्यसे शब्दको अनित्य मानना चाहिये । परन्तु यहा कोई ऐसा नियामक नहीं है, कि घटके रूप साधर्म्य से कृतक होनेके कारण शब्द नित्य नहीं हो ? इस लिये यहा वादीके हेतुका कोई खण्डन नहीं होता । ( ३ ) दृष्टातके धर्मको साध्यमें मिला कर वादीके खण्डन करनेको उत्कर्षममा जाति कहते हैं । जैसे, वाणी ने कहा, ' शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह ' इस अनुमानमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, कि ' जैसे घटकी तरह शब्द अनित्य है, वैसे ही उसे घटकी तरह मूर्त भी मानना चाहिये । यदि शब्द मूर्त नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं है । ' यहा वादी घटका दृष्टात देकर शब्दमें अनि-

त्यत्र सिद्ध करना चाहता है, परन्तु प्रतिवादी घटके दृमरे धर्म मूर्त्त्वको गब्दमें सिद्ध करके वादीका खडन करना चाहता है। ( ४ ) उत्कर्षममाकी उल्टी अपकर्षसमा जाति कही जाती है। साध्यधर्मोंमें से दृष्टातम नहीं रहनेवाले धर्मको निकाल कर वादीके प्रति विरुद्ध भाषण करनेको अपकर्षसमा जाति कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, घटक होनेसे, घटकी तरह' इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादी बोलता है, कि जैसे घट घटक होनेसे श्रवणका विषय नहीं है, इसी तरह शब्दको भी श्रवणका विषय नहीं होना चाहिये। यदि शब्द अश्रवण नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं हो सकता।

“( ५-६ ) जिसका कथन किया जाता है, उसे वष्य, और जिसका कथन नहीं किया जाता, उसे अउर्ष्य कहते हैं। वष्य या अउर्ष्यकी समानतासे जो असदुत्तर दिया जाता है, उसे वष्यसमा या अवर्ष्यममा कहते हैं। जैसे, अगर साध्यमें सिद्धिका अभाव है, तो दृष्टातमें भी होना चाहिये (वर्ष्यममा), यदि दृष्टातमें सिद्धिका अभाव नहीं है, तो साध्यमें भी न होना चाहिये (वर्ष्यममा)। ( ७ ) दूसरे धर्मोंके विरुद्ध उठा कर मिथ्या उत्तर देना, विरुद्धसमा जाति है। जैसे, वृत्रिमता और गुम्त्वका सबध ठीक ठीक नहीं मिलना, गुम्त्व और अनित्यत्वका नहीं मिलता, अनित्यत्व और मूर्त्त्वका नहीं मिलता, इस लिये अनित्यत्व और वृत्रिमताका भी सबध न मानना चाहिये, जिससे वृत्रिमतासे गब्द अनित्य सिद्ध किया जा सके। ( ८ ) वादीने जो साध्य बनाया है, उसाके समान दृष्टात आदिको बतला कर मिथ्या उत्तर देना, साध्यसमा जाति है। जैसे, यदि मिट्टीके टेलके समान आत्मा है, तो आत्माके समान मिट्टीके टेलके भी मानना चाहिये। आत्मामें 'किया' साध्य (सिद्ध करने योग्य न कि सिद्ध) है, तो मिट्टीके टेलमें भी साध्य मानो। यदि ऐसा नहीं मानते हो, तो आत्मा और मिट्टीके टेलके समान मत मानो। ये सब मिथ्या उत्तर हैं, क्योंकि दृष्टातमें सब धर्मोंकी समानता नहीं देखी जाती, उसमें तो सिर्फ साध्य और साधनकी समानता देखी जाती है। विरुद्धसमामें जो अनेक धर्मोंका व्यभिचार बतलाया है, उससे वादीका अनुमान खटित नहीं होता, क्योंकि साध्य धर्मके सिवाय अन्य धर्मोंके साथ अगर साधनकी व्याप्ति न मिले, तो इससे साधन को व्यभिचारी नहीं कह सकते। हा, अगर साध्य धर्मके साथ व्याप्ति न मिले, तो व्यभिचारी हो सकता है। दूसरे धर्मोंके साथ व्यभिचार आनेमें साध्यके साथ भी व्यभिचारकी कल्पना व्यर्थ है। धूमकी अगर परवरके साथ व्याप्ति नहीं मिलती, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि धूमकी व्याप्ति, अग्निके साथ भी नहीं है। ( ९-१० ) प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठा कर सच्चे हेतुको खडित बतलाना, प्राप्तिसमा और अप्राप्तिममा जाति है। जैसे, हेतु साध्य के पास रह कर साध्यको सिद्ध करता है, या दूर रह कर यदि पास रह कर, तो कैसे मालूम होगा, कि यह साध्य है, और यह हेतु है (प्राप्तिममा)। यदि दूर रह कर, तो यह साधन

अनुक धर्मकी ही सिद्धि करता है, दूसरेकी नहीं, यह कैमे मालूम हो ( अप्राप्तिसमा ) । ये अमनुचर हैं, क्योंकि धूआ आदि पाम रह कर अभिक्ती सिद्धि करते हैं । दूर रह कर भी पूर्व-चर आत्ति साधन, अपने साध्यकी सिद्धि करते हैं । जिनमें अविनाभाव सप्त है, उन्हींमें साध्य-साधकता हो सकती है, न कि सप्तमें । ( ११ ) जेमे सायके लिये साधनकी जरूरत है, उमी प्रकार दृष्टातके लिये भी साधनकी जरूरत है, ऐसा कहना प्रसंगसमा जाति है । दृष्टातमें वाणी, प्रतिवादीको विवाद नहीं होता, इस लिये उमके लिये साधनकी आवश्यकता बतलाना व्यर्थ है, अन्यथा वह दृष्टात ही न कहलायगा । ( १२ ) विना व्याप्तिके सिर्फ दूसरा दृष्टात देकर दोष लगाना, प्रतिदृष्टातसमा जाति है । जैसे, घड़ेके दृष्टातमे वणि शब्द अनित्य है, तो आकाशके दृष्टातसे नित्य कहलावे । प्रतिदृष्टात देनेवालेने कोई हेतु नहीं दिया है, जिससे यह कहा जाय, कि दृष्टात साधक नहीं है, प्रतिदृष्टात साधक है । विना हेतु के खडन मडन कैमे हो सकता है । ( १३ ) उत्पत्तिके पहले, कारणका अभाव दिखला कर मिथ्या खडन करना, अनुपत्तिसमा है । जैसे, उत्पत्तिके पहले शब्द वृत्रिम है, या नहीं ? यदि हे, तो उत्पत्तिके पहले मौजूद होनेसे शब्द नित्य हो गया । यदि नहीं है, तो हेतु आश्रयामिद्ध हो गया । यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिके पहले तो वह शब्द ही नहीं था, फिर वृत्रिम अवृत्रिमका प्रश्न ही क्या ? ( १४ ) व्याप्तिमें मिथ्या सन्देह बतला कर वादीके पक्षका खडन करना, मशयसमा जाति है । जैसे, कार्य होनेसे शब्द नित्य है, तो यह कहना, कि इन्द्रियका विषय होनेसे शब्दकी अनित्यतामें सन्देह है । क्योंकि इन्द्रियोके विषय नित्य भी होते हैं ( जैसे गोल, घटत्व आदि सामान्य ), और अनित्य भी होते हैं ( जैसे घट, पट आदि ) । यह सशय ठीक नहीं, क्योंकि जब तक कार्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति खटित न की जाय, तब तक बहरा सशयका प्रवेश हो ही नहीं सकता । कार्यत्वकी व्याप्ति यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ हो, तो सशय हो सकता है, अन्यथा नहीं । लेकिन कार्यत्वकी व्याप्ति दोनोंके साथ हो ही नहीं सकती । ( १५ ) मिथ्या व्याप्तिके उपर अवलम्बित दूसरे अनुमानसे दोष देना, प्रकरणसमा जाति है । जैसे, यदि अनित्य ( घट ) के साधर्म्यसे कार्यत्व हेतु शब्दकी अनित्यता सिद्ध करता है, तो गोल आदि सामान्यके साधर्म्यसे ऐन्द्रियकत्व ( इन्द्रियका विषय होना ) हेतु नित्यताको सिद्ध करे । इस लिये दोनों पक्ष बराबर कहलाये । यह असत्य उत्तर है, क्योंकि अनित्यत्व और कार्यत्वकी तो व्याप्ति है, लेकिन ऐन्द्रियकत्व और नित्यत्वकी व्याप्ति कहा है ? ( १६ ) भूत आदि कालकी असिद्धि बतला कर हेतु मात्रको हेतु कहना, अहेतुसमा जाति है । जैसे, हेतु साध्यके पहले होता है, या पाछे होता है, या साथ होता है ? पहले तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब साध्य ही नहीं, तब साधक किमका ? न पीछे हो सकता है, क्योंकि जब साध्य ही नहीं रहा, तब वह सिद्ध किसे करेगा ? अथवा जिस समय साध्य था, उस समय यदि साधन नहीं था, तो वह साध्य

कैसे कहलाया ? दोनों एक साथ भी नहीं बन सकते, क्योंकि उस समय यह सन्देह हो जायगा, कि कौन साध्य है, कौन साधक है ? जैसे, त्रिध्याचलमे हिमालयकी ओर हिमालयसे विंध्याचलकी सिद्धि करना अनुचित है, उसी तरह एक कालमे होनेवाली वस्तुओंको साध्य साधक ठहराना अनुचित है। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि इस प्रकार त्रिकालकी असिद्धि बतलानेसे जिस हेतुके द्वारा जातिवादीने हेतुको अहेतु ठहराया है, वह हेतु (जातिवादीका त्रिकालसिद्धि हेतु) भी अहेतु ठहर गया, और जातिवादीका वक्तव्य अपने आप सटित हो गया। दूसरी बात यह है, कि कालभेद होनेसे या अभेद होनेसे अविनाभाव सबध त्रिगुणता नहीं है, यह बात पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, कार्य, कारण, आदि हेतुओंके स्वरूपसे स्पष्ट विदित हो जाती है। जब अविनाभाव सबध नहीं मिटता, तब हेतु, अहेतु कैसे कहा जा सकता है ? कालकी एकतासे साध्य साधनमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि दो वस्तुओंके अविनाभावमें ही साध्य-साधनका निर्णय हो जाता है। अथवा दोमेंसे जो असिद्ध हो वह साध्य, और जो सिद्ध हो, उसे हेतु मान लेनेसे सन्देह मिट जाता है। (१७) अर्थापत्ति दिखला कर मि या दूषण देना, अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्यके साधर्म्य (वृत्रिमता) से शब्द अनित्य है, तो इसका मतलब यह हुआ कि नित्य (आकाश) के साधर्म्य (स्पर्श रहितता) से नित्य है, यह उत्तर असत्य है, क्योंकि स्पर्श रहित होनेमे ही कोई नित्य कहलाने लगे, तो सुख बगैर भी नित्य कहलाने लगेंगे। (१८) पक्ष और दृष्टांतमें अविशेषता देना कर किसी अन्य धर्मसे सब अगह (विषयमें भी) अविशेषना दिखला कर साध्यका आरोप करना, अविशेषममा जानि है। जैसे, शब्द और धर्ममें वृत्रिमतासे अविशेषना होनेसे अनित्यना है, तो सब पदार्थोंमें सब धर्मसे अविशेषता है, इस लिये सभी (आकाशादि-त्रिपक्ष भी) अनित्य होना चाहिये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि वृत्रिमताका अनित्यताके साथ अविनाभाव सबध है, लेकिन सत्वका अनित्यताके साथ नहीं है। (१९) साध्य और साध्यविरुद्ध, इन दोनोंके कारण दिखला कर मि या दोष देना-उपपत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि शब्दके अनित्यत्वमें वृत्रिमता कारण है, तो उसके नित्यत्वमें स्पर्श रहितता कारण है। यहा जातिवादी अपने शब्दोंसे अपनी बातका विरोध करता है। जब उसने शब्दके अनित्यत्वका कारण मान लिया, तो नित्यत्वका कारण कैसे मिल सकता है ? दूसरी बात यह है, कि स्पर्श रहितताकी नित्यत्वके साथ व्याप्ति नहीं है। (२०) निदिष्ट कारण (साध्यकी सिद्धिना कारण-साधन) के अभावमें साध्यकी उपलब्धि बता कर दोष देना, उपपत्तिसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद पैदा होनेसे शब्दकी अनित्यत्व कहते हों, लेकिन ऐसे बहुतसे शब्द हैं, जो प्रयत्नके बाद न होनेपर भी अनित्य हैं। मेघ गर्जना आदिमें प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। यह दूषण मित्या है, क्योंकि साध्यके अभावमें साधनके अभावका नियम है, न कि साधनके अभावमें

साध्यके अभावना । अभिके अभावमें नियमसे धुआ नहीं रहता, लेकिन धुएके अभावमें नियमसे अभिका अभाव नहीं कहा जा सकता । ( २१ ) उपलब्धिके अभावमें अनुपलब्धिका अभाव कह कर दूषण देना, अनुपलब्धिसमा जाति है । जैसे, किमीने कहा, कि उच्चारणके पहले शब्द नहीं था, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता था । यदि कहा जाय, कि उस समय शब्दपर आवरण था, इस लिये अनुपलब्ध था, तो उसका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये । जैसे कपडेसे ढकी हुई चीज नहीं छिपती है, तो कपडा दिग्बता है, उसी तरह शब्दका आवरण उपलब्ध होना चाहिये । इसके उत्तरमें जातिवादी कहता है, जैसे आवरण उपलब्ध नहीं होता, उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि ( अभाव ) भी तो उपलब्ध नहीं होती । यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणकी अनुपलब्धि नहीं होनेसे ही आवरणकी अनुपलब्धि उपलब्ध हो जाती है ( २२ ) एककी अनित्यतासे सबको अनित्य कह कर दूषण देना, अनित्यसमा जाति है । जैसे, यदि किसी धर्मकी समानतामें आप शब्दको अनित्य सिद्ध करोगे, तो सत्वकी समानतामें सब चीजें अनित्य सिद्ध हो जावंगी । यह उत्तर ठीक नहीं । क्योंकि वादी, प्रतिवादके शब्दोंमें भी प्रतिज्ञा आदिकी समानता तो है ही, इस लिये जिस प्रकार प्रतिवादी ( जातिका प्रयोग करनेवाला ) के शब्दोंसे वादीका खडन होगा, उसी प्रकार प्रतिवादीका भी खडन हो जायगा । इस लिये जहा जहा अविनाभाव हो, वही वही साध्यकी मिद्धि मानना चाहिये, न कि सब जगह । ( २३ ) अनित्यत्वमें नित्यका आरोप करके खडन करना, नित्यसमा जाति है । जैसे, शब्दको तुम अनित्य सिद्ध करते हो, तो शब्दमें अनित्यत्व नित्य है, या अनित्य ≠ अनित्यत्व नित्य है, तो शब्द भी नित्य कहलाया ( धर्मके नित्य होनेपर धर्मको नित्य कहना ही पड़ेगा ) । यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो शब्द नित्य कहलाया । यह असत्य उत्तर है, क्योंकि जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध है, तो उसीका अभाव कैसे कहा जा सकता है । दूसरी बात यह है, कि इस तरह कोई भी वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं हो सकेगी । तीसरी बात यह है, कि अनित्य व एक धर्म है, अगर धर्ममें भी धर्मकी कल्पना की जायगी, तो अनन्यता हो जायगी । ( २४ ) कार्यको अभिव्यक्तिके समान मानना ( क्योंकि दोनोंमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है ), और सिर्फ इतनेसे ही सत्य हेतुका खडन करना, कार्यसमा जाति है । जैसे, प्रयत्नके बाद शब्दकी उत्पत्ति भी होती है, और अभिव्यक्ति ( प्रगट होना ) भी होती है, फिर शब्द अनित्य कैसे कहा जा सकता है । यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर होना, इसका मतलब है, स्वरूप लाम करना । अभिव्यक्तिको स्वरूप लाम नहीं कह सकते । प्रयत्नके पहले अगर शब्द उपलब्ध होता, या उसका आवरण उपलब्ध होता, तो अभिव्यक्ति कही जा सकती थी । ”

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणबुद्धिर्गिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषण, दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च निग्रहस्थानं द्वारिगतिविधम् । तत्रया-प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासन्त्यास इत्यन्तरम् अर्थान्तरम् निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अवार्थकम् अप्राप्तकालम् न्यूनम् अधिकम् पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्यापेक्षणम् निरनुयोज्यानुयाग अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च ।

विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते हैं । साधनाभामें साधनकी बुद्धि और दूषणाभासमें दूषणकी बुद्धिको विप्रतिपत्ति, अर्थात् विरुद्धप्रतिपत्ति कहते हैं । तथा प्रतिवादीके साधनको दोष रहित मान लेना, अथवा प्रतिवादीके दूषणको दूर न करना, अप्रतिपत्ति है । निग्रहस्थान बाइस प्रकारका है-१ प्रतिज्ञाहानि, २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासन्त्यास, ५ हेत्यन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अवार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्यापेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयाग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास । इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्यापेक्षण छह अप्रतिपत्तिसे, और बाकी सोलह विप्रतिपत्तिसे होते हैं ।

तत्र इतावन्तस्मिन्तीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्म स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगन्तव्ये प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथा अनित्य शब्द, ऐन्द्रियस्त्वाद, घटत्रयदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी ब्रह्म, परण सामान्यमैन्द्रियमपि नित्य दृष्टमिति हेतावन्तस्मिन्तीकृते, यथेव त्रयात् सामान्यबद्ध घटाऽपि नित्या भवत्विति, स एव त्रुवाण शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञा ज्ञात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मात्तर साधनीयमभिन्धत प्रतिज्ञान्तर नाम निग्रहस्थान भवति । अनित्य शब्द, ऐन्द्रियस्त्वादित्युक्त, तथैव सामान्येन व्यभिचारे चादिते, यदि त्रयाद् युक्त यत् सामान्यमैन्द्रियक नित्यम्, तदि सर्वगतम्, असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञात् प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतं शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विशतिर्ज्ञयानि । इह तु न लिखितानि, पूर्ववदतरेव । इत्येव मायाशब्दानां छलादित्रय सूचितम् । तदेव परत्रयज्ञात्मनान्यपि छलात्प्रतिनिग्रहस्थानानि तत्स्वरूपतयोपादिभूतो अक्षयान्पेव-राग्यव्यापणं तमम, प्रकाशात्मकत्वप्रत्यापनमिव रूपमिव नोपहसनीयम् ॥ इति काव्यार्थ ॥ १० ॥

(१) प्रतिवादीद्वारा हेतुके अनेकातिक सिद्ध किये जानेपर वादीद्वारा विरोधाके दृष्टानका धर्म अपने दृष्टातमें स्वीकार किये जानेको, प्रतिनाहानि कहते हैं। जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह'। इसपर प्रतिवादी कहता है, कि यह अनुमान अनैकातिक हेतुभास है, क्योंकि सामान्य (जाति) भी इन्द्रियोंका विषय है, लेकिन वह नित्य है। इसमें वादीके पक्षकी पराजय होती है, लेकिन वादी पराजय न मान कर कहता है, कि 'सामान्यकी तरह घट भी नित्य रहे'। इस प्रकार वादी अपनी अनित्यत्वकी प्रतिज्ञाको छोड़ देता है। (२) प्रतिनाके गण्डित होनेपर धर्ममें दूसरे धर्मको स्वीकार करनेको, प्रतिजान्तर कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह,' इस अनुमानमें प्रतिनाके सङ्घटित होनेपर यह कहना, कि सामान्य जो इन्द्रियोंका विषय होकर नित्य है, वह सर्वव्यापक है, परन्तु शब्द तो घटके समान असर्वगत है, इस लिये उसीके समान अनिय भी है। यहा शब्दको असर्वगत कह कर दूसरी प्रतिज्ञा की गई, लेकिन इससे पूर्वोक्त व्यभिचार दोषना परिहार नहीं होता।

"(३) प्रतिना और हेतुका विरोध होना, प्रतिज्ञाविरोध है। जैसे, 'गुण, द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि द्रव्यसे जुदा नहीं माळम होता'। जुदा न माळम होनेसे तो अभिन्नता सिद्ध होती है, न कि भिन्नता। यह विरुद्ध हेतुभासके भीतर भी शामिल किया जा सकता है (४) अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना, प्रतिज्ञासन्ध्यास है। 'मैंने ऐसा क्य कहा!' इत्यादि। (५) हेतुके सङ्घटित हो जानेपर उसमें कुछ जोड़ देना हेतुन्तर है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रियका विषय है'। यहा घटत्वमें दोष आया, तो हेतुको बड़ा दिया, कि सामान्यवाला हो कर जो इन्द्रियका विषय है। घटत्व खुद सामान्य तो है, परन्तु सामान्यवाला नहीं है। अगर इस तरह हेतुमें मनमानी वृद्धि होती रहे, तो व्यभिचारी हेतुमें भी व्यभिचार दोष न दिखलाया जा सकेगा। उ्योंही व्यभिचार दिखलाया गया, कि एक विशेषण जोड़ दिया जायेगा। (६) प्रकृत विषय (जिस विषयपर शाब्दार्थ हो रहा है) से सन्ध न रखनेवाली बात करना, अर्थान्तर है। जैसे, वादीने कोई हेतु दिया, ओर उसका सङ्घटन न हो सका, तो कहने लगे 'हेतु किम भाषाका शब्द है, किम धातुमें निकला है?' इत्यादि। (७) अर्थ रहित शब्दोंका उच्चारण करन लगना, निरर्थक है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि क र ग घ ङ है। जैसे, च छ ज झ ञ आदि'। (८) ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना, कि तीन तीन बार कहनेपर भी निनका अर्थ न तो प्रतिवादी समझे, न कोई सभामन्त समझे, उसे अतिनातार्थ कहते हैं। जैसे, 'जगत्के राजाके आकारवालेके साथके शत्रुका शत्रु यहा है'। जगलका राजा शेर, उसके आकारवाला निलाव, उसका साथ भूषक, उसका शत्रु सर्प, उसका शत्रु मोर। (९) पुरापर सन्धको छोट कर अडनड बचना, अपार्थक है। जैसे, 'कलकत्तेमें पानी बरसा, कौओंके दात नहीं होते, बम्बई बड़ा शहर है, यहा दस वृष लगे हैं, मेरा कोट



निगड गया ' इत्यादि । इसे एक तरहका निरर्थक ही समझना चाहिये । ( १० ) प्रतिज्ञा आदिका बेसिलसिले प्रयोग करना, अप्राप्तकाल है । ( ११ ) अनुवादके सिवाय शब्द और अर्थका फिर कहना, पुनरुक्त है । ( १२ ) वादीने तीन चार कहा, परिषदने भी समझ लिया, लेकिन प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर पाया, इसे अननुमापण कहते हैं । ( १३ ) वादीके वक्तव्यको समा समझ गई, किन्तु प्रतिवादी न समझा तो अज्ञान निग्रहस्थान है । ( १४ ) उत्तर न सुझना अप्रतिभा है । ( १५ ) निपक्षी निग्रहस्थानमें पड गया हो, फिर भी यह न कहना, कि तुम्हारा निग्रह हो गया है, यह पर्यनुयोज्योपेक्षण है । ( १६ ) निग्रहस्थानमें न पडा हो, फिर भी उसका निग्रह बतलाना, निरनुयोज्यानुयोग है । ( १७ ) अपने पक्षको कमजोर देग कर बात उडा देना, विक्षेप है । जेमे, ' अभी मुझे यह काम करना है, फिर देगा जायगा ' आदि । ( १७ ) अपने पक्षमें दोष स्वीकार करके पर पक्षमें भी वही दोष बताना, मतानुज्ञा है । जैसे, ' अगर हमारे पक्षमें भी यह दोष है, तो आपके पक्षमें भी है ' । ( १९-२० ) पाच अंगो ( प्रतिज्ञा आदि ) मे कमका प्रयोग करना, न्यून ह, और दो दो तीन तीन हेतु दृष्टात आदि देना, अधिक है । ( २१ ) स्वीकृत सिद्धातके विरुद्ध बात कहना, अपसिद्धात है । जैसे, ' सत्का उत्पाद नहीं, असत्का विनाश नहीं, ' यह मान करके भी आत्माका नाग कहना । " ( २२ ) असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसमके भेदसे हेत्वाभास पाच प्रकारका है ।

यहा माया शब्दसे छल, जाति और निग्रहस्थानका सूचन किया गया है । ये छल, जाति और निग्रहस्थान केवल दूसरोंको ठगनेके लिये हैं, परन्तु तो भी गौतम ऋषिने इनका तत्व रूपसे उपदेश किया है । इस प्रकारके उपदेश देनेवाले गौतम ऋषिको धीतराग कहना अधिकारकी प्रकाश कहनेके समान होनेसे हास्यास्पद है । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें यौग नामसे कहे जानेवाले नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थोंका सण्डन किया गया है । ग्रथकारका कहना है, कि नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमें गिने जानेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान बिलकुल अनुपादेय हैं, इनके ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती । तथा मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ज्ञान और क्रिया दोनोंकी आवश्यकता होती है, केवल सोलह पदार्थोंके ज्ञान मात्रमे मुक्ति सम्य नहीं ।

( १ ) क—जो पदार्थोंके ज्ञानमे हेतु हो, उसे प्रमाण कहते हैं ( अर्थापलब्धि हेतु प्रमाणम्—वात्स्यायनभाष्य ) । ख—सम्यक् अनुभवको प्रमाण कहते हैं ( सम्यगनुभवसाधन प्रमाणम्—भासवर्चनन्यायसार ) । नैयायिकोंके ये दोनों प्रमाणके लक्षण दोषपूर्ण हैं, क्योंकि नैयायिक लोग इन्द्रिय और पदार्थोंके सनिकर्षको ही प्रमाण मानते हैं,

इन्द्रिय और पदार्थोंके सन्नधसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षके करण ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते । परन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता । तथा 'पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु' को प्रमाण माननेपर, यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय, तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये । यदि 'हेतु' का अर्थ करण हो, तो फिर ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें साधकतम है । इस लिये 'स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाण' ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण है ।

( २ ) नैयायिकोंके आत्मा, शरीर आदिके भेदसे वारह प्रकारके प्रमेयकी मान्यता भी ठीक नहीं है । क्योंकि शरीर आदिका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा प्रेयभाव (पुनर्जन्म) और अपर्याग (मोक्ष) भी आत्माकी ही अवस्था हैं । तथा, आत्मा प्रमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रमाता है । दोष मनकी क्रिया है, उसका प्रवृत्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है । दुःख और इन्द्रियार्थ फलमें गमित हो जाते हैं, इसे जयन्तने भी स्वीकार किया है । अतएव 'द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु प्रमेय' यही प्रमेयका लक्षण मानना निर्दोष है ।

( ३ ) छल, जाति और निग्रहस्थान दूसरोको केवल ठगनेके साधन हैं, इस लिये इन्हें तत्त नहीं कहा जा सकता । अतएव इनके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

अधुना मीमांसरुभेदाभिमत वेदविहिताहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरःसरं निरस्यन्नाह—

अव वेदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण नहीं होती, इसका युक्तिपूर्वक खडन करते हैं—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।

स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा सत्रह्यचारी स्फुरित परेषाम् ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—वेदमें कही हुई हिंसा भी धर्मका कारण नहीं है । यदि कहो, कि यहा सामान्य विधिको छोड़ कर अपनाद विधिसे हिंसाका प्रतिपादन किया गया है, तो यह कहना अपने पुत्रको मार कर रात्रा बननेकी इच्छाके समान है ।

इह स्वर्वाचिर्भूमिप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्यमाचक्षते । या हिंसा गाढर्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहतुः, प्रमादसपादितत्वात् । शौनिक-

१ अग्निव्यातिरहं शुक्रं घण्टासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

इत्यचिर्भूमिः । अयमेवोत्तरमार्ग इत्यभिधीयते । भगवद्गीता ८-२४ ।

२ धूमो रात्रिस्तथा वृष्ण घण्टासा दक्षिणायनम् । तत्र चाद्रमस ज्योतिषींशी प्राप्य निवर्तते ॥

इति धूममार्गः । अयमेव दक्षिणमार्ग इत्यप्यभिधीयते । भगवद्गीता ८-२५ ।

लुधकादीनामिव । वेदप्रिदिता तु हिंसा प्रत्युत धर्मदत्तः, दवनातिथिपितृणा प्रीतिस पादकृत्यात्, तथाविधपूजापचारवत् । न च तत्प्रीतिसपादमत्तमसिद्धम् । कारीरीप्रभृति यज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले य स्वल्पव्यभिचारः, स तत्प्रीणितदेवताप्रिगोपासु- ग्रहहेतुरुः । एव त्रिपुरारणवर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रयशोवृत्तिरपि तदनुकूलि तदेवतप्रसादसपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु मधुपर्कसस्कारादिसमास्त्रादजा प्रत्यक्षापलक्ष्यैव । पितृणामपि तच्चदुपयाचितश्राद्धादिविधानेन प्रीणितात्मना स्वसन्तानवृद्धिविधान साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् । स च देवैर्भीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधादि- विधानाभिधायक प्रतीत एव । अतिथिप्रियैस्तु—“ महाक्ष या महाज वा श्रोत्रिया- योपकल्पयेत् । ” इत्यादि । पितृर्मात्यर्थस्तु—

“ ह्यै मासां मत्स्यमासेन त्रीन् मासान् दारिणन तु ।

औरभ्रेणाथ चतुर. शाकुनेनह पञ्च तु ” ॥ इत्यादि ।

व्याख्यानार्थ—पूर्वमीमांसक—हिंसाजीरी न्याय आदिकी हिंसाकी तरह लोम अथवा किसी व्यसनसे की हुई हिंसा ही पापका कारण होनी है, क्योंकि वह हिंसा प्रमादसे उत्पन्न होती है । वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका ही कारण है, क्योंकि वेदमें कहीं हुई पूजा, सेवाकी तरह वेदोक्त हिंसा भी देव, अतिथि और पितरोंको आनन्द देनेवाली होनी है । वेदोक्त हिंसाका आनन्दनायकपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी ( जिस यज्ञके करनेसे वृष्टि होती है, उसे कारीरी यज्ञ कहते हैं ) आदि यज्ञोंके करनेसे वृष्टिका होना देखा जाता है । वृष्टि होना यज्ञोंसे प्रसन्न हुए देवता लोगोंके अनुग्रहका ही फल है । अतएव जिस प्रकार कारीरी यज्ञमें देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, उमी तरह वेदोक्त हिंसा भी देवताओंको आनन्द देववाली है । इसी प्रकार ‘ त्रिपुरारणव ’ नामक मन्त्रशास्त्र सत्रधी ग्रथमें कहे हुए बकरे और हरिणका मास होम करनेसे आनन्दित देवताओंकी कृपामें ही दूसरे देव वशमें किये जाते हैं । तथा मधुपर्क ( दही और मास युक्त पूजाको मधुपर्क कर्ते हैं ) से अतिथि लोग प्रसन्न होते हैं । इसी प्रकार पितर भी श्राद्धमें प्रसन्न होकर अपनी सतानकी वृद्धि करते हुए देरे जाते हैं । आगममें भी कहा है, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अश्वमेध, गोमेध नरमेध आदि यज्ञ करने चाहिये । “ अतिथिको प्रसन्न करनेके लिये श्रोत्रिय ( वेदपाठी ) को बड़ा बैल अथवा घोडा भार कर देना चाहिये । ”

१ क जलमृच्छतीति कारो जलदस्तमीरयति प्रेरयतीति कारीरी । २ मन्त्रशास्त्ररिपयको निरुध ।

३ दधि सर्षि जल क्षौद्र सिनैतामिस्तु पचमि प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सधदसोषतुष्टये ॥ काशिमपुण्णे ।

४ एतरेयब्राह्मणे ५, धौनयुधे । ५ मनुस्मृतौ पचमाध्याये आपस्तम्बमण्डयूय । ६ याश्वक्यस्मृतौ आचाराध्याय १०९ । ७ एकं शालां सकृत्वा वा पशुभिरद्वैरधीत्य वा । पदकर्मनिरतो विप्र धारियो नाम धर्मवित् ॥ ८ मनुस्मृतौ तृतीयाध्याये । ९ मनुस्मृति ३-२६८ ।

तथा, “मठर्हके माससे दो, हरिणके माससे तीन, भेजेके माससे चार, और पम्हाके माससे पाच महिने तक पित्तरोजी वृत्ति होती है।”

एव पराभिप्राय हृदि सप्रधार्याचार्य प्रतिविधत्ते न धर्मत्यादि । विहितापि-वेद-प्रतिपान्तिापि । आस्ता तादृशविहिता हिंसा-प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा । न धर्महेतु-न धर्मानुग्रहनिग्रहधनम् । यतोऽत्र प्रकृत एव स्ववचनविरोधः । तथाहि । ‘हिंसा च्छ्रुतधर्महेतु ऋयम्,’ ‘धर्महेतुश्चेद् हिंसा ऋयम् ।’ ‘श्रुयता धर्मसर्व्वम् श्रुत्वा चैवापरार्यताम्’ इत्यादि । न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति । हिंसा कारण, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्राय । न चाय निरपाय । यतो यद् यस्यान्वय-यतिरेकानुविधत्त तत् तस्य कार्यम्, यथा मृत्पिण्डादेवैटादि । न च धर्मो हिंसात् एव भवतीति प्रातीतिरम् तपाविधानदान-यानादीना तदकारणत्वप्रसङ्गात् ॥

जैन—वेदोंमें प्रतिपादित प्राणियोंके प्राणोंको नाश करनेवाली हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसाको धर्म प्रतिपादन करना साम्राज्य अपने वचनाका विरोध करना है । क्योंकि जो हिंसा है, वह धर्मका कारण नहीं हो सकती, और जो धर्मका कारण है, उसे हिंसा नहीं कह सकते । कहा भी है “धर्मका सार सुनकर उसे अट्टण करना चाहिये । (अपने प्रतिवृत्त धातोंको कभी दूसरोंके लिये न करना चाहिये) ।” जिस प्रकार कोई स्त्री एक ही समय माता और बच्चा दोनों नहीं हो सकती, उसी तरह हिंसाका हिंसा और धर्म रूप होना परस्पर विरुद्ध है । अतएव हिंसा और धर्मको कारण और कार्य रूपसे प्रतिपादन करनेवाले मीमांसकोंका मत निराप नहीं है । जो जिनके अन्वय और व्यतिरेकमें सबद्ध होता है, वट उमका कार्य होता है, जैसे मिट्टीका पिंड और घडा दोनोंमें अन्वय-व्यतिरेक समर्थ है, इस लिये घटा मिट्टीके पिंडका कार्य है । परन्तु जिस प्रकार मिट्टीके पिंड होनेपर ही घट होता है, वैसे हिंसाके होनेपर ही धर्म होता है, ऐसा अनुग्रहमें नहीं आता । क्योंकि केवल हिंसाको धर्म माननेपर अहिंसा रूप तप, ध्यान, दान आदि धर्मके कारण नहीं कहे जा सकते ।

अथ न वय सामान्येन हिंसां धर्महेतु ज्ञाम, किन्तु विशिष्टामेव । विशिष्टा च सत्र या वेदविहिता इति चेत्, ननु तस्या धर्महेतुत्व किं वध्यजीवाना मरणाभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्त-यानाभावात् सुगतिलाभेन वा ? नात्र पक्षः । प्राणत्यागस्य तेषा साक्षादपेक्ष्यमाणत्वात् । न द्वितीय । परचेतावृत्तीना दुर्लक्षतयार्त्त-यानाभावस्य बाह्यमात्रत्वात् । प्रत्युत हा कष्टमस्ति न कोपि क्षारणिङ्ग शरणम्, इति स्वभाषया विरस-मारसस्तु तेषु वदनन्देयनयनतरलतादीना लिङ्गाना दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात् ॥

शुद्धा—हम लोग सामान्य हिंसाको धर्म नहीं मानते, किंतु विशिष्ट हिंसानो ही धर्म कहते हैं। वेदमें प्रतिपादित हिंसा विशिष्ट हिंसा है। समाधान—आप लोग हिंसाको धर्म क्यों कहते हैं? बंध किये जानेवाले प्राणियोंका मरण नहीं होना, क्या इस लिये हिंसा धर्म है, अथवा प्राणियोंके मरणके समय उनके परिणामोंमें आर्तध्यान न होनेसे उन्हें स्वर्ग मिलता है, इस लिये हिंसा धर्म है? यदि कहो, कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंको मारनेपर उनका मरण नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्राणियोंका मरण प्रत्यक्षसे देखनेमें आता है। यदि कहो, कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंके मारे जानेपर उनके आर्तध्यान नहीं होता, तो यह भी केवल कथन मात्र है। क्योंकि हृदय द्रावक भाषासे आरुन्धन करते हुए प्राणियोंके मुखकी ढीनता, नेत्रोत्पी चंचलता आदिसे उनके दुर्घ्यानका स्पष्ट रूपसे पता लगता है।

अथेत्यमाचक्षीया. यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपनादिकरणेन सस्रुतः सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणात्मरूपमपि विप मन्त्राणिसंस्कारविशिष्ट सद्गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्नि सत्यादिप्रभाप्रतिहतशक्ति सन् न हि प्रदहति। एव मन्त्रादिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दापपोषाय। न च तस्या. वृत्तिसत्त्व शङ्कनीयम्। तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तद्गतं न दक्षाणा क्षमते क्षोदम्। वैधर्म्येण दृष्टान्तानामसाधनत्वत्वात्। अयःपिण्डादयो हि पनादिभावान्तरापन्ना. सन्त सलित्तरणादिक्रियासमर्थाः। न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनापि विशस्यमानानां पशूनां वाचिद् वेदानानुत्पादादिरूपा भावान्तरापत्ति प्रतीयते। अथ तेषां बधानन्तर देवत्वापत्तिर्भावान्तरमस्त्येति चेत् क्रिमत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य सन्नद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्। “सैम्बद्ध वर्तमानं च गृह्यत चक्षुरादिना।” इति वचनात्। नाप्यनुमानम्। तत्प्रतिपक्षलिङ्गानुपलब्धे। नाप्यागमः। तस्याद्यापि त्रिगदास्पदत्वात्। अर्थापर्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणो नैव गतार्थत्वम् ॥

शुद्धा—जिम प्रकार भारी लोहका पिंड पानीमें डूबनेवाला होनेपर भी हलके हलके पत्तरोके रूपमें परिणत होकर जहाजके रूपमें पानीके ऊपर तैरता है, अथवा जिस तरह मन्त्रके प्रभावसे मारनेवाला विष भी शरीरको आरोग्य प्रदान करता है, अथवा जिम तरह दहनशील आग्नि सत्य आदिके प्रभावसे दहन स्वभावको छोड़ देती है, उसी तरह मन्त्रादि विधिसे वेदोक्त हिंसा भी पाप बंधका कारण नहीं होती। यह वेदोक्त हिंसा निन्दनीय भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस हिंसाके कर्ता याज्ञिक लोग सत्तारमें पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं। समाधान—यह ठीक नहीं। आपके लोह पिंड आदिके दृष्टांत विषम हैं, इस लिये इन दृष्टांतोंसे हेतुकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि

जिस प्रकार लोह पिंड अवस्थान्तरमें प्राप्त होकर जहाजके रूपमें पानीपर तैर सकता है, उस तरह वैदिक विधिसे मत्र आदिके द्वारा मारे जाते हुए प्राणियोंकी वेदना दूर नहीं होती। यदि आप लोग कहें, कि वेदोक्त विधिमें वध किये जानेवाले प्राणियोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, तो इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। यह प्राणियोंकी स्वर्ग प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है। कहा भी है “ प्रत्यक्ष चक्षु आदिसे सबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है। ” अनुमानसे भी प्राणियोंकी स्वर्ग प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अनुमानका साधक कोई हेतु नहीं है। आगमके विवादास्पद होनेसे आगमसे भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। अथापत्ति और उपमान अनुमानके भीतर ही गर्भित हो जाते हैं, इस लिये अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे भी वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए प्राणियोंका स्वर्ग पाना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि हि नेप्यते। वदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्प तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलां, यत्रानन्योपायत्वेन यतनयाप्रकृतप्रतनुचैतन्याना पृथिव्यादिजीवानां त्रधेऽपि स्वरूपपुण्यव्ययेनापरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितर'। भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तास्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीक कर्तनमर्थनया कान्दिशीकान् रूपणपञ्चेन्द्रियान् शान्निफाधिक मारयता कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयता दुर्लभ' शुभपरिणामविशेष। एव च य कश्चन पदार्थ किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीदुर्वता भवतामतिप्रसङ्ग सङ्गच्छते ॥

शत्रु—जिस प्रकार पृथिवी आदि जीवोंका घात होनेपर भी जैन मदिरोका निर्माण परिणामोंकी शुद्धिका कारण होकर पुण्य रूप ही माना जाता है, उसी तरह विधिसे की हुई वेदोक्त हिंसामें परिणामोंकी विशुद्धता होनेसे पुण्य ही होता है। समाधान—यह ठीक नहीं है। क्योंकि मर्त्त्योंके निर्माण करनेमें अत्यंत अल्प चानके धारक पृथिवी आदि जीवोंका वध अनिवार्य है, तथा पृथिवी आदिके वध करनेपर अल्प पुण्यके नाश होनेपर अपरिमित पुण्यकी प्राप्ति होती है। परन्तु आप लोगोंके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासमें यम, नियमादिसे स्वर्गकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है, इस लिये देवी देवताओंके उद्देश्यसे अपने शरीरके काटे जानेके भयसे विह्वल, निस्पृहाय पचेन्द्रिय जीवोंको कसाईसे भी अधिक क्रूरतासे मारनेवाले पुरषोंके दुर्गतिको ले जानेवाले

परिणामोऽत्र शुभ परिणाम नहीं कहा जा सकता । अतएव थोड़ा बहुत सादृश्य देख कर किसी को दृष्टांत बनाना ठीक नहीं है ।

न च जिनायतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधऽपि न गुण । तथाहि तदर्शनाद् गुणानुरागितया भेद्व्याना योधिलाभ , पूजातिशयत्रिलाकनादिना च मन प्रसाद\*, ततः समौत्रि., ततश्च ऋषेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति । तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः-

“ पुढर्वाड्याण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाद्विन्तो ।

तन्विसया वि सुदिद्विस्स णियमआ अत्थि अणुकपा ॥ १ ॥

एयाहिंतो उद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढर्वाई ।

इत्ता निव्याणगया अत्राहिया आभयमिमाण ॥ २ ॥

रोगिसिरात्रहो इव सुविज्जिरिया य सुप्पउत्ताओ ।

परिणामसुदरच्चिय चिट्ठा से वाहनोगे वि ॥ ३ ॥ ”

तथा प्रथिमी आदि जीवोंके वध होनेपर भी जिन मन्दिरके निर्माणमें पुण्य होता है । क्योंकि मन्दिरमें जिन प्रतिमाके दर्शनसे भक्त्युत्पत्तिकी प्राप्ति होती है, भगवानके पूजातिशयके देखनेसे मन प्रकुलित होता है, मनकी प्रकुलतासे समता भाव जागृत होता है, और समता भावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । पञ्चलिङ्गीकार जिनेश्वरसूरिने कहा भी है— “ यद्यपि जिन मन्दिरके निर्माणमें पृथ्वी रोदने, ईंट तैयार करने तथा जल सिंचन आदिके कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और तम जीवाका विनाश होता है, तो भी सम्यग्दृष्टी जीवके पृथिवी आदि जीवोंके प्रति दयाका भाव रहता ही है । क्योंकि जिन प्रतिमा आदिके दर्शनसे तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेवाले जीव पृथिवी आदि जीवोंकी रक्षा करते हैं, और मोक्ष जाते हैं । जिस प्रकार किसी रोगीको अच्छा करनेके लिये रोगीकी नसना छेटना, उमे लपन बगना, कटुक औषधि देना आदि प्रयोग शुभ परिणामोंसे ही किये जाते हैं, उसी प्रकार पृथिवी आदिका वध करके भी जिन मन्दिरके निर्माण करनेमें पुण्य ही होता है । ”

इति । वैदिकवधविधाने तु न ऋत्विपुण्यार्जानानुगुण गुण पश्याम. । अथ विप्रभ्य. पुरोहोशात्प्रदानेन पुण्यानुग्रही गुणोऽस्त्येय इति चत् । न । पत्रिसुवर्णादिप्रदानमा-

१ सम्यग्दृष्टानुज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भय ० बोधा योपि सम्यक्त्व प्रत्यजिनधर्मासाधिका ।

३ सम्यग्दशनादिका भोग्यपदति ।

४ छाया-पृथिव्यादीना यद्यपि मनस्येव विनाशो जिनालयादिभ्य । तद्विपर्यायि सुदृष्टेर्निवमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥ एताम्बो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन् । अतो निवाणगता अत्राधिता आभयमेयान् ॥ योगिसिरावेष इव सुवैप्रकिया इव सुप्रयुक्ता तु । परिणामसुदर इव चेष्टा सा बाधायागेऽपि ॥

जिनेश्वरसूरिज्ञानपञ्चलिङ्गीकरणे ५८-५९-६० ।

५ पुरे दास्यते इति पुरोडाशा हुतद्रयावगिष्टम् । यन्चूर्णनिर्मितगोटिकाविशेष ।

उर्णैव पुण्योपार्जनसम्भवात् । कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थ मासदान केवल निर्घृणत्व-  
मेव व्यनाक्ति । अथ न प्रणानमात्र पशुवधक्रियाया फल, किन्तु भूत्यादिकम् । यदाह  
श्रुति — “ श्वेत वायव्यमजमालधेत भूतिनाम ” इत्यादि । एतत्पि व्यभिचारापिशाच-  
ग्रस्तत्वाद्प्रमाणमव । भूतश्रीपयिन्तन्तररपि साध्यत्वात् । अथ तत्र सत्र हन्यमानाना  
छागार्दीना म्रेत्यसद्रतिप्राप्तिरूपोऽस्त्यवापकार इति चत् । साद्मात्रमतत् । प्रमाणाभा-  
वात् । न हि ते निहता पण्य सद्रतिलाभमुदितमनस' रुस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मान  
कथयन्ति । अथास्त्यागमाग्य प्रमाणम् । यथा—

“ औपेध्य पशुना वृक्षास्तिर्यञ्च पक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं निधन प्राप्ता प्राप्नुवन्त्युच्छ्रित पुन. ” ॥

इत्यादि । नैवम् । तस्य पौरुषेयार्पणरूपयविस्ल्याभ्या निरास्तरिष्यमाणत्वात् ॥

परन्तु वेदोक्त रिसामेहम कोई पुण्योपासनका कारण नहीं देगते । यदि कहो, कि वेदोक्त  
वधके अवसरपर द्रावणोंको पुरोडाश ( होमके बाद उचा हुआ द्रव्य ) देनेसे पुण्य होता है, तो यह भी  
ठीक नहीं । क्योंकि सुवर्ण आणिके दान देनेसे ही पुण्य हो सकता है, मरु पशुओंके मासका दान  
करना केवल निर्दयतका ही द्योतक है । यदि कनो, कि वेदोक्त रीतिसे पशुवध करनेका फल  
केवल द्रावणोंको पशुओंके मासका दान करना नहीं, किन्तु उससे विमृत्तिकी प्राप्ति होती है ।  
श्रुतिमें भी कहा है, “ ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको वायु देवताके लिये सपेद  
बकरेका यज्ञ करना चाहिये, ” आदि । यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐश्वर्यकी प्राप्ति  
अन्य उपायोंसे भी हो सकती है । यदि कहो, कि यज्ञमें मोर जानेवाले बकरे आदि परलोकमें  
स्वर्ग प्राप्त करते है, इस लिये प्राणियोंका उपकार होता है । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि  
बकरे आदि यज्ञमें वध किये जानेके बाद स्वर्गको प्राप्त करते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं  
है । क्योंकि मरनेके बाद स्वर्गमें गये हुए पशु स्वर्गसे आकर वहाके समाचारोंको नहीं  
सुनते । यदि आप लोग कहें, कि आगममें लिखा है, “ औपधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च  
और पशु यज्ञमें मृत्युको प्राप्त होकर उच्च गतिको प्राप्त करते हैं, ” अतएव आगमसे इसकी  
प्रमाणता सिद्ध होती है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम पौरुषेय और अपौरुषेय आगमका  
आगे सडन करेंगे । ( देखो इसी कारिकाकी व्याख्या ) ।

न च श्रौतन विधिना पशुविशसनविशयिनां स्वर्गावाप्तिरूपकार इति वाच्यम् ।  
यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्ति स्यात्, तर्हि घात पिडिता नरःपुरमतोल्य' । शौनि  
कादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात् । तथा च पठन्ति परमार्पा—

“ यूप उडित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।

यत्रैव गम्यते स्वर्गं नरकं केन गम्यते ” ॥



वेदोक्त विधिसे पशुओंको मारनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि यदि हिंसासे स्वर्गकी प्राप्ति होने लगे, तो समारके सभी कसाइयोंको स्वर्ग मिलना चाहिये, तथा इस दशमिं स्वर्गका मार्ग ही बन्द हो जायगा। सांख्य लोगोंने कहा भी है, “यदि यूष (यज्ञमें पशुओंको बाधनेकी लकड़ी) को नष्ट करके, पशुओंका वध करके, ओर रक्तसे पृथ्वीका मिचन करके स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये कौनसे मार्ग हैं ?”

किञ्च, अपरिचितास्पष्टचैतन्यानुपकारिपशुहिंसनेनापि यद्वि त्रिदिवपद्वीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनं यत्कारिणामधिस्तरपद प्राप्तिं प्रसज्यते। अथ “अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रांपथीना प्रभावः” इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे सभयत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत्। न। इह लोके त्रिगद्गर्भाधानजातरुमान्पि तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद् अष्टे स्वर्गदात्रापि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते। दृश्यते हि तदाक्तमन्त्रसंस्कारसिग्निष्ठेभ्याऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तर त्रैषव्याल्पायुष्कृतादारिद्र्याद्युपद्रवाधिपुरा परःशता। अपरे च मन्त्रसंस्कार त्रिना कृतेभ्याऽपि तेभ्याऽनन्तर तद्विपरीता। अथ तत्र क्रियावैगुण्य विसवादहेतु, इति चेत्। न। सशयानिवृत्ते। किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसवाद, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद्, इति न निश्चयः। तेषां फलेनाविनाभावासिद्धे ॥

तथा, यदि किसी प्रकारका उपकार न करनेवाले छोटे छोटे मूक प्राणियोंके वधसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होना समभव है, तो महान उपकार करनेवाले अपने माता पिताके वध करनेसे याज्ञिक लोगोंको स्वर्गमें भी अधिक फल मिलना चाहिये। यदि आपलोग कहें, कि “मणि, मन्त्र और औषधका प्रभाव अचिन्त्य है,” इस लिये वैदिक मन्त्रोंका भी अचिन्त्य प्रभाव है, अतएव मन्त्रोंसे संस्कृत पशुओंका वध करनेसे पशुओंको स्वर्ग मिलता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक विधिके अनुसार विवाद कर्म आत्तिके किये जानेपर भी बहुतसी म्रिया विनया हो जाती हैं, तथा बहुतसे मनुष्य अल्पायु, दरिद्रता आदि उपद्रवोंसे पीडित रहते हैं। तथा विवाह आत्तिके वैदिक विधिमें सम्पादित न होनेपर भी स्त्री और पुरुष आनन्दसे जीवन यापन करते हैं, इस लिये वैदिक मन्त्रोंमें संस्कृत वध किये जानेवाले पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति स्वीकार करना ठीक नहीं है। यदि आप लोग कहें, कि मन्त्रोंका पूरा असर होता है, लेकिन यदि मन्त्रोंकी ठीक ठीक विधि नहीं की जाय, तो मन्त्रोंका असर नहीं रहता, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि मन्त्रोंकी विधिमें हेरफार होनेसे मन्त्रोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है, अथवा स्वयं मन्त्रोंमें ही प्रभाव दिखानेकी असमर्थता है, यह कैसे निश्चय हो ?

अथ यथा युष्मन्मते “ आरोग्यप्रोहिलाभ समाह्विरमुत्तम दितु ” इत्यादीना वाक्याना लोकांतर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतत्रेदवाक्यानामपि नह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यत । अतश्च विवाहादौ नोपलम्भावकाशः, इति चेत् । अहो वचनवैचित्री । यथा वर्तमानजन्मनि विवाहादिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एव द्वितीयादिजन्मान्तरेऽपि विवाहादीनामेव प्रवृत्तिधर्माणा पुण्यहेतुत्वा झीकारेऽनन्तभवानुसन्धान प्रसज्यत । एव च न फदाचन ससारस्य परिसमाप्ति । तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः । इति प्राप्त भवदभिमतत्रेदस्यापर्ययसितससारवह्वरी-मूलकन्त्वम् । आरोग्यादिप्रार्थना तु असत्यामृषाभाषापणिनामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय । तत्र हि भावारोग्यादिक्रमेण विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकससाग्लक्षणभावा रोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद् उत्तमफलम् । तद्विषया च प्रार्थना कथमिव त्रिनेकिनामनादरणीया । न च तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फल न प्राप्यत । सर्ववादिनां भावशुद्धैरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति ॥

शक्रा—निस प्रकार जेनमत्तमें “ आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधिको प्रदान करो ” इत्यादि स्तुतियोंसे दूसरे लोकमें फल मिलना कहा जाता है, उसी तरह हमारे माने हुए वेद वाक्योंका और त्रिगह आदि मन्त्रोंका भी परलोकमें ही फल मिलना है । समाधान—यदि आप लोग हम जन्ममें त्रिगह आदिमें प्रयुक्त मन्त्रोंका फल आगामी भ्रममें स्वीकार करते हैं, तो दूसरे तीसरे आदि अनेक भवोंमें मन्त्रके सम्कारोंका फल मान लेनेसे अनन्त भवोंकी उत्पत्ति माननी चाहिये, और इस तरह कभी ससारका अंत न होनेसे किसीको भी मोक्ष न मिलना चाहिये । तथा हम लोग जो आरोग्य आदिकी स्तुति करते हैं, वह असत्यअमृषा ( जगद्धार ) भाषा द्वारा परिणामोंकी विशुद्धि करनेके लिये है, दोषके लिये नहीं । असत्यअमृषा भाषा आमत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यान्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिगृहीता, अभिगृहीता, सन्नेहकारिणी, व्याहृता, अघ्याहृताके भेदसे बारह प्रकारकी बतर्दि गई है । ( १ ) ‘ हे देव, यहां आओ, इस प्रकारके वचनोंको आमत्रणी भाषा कहते हैं । ( २ ) ‘ तुम यह करा ’ इस प्रकारके आज्ञा सूचक वचन कहना, आज्ञापनी भाषा है । ( ३ ) ‘ यह दो ’ इस प्रकार याचनाके सूचक वचन बोलना, याचनी भाषा है । ( ४ ) अज्ञात अर्थको पूछना, प्रच्छनी भाषा है । ( ५ ) ‘ जीव हिंसासे निवृत्त होकर चिरायुका उपभोग करते हैं ’ इस प्रकार शिष्योंके उपदेश सूचक वचनोंका कहना, प्रज्ञापनी भाषा है । ( ६ ) मागनेवालेको निषेध करनेवाले वचनोंका बोलना, प्रत्याख्यान्यानी भाषा है । ( ७ ) किसी कार्यमें अपनी अनुमति देनेको इच्छानुकूलिका

१ छाया-आरोग्य बाधिलाभ सामाह्विरमुत्तम ददतु । आवदयत् २४-६ ।

२-आमत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यान्यानी, इच्छानुकूलिका अनभिगृहीता, अभिगृहीता सदहकारिणी, व्याहृता, अघ्याहृता इति द्वादशविधा असत्यामृषाभाषा लोकप्रकाशे तृतीयसर्गे यागाधिकारः ।

भाषा कहते हैं । (८) 'बहुतमे कार्योंमें जो तुम्हे अच्छा लगे वह करो' इस प्रकारके वचनोंको अनभिगृहीता भाषा बोलते हैं । (९) बहुतमे कार्योंमें अमुक कार्य करना चाहिये, और अमुक नहीं, इस प्रकार निश्चित वचनोंके बोलनेको अभिगृहीता भाषा कहते हैं । (१०) सशयनी उत्पन्न करनेवाली भाषाको सदेहकारिणी भाषा कहते हैं जैसे 'सैधव' कहनेपर सिंघा नमक और घोड़ा दोनो पदार्थोंमें सशय उत्पन्न होता है । (११) जिससे स्पष्ट अर्थका ज्ञान हो, वह व्याकृता भाषा है । (१२) गर्भर अथवा अस्पष्ट अर्थको बतानेवाले वचनोंको अन्यामृता भाषा कहते हैं । नोट—गोभटमार आदि दिग्गम्य प्रथामे असत्यअमृता भाषाके नौ भेद उताये गये हैं—देतो, गोभटमार जीवकाड, २२४—२२५ । आरोग्य आदिकी प्रार्थना करनेसे हमारा अभिप्राय केवल ससारके भाव रोगोंको दूर करनेका है । इस भाव आरोग्यकी प्रार्थनासे परिमाणोंकी विगुद्धि होनी है । क्योंकि सभी वार्दा भावोंकी शुद्धिसे ही मोक्ष मानते हैं ।

न च वदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता । सम्पगदर्शनज्ञानसम्पन्नरर्चिर्मागप्रपन्नैर  
दान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात् । तथा च तत्तदर्शिन' पठन्ति—

“ देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथरा ।

त्रन्ति जन्तून् गतघृणा घोरा ते यान्ति दुर्गतिम् ” ॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

“ अन्धे तमसि मज्जाम' पशुभिर्ये यजामहे ।

हिंसा नाम भजेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ” ॥

तथा “ अग्निमितस्माद्धिमाकृतादेनसा मुञ्चतु ” छान्दसत्वाद् मां चयतु इत्यर्थ । इति ।  
व्यासेनाप्युक्तम्—

“ ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।

स्नात्वाऽतिनिमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥

व्यानाश्रौ जावकुण्डस्थे दममारुतदीपिने ।

असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्र कुरुत्तमम् ॥ २ ॥

कपायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशने ।

शममन्त्रदुत्तैर्यज्ञ विधेहि, निहितं बुधै ॥ ३ ॥

प्राणिघातात् तु यो धर्ममीदृते मूढमानसः ।

स वाञ्छति सुधाराष्टिं कृष्णाहिमुखकाटरात् ॥ ४ ॥

इत्योक्ति ॥

तथा, वेदोक्त हिंसा निन्दनीय है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे युक्त ज्ञान-मार्गके अनुयायी वेदान्तियोंने भी इस हिंसाकी निंदा की है। तत्त्वदर्शी लोगोंने कहा है “ जो निर्दय पुरुष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अथवा उनके घरने पशुओंका बध करते हैं, वे लोग दुर्गतिमें पड़ने हैं। ” वेदान्तियोंने भी कहा है, “ यदि हम पशुओंसे यत्न करें, तो घोर अपकारमें पड़ें। अतएव हिंसा न कभी धर्म हुआ, न हे, ओर न होगा। ” तथा, “ अभि देवता इम हिंसा-जन्य पापसे मुझे मुक्त करो। ” व्यास ने कहा है “ जान-बादसे ढके हुए, द्रव्यचर्य और दया-रत्नमे पूर्ण, पाप कीचड़को नष्ट करनेवाले, अत्यन्त निर्मल तीर्थमें स्नान करके, जीर-कुण्डमें दम पनसे उर्दीपित मन अभिमें अगुम कर्म रूपी काष्ठकी आहुति देकर उत्तम अभिहोत्र यत्न-को करो, धर्म, काम ओर अर्थको नष्ट करनेवाले शम-मन्त्रोंसे टुष्ट कषाय-पशुओंका यत्न करो, जो मूढ पुत्र्य प्राणियोंका बध करके धर्मकी कामना करने हैं, वे लोग काले सर्पकी गोहृसे अमृतकी वर्षा चाहते हैं। ” इत्यादि।

यच्च याज्ञिज्ञाना गरुपृज्यत्प्रोपलम्भादित्युक्तम् । तदप्यसारम् । अनुधा एव पूजयन्ति तान् न तु विविक्तनुद्धय । अनुधपूज्यता तु न प्रमाणम् । तस्या सारमयादिष्वप्युपलम्भात् । यदप्यभिहित देवतातिथिपितृप्रातिसपादन्त्याद् वेदत्रि-हिता हिंसा न दापायति । तदपि वितत्रम् । यता देवाना समन्पमात्रापनताभिपता-हारपुद्गलरसास्यान्मुहिताना वैश्वानरीरत्वाद् युष्मदावजितशुशुप्सितपशुमासाया हुतिप्रवृत्तीं, इच्छन्तु सभया । आन्तरिन्गरीणामेव तदुपादानयाग्यत्वाद् । मक्षे-पाहारम्बीभार च देवाना मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमनात् । न च तेषा मन्त्रमयदेहत्व भवत्पक्ष न सिद्धम् । “चतुर्वर्ष्ये त पदमेव देवता” इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्र —

“ शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नत्रोप यष्टु ।

न सा प्रयाति सानिध्य मृतत्वाद्रमदादित् । ” ॥

तथा, आपने जो याज्ञिक पुरुषोंको लोकमें पूज्य बनाया, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मूर्ख लोग ही याज्ञिकोंकी पूजा करते हैं, पण्डित लोग नहीं। तथा, मूर्ख लोगोंके द्वारा याज्ञिकोंकी पूजा जाना प्रमाण नहीं क्या जा सकता, क्योंकि कुत्ते आदि भी लोकमें पूजे जाते हैं। तथा, आप लोगोंने जो कहा, कि वेदोक्त हिंसा, देवता, अतिथि और पितृगणोंको प्रसन्न करती है, अतएव वह हिंसा निर्दोष है, यह कथन भी निम्मार है। क्योंकि देव लोग वैश्वानर शरीरके धारक होने हैं, अतएव वे अपने मकल्प मात्रसे किसी भी पदार्थको उत्सव

१ अष्टगुणैरन्यथागादकानकाणुमदच्छरीरमिन्द्रियकरण त्रिक्रिया सा प्रयोचामत्येति वैश्वानर ।

२ उदार शूल, उदार प्रयोनन अस्तेति औदारिक ।

कर सकते हैं। इस लिये देव लोग ग्लानिसे युक्त आप लोगोंके दिये हुए पशुके मांस खानेकी इच्छा नहीं कर सकते। तथा, औदारिक (स्थूल) शरीरवाले प्राणी ही इस आहुतिको ग्रहण कर सकते हैं। यदि आप लोग देवोंको यज्ञकी अग्निमें आहुति दिये हुए जाहारका भक्षक स्वीकार करेंगे, तो देवोंको मन्त्रमय शरीरके धारक नहीं कह सकते। परन्तु आप लोगोंने देवोंको मन्त्रमय शरीरके धारक स्वीकार किया है। जैमिनी ऋषिने कहा भी है “देवताओंके लिये चतुर्थीका ही प्रयोग करना चाहिये।” (पूर्व मीमांसकोने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना है। उन लोगोंके मतमें आहुति दिये जानेवाले देवताओंको छोड़ कर दूसरे देवोंका अस्तित्व नहीं है)। मृगेंद्रने भी कहा है ‘यदि देवता लोग मन्त्रमय शरीरके धारण करनेवाले न होकर हम लोगोंकी तरह मूर्त शरीरके धारक हो, तो जैसे हम लोग एक साथ बहुत स्थानोंमें नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता लोग भी एक साथ सत्र यज्ञोंमें उपस्थित नहीं हो सकते।’

सेति देवता । ह्यमानस्य च वस्तुना भस्मीभानमात्रोपलम्भात्, तदुपभोगजनिता देवाना प्रीति प्रलापमात्रम् । अपि च, योऽप्य त्रेताग्नि स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवताना मुखम् । “अग्निमुखा वै देवा ” इति श्रुते\* । ततश्चोत्तममयमाधमदेवानामेनेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्याच्छिष्टशुक्तिप्रसङ्गः । तथा च ते तुम्प्रेभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि तावदेकत्रयामत्रे भुञ्जते, न पुनरेकैत्रय वदनेन । किञ्च, एकस्मिन् वपुषि वदनवाहुल्य कचन श्रुयते, यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुरत्रमिति महदाश्चर्यम् । सर्वपा च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते, यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽद्योऽप्यथ निन्दादिना विराद्य, ततश्चेकैनेव मुरत्रेन युगपदनुग्रहनिग्रहनाचयोच्चारणसङ्कर प्रसज्येत । अन्यच्च, मुख देहस्य नवमो भागः, तदपि येषा दाहात्मक, तेषामकैरुश सकलदेहस्य दाहान्मरुत्त्र त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव सभाव्यत इत्यलमतिचर्चया ॥

यदि आप लोग कहें, कि होम किये हुए पदार्थ भस्म हो जाने हैं, अतएव होम किये हुए पदार्थके उपभोगसे देव लोग प्रसन्न होते हैं, यह कहना भी व्यर्थ है। तथा, आप लोगोंने त्रेता अग्नि (दक्षिण अग्नि, आहवनीय अग्नि और गार्हपत्य अग्नि) को तैंतीस करोड़ देवता लोगोंका मुख स्वीकार किया है। श्रुतिमें भी कहा है “देवोंका अग्नि ही मुख है।” परन्तु इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्य श्रेणियोंके अनेक देवता लोग एक ही मुखमें होम किये हुए पदार्थोंका भक्षण करेंगे, अतएव उच्छिष्ट पदार्थोंके रानेमें देवता लोग मुसलमानोंसे भी बन् जायेंगे। क्योंकि मुसलमान लोग तो एक ही पात्रमें भोजन करते हैं, परन्तु देवता लोग एक ही मुखसे भोजन किया करेंगे। तथा एक शरीरमें अनेक मुख कहीं कहीं सुननेमें आते हैं, परन्तु अनेक शरीरोंमें एक

१ त्रिंशत्त्रिंशत्, आहवनीय, गार्हपत्य इति त्रयोऽप्य । ‘अग्नित्रयमिदं त्रया’ इत्यमरः ।

मुखका होना कहीं नहीं सुना जाता । तथा, सन देवताओंके एक मुख माननपर यदि कोई एक देवकी स्तुति और दूसरे देवका निंदा करे, तो एक ही मुखसे देवता लोगोंको एक साथ अनुग्रह और निग्रह रूप वाक्योंको बोलना चाहिये । तथा देहके नौवे हिस्सेको मुग्न कहा गया है, यदि यह नवमा हिस्सा भी अभि रूप हो, तो तैतीस करोड देवना लोग ससारको भस्म ही कर डालेंगे ।

यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलं व्यभिचारस्तर्पणीतदं यतानुग्रहहेतुः उक्तं सोऽप्यनेकान्तिकं । क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न त्वद्वाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः । किन्तु स देवतात्रिशोऽतिशयज्ञानी स्वान्निर्वर्तित पूजापचार यदा स्वस्थानावस्थित सन जानीत, तदा तत्कर्तारमिति प्रसन्नचेतोऽवृत्तिस्तत्तत्पार्याणीच्छावशात् साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसद्वृत्त सन् न साधयति । द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाधिव्योपेक्षमैव भायोत्पादस्यापलम्भात् । स च पूजापचार पशुत्रिशसनव्यतिरिक्तः प्रशरान्तरैरपि मृत्तर, तत्किमनया पापैरुफल्या शौनिमृत्त्या ॥

आप लोग जो कहते हैं, कि कारीरी यन् करनेसे देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, यह भी अनैकान्तिक है । क्योंकि बहुतसी जगह यन्के करनेपर भी वृष्टि नहीं होती । तथा जहा यज्ञके करनेपर वृष्टि होती है, वहा उस वृष्टिमें देवताओंकी आहुतिसे उत्पन्न अनुग्रहको कारण नहीं मान सकते । क्योंकि देवता लोग अपने स्थानमें बैठे रह कर ही अपने पूजा सत्कार आदिको अवधिज्ञानसे जान कर पूजा सत्कार करनेवाले पुरुषसे प्रसन्न हो कर उसकी इच्छानुसार फल देते हैं । यदि देवता लोगोंका पूजा आदिकी ओर उपयोग न हो, अथवा उपयोग होनेपर भी पूजकोंका भाग्य प्रबल न हो, तो पूजा करनेवाले पुरुषकी अभीष्ट मिद्धि नहीं होती । कारण कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि सहकारी कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है । तथा पशुओंका वध करनेकी अपेक्षा देवताओंको प्रसन्न करनेके अन्य बहुतसे उपाय हैं, फिर आप लोग इस हिंसक और नियम वृत्तिका ही क्यों प्रयोग करते हैं ।

यच्च छगलजाङ्गलक्षेमात् परराष्ट्रवर्गावृत्तिसिद्ध्या देव्या परितोपानुमानम्, तत्र न निमाह । कासाञ्चित् शुद्रदेवताना तथैव प्रत्यङ्गिनारात् । केवल तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैर परितोषो, न पुनस्तदभ्युत्थत्वा । निम्नपत्रन्दुरुक्तैलारुनालधुमाशादीनां ह्ययमानद्रव्याणामपि तद्वाज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमबधानसचिवाराधनाना भक्तिरेव तत्तत्फल जनयति । अचेतने चिन्तामण्याद्वा तथा दर्शनात् । अतिथीना तु प्रीति सस्कारसपन्नपक्वाद्यादिनापि सा या । तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पननिर्विपरुतामेव ग्यापयति ॥

देवीको बकरे और हरिणके होम करनेसे दूसरे देश वधमें हो जाते हैं, यह कथन भी असत्य है। क्योंकि पहले तो उत्तम देव-देवी इस घृणित और हिंसात्मक कार्यसे प्रसन्न नहीं हो सकते। यदि कोई क्षुद्र देवता प्रसन्न भी हो, तो वह मासादिके देरने अथवा जानने मात्रसे ही सतुष्ट हो जाता है, उसे मासादिके उपभोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तथा, यदि अग्निमें आहुति दिये हुए मासादि देवता लोगोंके मुखमें पहुँच सकते हैं, तो होम किये हुए नीमके पत्ते, कड़वा तेल, चावल ( कानिया-अमरकोण ), सालवृक्ष ( साग ), आदिको आप लोगोंने क्यों निषिद्ध माना है। इस लिये यह मानना चाहिये, कि यास्तवमें सहकारी कारणोमे युक्त आगधककी भक्तिही वृष्टि, विजय आदि फलमें कारण होती है। जैसे चिन्तामणि रत्नके अचेतन होनेपर भी वर मनुष्यके पुण्योत्थके कारण ही फल देनेवाला होता है। तथा, जब हम सुन्दर, सुम्बाडु, अन्न वनस्पति आदि भोजनमे अतिथि लोगोंका सत्कार कर सकते हैं, तो फिर उन्हें बैल, बकरे आदिका मास खिलाना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है।

पितृणा पुनः प्रीतिरनेकान्तिनी । श्राद्धादिविधानेनापि भूयसा सन्तानवृद्धेरनु-  
पलन्त्ये । तद्विधानेऽपि च कृपाञ्चिद् गर्दभशूकराजादीनामिव सुतरा तदर्शनात् ।  
ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमव । ये ऽपि लोकांतर प्राप्तास्त तावन्  
स्वकृतमुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुख वा भुञ्जाना एवासते  
ते कथमिदं तनयादिभिरावजित पिण्डमुपभोक्तु स्पृहालयोऽपि स्युः । तथा च सुष्म-  
दयूथिन पठन्ति—

“ मृतानामपि जन्तूना श्राद्धं च तृप्तिकारणम् ।

तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहं सर्वर्षयश्चिन्तयाम् ॥ ”

इति । कथं च श्राद्धविधानाग्रजित पुण्यं तपा समीपमुपैतु । तस्य तदन्यकृतत्वात्  
जडत्वाद् निश्चरणत्वाच्च ॥

श्राद्ध करनेसे पितर लोग प्रसन्न होते हैं, यह कथन भी दोषपूर्ण है। क्योंकि श्राद्ध आदिके करनेपर भी बहुतसे लोगोंके सतान नहीं होती, और श्राद्ध न करनेपर भी गधे, सूअर आदिके बहुतसी सन्तान हो जाती हैं। अतएव श्राद्ध आदिका विधान केवल मूर्ख लोगोंके ठगनेके लिये ही किया गया है। जो पितृजन परलोक चले जाते हैं, वे लोग इस भवमें किये हुए अपने गुण और अगुण कर्मोंके अनुसार देव, नरक आदि गतिथोंमें सुख, दुखका उपभोग करते हैं, इस लिये वे लोग अपने पुत्र आदिद्वारा दिये हुए पिण्डका उपभोग करनेकी इच्छा भी नहीं कर सकते। आप लोगोंके मतानुयायियोंने कहा भी है “ यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियोंको तृप्तिका कारण हो सकता है, तो दीपकके बुझ जानपर भी तेलको दीपककी ज्योतिके बरानेमें कारण मानना चाहिये। ” तथा इस लोके श्राद्ध

आदिसे उत्पन्न पुण्य परलोक सिधारे हुए पितरोंके पास कैसे पहुच सकता है, क्योंकि यह पुण्य पितरोंसे भिन्न पुत्र आदिसे किया हुआ रहता है, तथा यह पुण्य जड़ और गति रहित है ।

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्य दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत् । तन्न । तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्ययसायादुत्तारितत्वान् । एव च तत्पुण्य नैकतरस्यापि इति विचाल एव विलीनमिगङ्गकुलानेन । किन्तु पापानुमन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव । अथ विप्रापभुक्त तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्, क ईवैतत्प्रत्येतु । विभाणामेव मेदुरोदरतादर्शनात् । तद्रूपि च तेषा सक्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यत । भोजनावसरे तसद्द्रुमालिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात् विभाणामेव च तप्तं साक्षात्करणात् । यदि पर त एव स्वृल्लस्रलैराकुलतरमतिगार्द्ध्याद् भक्षयन्तं प्रेतमाया, इति सुधैर श्रद्धादिविधानम् । यन्पि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चयम् ॥

यदि कहो, कि पितरोंके उद्देश्यमे श्राद्धके करनेपर तान देनेवाले पुत्र आदि-को ही पुण्य होता है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि श्राद्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे पुत्रका कोई भी संबंध नहीं । अतएव श्राद्धजन्य पुण्य न तो पितरोंका पुण्य कहा जा सकता है, और न पुत्रोंका । जिस प्रकार बसिष्ठ ऋषिके शापसे त्रिशतु राजा चाराल हो कर, जिस समय विश्वामित्रकी सहायतासे किये हुए उनके माहात्म्यमे पृ राको उड कर स्वर्ग जाने लगा, और इन्न्ने उपित हो कर त्रिशतु राकाको स्वर्गमें नहीं आने दिया, उस समय वह पृथिवी और स्वर्गके बीचमें लटका रह गया, उसी प्रकार श्राद्धसे उत्पन्न पुण्यको पिता और पुत्र दोनों ही उपभोग नहीं कर सकते, इस लिये यह पुण्य बीचमें ही लटका रह जाता है । इस लिये यह पुण्य पापका कारण होनेसे वास्तवमें पाप ही है । यदि आप लोग कहें, कि ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन पितरोंके पास पहुच जाता है, यह भी विश्वास करने योग्य नहीं है । क्योंकि जो भोजन ब्राह्मणोंको खिलाया जाता है, उससे ब्राह्मणोंका ही पेट मोटा होता है । पितरोंका ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रविष्ट होना भी मित्रनामके योग्य नहीं, क्योंकि ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय उनके शरीरमें पितरोंके प्रवेश होनेका कोई भी चिह्न दिखाई नहीं पडता । तथा भोजन खा कर ब्राह्मण लोग ही तृप्त होते हैं । ये ब्राह्मण लोग बड़े बड़े आसोद्वारा अति लोलुपताके साथ भोजन करते हुए साम्राज्य प्रेतोंके समान माउम होते हैं । अतएव श्राद्ध आदिमें मित्रनाम कर्मा बिलुप्त व्यर्थ है । तथा बहुतसे पितर पुत्रोंके शरीरमें प्रविष्ट हो कर जो गया आदि तीर्थ स्थानोंमें श्राद्ध करनेके लिये कहते हैं, वे भी कोई ठगनेवाले खोट नामके धारक व्यतर आदि नीच जातिके डेव ही हुआ करते हैं ।



यदप्युदितम् आगमश्चात्र प्रमाणमिति । तदप्यप्रमाणम् । स हि पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा ? पौरुषयश्चेत् सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा ? आत्रपक्षे युष्मन्मतव्याहृतिः । तथा च भवत्सिद्धातः ।

“ अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते ।

नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ” १ ॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र ढीपरत्कर्तृत्वेनाश्र्वासप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेत् न सभ्रत्यव । स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तथाहि । उक्तिरचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगत रूपमस्य । एतत्क्रियाभावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् केवलं कचिद् ध्वनदुपलभ्यते । उपलब्ध्यात्रप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासभवात् । तस्मात् यद् वचनं तत् पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसभवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहु—

“ ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।

पुसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ” ॥

हिंसा करनेमें जो आप लोगोंने आगमको प्रमाण कहा, वह आगम ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता । हम पूछते हैं, वह आगम पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय है ? यदि वह आगम पौरुषेय है, तो वह पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ ? यदि आगमका बनानेवाला पुरुष सर्वज्ञ है, तो आप लोगोंके सिद्धांतसे विरोध आता है । क्योंकि कहा है “ कोई अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात् द्रष्टा नहीं है, अतएव नित्य वेद वाक्योंसे ही अतीन्द्रिय पदार्थोंकी यथार्थताका निश्चय होता है । ” यदि असर्वज्ञ पुरुषको आगमका कर्ता मानो, तो असर्वज्ञ पुरुषके सदोप होनेके कारण उस आगममें विश्वास नहीं किया जा सकता । यदि कहो, कि आगम अपौरुषेय है, यह भी असमभव है । क्योंकि वचन रूप क्रिया पुरुषद्वारा ही समभव हो सकती है, पुरुषकी क्रियाके बिना वचन नहीं होता । यदि कहीं पुरुष-जन्य क्रियाके बिना भी वचन सुन पड़े, तो उस स्थानमें किसी अदृश्य वक्त्राकी कल्पना करनी होगी । अतएव ‘ वचन ’ पौरुषेय ही है, क्योंकि वह वर्णात्मक है । जैसे कुमारसभ्र आदि वर्णात्मक होनेसे पौरुषेय हैं, वैसे वेद भी वचन रूप होनेसे वर्णात्मक है, इस लिये वेद पौरुषेय है । कहा भी है “ वर्णोंका समूह निश्चय ही ताल्वादिसे उत्पन्न होता है, तथा वेद वर्णात्मक है । ताल्वादि स्थान पुरुषके ही होत हैं, इस लिये वेद अपौरुषेय नहीं हो सकता । ”

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्विरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमवाङ्गीक्रियते । अन्यथा “ अग्निहात्र जुहुयात् स्वर्गनामः ” इत्यस्य श्वास भक्षयदिति किं नार्थः । नियामकाभावात् । तता वर सूत्रमपि पौरुषयमभ्युपगतम् । अस्तु वा

अपौरुषेय , तथापि तस्य न प्रामाण्यम् । आप्तपुरुषार्थिना हि वाचां प्रमाणतेति । एव च तस्याप्रामाण्ये, तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसात्मको यागश्राद्धादिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति ॥

तथा, श्रुतिको अपौरुषेय मान कर भी आप लोगोंने श्रुतिके व्याख्यानको पौरुषेय ही माना है । यदि श्रुतिके अर्थका व्याख्यान पौरुषेय न मानो, तो “ अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम ” ( स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्र यज्ञकी आहुति दे ) इस श्रुतिका “ स्वर्गका इच्छुक कुत्तेके मासकी आहुति दे ” ( अग्निहा आ तस्य उत्र मास ) यह अर्थ भी किया जा सकता है । क्योंकि यदि श्रुतिका व्याख्याता पुरुष नहीं है, तो अमुक श्रुतिका अमुक ही अर्थ होता है, दूसरा नहीं, इसका कोई नियम न रह सकेगा । अतएव श्रुतिके अर्थकी तरह श्रुतिको भी पौरुषेय ही स्वीकार करना चाहिये । अथवा वेदका अपौरुषेयत्व भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वेदका प्रामाण्य भी आप्त पुरुषोंके वचनोके ऊपर ही अवलम्बित है । अतएव वेदके अप्रामाण्य होनेपर वेद और स्मृति आदिद्वारा प्रतिपादित हिंसात्मक याग, श्राद्ध आदिका निधान भी अप्रामाण्य ही है ।

अथ योऽयं “ न हिंस्यात् सर्वभूतानि ” इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः, सामान्यतो विधिरित्यर्थः । वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदम्, विशेषतो विधिरित्यर्थः । तत्रापवादो नोत्सर्गम्य बाधितत्वाद् न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय । “ उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान् ” इति न्यायात् । भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः । तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिषेवनानामनुष्ठानात् । मैलानाद्यसस्तरे आधार्कमादिग्रहणभणनाच्च । अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा, देवतादिप्रति, पुष्टालम्बनत्वात् ॥

शरा—उत्सर्ग ( सामान्य ) और अपवादके भेदसे विधि दो प्रकारकी होती है । इन दोनों विधियोंमें अपवाद विधि बलवान होती है । प्रस्तुत प्रसर्गमें “ किसी जीवकी हिंसा न करो ( मा हिंस्यात् सर्वभूतानि ) ’ यह सामान्य विधि तथा “ वेद विहित हिंसा पापके लिये नहीं होती ” यह अपवाद विधि है । अतएव सामान्य और अपवाद विधिमें अपवाद विधिके बलवान होनेके कारण वेदोक्त हिंसा दोषपूर्ण नहीं है । तथा जैन भी हिंसाका सर्वथा निषेध नहीं करते, क्योंकि अमुक कारणोके उपस्थित होनेपर पृथिवी आदिके वध करने की आना जैन शास्त्रोंमें भी ढी गई है । इसी प्रकार

१ छा-दोग्य उ ८ । १ हेमदसगणिसमुच्चितहेम-पाकरणरचनाय । ‘ मा हिंस्यात् सर्वभूतानि ’ इत्युत्सर्गस्य ‘ वाच्य श्वेतमारभेत ’ इति शास्त्रमपवादः । ३ सयमानिर्गहः । ४ आघाय साधुभूतवि प्रणिपाय यत्त्रियव भक्षादि तदापाकम् । पृषोदरादित्वादिति यत्प । आघान साधुनिमित्त चेतस प्रणिधान यथायुक्तस्य साधो कारणेन मया भक्षादि पचनीयमिति । आघया कम पाकादिक्रिया आघाकम् । तत्रोगाद् भक्षापि आघाकम् ।

सामान्य रूपसे माधुओको उद्दिष्ट भोजनके त्यागकी आज्ञा होनेपर भी, रोग आदिके कारण सयमका पालन करनेमें असमर्थ मुनियोके लिये उद्दिष्ट भोजन (आधाकर्म) ग्रहण करनेकी आज्ञा भी जैन शास्त्रोंने दी है, अतएव सामान्यसे हिंसाका निषेध करके भी देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें यज्ञमें हिंसाका विधान अपवाद विधिसे ही किया गया है।

इति परमाशङ्क्य स्तुतिहार आह । नोत्सृष्टमित्यादि । अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पद डमरुक्रमेणिन्यायेनोभयत्रापि सम्यन्धनायम् । अन्यार्थमुत्सृष्टम्—अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्—उत्सर्गशक्यम्, अन्यार्थप्रयुक्तेन वास्येन नापोयते—नापवादगोचरीक्रियते । यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गं प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयानिष्क्रो-  
न्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात् । यथा जैनानां सयमपरिपालनार्थं नवकोटिविगुणाहारग्रहणमुत्सर्गं । तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्तु च निषेधितस्य गत्यन्तराभावे पचमादियतनया अनेपणीयादिग्रहणमपवादः । सोऽपि च सयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैश्शरणस्य गत्यन्तराभावाऽसिद्ध इति वाच्यम् ।

“ सर्व्वेत्थ सजम सजमाओ अप्पाणमेव रत्तिवज्जा ।

मुच्चइ अडयायाआ पुणा विसोही नयाऽनिरई ” ॥

इत्यागमात् ॥

समाधान—सामान्य ओर अपवाद दोनों वास्य शास्त्रोंके एक ही अर्थको ले कर प्रयुक्त होते हैं । जैसे ऊच नीचका व्यवहार सापेक्ष होनेसे एक ही अर्थका साधक है, वैसे ही सामान्य ओर अपवाद दोनों सापेक्ष होनेसे एक ही प्रयोजनको सिद्ध करते हैं । उपाहरणके लिये, जैन मुनियोके वास्ते सामान्य रूपसे सयमकी रथाके लिये नव कोटि ( स्वय मारना, दूसरेसे मरवाना, मारनेवालेका अनुमोदन करना, भव्य पचाना, दूसरेसे पचाना, पचाने-वालेका अनुमोदन करना, स्वय मोल लेना, दूसरेसे मोल लिजाना, और मोल लेनेवालेका अनुमोदन करना ) से विगुण आहार ग्रहण करनेकी विधि बताई गई है । परन्तु यदि किमी कारणसे कोई मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काठ और भाव-जन्य आपदाओसे ग्रस्त हो जाय, और उसे कोई मार्ग सूझ न पड़े, तो ऐसी दशामें वह पच कोटिसे विगुण आहारका ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद नियम है । परन्तु जैसे सामान्य विधि सयमकी रथाके लिये है, वैसे ही अपवाद विधि भी सयमकी रथाके लिये है । क्योंकि मरणासन्न मुनिके अपवाद मार्गका अवलम्बन करनेके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है । यदि कहो, कि मरणासन्न मुनिको भी अपवाद मार्ग ग्रहण न करके किमी दूसरे ही मार्गका अवलम्बन लेना चाहिये, यह

१ डमरुक्रमेण प्रतिबद्धो भण्डिके एर सन् डमरुत्रिचाले तदुभयाङ्गसंबद्धो भगति तद्देकमेवापार्थ मिति पदमुभयत्र संबध्यते । अयमेव “यायो दह्लादीप वाय इत्यप्यभि शीघ्रन ।

२ छाया-सवन सयम सचमादात्मानमेव रक्षेत् । मुच्यतेऽतिपातात्पुनर्विगुदिनं चारिषति ॥

ठीक नहीं है। क्योंकि आगममें कहा है “ मुनिको सब प्रकारसे अपने समयकी रक्षा करना चाहिए, यदि समयका पालन करनेमें अपना मरण होता हो, तो समयको छोड़ कर अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि इस तरह मुनि दोषोंमें रहित होता है, वह फिरसे शुद्ध हो सकता है, और उसके मन भगका दोष नहीं लगता। ”

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैक रोगप्रधिकृत्य नस्याञ्चिदवस्थायाम् निश्चिद्वस्त्वप्यथ, तदवावस्थान्तरे तत्रैव रोग पथ्यम्—

“ उत्पन्ने हि सावस्था देशनालामयान् प्रति ।

यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयत् ” ॥

इति वचनात् । यथा बन्धुदादेर्ज्वरिणो लङ्घन, क्षीणघातास्तु तद्विपर्यय । एव देशा-  
धपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम् । तथा च ग्रन्था —

“ कालारिणोऽपि निर्दिष्ट ज्वरादौ लङ्घन हितम् ।

ऋतेऽनिश्रमत्रोधशोरकामदृत्तञ्चरान् ” ॥

एव च य पूर्वपथ्यपरिहारा, यत्र तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोग । स खलु भयारपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थं । इति सिद्धमरुविपकृत्वमुत्सर्गापवादयोरिति ॥

आयुर्वेदमें भी जो बस्तु रोगकी एक अवस्थामें अपथ्य है, वही दूसरी अवस्थामें पथ्य कही गई है। वना भी है ‘ देश और कालसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें न करने योग्य कार्योंको करना पड़ता है, और करने योग्य कार्योंको छोड़ना पड़ता है। ”

जैसे बलवान् चरके रोगीको लघन स्वास्थ्यप्रद है, परन्तु क्षीणघातु चरके रोगीको बर्ध लघन घातक होता है, इसी तरह किसी देशमें चरके रोगीको वही विधान पथ्य समझा जाता है, परन्तु वही वही दूसरे देशके चरके रोगीके लिये अपथ्य है। वैद्योंने भी कहा है,

“ वात, श्रम, क्रोध, शोक और काम जन्य ज्वरको छोड़ कर दूसरे ज्वरोंमें शीघ्र, शीत, आदि ऋतुओंके अनुकूल लघन करना हितकारी है। ” अतएव एक रोगमें जिस अपथ्यका त्याग किया जाता है, वही अपथ्य उसी रोगकी दूसरी अवस्थामें उपादेय होता है।

परन्तु एक रोगकी दोनों अवस्थामें अपथ्यका त्याग और अपथ्यका ग्रहण दोनों ही रोगको शमन करनेके लिये होते हैं। इस लिये सामान्य और अपवात् दोनों ही विधि एक ही प्रयोजनको सिद्ध करती हैं, इस लिये अपवात् विधि सामान्य विधिमें बलवान् नहीं हो सकती।

भयता चोत्सर्गोऽन्यार्थं अपवादश्चान्यार्थं “ न हिंस्यात् सर्वभूतानि ” इत्युत्सर्गा हि दुर्गतिनिषेधार्थं । अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिदेवताऽतिथिपितृप्रीति-  
सपादनार्थं । अतश्च परस्परनिरपभत्वे न्यमुत्सर्गाऽपवादेन ग्राह्यते । “ तुल्य-  
प्रत्ययान्तराद्यं ” इति न्यायात् । भिन्नाऽपि तत्र तद्वाधन अतिप्रसङ्गात् । न च

चान्य वैदिकहिंसात्रिधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति । तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वानिलोठनात् । तन्तरेणापि च प्रकारान्तरेणपि तत्सिद्धिभावान् गत्यन्तरा-  
भावे एवपादपक्षकृत्कारः । न च वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्व नाङ्गीकुर्महे, किन्तु  
भवदाप्ता अपि । यदाह व्यासमहर्षिः—

“ पूजया विपुल राज्यमग्निज्ञायण सपत्नः ।

तप पापविशुद्धयर्थं ज्ञान ध्यान च मुक्तिदम् ” ॥

अत्राग्निकार्यशब्दाच्चस्य यागाद्विधेरुपायान्तरेणपि लभ्याना सपत्रामेव  
हेतुत्व वदन्नाचार्यं तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितमानेव । तथा च स एव भावमग्नि  
ज्ञान पालीत्यादिश्लोकैः स्थापितवान् ॥

आप लोगोंके वक्तव्यम उत्सर्ग विधि और अपवाद विधि दोनों भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके  
साधक हैं । जैसे “ किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये, ” यह सामान्य विधि नरक  
आदि खोटी गतियोका निषेध करनेके लिये बनाई गई है, तथा “ वेदोक्त हिंसा हिंसा नहीं  
है, ” यह अपवाद विधि देवता, अतिथि और पितरों को प्रसन्न करनेके लिये कही गई है ।  
इस प्रकार सामान्य और अपवाद दोनों एक दूसरे से निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य विधि  
अपवाद विधिसे बाधित नहीं हो सकती । क्योंकि “ तुल्य बल होनेपर ही विरोध होता है ” ।  
इस लिये सामान्य और अपवादके भिन्न भिन्न प्रयोजनों के सिद्ध करनेपर भी सामान्य और  
अपवादमें विरोध नहीं हो सकता । यदि आप लोग कहें, कि वैदिक हिंसा भी स्वर्गका  
कारण है, इस लिये उससे भी दुर्गतिका निषेध होता है, अतएव सामान्य और अपवाद एक  
ही प्रयोजनके साधक हैं, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्गका कारण नहीं  
हो सकती, इसका हमने ऊपर युक्तियोंसे खडन कर दिया है । वैदिक हिंसाके निना अन्य  
साधनोंसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है । अतएव यदि स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अन्य साधन  
न होते, तो आप वैदिक हिंसासे स्वर्गपानेके लिये अपवाद विधि स्वीकार कर सकते थे,  
परन्तु आपने स्वयं ही यम, नियम आदिको स्वर्गका कारण माना है । ( देखो गौतम  
धर्मसूत्र, पाननल-योगसूत्र, मनुस्मृति आदि ) तथा केवल जैन लोग ही वेदोक्त यज्ञ  
विधानका निषेध नहीं करते, परन्तु आप लोगोंके पूज्य व्यास जैसे ऋषियोंने भी कहा है  
“ पूजासे विपुल राज्य, यज्ञ आदिसे सपदा, तपसे पापोंकी शुद्धि तथा ज्ञान और ध्यान  
से मोक्ष मिलना है । ” यदा व्यास ऋषिने ‘ अमिकार्य ’ शब्दसे याग आदिके विधानको  
केवल सम्प्रदायको ही कारण माना है, सुगतिका कारण नहीं बताया । तथा ‘ ज्ञानपादि ’  
आदि श्लोकोंसे व्यास ऋषि पहले ही भाव अमिहोत्र ( भावयन ) का प्रतिपादन कर चुके हैं ।

तदेव स्थिते तेषां वादिना चष्टामुपमया दूपयति स्वयुनेत्यादि । परंपा भरतृष्णी-  
तयनपराद्मुखानां स्फुरित-चष्टितम्, स्वपुत्रघाताद् नृपतित्त्रलिप्सासब्रह्मचारि-

निजसृतनिपातनेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम् । यथा किल ऋश्चिदविपश्चित् पुरुषः  
पटपाणयतया निजमङ्गज व्यापाय राज्यश्रिय प्राप्तुमीहते । न च तस्य तत्प्राप्तावधिप  
पुत्रघानपातरुक्लङ्कपङ्क. कचिद्रपयाति । एव वेदाविहिताहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धानपि,  
हिंसासमुत्थ दुष्कृत न खल पराहन्यते । अत्र च लिप्सागन्त प्रयुञ्जान' स्तुतिकारो  
ज्ञापयति यथा तस्य दुराशयस्यासदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ  
क्वचल समाहिमात्रमेव, न पुनस्तत्सिद्धिः । एव तेषां दुर्घाटिना वदविहिता हिंसामनु  
तिष्ठतामपि देवतादिपरितापण मनोराज्यमेव । न पुनस्तेषामुत्तपजनपूज्यत्वमिन्द्रादि-  
दिवीरुसा च तसि । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् ॥ इति वाव्यार्थ ॥ ११ ॥

अतएव जैसे कोई मूर्ख पुरुष कठोर स्वभावके कारण अपने पुत्रका वध करके राज्य  
को प्राप्त करना चाहता है, और राज्य पानेपर वह पुत्र वधके पापसे मुक्त नहीं होता, इसी  
प्रकार यानिक लोग वेदोक्त हिंसाके द्वारा देवता आदिको प्रसन्न करके स्वर्गको प्राप्त करना  
चाहते हैं, परन्तु यदि हिंसाके द्वारा देवता आदि प्रसन्न होते भी हो, तो भी यानिक लोग  
हिंसा-जन्य पापसे मुक्त नहीं हो सकते । तथा जिस प्रकार अपने पुत्रका वध करनेवाले पापी  
पुरुषको राज्यकी प्राप्ति नहीं होती, वह केवल राज्यको पानेकी इच्छा मात्र ही  
करता रहता है, उसी तरह वेदोक्त हिंसाका अनुष्ठान करते हुए भी हिंसासे देवता  
आदिको प्रसन्न करना केवल इच्छा मात्र है । वास्तवमें न तो हिंसासे देव लोग प्रसन्न  
होते हैं, और न हिंसक पुरुषोंकी जनसमानमें कोई प्रतिष्ठा ही बढ़ती है । यह  
श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—( १ ) इस श्लोकम वैदिक लोगोकी हिंसाका खंडन किया गया है ।  
वैदिक—वेदम प्रतिपादित हिंसा पुण्यका कारण है, क्योंकि उस हिंसासे प्रसन्न होकर  
देवता लोग वृष्टि करने हैं, अतिथि लोग दया दिखलते हैं, और पितर सत्तानकी वृद्धि करते  
ह । जैन—किमी भी प्रकारकी हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, यदि हिंसा धर्मका  
कारण हो तो वह हिंसा नहीं करी जा सकती । तथा वेदद्वारा प्रतिपादित हिंसा हिंसा नहीं है,  
यह कहनेमें भी प्रत्यक्ष विरोध आता है । मूत्र आदिकके बलसे वेदोक्त हिंसा पापका कारण नहीं  
होती, और इस प्रश्नरही हिंसासे स्वर्ग मिलता है, यह कटना भी असत्य है, क्योंकि  
मत्रोंको पढ़ पढ़ कर पशुओंके वध करनेमें भी मूत्र पशु अनन्त वेदनासे छटपटाने हुए देसे  
जाते हैं । वेदोक्त रीतिते वध किये हुए पशुओंको स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसमें भी कोई  
प्रमाण न होनेसे यह बात विदग्धमनीय नहीं है । तथा, जिस प्रकार विवाह, गर्भाधान आदि  
कार्योंमें वेदोक्त मत्रविधि के प्रयोग करनेपर भी दृष्टकी सिद्धि नहीं होती, उसी तरह मत्रमे  
ससृष्ट हिंसासे भी स्वर्ग नहीं मिलता ।

शक्रा—जिम प्रकार जैन मदिरोके निर्माण करनेमें त्रम और स्थावर जीवोंकी हिंसा होनेपर भी जैन लोग मदिरोके बनानेमें पुण्य समझते हैं, उसी तरह वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा भी पुण्यका ही कारण होती है। समाधान—जैन मदिरोके निर्माणमें हिंसा अग्र्य होती है, परन्तु वह हिंसा इतनी अल्प है, कि मदिरमें जिन प्रतिमाके दर्शनसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जैसे महान पुण्यके सामने वह नगण्य है। जिम प्रकार कोई वैद्य रोगीको अच्छा करनेके लिये नश्टर लगाना, लघन कराना आदि दुरूप क्रियाओंको करता हुआ भी अपने शुभ परिणामोंके कारण पुण्यका ही भागी होता है, उसी तरह जिन मदिरोका निर्माण शुभ परिणामोंमें अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है। तथा वेदोक्त हिंसा स्वर्गकी प्राप्तिमें कारण नहीं होती। क्योंकि बध-स्थलपर रा कर इकट्ठे किये हुए पशुओंका करुणापूर्ण आनन्दन अशुभ गतिका ही कारण होता है। तथा आप लोगोंने स्वयं यम, नियमादिकों स्वर्ग पानेमें कारण बताया है। तथा, यदि यज्ञमें बध किये हुए सप्त पशुओंको स्वर्ग मिलने लगे, तो सप्ताके सभी हिंसकोंको स्वर्ग मिलना चाहिये। अतएव कपिल ऋषिके अनुयायियोंने कहा है, “यदि पशुओंको मारकर, उनके रक्तसे पृथ्वी मडलका सींचकर स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये और भी महा मयक पाप करने चाहिये।” तथा यदि छोटे छोटे मूक पशुओंके बधसे स्वर्ग मिल सकता है, तो अपने प्रिय माता पिताकी यज्ञमें आहुति देनेसे मोक्ष मिलना चाहिये।

शक्रा—वाक्य सामान्य और अपवादके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जैसे ‘न हिंसात् सर्वभूतानि,’ अर्थात् किमी प्राणीको मत मारो, यह सामान्य वाक्य है, और ‘वेदोक्त हिंसा पुण्यका कारण होती है,’ यह अपवाद वाक्य है। सामान्य और अपवाद वाक्योंमें अपवाद वाक्य विशेष बलवान होता है, इस लिये वेदोक्त हिंसामें पाप नहीं है। समाधान—सामान्य और अपवाद दोनों वाक्य एक ही भावके द्योतक होने चाहिये, परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें अपवाद वाक्य देवता, अतिथि और पितरोंको प्रमत्त करनेके लिये है, और सामान्य वाक्य पाप और उसका फलको दूर करनेके लिये बताया गया है। तथा देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हिंसके अतिरिक्त अन्य दृमरे उपाय आपके शास्त्रोंमें भी बतलाये हैं, फिर आप हिंसात्मक उपायोंका ही क्यों अलम्बन लेते हैं।

( २ ) इसी तरह इस लोकमें ब्राह्मणोंको सिखाया हुआ भोजन किसी भी तरह मृत प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता। इस लिये श्राद्ध करना भी धर्म नहीं है ( देखो व्याख्या )। ( ३ ) वर्णात्मक वेद तालु आदिसे उत्पन्न होता है, और तालु आदि स्थान पुरपके ही सभ्य हैं। तथा श्रुतिके तात्पर्यको समझानेके लिये भी किमी वक्ताकी आवश्यकता है, इस लिये वेदको पौरुषेय मानना ही युक्तियुक्त है।

मांप्रत नित्यपराश्रयज्ञानवाप्तिना मीमासकभेदभट्टानाम् एकात्मसमयाधिज्ञाना  
न्तररेयज्ञानवाप्तिनां च यांगाना मत विरुद्धयन्नाह—

अत्र, ज्ञानको प्रत्यक्ष न मान कर उमे परोक्ष माननेवाले भट्ट मीमामक,  
तथा एक ज्ञानको अन्य ज्ञानसे स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिक लोगोके मतपर  
विचार करते हैं—

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु ।

परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान अपनेको और दूसरे पदार्थोंको जानता है, अन्यथा पदार्थोंका  
ज्ञान नहीं हो सकता । इस अकाश मिद्वानके सर्वमान्य होनेपर भी अन्य मताव-  
लम्बियाने ज्ञानको स्वमवेदनसे रहित स्वीकार किया है ।

बोधा—ज्ञान, म च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते । स्वस्य आत्मस्वरूपस्य, अर्थस्य  
च पदार्थस्य याऽवबोधः—परिच्छेदमन्त्र, क्षम एव समर्थ एव प्रतिभासते इत्ययोग-  
व्ययच्छेद । प्रकाशते इति क्रियया अवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रमाणाणां  
स्वार्थप्रमाणाकारेण, वाचस्यापि तन्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह । नार्थकथान्यथात्विति ।  
अन्यथिति—अर्थ प्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्यस्वसंविन्नित्तत्त्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् ।  
अर्थकथापत्तार्थसम्बन्धिनी वार्ता, सदसद्रूपात्मन स्वरूपमिति यावत् । तुशब्दोऽवधारणे  
भिन्नक्रमश्च, म चार्थकथया सह याजित एव । यदि हि ज्ञान स्वसंविन्नित्त नेष्यते, तदा  
तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपभणाय ननाप्यपरमिन्यायनरस्था । तदा ज्ञान तावत् स्वान-  
योऽव्यप्रतामप्रम् । अर्थन्तु जडतया स्वरूपज्ञापनाममर्ग इति का नापार्थस्य कथामपि  
कथयत् । तथापि एव ज्ञानस्य स्वसंविन्नित्तव गुरुत्या घटमानेऽपि, परे—तीर्थान्तराया,  
ज्ञान-वर्षतापन्नम्, अनामनिष्ठ-न विप्रत आत्मन स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य  
तन्नात्मनिष्ठम्, अस्यसंविन्नित्तमित्यर्थः, प्रपेदिरे—प्रपक्षा । बुत इत्याह । परेभ्यो भयत,  
पर पूर्वपदादिन, नभ्य मजागान् ज्ञानस्य स्वसंविन्नित्तत्व नोपपद्यते, स्वात्मनि  
क्रियाविराधात्त्रिपुपालम्भसम्भारनासम्भय यद्वय तस्मात् तन्नाश्रित्येत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकाश रूपिक अपने और दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है,  
वेमे ही शात निव और पर पदार्थोंको जानता है । यदि ज्ञानको स्वसंविन्नित्त न माना जाय, तो  
पदार्थोंकी भाव और अभाव व्यवस्था नहीं बन सकती । क्योंकि यदि ज्ञान स्वमवेदन रूप  
नहीं हो, तो एक ज्ञानके जाननेके लिये दूसरा और दूसरेके लिये तीसरे ज्ञानकी  
आवश्यकता होनेसे अनवस्था होय मानना पड़े । इस लिये नत्र ज्ञान ही अपने आपको नहीं  
जान सकता, तो फिर जड रूप पदार्थोंका ज्ञान कैसे हो सकता है । अतएव पदार्थोंके



विषयमें कोई बात करना भी असम्भव हो जायगा । इस प्रकार युक्तिसे ज्ञानके स्वसंप्रेदन रूप सिद्ध होनेपर भी 'आत्मामें क्रियाके विरोध होनेमें ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं हो सकता' दूसरे वादियोंके इस उपालम्भके भयसे मष्टमतके अनुयायी ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते ।

इत्थपक्षरगमनिष्ठा विधाय भावार्थं प्रपञ्चयते । भट्टास्तावद्विद वदन्ति । यत् ज्ञान स्वसन्निहितं न भवति, स्वात्मानि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षिताऽपि नटपटुः स्वस्कन्धमधिरोहो पटुः, न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्व छेतुमाहितव्यापारा । ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति । तदतन्न सम्यक् । यत् त्रिमुत्पत्तिं स्वात्मानि विरुध्यत ज्ञप्तिर्वा । यत्पुत्पत्तिं सा विरुध्यताम् । नहि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पात्यतीति मन्यामहे । अथ ज्ञप्तिः, नेयमात्मानि त्रिमुद्धा । तदात्पन्नैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् । प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोकस्य । अथ प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परमकाशोऽस्तु । आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽप्य न्यायः । इति चत्, तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशिते- नैव स्वातव्यम्, आलोकान्तराद् तस्य प्रकाशेन भवितव्यम् । प्रथमे प्रत्यक्षप्राथ । द्वितीयऽपि सैवानुस्थापत्तिश्च ॥

भट्ट—ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको ही जानता है । क्योंकि प्रकाश होना क्रिया है, इस लिये कोई भी क्रिया स्वय ही अपना विषय नहीं हो सकती । जैसे चतुरसे चतुर नट भी स्वय अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया होना समझ नहीं है, अतएव ज्ञान परोक्ष ही है । जैन—यह ठीक नहीं । हम पूछते हैं, ज्ञान स्वय उत्पन्न नहीं होना, अथवा ज्ञान निज स्वरूपको नहीं जानता । यदि कहो, कि ज्ञान अपने आप उत्पन्न नहीं होता, तो हम भी इसे स्वीकार करते हैं । परन्तु यदि आप लोग ज्ञानको निज स्वरूपका ज्ञाता न मानें, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जैसे दीपकका प्रकाश प्रकाश रूप ही उत्पन्न होता है, वैसे ही ज्ञान भी अपने कारणोंसे ज्ञान रूप ही उत्पन्न होता है । शक्रा—दीपकका प्रकाश प्रकाश रूप होता है, यह ठीक है, परन्तु यह प्रकाश दूसरे पदार्थोंको ही प्रकाशित करता है, अपने आपको नहीं । समाधान—यदि दीपकका प्रकाश दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता हुआ अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है, तो दीपकको स्वयं अप्रकाशित ही मानना चाहिये । परन्तु यह प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि दीपक दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करनेके साथ स्वयं भी प्रकाशित होता हुआ देखा जाता है । यदि दीपकका प्रकाश स्वयं प्रकाशित होनेमें दूसरे प्रकाशको अपेक्षा रखे, तो इसमें अनवस्था दोष आता है ।

अथ नासां स्वमपेक्ष्य कर्मतया चक्रास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वक्रियत, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थं । प्रकाशरूपतया तत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चत्, चिरञ्जीव ।

न हि वयमपि ज्ञान कर्मतयैव प्रतिभासमान स्वसद्वेद्य ब्रूमः । ज्ञान स्वय प्रतिभासत इत्यादावकर्मरुस्य तस्य चक्रासनात् । यथा तु नान स्व जानामीति कर्मतयापि तद्भाति, तथा प्रदीप स्व प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव ॥

शक्रा—एक ही क्रियामें कर्ता और कर्म दोनों नहीं रह सकते, इस लिये प्रकाश क्रियाका कर्ता दीपक प्रकाश क्रियाका कर्म नहीं हो सकता, अतएव दीपकका प्रकाश अपने आपको प्रकाशित नहीं करता, किन्तु वह प्रकाश रूपमें उत्पन्न होता है, इस लिये स्वय प्रकाशित होता है । समाधान—हम लोग भी नानको कर्म रूपमें स्वय प्रकाशक नहीं मानते । जिस प्रकार आप लोग प्रदीपको प्रकाश रूपसे उत्पन्न होनेके कारण स्वय प्रकाशित मानते हैं, वैसे ही हम भी नसि रूपमें उत्पन्न ज्ञानको ही स्वय प्रकाशक मानते हैं । ‘ज्ञान स्वय प्रतिभासित होता है’ आदि वाक्योंमें भी नान कर्म रहित ही है । तथा जिस प्रकार ‘प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है’ हम वाक्यका प्रयोग होता है, वैसे ही ‘ज्ञान अपने आपको जानता है’ इस कर्म रूप वाक्यका व्यवहार हो सकता है ।

यस्तु म्वात्मनि क्रियात्रिराधो दोष उद्भाविता सोऽयुक्त । अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धे । घटमह जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात् । न चाप्रत्यक्षोपलम्भम्यार्थदृष्टि प्रसिंयति । न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलम्भस्य प्रमृत्तोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् । उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थापलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदापः ॥

तथा नानको स्वप्रकाशक माननेमें जो आप लोगोंने दोष दिया, कि ‘ज्ञानमें क्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानमें कर्ता और कर्मका विरोध आता है,’ यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अनुभवसे सिद्ध पदार्थोंमें यह विरोध नहीं देखा जाना । जिस प्रकार ‘मैं घटको जानता हूँ’ इत्यादि प्रयोगोंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है, उसी तरह ‘मैं ज्ञानको जानता हूँ’ आदि वाक्योंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है । तथा नानको परोक्ष स्वीकार करनेपर ज्ञान पदार्थको नहीं जान सकता । क्योंकि एक ज्ञानका दूसरे ज्ञानमें प्रत्यक्ष माननेमें अनवस्था दोष आता है । शक्रा—पदार्थके प्राकट्य ( जातता ) से ज्ञानका स्वमवेदन होता है, अर्थात् घटका ज्ञान होनेपर, ‘मैंने घट जाना है’ इस ज्ञानसे घटना प्राकट्य होता है । यह घटका प्राकट्य घटके ज्ञानमें प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं था, घटके ज्ञान होनेपर ही उत्पन्न हुआ है, अतएव यह घट-प्राकट्य ज्ञानसे ही पैदा होता है । इस घट-प्राकट्यमें ज्ञानका स्वमवेदन ( ज्ञान ) होता है । समाधान—इस जातता सिद्धातके माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता

है। क्योंकि पदार्थोंका प्राकट्य और ज्ञानका ज्ञान दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, अर्थात् ज्ञानके होनेपर पदार्थोंका प्राकट्य और पदार्थोंका प्राकट्य होनेपर ज्ञानका ज्ञान होता है।

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञान न स्यात्, इत्यर्थापत्त्या तदुपलम्भ इति चेत्। न। तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञानाया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञानेऽन्यस्थेतरतराश्रयदोषापत्त' तदवस्थः परिभय'। तस्मादर्थाङ्गुलतयेव स्वोऽमु खतयाऽपि ज्ञानस्य मतिभासात् स्वसंचितत्वम् ॥

**भट्टमीमांसकः**—जिस तरह ' देवदत्त पुष्ट है, क्योंकि दिनमें नहीं खाता है ' इस वाक्यमें पुष्टत्वकी अन्यथानुपपत्तिमें देवदत्तका रातको खाना सिद्ध होता है, उसी तरह ' घटके ज्ञानके बिना घटका प्राकट्य नहीं होता है, ' इस घटके प्राकट्यकी अन्यथा नुपपत्तिसे घटका ज्ञान होता है। जैन—यह भी ठीक नहीं। हम पूछते हैं, कि जिन अर्थ-प्राकट्यसे आप लोग ज्ञानको सिद्ध करना चाहते हैं, वह अर्थ प्राकट्य स्वयं जात है, अथवा अजात? यदि यह अर्थ प्राकट्य अजात है, तो अजात अर्थ प्राकट्य ज्ञानके जाननेमें सहायक नहीं हो सकता। यदि अर्थ प्राकट्य जात हो कर ज्ञानका ज्ञान करता है, तो एक जाततामें दूसरी जातता, अथवा एक अर्थापत्ति सिद्ध करनेके लिये दूसरी अर्थापत्ति माननेमें अनवस्था, तथा ज्ञान और जातताके परस्पर सापेक्ष होनेसे अयोन्याश्रय दोष आता है। अतएव जिन प्रकार ज्ञान पदार्थोंका सपेदन करता है, वैसे ही उसे स्वमवेदक भी मानना चाहिये।

नन्वनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिऽनननुभूतित्वमसङ्ग'। प्रयागस्तु ज्ञानमनुभवरूपमप्यनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वाद्, घटवत्, अनुभाव्य च भवद्विरिष्यते ज्ञान, स्वसपे-घत्वात्। नैवम्। ज्ञातुर्ज्ञातत्वेनवानुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात्। नचानुभूतेरनुभाव्यत्व दोषः। अर्थापत्तयानुभूतित्वात् स्वापेक्षया चानुभाव्यत्वात्। स्वपितृपुरापक्षयैरुस्य पुनत्वपितृत्ववद् विरोधाभावात् ॥

**शंका**—यदि अनुभूति (ज्ञानको) की अनुभाव्य ( ज्ञेय ) स्वीकार किया जाय, तो ज्ञेय घट, घटके समान ज्ञानको भी अज्ञान रूप मानना चाहिये। अतएव, ज्ञान अनुभव रूप हो कर भी अनुभाव्य ( ज्ञेय ) होनेसे घटकी तरह अनुभूति (ज्ञान) नहीं हो सकता। आप लोग भी ज्ञानको अनुभाष्य मानते हैं, क्योंकि वह स्वसपेदन रूप है। समाधान—जैसे ज्ञाताका ज्ञाता रूपसे अनुभव होता है, वैसे ही अनुभूति भी अनुभूति रूपसे ही अनुभवमें आती है। तथा, अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें भी दोष नहीं आता, क्योंकि अनुभूति पदार्थोंको

१ ' पुष्टो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते ' इति वाक्ये पुष्टत्वायथानुपपत्त्या यथा रात्रिमौञ्ज कल्प्यते तथा च घटज्ञान विना घटप्राकट्य नोपलम्भ्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञान कल्प्यते।

२ प्रदीपस्यापेक्षया प्रकाशकत्व सापेक्षया च प्रकाशप्रकाशकत्वम्।

जाननेकी अपेक्षा अनुमृति रूप है, परन्तु जब वही अनुमृति स्वमवेत्न करती है, तब वह अनुमात्र्य कही जाती है। अतएव निम्न प्रकार एक ही पुरुषको अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्रोंकी अपेक्षा पिता कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही अनुमृति भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे अनुमृति और अनुमात्र्य कही जाती है। इस लिये कोई दोष नहीं है।

अनुमानाच्च स्वसेवेदनसिद्धि । तथोह । ज्ञान स्वय प्रकाशमानमसार्थ प्रकाशयति, प्रकाशस्त्वात्, प्रदीपयत् । सेवेदनस्य प्रकाशयत्वात् प्रकाशरूपमसिद्धमिति चेत् । न । अज्ञाननिगसादिद्वारेण प्रकाशस्त्रोपपत्तेः ।

तथा 'ज्ञान स्वय प्रकाशित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंको जानता है, क्योंकि वह प्रकाशक है, दीपककी तरह'। इस अनुमानसे ज्ञानके स्वसेवेदनकी सिद्धि होती है। यदि कहे, कि ज्ञान प्रकाश्य है, इस लिये प्रकाशक नहीं हो सकता, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान अज्ञानको नाश करता है, उस लिये वह प्रकाशक ही है।

ननु नत्रादय प्रकाशना अपि स्य न प्रकाशयन्तीति प्रकाशस्त्वद्वेतोरनैकान्ति कृतेति चेत्, न नेत्रादिभिरनैकान्तिरुता । तेषा लब्ध्युपेयागलक्षणभावेन्द्रियरूपाणा- मेव प्रकाशस्त्वात् । भावेन्द्रियाणा च स्वमवेदनरूपतैरिति न व्यभिचारः । तथा सपितृ स्वप्रकाशा, अर्धप्रतीतित्वात्, य स्वप्रकाशा न भवति तासावर्थप्रतीतिः, यथा घट ॥

ज्ञान—नेत्र आदि प्रकाशक होनेपर भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करते, इस लिये प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक है। समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र आदि लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रियद्वारा अपने आपको भी जानते हैं। मतिज्ञानारण कर्मके क्षयोपशममे उत्पन्न होनेवाली विगृह्णति, अथवा विगृह्णिते उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्क ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय कही जाती हैं। स्वर्जन, रमना आदि पाच इन्द्रियोंके आरणके क्षयोपशम होनेपर पदार्थोंके जाननेकी शक्ति विशेषको लब्धि, तथा अपनी अपनी लब्धिके अनुसार आमाके पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेको उपयोग कहते हैं। भावेन्द्रिया स्वमवेत्न रूप होती हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतएव ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह पदार्थोंको जानता है, जो स्वप्रकाशक नहीं होना, वह पदार्थोंको नहीं जानता, जैसे घट।

तत्रैव सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्या ज्ञानस्य स्वसंविदित्व "सत्सप्रयागे

१ अतो श्वादिशिरिषस्तत्तदात्तरणस्य च ।

स्यात् क्षयावयवो लविस्व भावेन्द्रिय हि तत् ॥

स्वस्वल्भ्यनुसारेण विषयेषु य आत्मन

यात्तर उपयोगात् स्वमवेत्तैरिय च तत् ॥ लोकप्रमाणे ३ ॥

२ तैमिनीयुजे १-१-४५ सूत्राधानुगमेतत् । घटादिशिरिषे ज्ञाने ज्ञाने 'मया ज्ञानाऽय घट'

इति घटस्य ज्ञानत्वं प्रतिबधीयते । तेन, ज्ञाने ज्ञाने सति 'ज्ञानना नाम रश्चिद्धर्मो ज्ञान' इत्यनुमीयते । सा च (ज्ञानता) ज्ञानात्पूरमज्ञानत्वात्, ज्ञान ना च ज्ञानराच, अन्वय-वनिरेकाभ्या 'ज्ञानन ज्ञान' इत्यवधारयते (तर्कभाषा पृ २८) । ज्ञानस्य मिति माता मयम् तद्विषयकत्वात् त्रिपुटी तत्प्रत्यक्षता ।

इन्द्रियबुद्धिजनमलक्षण ज्ञान, ततोऽर्थप्राकृत्य, तस्मादर्थापत्तिः, तथा प्रवर्तमानज्ञानस्या पलम्भ ” इत्येवमुक्त्वा त्रिपुटीप्रत्यक्षरूपना भट्टाना प्रयासफलैः ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञानके स्वयं संवेदक सिद्ध हो जानेपर भट्ट लोगोंने त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना करना भी बिल्कुल व्यर्थ है। भट्ट लोगोंने अनुसार, ( १ ) विद्यमान पदार्थोंके साथ इन्द्रिय और बुद्धिका संयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है, ( २ ) इस ज्ञानसे अर्थ प्राकृत्य, अर्थात् पदार्थका ज्ञान होता है, ( ३ ) पदार्थके ज्ञानसे होनेवाली अथापात्तमे प्रकाशक ज्ञानका संवेदन होता है। इसे भट्ट लोगोंने मतम त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा है।

योगास्त्राह । ज्ञान स्वान्यप्रराश्यम्, ईश्वरज्ञानायत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत् । समुत्पन्न हि ज्ञानमेवात्मसम्प्रेतानन्तराद्भविष्युमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनः स्वेन । न चैवमन्यथा । अर्थाप्रसायिज्ञानोत्पादमात्रेणार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात् । अर्थज्ञानजिज्ञासाया तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति । तदयुक्तम् । पक्षस्य प्रत्यनुमाननाधितत्वेन हेतौ कालात्ययापदिष्टत्वात् । तथाहि । विवादास्पदं ज्ञान स्वसंबिधितं, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत् । न चायं वाद्यप्रतीता दृष्टान्तः, पुरुषविशेषस्येश्वरतया जनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धे ॥

न्यायवैशेषिकः—ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वर ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय है ( ईश्वरीय ज्ञानके अतिरिक्त न्याय वैशेषिकोंने सत्र चानोंको दूसरेसे प्रकाशित माना है ), घटकी तरह । ज्ञान उत्पत्तिके बाद ही आत्माके मानस प्रत्यक्षका विषय होता है, अतएव ज्ञान स्वसंवेदक नहीं है । ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेमे अनवस्था दोष नहीं आता । क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है । तथा जब प्रमाताको पदार्थको जाननेकी जिज्ञासा होती है, उस समय ज्ञान उत्पन्न होता है । समाधान—इस अनुमानका पक्ष ‘ज्ञान स्वयं संवेदा रूप है, ज्ञान होनेसे, ईश्वर ज्ञानकी तरह’ इस प्रत्यनुमानसे बाधित है, इस लिये यह हेतु प्रकरणसम ( कालात्ययापदिष्ट ? ) हेतुभास है । यदा ईश्वर ज्ञानका दृष्टात जैनोंको भी मान्य है, क्योंकि वे लोग भी पुरुष विशेषको ईश्वर मानते हैं ।

व्यर्थत्रिशण्यश्चात्र तत्र हेतुः समर्थत्रिशण्यपादानेनैव साध्यसिद्धे । भक्ति सिद्धौ धूमवच्ये सति द्रव्यत्वादिति वद्, ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्यतावतेव गतत्वात् । न हीश्वरज्ञानादन्यत् स्वसंबिधितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति, यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति त्रियत । भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात् ॥

इसके अतिरिक्त, आप लोगोका हेतु व्यर्थत्रिशण्य अथवा असमर्थत्रिशण्य दोषसे दूषित है । जैसे ‘यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमजान हो कर द्रव्य है,’ इस अनुमानमें ‘धूमवान’ विशेषण देनेसे ही अग्निकी सिद्धि हो जाती है, अतएव धूमवान

हेतुका द्रव्यत्व रूप मिश्रण देना व्यर्थ है, उसी तरह 'ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरनाना यत्वे सति प्रमेयत्वात् घटवत्' इस अनुमानमें 'ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति' विशेषण देना ही पर्याप्त है, अतएव प्रमेयत्व हेतु व्यर्थ है। क्योंकि ईश्वरके ज्ञानको छोड़ कर कोई ज्ञान स्वयं मविदित और अप्रमेय नहीं है, जिसकी प्रमेयत्व हेतुमें व्याप्ति की जा सके।

अप्रयोजकश्चाप्य हेतु' । सोपाधित्वात् । साधनाव्यापक साध्यन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते । तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत् । उपाधिश्चात्र जडत्वम् । तथाहि ईश्वरज्ञानान्यत्वे प्रमेयत्वे च सत्यपि यदेव जड स्तम्भादि तदव स्वस्मादन्यन प्रकाश्यते । स्वप्रकाश परमुरूपेक्षित्व हि जडस्य लक्षणम् । न च ज्ञान जडस्वरूपम् । अतः साधनाव्यापकत्व जडत्वस्य । साध्यन समव्याप्तिरुक्त्य चास्य स्पष्टमेव । जाड्य विहाय स्वप्रकाशाभावस्य, त च त्यक्त्वा जाड्यस्य काचिदप्यदर्शनात् इति ॥

तथा, उक्त हेतु साधनके साथ अयापक और साध्यके साथ व्यापक (सोपाधिक) होनेसे अप्रयोजक भी है। जैसे 'गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम वर्णका है, क्योंकि यह मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्य पुत्रोंकी तरह' (गर्भस्थ श्याम मैत्रतनयत्वात् इतरतत्पुत्रवत्) यह अनुमान सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक है, क्योंकि यद्यपि मैत्रतनयत्व अप्रयोजक हेतु शाकपाकजत्व उपाधिके ऊपर अवलम्बित है। इस अनुमानमें मैत्रतनयत्व हेतु गर्भस्थ मैत्रके पुत्रको श्याम वर्णका सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि जो मैत्रके पुत्र नहीं हैं, वे भी श्याम देखे जाते हैं। इस लिये गर्भस्थ पुत्रके श्याम होनेमें माताके शाक आदिका भक्षण ही कारण हो सकता है। अतएव 'यत्र यत्र मैत्रतनयत्व तत्र तत्र शाकपाकजत्व' यह न कह कर, हमें कहना चाहिये, 'यत्र यत्र श्यामत्व तत्र तत्र शाकपाकजत्वम्', इस लिये इस अनुमानमें 'शाकपाकजत्व' उपाधि है। इसी प्रकार 'ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्' इस अनुमानमें 'जडत्व' उपाधि है। क्योंकि केवल वही ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य नहीं है, जो ईश्वरके ज्ञानके छोड़ कर प्रमेय हो, बल्कि यह ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य है, जो ईश्वरके ज्ञानको छोड़ कर प्रमेय होता हुआ भी स्तम्भ आदिकी तरह जड हो। अतएव स्वान्यप्रकाश्यके प्रयोजक होनेसे 'जडत्व' उपाधि है। अतएव जिस प्रकार शाकपाकजत्व 'मैत्रतनयत्व' साधनमें न रह कर 'श्यामत्व' साध्यके साथ व्याप्त होनेसे उपाधि है, उसी तरह 'जडत्व' 'ईश्वरनाना यत्वे सति प्रमेयत्वात्' हेतुमें न रह कर 'स्वान्यप्रकाश्य' साध्यके साथ रहता है, इस लिये उक्त अनुमानमें जडत्वको उपाधि कहना चाहिए। क्योंकि जो अपने प्रकाशमें दूसरेका अवलम्बन लेता है, उसे जड कहते हैं। ज्ञान जड रूप नहीं हो सकता। इस लिये

१ यत्र यत्र जाड्य तत्र तत्र स्वप्रकाशाभावः । यत्र च स्वप्रकाशाभावस्तत्र तत्र जाड्यमिति सम्यग् हेतौ त्वेकमिधैव याति । न हि भवति यत्र यत्रामिस्तत्र तत्र धूम इति । अद्वैतस्य स्वस्या धूमानुपगमनात् ।

जडत्व ईश्वर ज्ञानसे भिन्न और प्रमेय ज्ञान रूप साधनमें नहीं रहता। स्वान्यप्रकाश साध्यके साथ जडत्वकी व्याप्ति है, क्योंकि जडत्वको छोड़ कर स्वान्यप्रकाशत्व, और स्वान्यप्रकाशत्वको छोड़ कर जडत्व नहीं रहता।

यच्चाक्त समुत्पन्न हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम् इत्यादि । तदप्यसत्यम् । इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरत्यप्रमानयो क्रमानुपलक्षणत्वात् । आगूत्पादान्क्रमानुपलक्षण-मुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् इति चेत् । तन्न । जिज्ञासाव्यग्रहितस्वार्थज्ञानस्योत्पाद् प्रतिपादनात् । न च ज्ञानाना जिज्ञासासमुत्पात्रत्वं घटते । अनिज्ञासितेष्वपि याग्यदेशेषु विषयेषु तदुत्पादप्रतीतिः । न चार्थज्ञानमयोग्यदेशम् । आत्मसम-वेतस्यास्य समुत्पादात् । इति जिज्ञासामन्तरणैर्नार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादमसङ्गः । अथोत्पद्यता नामेदं का टोपः इति चेत्, नन्वयमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्यपरज्ञानात्पादमसङ्गः । तत्रापि चैत्रमेयम् । इत्यपरापरज्ञानात्पादपरम्परायामेवात्मना व्यापारात् न विषयान्तरसंचार स्यादिति । तस्माद्यज्ज्ञान तदात्मबोध प्रत्यनपेक्षितज्ञानान्तर्ग-व्यापारम्, यथा गोचरान्तर्ग्राहिज्ञानात् प्राग्भाविगोचरान्तर्ग्राहिर्धारावादिज्ञान-प्रसन्धस्यान्त्यज्ञानम् । ज्ञान च विवादाध्यासित रूपादिज्ञानम्, इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरङ्ग्यता युक्ति सहते ॥ इति काव्यार्थः ॥ १२ ॥

तथा, आप लोमोने जो कहा, कि ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञान मानस प्रत्यक्षका विषय होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें पदार्थका ज्ञान पहले होता है, और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान पीछे होता है, ऐसा कोई क्रम नहीं देखा जाता। यदि आप कहें, कि पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान दोनों क्रमसे ही होते हैं, परन्तु यह क्रम इतनी शीघ्रतासे होता है, कि उसे हम नहीं देख सकते। जैसे कमलके पत्तोंके ढेरको मूँहसे बीघते समय हम ऐसा प्रतीत होता है, कि हमने सभी पत्तोंका एक ही साथ वेधन किया है, परन्तु वास्तवमें इनके बीधनेमें सूक्ष्म क्रम रहता है, उसी तरह ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें भी सूक्ष्म क्रम रहता है। यह ठीक नहीं। क्योंकि आप लोगोंने स्वयं पहले और दूसरे ज्ञानमें ज्ञानकी जिज्ञासाका होना स्वीकार किया है, इस लिये आप यह नहीं कह सकते, कि एक ज्ञानके बाद ही दूसरा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, और दोनोंमें क्रम नहीं देखा जाता। तथा, ज्ञान जिज्ञासासे उत्पन्न नहीं होता, बल्कि इन्द्रियोंके विषयोंके ज्ञानने योग्य स्थानमें होनेपर विना विषयोंकी जिज्ञासाके भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तथा पदार्थोंका ज्ञान अयोग्य स्थानमें नहीं है, जिसमें वह विना जिज्ञासाके ज्ञानका विषय न हो सके। क्योंकि यह पदार्थोंका ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न होता है, अतएव हमारी जिज्ञासाके विना ही पदार्थोंका ज्ञान होता है। यदि कहो, कि जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानका

ज्ञान होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि बिना जिज्ञासाके ज्ञानकी उत्पत्ति होती हो, तो एक पदार्थके जानमें ज्ञानकी अनन्त परंपरा माननी पड़ेगी, इस लिये इस ज्ञान परंपराको जाननेमें लगे रहनेके कारण आत्मा पदार्थका ज्ञान ही न कर सकेगा। अतएव ज्ञानको स्वप्नद्वयमें दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। जैसे घटना निश्चय न होनेके समय तक ' यह घट है, ' ' यह घट है ' इस प्रकारक धारावाहिकज्ञानके अन्तिम ज्ञानमें दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी तरह ज्ञान भी स्वप्नद्वयमें दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता। यह श्लोकका अर्थ है।

**भावार्थ**—जैनसिद्धांतके अनुसार ज्ञान अपने आपको जानता है (स्वाप्नोपशम), और दूसरे पदार्थोंको भी जानता है (अर्थावगोपशम)।

**वृत्तारिहभट्ट**—ज्ञान अपने आपको नहीं जानता। अनुमान भी है—' ज्ञान स्वमिदित नहीं है, क्योंकि जानमें क्रिया नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तन्त्रारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैधे ही जानमें भी क्रिया नहीं हो सकती ' (ज्ञान स्वमिदित न भवति म्यात्मनि क्रिया-निगधात्। न हि सुनिक्षितोऽपि नटवद् स्वस्कंधमधिगेहु धम। न च मुतीट्टणाप्यसिधारा स्व छेतुमाहितव्यापारा )। **जैन**—यह ठीक नहीं। जैसे दीपक अपने और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान भी निज और पर पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है। तथा एक ही पदार्थमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होना अनुभवने सिद्ध है, इस लिये ' स्वयं जानमें क्रिया नहीं होती ' (स्वात्मनि क्रियाविरोधात्), यह हेतु भी दूषित है।

**भट्ट**—हम लोगोंके अनुसार (१) पदार्थोंसे इन्द्रिय और बुद्धिका सन्ध होनेपर इन्द्रिय और बुद्धिमें ज्ञान पैदा होता है, इसके बाद (२) पदार्थोंका प्राकट्य होता है (अर्थप्राकटय), उसके बाद (३) यह ज्ञान होता है, कि पदार्थोंका ज्ञान हुआ है। जैसे घटसे इन्द्रिय और बुद्धिका सन्ध होनेसे घटका ज्ञान होनेपर यह ज्ञान होता है, कि मैंने घटको जाना है। बादमें घटका ज्ञान होनेपर घटका प्राकट्य (जातता) होता है। यह घट-प्राकट्य ज्ञानके पहले नहीं होता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही होता है, अतएव यह ज्ञानमें उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह अर्थका प्राकट्य ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतएव हम अर्थ प्राकट्यकी अन्यथानुपपत्तिमें ज्ञानको जानते हैं (तस्मात्पार्थापत्तिस्तथा प्रवर्तकज्ञानस्यो-पलम)। हम लोग इस त्रिपुटी प्रत्यक्षको मानते हैं, इस लिये ज्ञान स्वसंपेदक नहीं हो सकता। **जैन**—आप लोग अर्थ-प्राकट्यको स्वतः सिद्ध नहीं कह सकते, जिससे अर्थ-प्राकट्यकी अर्थापत्तिसे ज्ञानकी उपलब्धि स्वीकार की जा सके। जातता स्वतः सिद्ध है, और ज्ञान स्वतः सिद्ध नहीं, इसमें कोई हेतु नहीं है। वास्तवमें जातताकी अपेक्षा ज्ञानका स्वतः सिद्ध होना अधिक मान्य हो सकता है।



भट्ट—यदि आप लोग ज्ञानको स्वसवेद्य कहते हैं, तो हम अनुमान बनाते हैं—  
‘नान अनुभव रूप हो कर भी अनुभूति (ज्ञान) नहीं है, जेय होनेसे, घटकी तरह (नान  
अनुभवरूपमपि अनुभूतिर्न भवति अनुभाव्यत्वात् घटवत्), इस लिये नान स्वसवेद्य नहीं हो  
सकता। जैन—पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ज्ञान अनुभूति रूप तथा स्वयंका सवेदन करनेकी  
अपेक्षा अनुभाव्य रूप है। अतएव ज्ञान अनुभूति और अनुभाव्य दोनों ही हो सकना है।

न्यायवैशेषिक—ज्ञान स्वसविदित नहीं होता, क्योंकि यह अनुभवसायगम्य  
है। हमारे मतमें ‘यह घट है’ इस व्यवसाय रूप ज्ञानके पश्चात् यह मानस नान  
होता है, कि ‘मैं इस घटको घट रूपसे जानता हूँ,’ इस अनुभवसाय रूप नानसे ही  
पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव ‘ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वर ज्ञानसे  
भिन्न होकर प्रमेय है, घटकी तरह’ (ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति  
प्रमेयत्वात् घटवत्)। तथा ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेमें अनवस्था दोष नहीं आता,  
क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। जैन—(१)  
उक्त अनुमान ‘विवादाध्यासित नान स्वसविदितम् नानत्वात् ईश्वरज्ञानम्’ इस प्रत्यनुमानसे  
बाधित है। इस लिये ज्ञानको स्वसवेद्यक ही मानना चाहिये। तथा (२) यह  
अनुमान व्यर्थविशेष्य भी है, क्योंकि यहाँ ‘ईश्वरज्ञानान्यत्वं’ हेतुके विशेष्य प्रमेयत्वं हेतुके  
कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तथा (३) उक्त हेतु अप्रयोजक होनेसे सोपाधिक  
भी है। क्योंकि ‘स्वान्यप्रकाश्य ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्’ यह तर्क ज्ञानके साथ  
व्याप्त न हो कर जड़ पदार्थोंके साथ व्याप्त है, क्योंकि ईश्वर ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय  
होनेपर भी स्तम्भ वगैरह जड़ पदार्थ ही अपनेको छोड़ कर दूसरेमें प्रकाशित होते हैं।

अथ य ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याअपरपर्यायमायावशात् प्रतिभासमानत्वेन विश्व  
त्रयवर्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते, तन्मतमुपहसन्नाह—

अब समस्त पदार्थोंको मायारूपमें स्वीकार करनेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंका खडन  
किया जाता है—

माया सती चेद् द्वयतत्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः ।

मायेव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—यदि माया सत् रूप है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंका सद्भाव होनेसे  
अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् है, तो तीनों लोकोंके पदार्थोंकी उत्पत्ति  
नहीं हो सकती। यदि कहो, कि माया माया भी हो कर अर्थनिया करती है, तो जैसे  
एक ही स्त्री माता और बध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही मायामें भी एक साथ दो  
विरोधी गुण नहीं रह सकते।

तैर्वादिभिस्ताच्चिकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया—अविद्या प्रपञ्चहेतु, परिमल्लिप्ता, सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गति । सती-सद्रूपा चेत् तदा द्वयतत्त्वसिद्धि—‘द्वावव-  
यवौ यस्य तद् द्वय, तथाविध यत् तच्च परमार्थ, तस्य सिद्धि. । अयमर्थ । एक  
तावत् त्वदभिमत तात्त्विऋमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा सद्रूपतयाङ्गीक्रिय-  
माणत्वात् । तथा चाद्वैतवादस्य मूले निहित कुठार’ । अथेति पक्षान्तरयातने । यदि  
असती—गगनाम्भोजनद्वस्तुरूपा सा माया तत । इन्त इत्युपदर्शन आदचर्ये वा ।  
कुत प्रपञ्च । अय त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपदार्थसार्थरूपमपञ्च कुत । न कुतोऽपि  
सम्भवतीत्यर्थ । मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युपगमात् अस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वो  
पाग्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणदृशविवर्तजननऽसमर्थत्वात् । क्लिन्द्रजालादौ मृग-  
तृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम् अत्र तु तदुपलम्भात्  
कथं मायान्वयपदंश श्रद्धीयताम् । अथ मायापि भविष्यति, अर्थक्रियासमर्थपदार्थो-  
पदर्शनक्षमा च भविष्यति इति चेत्, तर्हि स्ववचनविरोध. । न हि भवति माता च बन्ध्या  
चेति । एनमवार्थं हृदि निधायोत्तरार्थमाह । मायैव चेदित्यादि । अत्रैवकारोऽप्यर्थ । अपि  
च समुच्चयार्थ. । अग्रतनचकारश्च तथा । उभयाश्च समुच्चयार्थयायोगपत्रश्रोतकृत्वप्रतीत-  
मेव । यथा रघुवशे “त चं प्राणन्दन्वन्त बुबुधे चादिपूरुष ” इति । तदयं वाक्यार्थ-  
माया च भविष्यति अर्थसहा च भविष्यति । अर्थसहा—अर्थक्रियासमर्थपदार्थोप-  
दर्शनक्षमा । चेच्छब्दाऽत्र योज्यत इति चेत्, एव परमाशङ्क्य तस्य स्ववचनविरोध  
मुद्भावयति । तत् किं भवत् परेपा माता च बन्ध्या च । किमिति—सभावने । सभाव्यत  
एतत् भवतो य परे—प्रतिपक्षा, तेषा भवत्परेपा भवद्भवतिरिक्ताना, भवदाज्ञा-  
पृथग्भूतत्वेन तेषा चान्तिना, यमाता च भविष्यति, बन्ध्या च भविष्यतीत्युपहासः ।  
माता हि प्रसन्नधर्मिणी वनितोच्यते । बन्ध्या च तद्विपरीता । ततश्च माता चेत्कथं  
बन्ध्या बन्ध्या चेत्कथं माता तदेव । मायाया अवास्तव्या अप्यर्थसहत्वेऽङ्गीक्रियमाणे,  
प्रस्तुतवाक्यवत् स्पष्ट एव स्ववचनविरोध. । इति समासार्थ. ॥

व्याख्यानार्थ—ब्रह्माद्वैत चान्तिने जो तत्व रूप, आत्मब्रह्ममे भिन्न माया ( अविद्या ) को  
प्रपञ्चका कारण स्वीकार किया है, वह माया मत् रूप है, या असत् रूप । यदि माया सत्  
है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंके अस्तित्व होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती ।  
क्योंकि अद्वैत चान्तिने एक आत्मा ( ब्रह्म ) को ही सत् पदार्थ स्वीकार किया है, इस लिये  
यदि माया भी सत् हो, तो अद्वैतके मूलमें ही कुठाराघात होता है । यदि मायाको आकाशके  
पृल की तरह अवस्तु स्वीकार करो, तो ससारके किमी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो  
सकती । क्योंकि मायाके अस्तु होनेसे आकाशके पूरकी तरह वह प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर

होनेवाले प्रपञ्चको उत्पन्न नहीं कर सकती । इन्द्रनाल तथा मृगतृष्णा आदिमें मायाद्वारा दिखाये जाओवाले पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करते । परन्तु समस्त पदार्थोंमें अर्थक्रिया देखनेमें आती है, अतएव इन पदार्थोंमें मायाका व्यवहार नहीं हो सकता । यदि आप लोग कहें, कि माया माया भी है, और वह अर्थक्रिया भी करती है, यह ठीक नहीं । क्योंकि इसमें स्वयं विरोध आता है । जिस प्रकार एक ही स्त्री माता और बच्चा दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही माया भी माया ( अवस्तु ) हो कर अर्थक्रिया ( वस्तु ) नहीं कर सकती ।

व्यासार्थस्त्वयम् । ते चादिन इदं प्रणिगदन्ति । तारिन्मयात्मप्रज्ञैवास्ति—

“ सर्वं वै सत्त्विदं ब्रह्म नेह नानाम्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति पञ्चन ” ॥

इति समयात् । अयं तु प्रपञ्चा मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात् । यदव तदयम् । यथा भुक्तिशकले कलधौनम् । तथा चायं, तस्मान् तथा ॥

वेदान्ती—हमारे मतसे एक ब्रह्म ही सत् है । कहा भी है “ यह सन ब्रह्म ही स्वरूप है, इसमें नाना रूप नहीं हैं, ब्रह्मके प्रपञ्चको सब लोग देखते हैं, परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता । ” तथा, ‘ यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है । जो मिथ्या प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, जैसे सीपके टुकड़ोंमें चाद्री मिथ्या प्रतीत होनी है । उसी तरह यह दृश्यमान प्रपञ्च भी मिथ्या प्रतीत होता है, इस लिये यह मिथ्या है । ’

तदेतद्वातम् । तथाहि । मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमत्यन्तासत्त्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्त्विदनिर्वाच्यत्वम् ? प्रथमपक्षे असत्त्वातिप्रसङ्गः, द्वितीये विपरीतरयातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदमनिर्वाच्यत्वम् ? निःस्वभावत्व चेत्, निसः प्रतिषेधार्थत्वे, स्वभावाशब्दस्यापि भावाभावात्यन्ततरार्थत्वे, असत्त्वातिसत्त्वात्यभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिषेधे असत्त्वातिः अभावप्रतिषेधे सत्त्वातिरिति । प्रतीत्यगोचरत्व निःस्वभावत्वमिति चेत् । अत्र विरोधः । स प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत् कथं धर्मितयापात्तः । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् । तथोपादानं वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते न तथेति चेत्, तर्हि विपरीतरयातिरियमभ्युपगता स्यात् ॥

जैन—आप लोगोंने जो दृश्यमान प्रपञ्चको मिथ्या कहा है, सो आपका मिथ्यात्वसे क्या अभिप्राय है ? ( १ ) यदि बच्चाके पुत्रकी तरह अत्यन्त असत्त्वको मिथ्यात्व करते हो, तो असत्त्वाति दोष आता है । शून्यवाणी बौद्धोंके अनुसार समस्त पदार्थोंका नाम मिथ्या है, क्योंकि समस्त पदार्थ असत् हैं । अतएव जब हम सीपमें चाद्रीका ज्ञान होता है, उस

१ छान्दोग्य उ ३-१४ । २ आत्मख्यातिरसत्त्वातिरख्याति रयातिरयथा । तथानिर्वचनख्याति रित्येतत्त्वातिप्रसङ्गम् ॥ पक्षविधा रयातिरित्यन्ये मन्यन्ते ।

समय असत् रूप चादी सत् रूपमें प्रतिभासित होती है। अनपव विपरीत ज्ञानका विषय सर्वथा असत् है। क्योंकि असत् पदार्थोंको सत् रूप देखना ही विपरीत ज्ञान है। असत्-ख्याति वालियोंके मतमें पदार्थ और पदार्थका ज्ञान दोनों ही असत् हैं। परन्तु वेदान्ती लोग शून्यतादियोंकी असत्ख्यातिको स्वीकार नहीं करते। (२) यदि एक पदार्थके दूसरे रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहो, तो विपरीतरयाति दोष आता है। नैयायिक आदि मतके अनुसार ज्ञान सीपमें चादीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय सीप चादीका रूपमें प्रतिभासित होनी है, इस लिये एक पदार्थको दूसरे पदार्थके रूपमें जानना ही मिथ्या है, वास्तवमें सीप अथवा चादीमें कोई मिथ्यापन नहीं। इस विपरीत अथवा अन्यारयातिमें दो पदार्थोंके सद्भाव (द्वैत) होनेके कारण वेदान्ती लोग इसे भी स्वीकार नहीं करते। (३) यदि अनिर्देशनीयत्व अर्थात् निम्बभावत्वको मिथ्यात्व कहो, तो 'निम्बभावत्व' शब्दमें स्वभावका अर्थ (क) 'भाव' करनेपर अमत्स्यानि दोष आता है, परन्तु यह असत्ख्याति वेदान्तियोंको मान्य नहीं है। (ख) यदि स्वभावका अर्थ अभाव किया जाय, तो मत्ख्याति दोष आता है। रामानुजका सिद्धांत है, कि ज्ञान सीपमें चादीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय इस मिथ्या ज्ञानका विषय मिथ्या नहीं होता, क्योंकि सीपमें चादीके परमाणु मिल रहते हैं, इसीलिये सीपमें चादीका ज्ञान होना है। परन्तु यह सत्ख्याति भी वेदान्तियोंको मान्य नहीं है। (ग) यदि दृश्यमान प्रपञ्चके ज्ञानके विषय न होनेको निस्त्वभाव कहो, तो 'अर्थप्रपञ्च मिथ्यारूप प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमानमें 'प्रपञ्च' को पक्ष नहीं बना सकते। तथा प्रपञ्चके ज्ञानका विषय न होनेमें 'प्रतीयमानत्व' हेतु भी नहीं बन सकता। तथा प्रतीयमानत्व हेतुके होनेमें अर्थ प्रपञ्चको प्रतीयमान होना चाहिये। (घ) यदि कहो, कि अर्थ प्रपञ्च जैसा है, वैसा प्रतिभासित नहीं होता, यही निस्त्वभावत्वका अर्थ है, तो इसे स्वीकार करनेमें फिर विपरीतरयाति माननी पड़ेगी, जिसे नायावादी स्वीकार नहीं करते।

अत्र, इयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षसाधिता। घटोऽयमित्याशार हि प्रत्यक्ष प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति। घटान्प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात्। इतरेतरविधिकरस्तुनामत्र च प्रपञ्चशब्दाच्यत्वात्। अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात् कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्ष हि इदमिति प्रस्तुत्स्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति।

“आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निपट्टं विपश्चित्तं ।

नैकत्र आगमस्तत्र प्रत्यक्षेण प्रगृह्यते ॥”

इति वचनात्, इति चेत् । न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसपत्तेः। पीतादिव्यपच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा। केवलप्रस्तुत्स्वरूपप्रतिषेधेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिषेधरूपत्वात्। मुण्डभूतलग्नहणं घटाभाव-

ग्रहणवत् । तस्माद् यथा प्रत्यक्ष विधायक प्रतिपन्न, यथा निषेधरूपमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च, विधायकमत्र प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते, यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयत, तथा किं नाविग्रापीति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च मुख्यवस्थित प्रपञ्चः । तदमी वात्सिनोऽविग्राधिवेकेन सन्मात्र प्रत्यक्षात् प्रतियन्ताऽपि न निषेधक तदिति द्युराणा कथ नोन्मत्ताः । इति सिद्ध प्रत्यक्षमात्रितः पक्ष इति ॥

तथा, जगत की यह अनिर्वाच्यता (निम्बमायता) प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि जगतके होनेपर ही यह घट है, यह प्रत्यक्ष हो सकता है । क्योंकि घट जादिसे निश्चित पदार्थोंका ही प्रत्यक्षमे ज्ञान होना है । तथा, एक दूसरेसे भिन्न पदार्थोंको प्रपञ्च कहते हैं । अनएव प्रपञ्चको अनिर्वाच्य माननेसे प्रत्यक्षसे बाधा आती है । शका—प्रत्यक्ष विधि रूप ही है, निषेध रूप नहीं, इस लिये प्रत्यक्ष वस्तुके स्वरूपको ग्रहण कर सकता है, वस्तुके स्वरूपका प्रतिषेध नहीं कर सकता । कहा भी है “प्रत्यक्ष विधि रूप है, निषेध रूप नहीं, अतएव वेदद्वारा प्रतिपान्ति एकत्व (अद्वैत) प्रत्यक्षसे बाध्य नहीं कहा जा सकता ।” समाधान—विना किसी वस्तुका निषेध किये हुए विधि रूपज्ञान नहीं हो सकता । जैसे किसी पदार्थके पीलेपनका प्रतिषेध करके ही उसके नीलेपनका ज्ञान हो सकता है अथवा जिस प्रकार केवल पृथिवी कहनेसे पृथिवीपर रखे हुए घटका स्वय ही प्रतिषेध हो जाता है, उसी तरह केवल वस्तुका स्वरूप जाननेके लिये अन्य वस्तुओंका प्रतिषेध स्वय हो जाता है । अतएव प्रत्यक्ष केवल विधायक ही नहीं, वह विधि प्रतिषेध दोनों ही रूप है । यदि प्रत्यक्षको केवल विधायक ही माना जाय, तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष केवल विद्या (ब्रह्म) को विधि रूपसे जानता है, वैसा ही उसे अविद्याका भी विधायक मानना चाहिये । यदि प्रत्यक्षको अविद्याका भी विधायक माना जाय, तो विद्या और अविद्या, ब्रह्म और जगत दो पदार्थोंके होनेसे अद्वैत नहीं बन सकता । अतएव प्रत्यक्षको समात्र ग्रहण करनेवाला माननेवाले अद्वैत वादियोंको प्रत्यक्षको निषेधात्मक भी मानना ही चाहिये । इस लिये आपका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित है ।

अनुमानबाधितश्च । प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्व च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते, न च मिथ्या । अप्रतीयमानत्वे त्वम्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूर्तय तेषा त्रेयसी । साभ्यविक्रलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशरूलरुलर्धातेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वाचनीयतायाः साभ्यमानत्वात् । मिञ्च, इदमनुमान प्रपञ्चाद् भिन्नम् अभिन्न वा ? यदि भिन्न, तर्हि मत्यमसत्य वा ? यदि सत्य, तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि मत्यत्व स्यात् । अद्वैतवादमाहार खण्डिपातात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित् तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अभिन्न चेत्, प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूप च तत् कथ स्वसाध्यसा-

धनायात् । एव च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वासिद्धेः ऋथ परमत्रलक्षणस्ताच्चिन्त्व  
स्यात् यतो वाद्यार्थाभासो भवेदिति ॥

तथा, 'अर्थप्रपञ्चो मिथ्यारूप प्रतीयमानत्वात्' यह अनुमान 'प्रपञ्चो मिथ्या न  
भवति असद्विलक्षणत्वात् आत्मवत्' इमं प्रत्यनुमानसे बाधित है। यहा, प्रतीयमानत्व  
हेतु ब्रह्मके साथ व्यभिचारी है। क्योंकि ब्रह्म प्रतीयमान है, परन्तु मिथ्या नहीं है। यदि  
ब्रह्मको अप्रतीयमान मानो, तो ब्रह्मके विषयमें कोई भी चर्चा नहीं हो सकती, अतएव मौन  
रहना ही श्रेयस्कर होगा। तथा 'सीपमें चादी' (शुक्तिशकले कञ्चौत) का दृष्टान्त  
'मिथ्यारूप' साध्यमें नहीं रहता, इस लिये हेतु साध्यविरल है। क्योंकि सीप और चादी  
दोनों ही प्रपञ्चके अन्तर्भूत हैं, इस लिये इनमें भी अनिर्वचनीयत्व (मिथ्यात्व) साध्य ही  
है (इसे अनुपसहारी हेत्वाभास भी कहते हैं)। तथा, आपका अनुमान प्रपञ्चसे भिन्न है, या  
अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो सत्य है, या असत्य ? यदि अनुमान प्रपञ्चसे भिन्न हो कर सत्य  
है, तो प्रपञ्च भी सत्य होना चाहिये। तथा प्रपञ्चकी सत्यता स्वीकार करनेमें अद्वैत नहीं  
बनता। यदि अनुमान असत्य है, तो वह अवस्तु होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता।  
यदि अनुमान प्रपञ्चसे अभिन्न है, तो प्रपञ्च रूप होनेसे अनुमान भी मिथ्या होना चाहिये, तथा  
मिथ्या अनुमान साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। इस लिये जब प्रपञ्च मिथ्या रूप सिद्ध नहीं  
हो सकता, तो ब्रह्मकी तात्त्विकता भी सिद्ध नहीं हो सकती, जिससे वाद्य पदार्थोंका अभाव  
सिद्ध हो सके।

अथवा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मण साधन दूषण चोपन्य-  
स्यते । ननु परमत्रलक्षण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य वियमानत्वात् प्रमाणविप-  
यत्वम् । अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिन्प्यभावात् । तथाहि । प्रत्यक्ष तदावेदरूपमस्ति ।  
प्रत्यक्ष द्विधा भिद्यते निर्विकल्पकरूपप्रत्यक्षरूपभेदात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात्  
सन्मात्रविषयात् तस्यैकस्यैव सिद्धिः । तथा चोक्तम्—

“अस्ति ह्यालोचनाज्ञान प्रथम निर्विकल्पकम् ।

गालमूकादिविज्ञानसदृश शुद्धवस्तुजम् ॥”

न च विद्यन्त परस्परव्यावृत्तिरप्यन्यत एव प्रतीयते इति द्वैतसिद्धिः ।  
तस्य निषेधात्रिपयत्वात् । “आहृविधात प्रत्यक्ष न निपट्टु” इत्यादिवचनात् ।  
यच्च सविकल्पकप्रत्यक्ष घटपटादिभेदसाधन, तदपि सत्त्वारूपेणान्वितानामेव तेषां  
प्रकाशन्तत्वात् सत्ताअद्वैतस्यैव साधनम् । सत्तायाश्च परब्रह्मरूपत्वात् । तदुक्तम्—“यद-  
द्वैत तद् ब्रह्मणो रूपम्” इति ॥

वेदान्ती—वास्तवमें विधि रूप एक ही परमार्थसत् ब्रह्म प्रमाणका विषय है। वह ब्रह्म प्रत्यक्षसे जाना जाता है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पकके भेदसे दो प्रकारका है। समात्रको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। कहा भी है “निर्विकल्पक चान बालक और गूंगे आदिके ज्ञानकी तरह वस्तु मात्रमा जाननेवाला होता है, और यह चान सब जानोंके पहले होता है।” यदि कोई कहे, कि जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध करता है, वैसे ही यह ब्रह्मका अभाव भी सिद्ध करता है, इस लिये निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्म और अब्रह्म दो पदार्थोंकी सिद्धि होनेमें द्वैतकी सिद्धि होती है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर कहा है, प्रत्यक्ष प्रतिषेध रूप न हो कर विधायक ही होता है। तथा, घट, पट आदिके विकल्प (भेद) को ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी घट, पट आदिको भी सत्ता रूपसे ही जानता है, इस लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी परब्रह्म रूप सत्ताका ही साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है। कहा भी है “अद्वैत ही ब्रह्मका स्वरूप है”

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव । तथाहि विधिरेव तत्त्व, प्रमेयत्वात् । यत् प्रमाणविषयभूतोऽर्थ प्रमेय । प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसङ्गानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः । तथा चोक्तम्—

“प्रत्यक्षाश्रयतारं स्याद् भावांशो गृह्यत यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावाशे जिघृक्षिते ॥”

यच्चाभावाख्य प्रमाण तस्य प्रामाण्याभावाद् न तत् प्रमाणम् । तद्विषयस्य कल्पचिदप्यभावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव । तेनैव च प्रमेयत्वस्य च्याप्तत्वात् । सिद्ध प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत् न विधिरूप, तद् न प्रमेयम्, यथा स्वरूपिणम् । प्रमेय चेद निखिल वस्तुतत्त्वम्, तस्माद् विधिरूपमेव । अता वा तत्सिद्धिः । प्रामारामादयः पदार्थाः, प्रतिभासान्तःप्रतिष्ठा, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रतिष्ठम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम् । प्रतिभासते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तःप्रतिष्ठा ॥

‘विधि रूप ही तत्व है, प्रमेय होनेमें’ इस अनुमानसे भी परब्रह्मकी सिद्धि होती है। प्रमाणमें जानने योग्य पदार्थको प्रमेय कहते हैं, तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण विधि रूप ही हैं। कहा भी है “विधि रूप पदार्थोंके जाननेमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति, और निषेध रूप पदार्थोंके जाननेमें प्रत्यक्ष आदिकी निगृहीत होती है।” तथा, अभाव नामका कोई प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि उसका कोई भी विषय नहीं। अतएव प्रत्यक्ष आदि पाचों प्रमाणोंका विषय विधि रूप ही है। यह विधि रूप ही प्रमेय है। अतएव

विधिरूप ही तत्व है, प्रमेय होनेसे । जो विधिरूप नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे गधेके सींग । सम्पूर्ण वस्तु तत्व प्रमेय है, इस लिये वट विधिरूप है । अथवा ' गाव, बगीचा आदि दृश्यमान जगत प्रतिभासमें गर्भित हो जाते हैं, प्रतिभासका विषय होनेसे । जो प्रतिभासका विषय है, वह प्रतिभासमें गर्भित हो जाता है । जैसे प्रतिभासका स्वरूप । गाव, बगीचे आदि प्रतिभासित होते हैं, इस लिये वे प्रतिभासके ही भीतर आ जाते हैं ' इस अनुमानमें भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है ।

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकं समुपलभ्यते " पुंरूप एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भान्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । " "यदजति, यन्नैजति, यद्दूरे, यदन्तिके । यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य गच्छत " इत्यादि । "श्रातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य अनुमन्तव्य, " इत्यादिवेदवाच्यैरपि तत्सिद्धे । कृत्रिमणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात् । उक्त च—

“ सर्वं वै रत्विडं ब्रह्म नह नानाऽस्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ” ॥

आगम भी ब्रह्मका प्रतिपादन करता है । जैसे " जो हुआ है, जो हागा, जो मोक्षका स्वामी है, आहारसे वृद्धिको प्राप्त होता है, गतिमान है, स्थिर है, दूर है, पास है, चेतन और अचेतन सबमें व्याप्त है और सबके बाह्य है, वट सन ब्रह्म ही है । " आदि । तथा, " अतएव एसे ब्रह्मको सुनना, मनन करना और निरन्तर स्मरण करना चाहिये । " आदि वेदके वाक्योंमें ब्रह्मकी सिद्धि होती है । म्यति आदि पौरुषेय आगम भी ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं । कदा भी है " यद् सन ब्रह्मका ही स्वरूप है, ब्रह्मको छोड़ कर नाना रूप कुछ नहीं है, ब्रह्मकी पर्यायोंको सब देखते हैं, परन्तु ब्रह्म किसीको दिखाई नहीं देता । "

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धे । परमपुरुष एव एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्वि-  
वर्तत्वात् । तथाहि । सन्न भावा ब्रह्मविवर्ता सत्त्वरूपेणान्वितत्वात् । यद् यद्रूपेणा-  
न्वित तत् तदात्मरूपेण । यथा घटघटीगराशोदञ्चनादयो मृद्रूपणैकेनान्विता मृद्विवर्ता ।  
सत्त्वरूपेणान्वित च सकल वस्तु । इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति ॥

इस प्रकार परब्रह्मके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सिद्ध होनेपर परब्रह्म ही एक तत्व सिद्ध होता है, दृश्यमान सम्पूर्ण भेद इस ब्रह्मकी ही पर्याय हैं । अतएव ' सम्पूर्ण पदार्थ

१ ऋग्वेदपुश्वमूल । २ ईशावास्योपनिषदि । ३ बृहदारण्यक उ । युक्तिभिरनुचिन्तनम् मनन ।  
श्रुतस्यापत्य नैस्त्वयैण दीर्घकालमनुसंधानम् निदिध्यासन ।



ब्रह्मकी पर्याय हैं, क्योंकि संपूर्ण पदार्थ एक सत्ता रूपसे विद्यमान हैं । जो जिस रूपमें विद्यमान होता है, वट उसी रूप होता है । जैसे घट, घटी, शरार आदि मिट्टीके वर्तन मिट्टी रूपमें विद्यमान हैं, इस लिये सत्र मिट्टीकी पर्याय हैं । संपूर्ण पदार्थ एक सत्ता रूपसे, विद्यमान हैं, हम लिये संपूर्ण पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं' ।

तदेतत् सर्वं मंदिरारसास्वादगद्गदोद्द्विदितमिगभासते, त्रिचारासहत्वात् । सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं, न तु वाद्भ्यानेन । अद्वैतमते च प्रमाणमत्र नास्ति, तत् सद्भावे द्वैतमसद्भात् । अद्वैतसाधनस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात् । अथ मत्तम् लोकरूपत्यायनाय तदपक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते । तदसत् । तन्मते लोकरूपैवासम्भवात्, एकरूपैव नित्यनिरास्य परब्रह्मण एव सत्त्वात् ॥

जैन—यह सब उन्मत्तो जैसा प्रलय है । क्योंकि जैन तक कोई वस्तु प्रमाणसे सिद्ध न की जाय, उस समय तक यह कथन मात्रसे प्रमाण नहीं मानी जा सकती । तथा अद्वैतवादियोंके कोई प्रमाण ही नहीं बन सकता । क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रमाणके माननेपर द्वैत मानना पड़ता है । यदि आप लोग कहें, कि व्यवहारिक दृष्टिसे ही हम लोग प्रमाण मानते हैं, वास्तवमें एक ब्रह्म ही सत्य है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अद्वैतवादियोंके मतमें एक नित्य निरास ब्रह्म ही सत्य है, इस लिये उनके व्यवहार ही नहीं बन सकता ।

अथास्तु यथाकथञ्चित् प्रमाणमपि तत्त्वं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधनं प्रमाणमुररीक्रियते । न तावत् प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशत्वात् । आवालगोपाल तथैव प्रतिभासनात् । यच्च निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तदावेदकम् इत्युक्तम् । तदपि न सम्यक् । तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात् । सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकरूपैवाविसरादकत्वनं प्रामाण्योपपत्तेः । सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकरूपैव विधिरूपस्य परब्रह्मण स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात् । यदप्युक्तं “ आहुरिधात् प्रत्यक्षम् ” इत्यादि । तदपि न पशुलम् । प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यापत्ता कारात्मकस्तुन एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागव भुण्णम् । न ह्यनुस्युतमकमखण्डसत्तामात्रं त्रिशपनिरपेक्ष सामान्य प्रतिभासते । येन “ यद्वैत तद्ब्रह्मणा रूपम् ” इत्याद्युक्तं शोभेत । विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य खरविषाणवदप्रतिभासनात् । तदुक्तम्—

“ निविशेप हि सामान्यं भवत् खरविषाणवत् ।

सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्देव हि ” ॥

यदि अद्वैतमें प्रमाणका सद्भावन मान भी लिया जाय, तो भी किसी प्रमाणसे ब्रह्म सिद्ध नहीं होता । प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह पदार्थोंके भेदोंको ही जानता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

प्रमाण ही नहीं हो सकता । कारण कि निश्चयात्मक और अविस्वादी ज्ञान ही प्रमाण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है । इसी तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंमें रहित केवल विधि रूप परब्रह्मको नहीं जान सकता । तथा, प्रत्यक्षको केवल विधि रूप कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि प्रत्यक्ष सामान्य और विशेष रूप हो कर ही पदार्थोंको जानता है, यह पहले कहा जा चुका है । तथा, एक, शुद्ध, अखण्ड, केवल सत्ता रूप ( ब्रह्म ) सामान्य विशेषके विना कहीं नहीं रहता, जिससे यह कहा जा सके, कि “ अद्वैत ही ब्रह्मका रूप है । ” सरविषाणकी तरह विशेषके विना सामान्य कहीं भी समभव नहीं है । क्या भी है “ जैसे विधेय रहित सामान्य सरविषाणभी तरह है, वैसे ही सामान्य रहित विशेष भी असमभव ह । ” इम प्रकार प्रमाणसे जानने योग्य पदार्थोंके सामान्य विशेष रूप सिद्ध होनेमें केवल सत्ता रूप ब्रह्म किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता ।

तत सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मण प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तदप्यतर्कवापास्त बोद्धव्यम् । पक्षस्य प्रत्यक्षराधितत्वेन ह्यतो कालात्ययापदिष्टत्वात् । यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम् । प्रतिभासमानत्व हि निरखिलभासाना स्वतः परतो वा ? न तावत् स्वतः, घटपटमुकुटशकटादीना स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धे । परतः प्रतिभासमानत्व च पर विना नोपपद्यते इति । यच्च परमब्रह्मविवर्तयतित्वमखिलभेदानामित्युक्तम् । तदप्यन्वेनर्न्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरपाद्वैत प्रतिरधनात्वेव । न च घटादीना चैतन्यान्वयाऽप्यस्ति मृदाग्रन्वयस्यैव तत्र दर्शनात् । ततो न त्रिचिदेतदपि । अतोऽनुमानापि न तत्सिद्धिः । किञ्च, पक्षहंतुदृष्टान्ता अनुमानापायभृता परस्पर भिन्ना अभिन्ना वा ? भेदे - द्वैतसिद्धिः । अभेदे त्वैकरूपतापत्तिः । तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति । यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्, तर्हि द्वैतस्यापि बाह्यमात्रतः कथं न सिद्धिः । तदुक्तम्—

“ हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेत् विना सिद्धिर्द्वैत बाह्यमात्रतो न किम् ” ॥

तथा, ‘ विधिरेव तत्त्व प्रमेयत्वात् ’ यह अनुमान भी इसीसे रचित हो जाता है । क्योंकि प्रमेयत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट ( वाधित ) है, इस लिये ‘ विधिरेव तत्त्व ’ यह प्रत्यक्षसे वाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधिकी तरह निषेध रूप भी है । तथा, ब्रह्मको सिद्ध करनेवाला ‘ प्रतिभासमानत्व ’ हेतु भी साधनाभास होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं करता । हम पूछते हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रतिभास स्वयं होता है, या दूसरेसे ? सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं प्रतिभासित नहीं

हो सकते, क्योंकि घट, पट स्वतः प्रतिभासित होने हुए नहीं देखे जाते। पदार्थोंका दूसरेसे प्रतिभासित होना भी नहीं बन सकता, क्योंकि दूसरेसे प्रतिभासित होना दो पदार्थों (द्वैत) के बिना संभव नहीं। तथा, 'सर्व पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं' (सर्वे माया ब्रह्मविवर्ता) इस अनुमानमें भी अन्वेतु (समझ करनेवाले) और अन्वीयमान (जिसके साथ संभव हो) दो सन्धोंके होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दो भिन्न भिन्न पदार्थोंका ही संभव होता है। तथा घट आदिमें चैतन्य (ब्रह्म) का सन्ध भी नहीं पाया जाता, क्योंकि घटका संभव मिट्टीके साथ है। इस लिये अनुमानसे ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। तथा, पक्ष, हेतु और दृष्टातमें अनुमान बनता है। ये पक्ष, हेतु और दृष्टात परस्पर भिन्न हैं, अथवा अभिन्न। भेद माननेसे द्वैत मानना चाहिये, और अभेद माननेसे पक्ष, हेतु और दृष्टात एक हो जाते हैं, और पक्ष आदि तर्कोंके एक होनेसे अनुमान नहीं बन सकता। यदि आप लोग अनुमानके बिना साध्यकी सिद्धि मानें, तो वचन मात्रसे ही द्वैतकी सिद्धि मानना चाहिये। कहा भी है, "यदि हेतुसे अद्वैत सिद्ध किया जाय, तो हेतु और साध्यके होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है, यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि मानो, तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि भी माननी चाहिये।"

"पुरुष एवेद सर्वम्" इत्यादेः, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः। तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतमिति प्रामाण्यासम्भवात्। वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकाद्वैतं विरुध्यते।

विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्ब्रह्ममोक्षद्वयं तथा ॥"

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः। ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः। इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ॥ इति काव्यार्थः ॥ १३ ॥

तथा, 'पुरुष एवेद सर्वम्', 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' आदि आगमसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आगममें वाच्य वाचक सन्ध होनेसे द्वैत ही सिद्ध होता है। कहा भी है "कर्म फल, लोक-परलोक, विद्या अविद्या, बंध-मोक्ष ये सब द्वैतको सिद्ध करते हैं।" अतएव आगमसे भी ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये केवल एक पुरुषाद्वैत किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। अतएव इस दृश्यमान प्रपञ्चको तात्त्विक ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है ॥

भावार्थ—इस श्लोकमें अद्वैतवादियोंके मायावादकी समीक्षा की गई है। जैन लोगोंका कहना है, कि यदि माया भाव रूप है, तो ब्रह्म और माया दो वस्तुओंके होनेसे अद्वैतवादियोंका अद्वैत नहीं बनता, यदि माया अभाव रूप है, तो मायासे जगतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अद्वैतवादी मायाको मिथ्या रूप मान कर भी वस्तु (अर्थक्रियाकारी)

स्वीकार करें, तो स्वप्नचन विरोध आता है, क्योंकि मिथ्या रूप और वस्तु दोनों एक साथ नहीं रह सकते ।

वेदान्ती—‘ यह प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है, जैसे सीपमें चादी-का ज्ञान मिथ्या प्रतीत होनेसे मिथ्या है ’ (अयं प्रपञ्चो मिथ्यारूप प्रतीयमानत्वात्, यदेव तदेव यथा शुक्तिशकले कल्पौतम्, तथा चायं तस्मात्तथा) । इस अनुमानसे जगत मिथ्या सिद्ध होता है । जैन—मिथ्या रूपसे आपका क्या अभिप्राय है ? यदि ( १ ) अत्यन्त असत्त्वको मिथ्या कहते हो, तो शून्यवादियोंकी असत्त्वाति, तथा ( २ ) अन्य वस्तुके अन्य रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहते हो, तो नैयायिकोंकी विपरीतरूपाति स्वीकार करनी चाहिये । यदि ( ३ ) मिथ्या रूपका अर्थ अनिर्वाच्य, अर्थात् निस्स्वभावत्व करते हो, तो ‘ निस्स्वभाव ’ में स्वभाव शब्दना अर्थ ‘ भाव ’ अथवा ‘ अभाव ’ करनेपर तमसे असत्त्वाति और सत्त्वाति स्वीकार करनी पड़ेगी । यदि कहो, कि ज्ञानके अगोचर होना ही निस्स्वभावत्व है, तो इस जगतके प्रपञ्चका ज्ञान नहीं होना चाहिये । तथा प्रपञ्चके ज्ञानका विषय न होनेसे प्रतीयमानत्व हेतु भी नहीं बन सकता । यदि अर्थप्रपञ्चके जैसेके तैसे प्रतिभासित होनेको निस्स्वभावत्व कहो, तो विपरीतरूपाति माननी पड़ेगी । इसके अतिरिक्त, यह अनुमान प्रत्यक्षसे भी बाधित है । वेदान्ती—हमारा अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य रूप ही है, वह विधि रूप ही वस्तुओंका ज्ञान करता है, निषेध रूप नहीं । जैन—प्रत्यक्ष केवल सामान्य रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तुका निषेध किये बिना उसका विधि रूप ज्ञान होना असंभव है, इस लिये प्रत्यक्षको सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार करके विधायक और निषेधक दोनों ही स्वीकार करना चाहिये । उक्त अनुमान ‘ प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विद्वेषणत्वात्, आत्मवत् ’ इस प्रत्यनुमानसे बाधित भी है । तथा प्रतीयमानत्व हेतु तद्वत्के साथ व्यभिचारी है ।

वेदान्ती—निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्ता मात्रको जानता है । निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि रूप ही होता है, निषेध रूप नहीं । तथा पदार्थोंके भेदको ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी पदार्थोंको सत्ता रूपसे जानता है, इस लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मका साधक है । क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है । ‘ विधिरेव तत्र प्रमेयत्वात् ’ इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है । इसी तरह जागम आदि भी ब्रह्मके अन्तित्वके साधक हैं । जैन—निश्चयात्मक और विमवादासे रहित ज्ञान ही प्रमाण होता है, इस लिये निश्चयान्वयक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता । सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंसे रहित केवल विधि रूप ब्रह्मको नहीं जान सकता । क्योंकि जिस प्रकार विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष वस्तुका ज्ञान असंभव

है, उमी तरह विधिके बिना प्रतिषेध और प्रतिषेधके बिना विधि रूप ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव प्रत्यक्ष भी सामान्य विशेष रूप हो कर विधि और प्रतिषेध दोनों रूपसे ही पदार्थोंका ज्ञान करता है । 'विधिरेव तत्त्व प्रमेयत्वात्' अनुमानमें भी प्रमेयत्व हेतु प्रत्यक्षमे वाधिन है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि और निषेध दोनों तरहसे पदार्थोंका ज्ञान करता है, यह अनुमत्प्राम्य है । तथा आगम प्रमाण माननेपर वाच्य वाचक मान माननेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है ।

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मरूपाच्यवाचकभाससमर्थनपुर सर तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषा प्रतिभाप्रमादभावाभावमाह—  
अथ कश्चित् सामान्य और कश्चित् विशेषरूप वाच्य वाचक भावका समर्थन करके प्रतिपादियोंद्वारा मान्य एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य वाचक भावका खडन करते हैं—

**अनेकमेकात्मकमेव वाच्य द्वयात्मक वाचकमप्यवश्यम् ।**

**अतोऽन्यथा वाचकवाच्यकल्पसावतावकाना प्रतिभाप्रमाद ॥ १४ ॥**

श्लोकार्थ—जिस प्रकार समस्त पदार्थ ( वाच्य ) अनेक हो कर भी एक हैं, उसी तरह उन पदार्थोंको कहनेवाले शब्द ( वाचक ) भी एक और अनेक हैं । आपके इस सिद्धांतको न माननेवाले प्रतिवादी लोग स्वलित होते हैं ।

वाच्यम्—अभिधेय, चतनमचेतन च वस्तु, एकारस्याप्यर्थत्वात् । सामान्यरूपतया एकात्मरूपमपि व्यक्तिभेदेनानेकम्—अनेकरूपम् । अथवानेकरूपमपि एकात्मरूपम् । अन्योऽन्य सरलितत्वान्तिथमपि व्याख्यान न ढोप । तथा च वाचकम्—अभिधायक, शब्दरूपम् । तदप्यवश्यम्—निश्चित । द्वयात्मक—सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद एकानेकात्मकमित्यर्थ । उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् । अवश्यमिति पद वाच्यवाचकयोरुभयारप्येकानेकात्मकत्व निश्चिन्वत् तदेकान्त व्यच्छिनत्ति । अतः—उपद्रशितप्रकागत, अन्यथा—सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण, वाचकवाच्यकल्पसा वाच्यवाचकभावरूपनायाम्, अतावतानाम्—अत्रदीयानाम्, अन्ययुष्यानाम् । प्रतिभाप्रमाद—प्रज्ञास्वलितम् । इत्यक्षरार्थः । अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपात प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहण, तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्यार्च्यत्वज्ञापनार्थम् । तथा च शाब्दिका —

“ नै सोऽस्ति प्रत्ययो लफे य शब्दानुगमाहते ।

अनुसिद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते ” ॥ इति ॥

व्याख्यार्थ—जैसे चेतन अचेतन वस्तु ( वाच्य ) सामान्यमे एक हो कर भी व्यक्ति रूपसे अनेक, और विशेष रूपमे अनेक हो कर भी सामान्यमे एक है, वैसे ही चेतन और अचेतन वस्तुका वाचक भी सामान्य और विशेष होनेसे एक रूप और अनेक रूप है । वाच्य-वाचकको सामान्य विशेष रूप न स्वीकार करनेवाले अन्यमतालम्बी न्यायमार्गसे स्थानित होते हैं । वाच्य शब्दमें अल्प स्वर होनेमे वाच्यका वाचक शब्दसे पहले निपात होना चाहिये था, परन्तु अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके आधीन है, यह बतानेके लिये वाचक शब्दको ही पहले रखा है । वैयाकरणोंने कहा भी है “ शब्दके सन्धके बिना लोकमें कोई ज्ञान नहीं होता, सम्पूर्ण ज्ञान शब्दके साथ ही सद्ग है । ”

भावाव्यस्त्वेवम् । एते तीर्थिका सामान्यरूपमेव वाच्यतयाभ्युपगच्छन्ति । ते च द्रव्यात्मिकनयानुपातिना मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः साख्याः । केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति । ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सांगता । अपरं च परस्परनिरपेक्षपदाः पृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वत । ते च नैगमनयानुरोधिनाः ज्ञाणादाः, आक्षेपात्तत्र ॥

( १ ) केवल द्रव्यात्मिक नयको माननेवाले अद्वैतवादी, कोट मीमांसक और साख्य सामान्यको ही सत् ( वाच्य ) स्वीकार करते हैं । ( २ ) केवल पर्यायात्मिक नयको माननेवाले बौद्ध लोग विशेषको ही सत् मानते हैं । ( ३ ) केवल नैगम नयका अनुकरण करनेवाले न्यायवैशेषिक परस्पर भिन्न और निरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकार करते हैं ।

एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चित् चर्च्यते । तथाहि । सग्रहनयानुसन्धिना वादिनाः प्रतिपादयन्ति । सामान्यमत्र तत्रम् । ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् । तथा सर्वमत्रम् । अविशेषणं सद्विज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्कारुतान् । तथा द्रव्यत्रयमत्र तत्रम् । ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माधर्माज्ञात्पुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलक्षणम् । किञ्च, ये सामान्यान् पृथग्भूता अन्याऽन्यव्यावृत्त्यात्मना विशेषाः कल्पन्त, तेषु विशेषत्वविद्यते न वा ? नो च्छब्दो नि स्वभावतामसङ्गः । स्वरूपस्वैराभावात् । अस्ति चैतत् तर्हि तदेव सामान्यम् । यत् समानानां भावः सामान्यम् । विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषणं प्रतीतिः सिद्धैः ॥

( १ ) अद्वैतवादी-मीमांसक-साख्य—सामान्य ही एक तत्व है, सामान्यसे भिन्न विशेष दृष्टिगोचर नहीं होने । सत्र पदार्थोंका सामान्य रीतिसे ज्ञान होता है, और सत्र पदार्थ ' सत् ' कहे जाते हैं, अतएव समस्त पदार्थ एक हैं । अतएव द्रव्यत्व ही एक तत्व है, क्योंकि द्रव्यको छोड़ कर धर्म, अर्थ, आकाश, काल, पुद्गल और जीव नहीं पाये जाते । समा यसे भिन्न और एक दूसरेकी व्यावृत्ति रूप ' विशेष ' स्वीकार करनेवाले

वादियोंसे हम पूछते हैं, कि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, या नहीं ? यदि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता, तो इसका अर्थ यह हुआ, कि विशेष निस्वभाव हैं, क्योंकि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता । यदि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, तो इसी विशेषत्वको हम सामान्य कहने हैं । क्योंकि समानके भावको ही सामान्य कहा है, और इन सब समान भावों की सामान्य रूपसे प्रतीति होती है ।

अपि च विशेषाणा व्यावृत्तिप्रत्ययद्वयत्त लक्षणम् । व्यावृत्तिप्रत्यय एव विचार्यमाणो न घटत । व्यावृत्तिद्वि विवक्षितपदार्थ इतरपदार्थमतिपथः । विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी, क्रथ पदार्थान्तरमतिपथे प्रगल्भत । न च स्वरूपसत्त्वादन्यत् तत्र निमिषि, येन तन्निषेध प्रवर्तते । न च व्यावृत्तौ क्रियमाणाया स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयगतिनोऽतीतवर्तमानानागता\* पदार्थास्तस्माद् व्यावर्तनीया\* । ते च नाज्ञानस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्या । ततश्चैकस्यापि विवक्षितस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वमभ्यात् । न चैतत्प्रतीतिकरौक्तिकं वा । व्यावृत्तिस्तु निषेधः । स चाभावस्त्वत्वात् तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमश्नति स्वपुष्पवत् ॥

तथा, विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेध करनेको व्यावृत्ति कहते हैं । इसी व्यावृत्ति प्रत्ययके हेतुको विशेष माना गया है, जैसे घटमें पटके निषेध करनेसे घटकी पटमें व्यावृत्ति होती है । परंतु यह विवक्षित पदार्थ ( घट ) अपने स्वरूपको ही सिद्ध कर सकता है, दूसरे पदार्थोंका निषेध नहीं कर सकता । यदि विवक्षित पदार्थ दूसरे पदार्थोंके निषेध करनेमें भी समर्थ हो, तो उसे तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थोंसे भी अपनी व्यावृत्ति करनी चाहिये । इस लिये जब तक तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, और वर्तमान पदार्थोंका ज्ञान न हो, उस समय तक इन पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकती । हम लिये एक घटके ज्ञान करनेमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंसे घटकी व्यावृत्ति करनेके लिये प्रमाताको सर्वज्ञ होना पड़ेगा । यह न तो विश्वासके योग्य है, और न तर्कसे ही सिद्ध हो सकता है । तथा, निषेधको ही व्यावृत्ति कहा गया है, यह व्यावृत्ति अभाव रूप होनेसे तुच्छ है, इस लिये आकाश तुमुमकी तरह अनुभवगम्य नहीं है ।

तथा येभ्यो व्यावृत्ति\* तै सद्रूपा अमद्रूपा वा ? असद्रूपाश्चेत् तर्हि स्वरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः । सद्रूपाश्चेत् सामान्यमत्र । या चैव व्यावृत्तिर्विशेषः क्रियते सा सर्वाद्यु विशेषव्यक्तिष्वेका अनेका वा ? अनेका चेतु तस्या अपि विशेषत्वापत्तिः, अनेकरूपत्वेऽजीवितत्वाद् विशेषाणाम् । ततश्च तस्या अपि विशेषत्रयान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम् । व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात् । तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्ते प्रतीतिद्वयत्वात्, अनवस्थापाताच्च । एका चेतु सामान्यमव सन्नान्तरणप्रतिपन्न स्यात् । अनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाव्यभिचारात् । किञ्च, 'जमी विशया' सामा-

न्याद् भिन्ना अभिन्ना वा ? भिन्नाश्चेद् मण्डूकनद्यभारानुकारा' । अभिन्नाश्चेत् तदेव तत्स्वरूपवत् । इति सामान्यरूपात्वादः ॥

तथा, जिन पदार्थोंसे दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति की जाती है, वे पदार्थ सत् हैं, या असत् ? यदि ये पदार्थ असत् हैं, तो असत् स्वरूपिणसे भी घटकी व्यावृत्ति की जानी चाहिये । यदि व्यावृत्त पदार्थोंको सत् मानो, तो उन पदार्थोंको सामान्य ही कहना चाहिये । तथा, विशेषोंके द्वारा की हुई व्यावृत्ति सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति होनी है, अथवा सममें अलग अलग व्यावृत्ति होती है । यदि व्यावृत्ति अनेक हैं, तो व्यावृत्तिको भी विशेष मानना चाहिये, क्योंकि अनेक रूपको ही विशेष कहते हैं । अतएव व्यावृत्तिके विशेष भिन्न होनेपर व्यावृत्तिमें भी व्यावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि विशेष व्यावृत्तिके हेतु होने हैं । तथा, व्यावृत्तिमें व्यावृत्ति माननेपर, व्यावृत्ति व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव विशेषोंका अभाव मानना चाहिये । तथा एक व्यावृत्तिमें अनेक व्यावृत्ति माननेसे अनग्न्या दोष आता है । यदि सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति स्वीकार करो, तो उसे सामान्य ही मानना चाहिये । तथा, ये विशेष सामान्यमें भिन्न हैं, या अभिन्न ? विशेषोंको सामान्यसे भिन्न मानना असम्भव है । यदि विशेष सामान्यमें अभिन्न हैं, तो उन्हें सामान्य ही कहना चाहिये । इस लिये एक सामान्य ही तत्व है ।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते । विविक्ता क्षणक्षयिणा विशेषा एव परमार्थः । तत्रा विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गणादिव्यत्यनुभवकाले वर्ण-सस्थानात्मक व्यक्तिरूपमपहाय, अन्यत्किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभामते । तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति—

“ एतासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।

साधारण रूपमनेक्षते य शृङ्ग शिरस्यात्मन ईक्षते सः ”

एनाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्या व्यक्तिभ्य एवात्पद्यत । इति न तत्र सामान्यसाधन न्याग्यम् ॥

(२) नौद—भिन्न और क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले विशेष ही तत्व हैं । विशेषको छोड़ कर सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है । गौको जानते समय हमें गौके वर्ण, आकार आदिके विशेष जानको छोड़ कर गौका केवल सामान्य जान नहीं होता है । क्योंकि विशेष जानको छोड़ कर किसी पदार्थका सामान्य ज्ञान हमारे अनुभवके बाह्य है । कहा भी है “ जो पुरुष प्रत्यक्षसे स्पष्ट अलग अलग दिखाई देनेवाली पाच उगलियाँमें केवल सामान्य रूपको देखता है, वह पुरुष अपने सिरपर सींग ही देखता है, अतएव पदार्थोंके विशेष ज्ञानको



छोट कर पदार्थोंका केवल सामान्य ज्ञान होना असमभव है ।" तथा, एक रूप ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तियोंसे उत्पन्न होता है । अतएव सामान्य कोई वस्तु नहीं है ।

किञ्च, यदि सामान्य परिकल्प्यते तदेकमनैक वा ? एकमपि सर्वगतमसर्वगत वा ? सर्वगत चत्, किं न व्यक्त्यन्तरात्पूपलभ्यते । सर्वगतैकत्वाभ्युपगम च तस्य यथा गोत्वसामान्य गोव्यक्ती क्रोडीन्रोति, एव किं न घटपटादिव्यक्तीरपि, अविशेषात् । असर्वगत चेद् विशेषरूपापत्ति अभ्युपगमनाश्रय ॥

तथा, सामान्य एक है, या अनेक ? यदि सामान्य एक है, तो वह व्यापक है, या अत्यापक ? यदि सामान्य व्यापक है, तो वह दो व्यक्तियों ( गौआ ) के व्यवधानमें क्यों नहीं रहता । तथा, सामान्यको एक माननेपर जैसे गोत्व सामान्य गौओंमें रहता है, वैसे ही वह घट, पट आदिमें भी रहना चाहिये, क्योंकि सामान्य एक है । यदि सामान्यको अत्यापक मानो, तो फिर इसे विशेष ही कहना चाहिये । तथा आप लोग सामान्यको अत्यापक नहीं मानते हैं ।

अथानेन गोत्राश्वत्वघटत्वरपटत्वादिभेदाभिन्नत्वात् तद्दि विशेषा एव स्वीकृता । अन्यान्यव्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद्वात्त्व तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्व च वस्तुनो लक्षणम् । तच्च विशेषेष्वव स्फुट प्रतीयते । न हि सामान्येन काचिदर्थ क्रिया क्रियते । तस्य निष्क्रियत्वात् । बाहदाहादिकास्वर्थक्रियामु विशेषाणामरोपयोगात् । तथेद सामान्य विशेषेष्व्या भिन्नमभिन्न वा ? भिन्न चेद् अवस्तु । विशेष विश्लेषणार्थक्रियाकारित्वाभावात् । अभिन्न चेद् विशेषा एव, तत्स्वरूपम् । इति विशेषैकान्तवाट ॥

यदि कहो, कि सामान्य गोत्व, अश्वत्व, घटत्व, पटत्व आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, तो इसमें एक दूसरेकी व्यावृत्ति करनेवाला विशेष ही सिद्ध होता है । क्योंकि गोत्व और अश्वत्वके भिन्न भिन्न होनेसे गोत्वकी अश्वत्वमें व्यावृत्ति होती है । तथा, अर्थक्रिया करनेवालेको वस्तु कहते हैं । यह वस्तुका लक्षण विशेषमें ही ठीक घटता है । क्योंकि सामान्य निष्क्रिय होनेसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता । तथा, बाहन ( खेंचना ) दोहन ( दुहना ) आदि क्रियाओंमें भी अश्वत्व, गोत्व आदि सामान्य उपयोगी नहीं होते, बल्कि खींचने, दुहने आदिके समय विशेष रूप अश्व और गोसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है । तथा, यह सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, या अभिन्न ? यदि सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, तो सामान्य कोई पदार्थ ही नहीं उत्पन्न, क्योंकि विशेषमें भिन्न हो कर इसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती । यदि सामान्य विशेषसे अभिन्न है, तो उसे विशेष ही मानना चाहिये । अतएव विशेष ही तत्व है ।

नैगमनयानुगामिनस्त्वाद् । स्वतन्त्रा सामान्यविशेषौ । तत्रैव प्रमाणेन प्रतीतत्वाद् । तथाहि । सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्मा यासितत्वात् । यावच्च तावेव, यथा पाय पावकौ, तथा चैतौ, तस्मात् तथा । सामान्य हि गात्वादि सर्वगतम् । तद्विपरीताश्च शरत्शावलेयादयो विशेषा । ततः कथमेवमित्यत्र युक्तम् ॥

( ३ ) न्यायवैशेषिक—सामान्य और विशेष एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं, क्योंकि प्रमाणसे ऐसा ही सिद्ध होता है । अतएव ' सामान्य और विशेष एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि वे एक दूसरेके विरोधी हैं, जो एक दूसरेके विरोधी होने हैं, वे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं, जैसे जल और अग्नि एक दूसरेसे विरोधी हैं, अतएव वे अत्यन्त भिन्न हैं । इसी तरह सामान्य और विशेष परस्पर विरोधी हैं । अतएव वे एक दूसरेमें अत्यन्त भिन्न हैं । ' सामान्य व्यापक है, और विशेष परिमित क्षेत्रमें रहता है, अतएव दोनोंका ऐक्य समभव नहीं है ।

न सामान्यात् पृथग्विशेषस्यापलम्भ इति चेत्, कथं तद्दि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् । सामान्यव्याप्तस्यति चेद्, न तद्दि स विशेषापलम्भ । सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् तदर्थं तेन बोधेन त्रिरिक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं व्यति तत्सा य च व्यवहार न प्रवर्तयत् प्रमाता । न चैतदास्ति । विशेषाभिधानव्यवहारयो प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्माद् विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहार प्रवर्तयता तद्ग्राहका बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्य । एव सामान्यस्थाने विशेषशब्द, विशेषस्थाने च सामान्यशब्द प्रयुञ्जानेन सामान्यऽपि तद्ग्राहको बोधा विविक्तोऽङ्गीकर्तव्य । तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने प्रथरूपतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविश्रमन्तौ । ततो न सामान्यविशेषात्मकत्व वस्तुनो घटते । इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः ॥

यदि कहो, कि सामान्यको छोड़ कर विशेष कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तो हम पूछते हैं, कि विशेषका जान कैसे होता है ? यदि सामान्यके साथ ही विशेषका जान मानो, तो यह ज्ञान विशेषका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे सामान्यका भी जान होता है । अतएव सामान्यमे भिन्न शुद्ध विशेषका जान न होनेसे विशेषकी ध्वनि और उसके व्यवहारमें प्रमाताकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । परन्तु विशेषके वाचक शब्द और विशेषके उपर अवगन्धिन व्यवहारमें प्रमाताकी प्रवृत्ति देखी जाती है । अतएव सामान्यमे भिन्न विशेष अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अतएव सामान्य और विशेष अपने जानमें अलग अलग प्रतिभासित होते हैं, इस लिये सामान्य और विशेष एक दूसरेसे भिन्न हैं । इस लिये सामान्य और विशेषको निरपेक्ष ही कहना चाहिये ।

तदेतत् पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदम् । प्रमाणसाधितत्वात् । सामान्यविशेषोभयात्मकमैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात् । वस्तुना हि लक्षणम् अर्थकि-

याकारित्वम् । तच्चानेमान्तमादे एवाविकल कलयन्ति परीक्षकाः । तथाहि । यथा गौरित्युक्तं गुरुरकुत्साम्नालाद्गुलाविपाणाघनयवसपन्नं वस्तुम्प सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते ॥

जैन—( १ ) उक्त तीनों पक्ष प्रमाणसे बाधित होनेसे ठीक नहीं हैं । सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेष रूप ही अनुभवमें आते हैं, अतएव अनेकान्तमादमें ही वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ठीक ठीक घटित हो सकता है । क्योंकि गाँके देरनेपर जिस समय हमें खुर, पूछ, सींग आदि अवयवोंवाली व्यक्ति रूप सन गौओंका सामान्य रूपसे ज्ञान होता है, उसी समय भैंस आदि की व्यावृत्ति रूप विशेष ज्ञान भी हाता है, अतएव सारय, वेदाती आदिकों केवल सामान्यको तत्र न मान कर पदार्थोंको सामान्य विशेष रूप ही मानना चाहिये ।

यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासः तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव । शबलेति केवलविशेषोच्चारणऽपि, अर्थात् प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते । अपि च, शबलत्वमपि नानारूपम् । तथा दर्शनात् । ततो वत्रा शबलेत्युक्ते क्राडीकृतसकलशबलसामान्य विवक्षितगव्यक्तिगतमत्र शबलत्व व्यग्रस्थाप्यते । तदेवमात्रालगोपाल प्रतिप्रतिभासिद्धेऽपि वस्तुन, सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादप्रलापमात्रम् । न हि क्वचित् कदाचित् केनचित् सामान्य विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृता । केवल दुर्नयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद्व्यग्रस्थापयन्ति बालिशा । सोऽयमन्यगैजन्त्याय । ॥

( २ ) तथा शबला ( चितकबरी ) गौका विशेष ज्ञान होनेपर भी गोत्व सामान्यका स्पष्ट रूपसे ज्ञान होता है । क्योंकि शबला कहनेपर गोत्व सामान्यका ज्ञान अवश्य होता है । तथा शबलत्व भी अनेक प्रकारका है । अतएव यत्नाके गौको शबला कहनेपर सम्पूर्ण गौओंमें शबलत्वका सामान्यसे ग्रहण होनेपर भी विवक्षित गौमें ही शबलत्वका ज्ञान होता है । अतएव सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष हैं । बिना सामान्यके विशेष, और बिना विशेषके सामान्य कहीं भी कभी नहीं पाये जाते, अतएव विशेष निरपेक्ष सामान्यको, अथवा सामान्य निरपेक्ष विशेषको तत्र मानना केवल प्रलाप मात्र है । जिस प्रकार जमाध पुरय द्वार्थके एक एक अणवको स्पर्श करके हाथीका जुदा जुना स्वरूप सिद्ध करते हैं, वैसे ही सर्वथा एकातमाद्री वस्तुका स्वरूप एक एक अपेक्षाको ग्रहण करके भिन्न भिन्न सिद्ध करते हैं । अतएव केवल विशेषको तत्र न मान कर परस्पर सापेक्ष सामान्य विशेषको ही अगीकार करना चाहिये ।

१ जमाधेदशभिर्धमाक्षम पदचतुष्टयश्लोघद्वयशुण्डादतपुच्छरूपा गणवयवा सृष्टा । तत तेऽथा रजसृष्टरूपं स्तम्भाद्याकारकं पूर्णतया गजस्वरूपं प्रतिपन्नमानास्तथैव स्थापयन्ति तदितरिन्निषेधयन्ति तद्वत् ।

येऽपि च तदेतन्तपक्षोपनिपातिन प्रागुक्ता दोषान्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गर-  
प्रहारजर्जरितत्वाद् नोच्छ्वसितुमपि क्षमा । स्वतन्त्रसामान्यविशेषादिनस्त्वैव प्रति-  
क्षेप्या । सामान्य प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्न, कथञ्चिदभिन्न, कथञ्चित्तदात्मत्वाद्,  
त्रिसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद् विशिष्टा  
विसदृशपरिणामदर्शनाद्व्यतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति ।  
तन समानो गौरयम्, सौज्जेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्  
सामान्यरूपनाव्याघातः । यता रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां  
गुणरूपताव्याघातः । न्यञ्चिद् व्यतिरिक्तस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्य-  
स्त्येव । पृथग्व्यपदेशादिभान्त्वात् ॥

( ३ ) क—सामान्य और विशेषको परस्पर भिन्न और निरपेक्ष कहनेवाले नैयायिक  
और वैशेषिकोंका मत भी दोषपूर्ण है । क्योंकि विसदृश परिणामकी तरह सामान्य व्यक्ति  
( विनेप ) से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न है । जेमे किसी व्यक्तिके अन्य व्यक्तियोंसे  
विशेष रूप प्रतिभासित होनेपर उसमें त्रिसदृश परिणाम देखा जाता है, जैसे ही भिन्न भिन्न  
व्यक्तियोंमें सामान्य रूप देखे जानेसे सदृश परिणाम भी पाया जाता है । उदाहरणके लिये,  
गौ व्यक्तिके अङ्ग आदि व्यक्तियोंमें असमान होनेपर गौमें त्रिसदृश परिणाम, तथा  
गौमें गोर सामान्यके रहनेसे सत्त्व परिणाम पाया जाता है । यदि कहो, कि सामान्य व्यक्तिके  
कथञ्चित् अभिन्न है, इस लिये सामान्यका स्वरूप नष्ट हो जाता है, यह ठीक नहीं । क्योंकि  
रूप आदिके घट आदिसे अभिन्न होनेपर भी रूपादिका नाश नहीं देखा जाता । तथा सामान्य  
और विनेप कथञ्चित् भिन्न भी हैं, क्योंकि रूप आदिका घट आदिमें भिन्न व्यवहार होता  
है । अतएव सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष हैं ।

विशेषा अपि नैतन्तन सामान्यात् पृथग्भवितुमर्हन्ति । यता यदि सामान्यं  
सर्वगत सिद्ध भवेत् तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यास स्यात् । न च  
तस्य तत् सिद्धम् । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विनेपाणां च न्य-  
ञ्चित् परम्पराव्यतिरेकेणैकान्तरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्त-  
त्वादि सामान्यमप्यनैकमिष्यत । सामान्यान् तु विशेषाणामव्यतिरेकान्तेष्वनैक-  
रूपा न्ति ।

ख—इसी प्रकार विनेप भी सामान्यसे एकान्त भिन्न नहीं हैं । तथा, आप लोगोंने सामान्य-  
को व्यापक और विशेषको जयापक कह कर दोनोंको एक दूसरेके विरुद्ध गुणोंवाला बता  
कर शांत और उष्णकी तरह सामान्य विशेषको एक साथ रहना असमन बताया है, वृ भी  
ठीक नहीं । क्योंकि हम सामान्यको व्यापक नहीं मानते, यह हम पहले कह आये हैं ।

अतएव सामान्य और विशेष कथंचित् अभिन्न हैं, इस लिये वे एक और अनेक दोनों रूप हैं। सामान्यके विनयेसे अभिन्न होनेपर अनेक सामान्य, और विशेषके सामान्यसे अभिन्न होनेपर विनये भी एक रूप होते हैं।

एकत्र च सामान्यस्य सग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम् । प्रमाणाप्यर्पणात् तस्य कथञ्चिद्विरुद्धधर्मा यासितत्वम् । सदृशपरिणामरूपस्य त्रिसदृशपरिमाणवत् कथञ्चिद् प्रतिव्यक्तिभेदात् । एव चासिद्ध सामान्यविशेषयोः सर्वधाविरुद्धधर्मा यासितत्वम् । कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितम् तन्नास्मत्कक्षामवेशः । कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपाथकृदष्टान्ताऽपि साध्यसाधनविकलः । तयारपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वं भिन्नत्वं च स्वीकरणात् । पयस्त्वपावकृत्वादिना हि तयारिरुद्धधर्माध्यासः, भद्रश्च । द्रव्यैर्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति । तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्र वस्तुनो घटते इति । ततः सुष्टुक्तं वाच्यमेकमेकरूपम् इति ॥

सामान्यमें सग्रह नयकी अपेक्षासे एकत्र समझना चाहिये। प्रमाणकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें सामान्य और विशेष, एक और अनेक कथंचित् विरुद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार किसी अपेक्षासे सामान्य सामान्य और विशेष दोनों हैं, वैसे ही विशेष भी विशेष और सामान्य दोनों रूप हैं। अतएव सामान्य और विशेषको सर्वथा विरुद्ध कहना असिद्ध है। यदि आप लोग सामान्य विशेषको कथंचित् विरुद्ध स्वीकार करते हैं, तो यह हम भी मानते हैं। क्योंकि सामान्य विशेषका कथंचित् विरोध सामान्य और विशेषके कथंचित् भेद माननेमें ही बन सकता है। तथा, आपका जल और अमिका दृष्टांत भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं करता, क्योंकि जल और अमिको भी हमने कथंचित् भिन्न मान कर ही कथंचित् विरुद्ध स्वीकार किया है। अतएव जल और अमि भिन्न होनेके कारण परस्पर विरुद्ध हैं, और द्रव्यत्वकी अपेक्षा अभिन्न होनेके कारण दोनों एक हैं। इस लिये वस्तुका स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है। अतएव वाच्य एक और अनेक दोनों रूप है, यह हमारा कथन मिलजुल ठीक है।

एव वाच्यमपि शब्दाद्य द्वयात्मकम् सामान्यविशेषात्मकम् । सर्वशब्दव्यक्तिप्रत्युपायि शब्दत्वमेकम् । शास्त्रशास्त्रतीत्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम् । शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद् व्यक्तमेव । तथाहि । पौद्गलिक शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत् ॥

इसी प्रकार शब्द (वाचक) भी सामान्य विशेष दोनों हैं। शब्दत्व सब शब्दोंमें एक होनेके कारण एक है, और शल, धनुष, तीर, मन्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिके भेदसे अनेक है। तथा, शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि रूप आदिकी तरह इन्द्रियका विषय है, इस लिये शब्द पौद्गलिक होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप है।

यच्चास्य पौद्गलिकृत्यनिषेधाय स्पर्शगूण्याश्रयत्वात्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेश-  
निर्गमयोरप्रतिप्रातात्, पूर्व पश्चाच्चावयवानुपलभे', सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराभेरकत्वाद्,  
गगनगुणत्वात् चेति पञ्चद्वैतत्रो यौगैरपन्यस्ता', ते हेत्वाभासा' । तथाहि । शब्द-  
पर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम् । तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव । यथा  
शब्दाश्रय' स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विकृष्टनिःकटशरीरिणापलभ्यमानानुपल-  
भ्यमानन्द्रियार्थत्वात् तथाविधगन्धागारद्रव्यपरमाणुवत् । इति असिद्ध प्रथम' । द्विती  
यस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिक' । वर्त्यमानजात्यकस्तूरिनादि गन्धद्रव्ये हि  
पिहितद्वारापवरकस्यान्तविशति वहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्म  
रन्प्रसभवाद् नातिनिविडत्वम्, अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्कर्मौ । कथमन्यधोर्द्ध्यादितद्वारा-  
वस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम् । सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयो सभवं' इति चेत्,  
तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् इत्यसिद्धो हेतु । तृतीयस्तु तडिल्लतोलकादिभिरनैकान्तिकः ।  
चतुर्थाऽपि तथैव । गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि  
गन्धद्रव्यात्किमपि नासाया निविशमान तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नमधुमेरक दृश्यते ।  
पचम. पुन असिद्ध. । तथाहि । न गगनगुण शब्द, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्,  
रूपान्वित् । इति सिद्ध. पौद्गलिकत्वात् सामान्यविशेषात्मक' शब्द इति ॥

शक्ता—शब्द पुद्गलकी पर्याय नहीं है, क्योंकि वह ( १ ) मर्शसे रहित है,  
( २ ) अत्यन्त सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रकता है,  
( ३ ) शब्दके पूर्व और पश्चात् उसके अवयव नहीं दिखाई देते, ( ४ ) यह सूक्ष्म  
मूर्त द्रव्योका भेक नहीं है, तथा ( ५ ) शब्द आकाशका गुण है । समाधान—  
( १ ) उक्त हेतुओंमें प्रथम हेतु असिद्ध है । क्योंकि शब्द पर्यायका आश्रय भाषावर्गणा  
है ( सनातीय वस्तुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं, जिन पुद्गल वर्गणाओसे शब्द बनते हैं,  
उन्हें भाषावर्गणा कहते हैं ), आकाश नहीं । तथा शब्दका स्थान यह भाषावर्गणा स्पर्श गुणसे  
युक्त है, क्योंकि यह इन्द्रियका विषय है । जैसे गधके आश्रित परमाणु वायुके अनुकूल होने-  
पर दूर खडे हुये मनुष्यके पास पहुंच जाते हैं, और वायुके प्रतिफल होनेपर पास बैठे हुए,  
मनुष्य तक भी नहीं पहुंचते, वैसे ही शब्दके परमाणु भी वायुके अनुकूल होनेपर दूर देशमें  
खडे हुए श्रोताके पास तक पहुंचते हैं, और वायुके प्रतिफल होनेसे समीपमें बैठे हुए श्रोताके  
पास तक भी नहीं पहुंचते । अतएव जेमे गध इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द  
भी इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है । इस लिये वैशेषिकोंका प्रथम हेतु असिद्ध है । ( २ )  
दूसरे हेतुमें गध द्रव्यसे व्यभिचार आता है, इस लिये यह हेतु अनैकान्तिक है । जैसे गध द्रव्य  
अत्यन्त सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रकने पर भी पौद्गलिक है, वैसे ही

शब्दको भी पौद्गलिक मानना चाहिये। यदि कहे, कि फन्तुरी आदि गंध द्रव्यको किसी सन्दूकमें बन्द करके रखनेपर गंधका आना जाना रुक जाता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यह आना जाना शब्दमें भी समभव है, अतएव दूसरा हेतु भी असिद्ध है। (३) तीसरा हेतु बिजली और उल्कापात आदिके व्यभिचारी है। क्योंकि विद्युत् आदिके अरयण विद्युत् रुक पहले और पीछे नहीं पाये जाते, फिर भी विद्युत् आदि पौद्गलिक माने जाते हैं। इसी तरह गंध द्रव्य, सूक्ष्म रज व धूम आदिके अन्य द्रव्योंके प्रेरक न होने पर भी वे पौद्गलिक कहे जाते हैं, इस लिये चौथा हेतु भी व्यभिचारी है। तथा (५) शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि यह रूपाणि की तरह हमारे इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष है, अतएव पाचवा हेतु भी असिद्ध है। इस लिये शब्द पौद्गलिक है, और उसे सामान्य और विशेष रूप ही मानना चाहिये।

न च वाच्यम् आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निरिच्छाम  
नुभूयत इति । यतः ससार्थात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तर्भ्रमपरमाणुभिः सह वक्षिता-  
पितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डाभूतमूर्च्छीमलापवह्नीलीभारमापन्नस्य कथञ्चित् पौद्गलि-  
कत्वाभ्यनुष्ठानादिति । यत्रापि स्याद्वादिनां पौद्गलिकरूपपौद्गलिक च सर्वं वस्तु  
सामान्यविशेषात्मकं, तथाप्यपौद्गलिकरूप धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मत्वमैवांगृह्यतां  
न तथाप्रतीतिविषयमायाति । पौद्गलिकेषु पुनस्तत् साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम् ।  
इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वमत्र सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति ॥

तथा, जैसे अग्नि तपाने और घनसे कूटनेपर अनेक सूक्ष्मोका समूह एक पिण्ड रूप  
हो जाता है, वैसे ही अपौद्गलिक आत्मा भी ससारी आत्माके प्रदेशोंके साथ अनन्त कर्म  
परमाणुओंका एव्य होनेसे कथञ्चित् पौद्गलिक कहा जाता है। यद्यपि म्याद्वादको  
माननेवालोंके मतमें पौद्गलिक और अपौद्गलिक सभी वस्तु सामान्य-विशेष रूप हैं, परन्तु अल्प  
ज्ञानी लोग धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन अपौद्गलिक पदार्थोंके सामान्य विशेषत्वको मले  
प्रकार नहीं समझ सकते, शब्द आदि पौद्गलिक पदार्थोंमें सामान्य विशेषत्वको अच्छी तरह  
समझ सकते हैं, अतएव यहा शब्दको सामान्य विशेष रूप सिद्ध करनेके लिये शब्दको ही  
पुद्गलकी पर्याय सिद्ध किया गया है। वास्तवमें सभी पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसमतः शब्दैकत्वैकात्म्यं, अनित्यशब्दवाद्यभिमतं  
शब्दानन्तर्वान्तश्च प्राग्दशितदिशा प्रतिक्षेप्य । अथवा वाच्यस्य घटादेर्यस्य

१-नायमेकान्तं अमूर्तिरेकामिति । कमवधपयापिथया तदविशात्स्यामूत । यदेव कमवधा  
वेगादस्यैवले सत्यविवेकं प्राप्नोति । १५ दोष । यद्य प्रत्यक्त्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमव  
सीयते । उक्तं च—

यद्यपि एतत् लक्षणगदा ह्यत्र तस्य गणत्वं । तद्वा अनुत्तिमावे गेयतो होइ जीवस्य ॥  
छाया-यद्य प्रत्यक्त्वे लक्षणत भवति तस्य नानात्व । तस्मात् अमूर्तिभाव अनेकात् भवति जीवस्य ॥

सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम् । शब्दार्थयोः कथञ्चित् तादात्म्याभ्युपगमात् । यदाहुर्भद्रवाट्टस्वामिपादा—

“अभिहाण अभिहेयाड हाइ भिण्ण अभिण्ण च ।

सुरअग्गिमांयगुच्चारणम्मि जम्हा उ चयणसवणाण ॥ १ ॥

नवि छओ नवि दाहो ण पूरण तेण भिन्न तु ।

जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ हाइ ॥ २ ॥

न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्न तदत्थाओ ॥”

एतेन—“विकल्पयोनय शब्दा विकल्पा शब्दयानयः

कार्यकारणता तेषां नार्थ शब्दाः स्पृगन्त्यपि ” ॥

इति प्रत्युक्तम् । “अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्या नामधेया ” इतिरचनात् । शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्व यदभिधेय याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति । स च तत् तथाप्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्य, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । यद्यभिधानशाले षटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति ॥

नित्य शब्दवादी भीमासक्तोके मतके अनुसार शब्द सर्वथा एक है, और अनित्य शब्दवादी बौद्धोंके अनुसार शब्द सर्वथा अनेक है, इन दोनों मतों हम ऊपर खडन कर चुके हैं । अथवा, वाच्य षटादिके सामान्य-विशेष रूप सिद्ध होनेपर, वाचक शब्दोंको भी सामान्य विशेष मानना चाहिये । क्योंकि शब्द ( वाचक ) और अर्थ ( वाच्य ) का कथञ्चित् तादात्म्य सबध माना गया है । भद्रवाट्ट स्वामिने भी कहा है “ वाचक वाच्यसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी है । क्षुर ( छुरा ), अग्नि और मोदक शब्दोंका उच्चारण करते समय बोलनेवालोंके मुख और सुननेवालोंके कान ‘क्षुर’ शब्दसे नहीं छिदते, ‘अग्नि’ शब्दसे नहीं जलते, और ‘मोदक’ शब्दमे नहीं भर आते, अतएव वाचकसे वाच्य भिन्न है । तथा ‘मोदक’ शब्दसे मोदकका ही ज्ञान होता है, अग्निका नहीं, इस लिये वाचक ( शब्द ) और वाच्य ( अर्थ ) अभिन्न हैं ।” इस कथनसे “ विकल्पसे शब्द उत्पन्न होते हैं, और शब्दसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतएव शब्द और विकल्प दोनोंमें कार्य कारण सबध हैं, परन्तु शब्द अपने अर्थसे भिन्न हैं । ( अतएव दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं ) ” यह कथन भी स्पष्टित हो जाता है । क्योंकि “ अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये पर्यायवाची शब्द हैं ।”

१ छाया-अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्न च । क्षुराऽग्निमोदकोच्चारण यस्मात् तु वदनध्वनया ॥

ना-पि च्छेद्ये नापि दाहान न पूरणमूतेन भिन्न तु । यस्माद्य मोदकोच्चारणे तत्रैव प्रत्ययो भवति ॥ न च भवति अन्याये तेनाऽभिन्न तदथात् ।

२ वाच्य पृथुबुज्जोदरकारोऽर्थोऽपि षट इति यददिश्यते । तद्वाचकमभिधान षट इति । तद्ज्ञानरूप प्रत्ययोऽपि षट इति । तथा च लोके वचति भवति । किमिदं पुरो हर्यते षट । किमसौ वाचि षट । किमस्य चेतसि सृजति षट् ।



जिम समय वाचक ( शब्द )से वाच्य ( अर्थ ) का ज्ञान होता है, उस समय वाचक वाच्यमें परिणत हो जाता है। उसी समय शब्दसे अर्थका ज्ञान होता है। अन्यथा घट शब्दसे पटका भी ज्ञान हो जाना चाहिये।

अथवा भङ्गन्यन्तरेण सकल काव्यमिदं व्याख्यायते। वाच्य वस्तु घटादिभूम्। एनात्मकमेव एकस्वरूपमपि सत्, अनकम् अनेकरूपम्। अयमर्थः। प्रमाता तावत् प्रमयस्वरूप लक्षणैः निश्चिनोति। तत्र सजातीयविजातीयव्यवच्छेदात्प्रमाता भलभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्था, विजातीयाश्च पटादया। तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम्। पृथुधुध्नोदराद्याकारं कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थत्रिशपो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते। अन्यथा प्रतिनियतस्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः। सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्। एकान्तभावात्मकत्वेऽस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्। एनान्ताभावात्मकत्वं च निःस्वभावता स्यात्। तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वाद् भावाभावात्मकं वस्तु। यदाह—

“सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।

अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥”

ततश्चैकस्मिन् घट सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तरनेनात्मकत्वं घटस्य रूपपादम्। एव चैकस्मिन्नर्थं ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानम्। सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निर्णयार्थं एतस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात्। आगमोऽप्यत्रमव व्यवस्थित —

“जे एग जाणइ स सच्च जाणइ।

जे सच्च जाणइ स एग जाणइ ॥”

तथा—“एको भावः सर्वथा येन दृष्टः।

सर्व भावा सर्वथा तेन दृष्टाः ॥

सर्व भावा. सर्वथा येन दृष्टाः।

एको भाव सर्वथा तेन दृष्टः ॥”

अथवा, दूसरी तरहसे श्लोकका अर्थ किया जा सकता है। वाच्य घट आदि एक हो कर भी अनेक रूप हैं। भाव यह है, कि प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षणसे ही जाना जाता है। ज्ञाता घटके सजातीय मिट्टीसे बने हुए पदार्थोंसे, और घटके विजातीय पट आदि पदार्थोंसे सजातीय और विजातीय व्यावृत्तिमें घटका ज्ञान करता है। क्योंकि सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति हो जानेपर ही बड़े, मोटे, उदरवाले, और जल्के ररने भरने आदिके काममें आनेवाले घट पदार्थका ज्ञान होता है। यदि घटका ज्ञान करते समय सजातीय और

विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति न की जाय, तो घटके निश्चित रूपका ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप हैं । यदि वस्तुको सर्वथा भाव रूप माना जाय, तो कोई वस्तु ही अपने स्वभाव रूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अभाव रूप होनेसे और व्यावृत्ति रूप होनेसे ही अपने स्वरूप वाली कही जाती है । इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा अभाव रूप माना जाय, तो वस्तुको अपने स्वभावसे रहित मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूपसे सत्, और पररूपसे असत् होनेके कारण भाव और अभाव रूप है । कहा भी है “प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे विद्यमान है, पररूपसे विद्यमान नहीं है । यदि वस्तुको सर्वथा भाव रूप स्वीकार किया जाय, तो एक वस्तुके सद्भावमें सम्पूर्ण वस्तुओंका सद्भाव मानना चाहिये, और यदि वस्तुको सर्वथा अभाव रूप माना जाय, तो वस्तुको सर्वथा स्वभाव रहित मानना चाहिये ।” अतएव घटमें घटको छोड़ कर अन्य सब पदार्थोंका अभाव होनेसे घट अनेक रूप है । इस लिये एक पदार्थके जाननेसे सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंके विना जाने हम एक पदार्थका ज्ञान करते समय उस पदार्थसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं कर सकते । आगमें भी कहा है “जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एकको जानता है ।” तथा, “जिसने एक पदार्थको सम्पूर्ण रीतिसे जान लिया है, उसने सब पदार्थोंको सब तरहसे जान लिया है । जिमने सब पदार्थोंको सब तरहसे जान लिया है, उमने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है ।”

ये तु सांगता परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते, तथा घटादे सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि । यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्, तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत् पररूपादिसत्त्वप्रसक्ते कथं न सर्वात्मकत्व भवेत् । परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्, अहो वैदग्धी । न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति । विधिप्रतिषेधरूपतया त्रिरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ युष्मत्पक्षेऽप्येव विरोधस्तदस्य एवेति चेद्, अहो वाचाट्टता देवानाम्प्रियस्य । न हि वयं यन्नैव प्रकारेण सत्त्वं, तन्नैवासत्त्वं, यन्नैव चासत्त्वं, तन्नैव सत्त्वमभ्युपेयम् । किन्तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम् । तदा वयं विरोधावकाशः ॥

बौद्ध लोग वस्तुको पररूपसे असत् नहीं मानते, अतएव उन्हें घटको सर्वात्मक मानना चाहिए । क्योंकि जिस तरह घट स्वरूपसे सत् है, यदि उसी तरह पररूपसे भी सत् हो, तो घटके किसी भी रूपसे असत् न होनेसे घटको सर्वात्मक होना चाहिये । अतएव पररूपसे असत् माननेसे ही पदार्थके निश्चित स्वरूपका ज्ञान हो सकता है । यदि स्व-सत्को ही पर-असत् अंगीकार करो, तो जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता । क्योंकि जहा विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म हों, वहा ऐक्य नहीं हो सकता । यदि

फहो, कि जैन लोग भी एक ही जगह विधि और प्रतिपेय मानने हैं, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग ( जैन ) जिस स्वभावसे सत् मानते हैं, उसी स्वभावसे असत् नहीं मानते, तथा जिस रूपसे असत् मानते हैं, उसी रूपसे सत् नहीं मानते। किन्तु हमारी मान्यता है, कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् है, अतएव हमारे मतमें विशेषके लिये कोई स्थान नहीं है।

यौगास्तु प्रगल्भन्त मर्याया पृथग्भूतपरस्परभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रति नियमसिद्धेः, किं तेषामसत्त्वात्मकतत्त्वल्पनया इति। तदसत्। यत्र हि पटाग्रभाव- रूपो घटो न भवति, तदा घट पटादिरय स्यात्। यथा च घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। इत्यल्लिख्यते॥

वैशेषिक—पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पदार्थसे भिन्न अन्योन्याभाव माननेमें काम चल जाता है, इस लिये पदार्थको अभावात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थको पररूपसे अभावात्मक नहीं मानें, तो पट आदिके अभावको घट नहीं कह सकते, अतएव घटको पट रूप मानना चाहिये। क्योंकि जैसे घटा- भावसे भिन्न होनेके कारण घटको घट कहते हैं, वैसे ही पटके घटाभावसे भिन्न होनेके कारण पटको भी घट मानना चाहिये। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग अन्योन्याभावको पदार्थकी स्थितिमें कारण मानते हैं। यह अन्योन्याभाव स्वयं पदार्थसे जुदा होता है। वैशेषिका- के अनुसार जहाँ घटका अभाव नहीं होता, वहीं घटका निश्चय होता है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्र आदिभी घटके अभाव रूप नहीं हैं, हम लिये वस्त्र आदिके घटके अभावसे भिन्न होनेपर वस्त्र आदिमें भी घटका ज्ञान होना चाहिये। जैनसिद्धांतके अनुसार घटको घटके अतिरिक्त सभी पदार्थको अभाव रूप स्वीकार किया है, इस लिये घटके वस्त्र आदिके भी अभाव स्वरूप होनेसे घटमें वस्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता।

एव वाचकमपि शब्दरूप द्वायात्मकम्। एकात्मकमपि सतनेकमित्यर्थः। अर्थोक्तन्यायन शब्दस्यापि भावाभात्मकत्वात्। अथवा एत्रिपयस्यापि वाचकस्या नरूपविपयत्वापपत्तः। यथा किल घटशब्दः सकृत्प्रशस्तः पृथुबुध्नोदरायासारति पदार्थे भरतत वाचकतया, तदा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादत्र पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमान केन वार्यते। भवति हि वस्तारो यागिनः शरीरं प्रति घट इति। सन्नाना पुरुषे च्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दाऽन्यत्र तस्करे रुढाऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमास रुढः। एव कर्मटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ

धृतिश्रद्धामहंननादिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, साप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतकल्पव्ययद्वारानुसारात् । शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी । त्रिपुराणीवे च अलिशब्देन मदिराभिपक्तम् च मैथुनशब्देन मधुसापिपात्रग्रहणम् इत्यादि ॥

वाच्यकी तरह वाचक भी एक हो कर भी अनेक है । जैसे अर्थ भाव और अभाव रूप है, वैसे ही शब्द भी भाव और अभाव दोनों रूप है । अथवा, एक विषयना वाचक शब्द अनेक विषयोंका वाचक हो सकता है, इस लिये भी शब्द भाव और अभाव रूप है । जैसे बड़े, मोटे और उदरवाले पदार्थमें घट शब्दका व्यवहार होता है, परन्तु योगी लोग शरीरको ही घट कहते हैं, चौर शब्दका साधारण अर्थ चोर होता है, परन्तु दक्षिण देशमें चौर शब्दका अर्थ चानल होता है, उमार शब्दका सामान्यमे युवराज अर्थ होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्विन मास किया जाता है, कर्कटी शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ककडी होनेपर भी कहीं कहीं इनका अर्थ योनि किया जाता है । तथा, 'जीतकल्पव्ययद्वारके' अनुसार प्रायश्चित्त विधिमें प्राचीन समयमें षड्गुरु शब्दका अर्थ एकसौ अस्ती उपवास किया जाता था, परन्तु आज कल षड्गुरुका अर्थ फवल तीन उपवास किया जाता है, पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय द्वादशीका अर्थ एकादशी किया जाता है, शाक्तलोगके ग्रंथोंमें अलि शब्द मदिरा, और मधु शब्द शहद और घी के अर्थमें प्रयुक्त होते हैं ।

न चैव सङ्केतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्य । स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तः । सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् । यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी सकृत्तस्तत्र तमर्थ प्रतिपादयति । तथा च निजितदुर्जयपरप्रवादा श्रीदेवमूरिपादा—“ स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थसोधनिगन्तव्यं शब्दः । ” अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादत्रसेयम् । अतोऽन्यथेत्यानि उत्तरार्द्धे पूर्ववत् । प्रतिभाषमादस्तु तेषां सदसदेकान्त वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्य उक्तयुक्त्या टोपसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तः । तदयं समुदायार्थः । सामान्यविधिपात्मकस्य, भावाभावात्मकस्य च वस्तुन सामान्यविशिषात्मको,

१ हृत्प्रियन्त शरीरपुत्रला येन तत्सहनन तन्वास्थिनिचय । तत्सहनन पट्टप्रकारैर्भरति । यत्र क्रमभनाराच, श्रमभनाराच, नापचं, अर्धनाराच कालिका, सेवार्ते (छेदस्थम्) । वज्रगपभनाराच, वज्रनाराच अर्धनाराच, कीलिका (कीलित), अष्टमासाष्टपाटिका इति पट्टसहननानि दिग्गच्छेयुः । २ जिनभद्रगणिभमभ्रमणकृता गाथाप्र यो जीतकल्पव्यय । जलभाववर्तित तस्य कल्पे वषाणा प्रकृता जीतकल्प । ३ शाक्तमार्गीयो ग्रन्थः । ४ प्रमाणनवतत्त्वालोकालङ्कारे ४-११ । ५ स्याद्वादरत्नाकरे । २-१ इत्यादयः ।



(२) कुछ लोग सामान्य ( जाति ) को ही शब्दका अर्थ मानते हैं। क्योंकि सामान्यके किसी भी स्थानमें रहनेपर वत् सत्र जगह सकेतसे जाना जा सकता है। विशेष जनत हैं, इस लिये उनकी एक साथ शब्दसे प्रतीति नहीं हो सकती, अतएव सामान्य ही शब्दका विषय है। ( ३ ) विधि वादियों के अनुसार विधि ही शब्दका अर्थ है, क्योंकि उससे प्रवृत्ति न करनेवाले मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिके अनुकूल व्यापारको विधि कहते हैं। विधि, प्रेरणा, प्रवर्तना आदि शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। विधि अनेक प्रकारकी है। सामान्यसे लौकिक और वैदिक विधिके दो भेद हैं। अपूर्ण, नियम और परिसग्याके भेदसे विधि तीन प्रकारकी बनावी गई है। उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार ये अपूर्व विधिके चार भेद हैं। कोई विधि वादी वाक्य रूप शब्दको विधि कहते हैं। जैसे ' स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको अमिहोत्र करना चाहिये। कोई वाक्यसे उत्पन्न व्यापार ( भावना ) को विधि कहते हैं। पुरुषकी प्रवृत्तिके अनुकूल प्रवर्तन करनेको व्यापार अथवा भावना कहते हैं। यह भावना शब्द-भावना और अर्थ भावनाके भेदमें दो प्रकारकी है। ' स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको यज्ञ करना चाहिये ' ( यनेत स्वर्गकाम ) आदि वाक्योंमें, ईश्वरके स्वीकार न करनेमें लिट् ( विधि ) रूप शब्दके व्यापारको शब्द-भावना कहते हैं। शब्दके व्यापारसे यत्न करनेवाले पुरुषकी प्रवृत्तिको अर्थ-भावना कहते हैं। भट्टमीमामक लोग भावनाको मानते हैं। कोई नियोगको ही विधि मानते हैं। जिनके द्वारा यज्ञमें नियुक्त हो, उसे नियोग कहते हैं। यह नियोग ग्यारह प्रकारका बताया गया है। प्रभावकर लोग नियोगवादी हैं। भट्टमीमासक नियोगवादका खडन करते हैं। कोई प्रेरणा आदिको, और कोई तिरस्कार पूर्वक प्रेरणा करनेको ही विधि मानते हैं। इसी तरह विधिके फल, अभिलाषा और कर्म आदि भी विधि वादियोंने भिन्न भिन्न स्वीकार किये हैं। इन सब मतोंका निरूपण और उनका खडन प्रभाचन्द्रद्वारा न्यायतुमुदचन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें देखना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है।

**भानार्थ**—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको सामान्य विशेष और एक अनेक प्रतिपादन करते हुए सामान्य एकान्तवादी, विशेष एकान्तवादी, तथा परस्पर भिन्न निरपेक्ष सामान्य विशेष वादियोंकी समीक्षा का गई है। ( १ ) अद्वैतवेदाती, मीमामक और सांख्योका मत है, कि वस्तु सर्वथा सामान्य है, क्योंकि विशेष सामान्यमें भिन्न प्रतिभासित नहीं होते। ( २ ) क्षणिक वादी बौद्धोंकी मान्यता है, कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा विशेष रूप है, क्योंकि विशेषको छोड़ कर सामान्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, और वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण भी विशेषमें ही घटित होता है। ( ३ ) न्यायवैशेषिकोंका कथन है, कि सामान्य-विशेष परस्पर भिन्न और निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य और विशेषको एक न मान कर परस्पर भिन्न स्वीकार करना चाहिये।

जैनसिद्धांत के अनुसार उक्त तीनों सिद्धांत कथंचित् सत्य हैं । वस्तुको सर्वथा-सामान्य माननेवाले यादी द्रव्यास्तिन्यकी अपेक्षासे, सर्वथा विशेष माननेवाले यादी पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे, तथा सामान्य विशेषको परम्पर भिन्न और निरपेक्ष माननेवाले यादी नैगमनयकी अपेक्षासे सचे हैं । इस लिये सामान्य विशेषको कथंचित् भिन्न अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान करते समय सामान्य और विशेष दोनोंका ही एक साथ ज्ञान होता है, बिना सामान्यके विशेष, और बिना विशेषके सामान्यका कहीं भी ज्ञान नहीं होता । जैसे गौके देगनेपर हमें अनुवृत्ति रूप गौका ज्ञान होता है, वैसे ही भैंस आदिकी अनुवृत्ति रूप विशेषका भी ज्ञान होता है । इसी तरह जबला गौ कहनेपर जैसे विशेष रूप गमल्यका ज्ञान होता है, वैसे ही गोत्व रूप सामान्यका भी ज्ञान होता है । अतएव सामान्य विशेष कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप ही हैं ।

इसी प्रकार वाच्य ( अर्थ ) की तरह वाचक ( द्रव्य ) भी सामान्य-विशेष रूप है । ( यदा माल्लिषेणने शब्दको पौट्टलिक सिद्ध कर्के उसे भी सामान्य-विशेष रूप भिन्न किया है ) । तथा, प्रत्येक वस्तुको भाव और अभाव रूप मानना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तु सर्वथा अभाव रूप हो, तो उसे सर्वात्मक माननी चाहिये, और यदि वस्तु सर्वथा अभाव रूप हो, तो उसका कोई भी स्वभाव नहीं मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक वस्तुको अपने स्वरूपमें सत्, और पररूपमें असत् मानना चाहिये । अतएव प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, इस लिये वाच्य और वाचक दोनों सामान्य विशेष और एक-अनेक रूप हैं ।

इदानीं सांग्याभिमतप्रवृत्तिपुरुपादितत्त्वानां निरोधात्प्रवृत्तत्वात्सापेक्षत्वं, तद्वा-  
लिशतामिलसितानामपरिमितत्वं दर्शयति—

अत्र साम्योके प्रवृत्ति, पुरुष आदि तत्त्वोंका विरोध निरालम्बे हुए उन लोगोंके मतका खंडन करते हैं—

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि ।

न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडेर्न ग्रथित विरोधि ॥ १५ ॥

श्रुतार्थ—स्वयं चेतना पदार्थोंको नहीं जानती, बुद्धि बड़ रूप है, शब्दसे आकाश, गंधसे पृथिवी, रससे जल, रूपसे अग्नि, स्पर्शसे वायु उत्पन्न होता है, पुरुषके न बंध होता है और न मोक्ष—ये सब सात्व्य लोगोंकी निरुद्ध कथायें हैं ।

चित्—चेत यदाक्ति, आत्मस्वरूपभूता । अर्थशून्या—निपयपरिच्छेदविरहिता । अर्थाध्ययसापेक्षस्य बुद्धिव्यापारत्वाद् इत्येका फल्पना । बुद्धिश्च महत्तत्त्वत्वात् । जडा अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया । अम्बरादि-न्योमप्रभृतिभूतपञ्चक शब्दादितन्मा-

त्रजम्-शब्दादीनि यानि पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मसज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्न, शब्दादि-  
तन्मात्रजम् इति तृतीया । अत्र चशब्दो गम्य । पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यनात्मन-  
स्यात्मनो न ग्रन्थमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरव । तथा च कापिला—

“ तस्मान्न ग्रन्थते नापि मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।

ससरति ग्रन्थते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ” ॥

तत्र ग्रन्थ-माकृतिकादि । मोक्ष-पञ्चविंशतितन्त्रज्ञानपूर्वकोऽपवर्ग इति  
चतुर्थी । इतिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद्-एवप्रकारमन्वदपि विरोधाति विरुद्ध, पूर्वापर-  
विरोधादिदोषाघातम् । जडै-मूर्खैः, तत्त्वावगोपनिधुरधीभिः सापिलैः । क्रियन्न  
ग्रथित-क्रियद् न स्वशास्त्रेषूपनिबद्धम् । क्रियदित्यस्युपागर्भम् । तत्परूपितविरुद्धार्था-  
नामानन्त्येनयत्तानवधारणात् । इति संक्षेपार्थ ॥

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष (१) चेतनशक्ति पदार्थोका ज्ञान नहीं करती, बुद्धिसे ही  
पदार्थोका जान हाता है । (२) बुद्धि ( महत्व ) अज्ञान रूप है । (३) आकाश आदि शब्द  
आदि पाच तन्मात्राओसे उत्पन्न होते हैं । (४) प्रकृति और विदितसे भिन्न पुरुषके वध और  
मोक्ष नहीं होता, प्रकृतिके ही वध और मोक्ष होता है । कहा भी है “ न कोई वधता है,  
न मुक्त होता है, और न कोई ससारमें परिभ्रमण करता है, ग्रन्थ, मोक्ष और परिभ्रमण  
नाना आश्रयवाली प्रकृतिके ही होते हैं । ” (५) वध प्रकृतिमें होता है, और पक्षीस तत्वोंके  
जानसे मोक्ष मिलता है ।

व्यासार्थस्त्वयम् । साहचर्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतु-  
तत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते । आध्यात्मिकरूपमधिदैविकरूपमधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्रा-  
ध्यात्मिक द्विविधम् शारीर मानस च । शारीरं यातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यनिमित्तम् ।  
मानसं कामक्रोधलोभमोहर्ष्याविषयादर्शननिग्रन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोंपायसाध्यत्वा  
दाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योंपायसाध्यं दुःखं द्वेषा आधिभौतिकरूपमधिदैविकं चेति ।  
तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्यावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यज्ञगणस-  
ग्रहाद्यावशहेतुरूम् । अनेन दुःखत्रयेण रजपरिणामभेदेन बुद्धिर्गतिना चेतनाशक्ते  
प्रतिकूलतया अभिसंबन्धो अभिघात ॥

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुखोमे पीड़ित पुण्य दुखोके नष्ट करने-  
के कारणोंको जानना चाहता है । आध्यात्मिक दुख शारीर और मानसके भेदसे दो  
प्रकारका है । वात, पित्त, और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले दुखोंका शारीर, तथा काम, क्रोध,  
लोभ, मोह, ईर्ष्या और विषयोंके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न होनेवाले दुखोंका मानस दुख कहते हैं ।  
शारीर और मानस दुख, दुखके अन्तरंग कारण मनसे उत्पन्न होते हैं । इस लिए इन्हें आध्या-



त्मिक दुःख कहा है। आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प और स्थानर आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको आधिभौतिक, तथा यक्ष, राक्षस, ग्रह आदिसे पैदा होनेवाले दुःखको आधिदैविक दुःख कहते हैं। तीनों प्रकारके दुःख रजोधर्ममे बुद्धिमें उत्पन्न होते हैं। जब इन दुःखोंका चेतनाशक्तिके साथ विपरीत सन्ध होता है, उस समय चेतनाशक्तिका अभिघात होता है।

तत्त्वानि पञ्चविंशतिः । तथा अच्युक्तम् एकम् । महदहङ्कारपचतन्मात्रैका-  
दशेन्द्रियपचमहाभूतभेदात् त्रयाविंशतिविध व्यक्तम् । पुंस्पाश्चिद्रूप इति । तथा  
च ईश्वरकृष्णः—

“मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिरविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विचारो न प्रकृतिर्न विकृतिरुत्पत् ।” ॥

तत्त्व पचीस होते हैं—१ अच्युक्त, २ महत् ( बुद्धि ), ३ अहकार, ४-८ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ( पाच तन्मात्रा ), ९-१९ प्राण, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत्र ( पाच बुद्धीन्द्रिय ), और वाक् ( वचन ), पाणि ( हाथ ), पाद ( पाव ), पायु ( गुप्ता ), उपस्थ ( लिंग ) ( पाच कर्मेन्द्रिय ), तथा मन, २०-२४ आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ( पाच महाभूत ), २५ प्रकृति और विकृति रहित पुरुष ( चित् ) । ईश्वर-कृष्णने कहा भी है। “पचीस तत्त्वोंका मूल कारण प्रकृति ( प्रधान-अच्युक्त ) है, यह स्वयं किमीका विकार नहीं है ( अविकृति ) । महत्, अहकार और पाच तन्मात्रोंके ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं ( महत्त्व अहकारकी प्रकृति, और मूल प्रकृतिकी विकृति है । अहकार पाच तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी प्रकृति, और महानकी विकृति है । पाच तन्मात्रोंके पचभूतोंकी प्रकृति और अहकारकी विकृति है ) । तथा ग्यारह इन्द्रिया और पाच महाभूत ये सोलह तत्त्व विकृति रूप ही हैं । पुरुष प्रकृति और विकृति दोनोंसे रहित है ।

प्रीत्यमीतिरिपादात्मज्ञाना लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणा परस्परौपम्यारिणा त्रयाणां  
गुणाना सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रधानमव्यक्तमिन्न्यनर्थान्तरम् । तच्च  
अनादिमध्यान्तमनवयय साधारणमक्षद्रमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम् । प्रधानाद् बुद्धि-  
र्महदित्यपरपर्यायोत्पत्तेः । यास्यमध्यवसाया गत्रादिषु प्रतिपत्तिः एवमेतद् नान्यथा,  
गौरववाय नाश्व, स्थाणुरेप नाय पुरुष इत्येषा बुद्धिः । तस्यास्त्वष्ट्री रूपाणि धर्मज्ञान  
वैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि । अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि  
तामसानि ॥

एक दूसरेका उपकार करनेवाले प्रीति और लाघन रूप सत्त्व, अप्रीति और उपष्टम  
रूप रज, और विपाद और गौरव रूप तम गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति, प्रधान

अथवा अव्यक्त कहते हैं। यह प्रधान आदि, मध्य, अंत और अवयव रहित है, साधारण है, शब्द, स्पर्श, रूप और गंधसे रहित, तथा अविनाशी है। प्रधानसे बुद्धि अथवा महान उत्पन्न होता है। यह गो ही है, घोड़ा नहीं, पुरुष ही है, ठूठ नहीं, इस प्रकार किसी वस्तुके निश्चय रूप जानको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, ( सात्विक ) और अधर्म अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य ( तामसिक ) ये आठ गुण हैं।

बुद्धे अहङ्कारः। स च अभिमानात्मकः। अह शब्देऽह स्पर्शेऽह रूपेऽह गन्धेऽह रसऽह स्वामी अहमीदमर असौ मया हत ससत्वोऽहममु हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूप । तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषरूपाणि सूक्ष्मपर्यायत्राच्यानि । शब्दतन्मात्राद् हि शब्द एवापलभ्यते, न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितपहंजादिभेदा । पहंजादयः शब्दविशेषादुपलभ्यन्ते । एव स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति । तत एव चाहङ्काराद् एमादशन्द्रियाणि च । तत्र चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसन त्वगिति पचनुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थ्याः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि । एकादश मन इति ॥

बुद्धिसे अहंकार होता है। यह अहंकार 'मैं सुनता हूँ, मैं स्पर्श करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं चखता हूँ, मैं म्चामी हूँ, मैं ईश्वर हूँ, यह मैंने मारा है, मैं बलवान हूँ, मैं इसे मारूँगा' आदि अभिमान रूप होता है। अहंकारसे पाच तन्मात्राये होती हैं। ये शब्द आदि पाच तन्मात्राये सामान्य रूप और सूक्ष्म पर्याय रूप हैं। शब्द तन्मात्रासे केवल शब्दका ही ज्ञान होता है, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कपित और पद्ज आदि शब्दके विशेष रूपका नहीं, क्योंकि पहंज आदिका ज्ञान विशेष शब्दसे ही होता है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि तन्मात्राओंसे सामान्य रूपसे स्पर्श, रूप, रस गंध, आदिका ज्ञान होता है, विशेष स्पर्श आदिका जान नहीं होता। अहंकारसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श ( बुद्धीन्द्रिय ), वाक् पाणि, पाद, गुदा, ज्य ( कर्मेन्द्रिय ) और मन ये ग्यारह इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते । तद्यथा शब्दतन्मात्रादानाशं शब्द-गुणम् । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुण । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुण । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादाप शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति ॥

पाच तन्मात्राओंसे पाच महाभूत पैदा होते हैं। शब्द तन्मात्रासे आकाश पैदा होता है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओंसे शब्द और स्पर्शके गुणसे युक्त वायु, शब्द, स्पर्श और

रूप तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंसे युक्त अग्नि, शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओंसे गन्ध, स्पर्श, रूप, और रससे युक्त जल, तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे युक्त पृथिवी उत्पन्न होती है ।

पुरुषस्तु—

“अमूर्तचेतनो भोगी नित्य. सर्वगतोऽनियं ।

अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शनं ॥”

इति । अन्धपद्मगुवत् प्रकृतिपुरुषयोः सयोग । चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेद-  
शून्या । यत् इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादमां जुद्धौ प्रतिसक्रामन्ति बुद्धिशोभयमुखदर्पणा-  
कारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिनिम्नत । तत् सुगन्धदुःखदुःखमित्युपचार ।  
आत्मा हि स्व बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यत । आह च पतञ्जलि—“शुद्धोऽपि पुरुष.  
प्रत्यय बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते ॥” इति ।  
सुरयतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेद । तथा च वाचस्पति—“सर्वा व्यवहर्ता  
आलोन्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मया इत्यध्यवस्यति । ततश्च  
प्रवर्तते इति लोकेत सिद्धम् । तत्र कर्तव्यमिति यास्य निश्चयश्चित्तिसान्निधानापन्न-  
चैतन्याया बुद्ध साऽध्यवसाया बुद्धेरसाधारणो व्यापारः ॥” इति । चिच्छक्तिसन्नि-  
धानाच्चातनापि बुद्धिश्चेतनातीराभासते । वादमैहार्णवोऽप्याह । “बुद्धिदर्पणसत्ता-  
न्तमर्थप्रतिनिम्नक द्वितीयदर्पणरूपं पुस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो  
विनारापत्तिः ।” इति । तथा चासुरि—

त्रिविक्तेऽदृक्परिणतौ बुद्धौ भागाऽस्य कथ्यते ।

प्रतिविम्बादय स्वच्छ यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥”

विनयरासी त्वेव भोगमाचष्टे ।

“पुरुषोऽविकृतात्मव स्वनिर्भासमचेतनम् ।

मन करोति सान्निध्यादुशाधि स्फटिकं यथा ॥”

पुरुष “अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण  
और सूक्ष्म” है । अग्ने और लगेड़े पुरुषकी तरह प्रकृति और पुरुषका सवध  
होता है । चित्शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थोंका ज्ञान नहीं कर सकती, क्योंकि सुख-दुःख  
इन्द्रियोंद्वारा ही बुद्धिमें प्रतिभासित होते हैं । बुद्धि दोनों तरफसे दर्पणकी तरह है,  
इसमें एक ओर चेतनाशक्ति और दूसरी ओर बाह्य जगत शक्तता है । बुद्धिमें चेतनाशक्तिके  
प्रतिबिम्ब पडनेसे आत्मा (पुरुष) अपनेनो बुद्धिसे अभिन्न समझता है, और इस लिये आत्ममें  
मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा ज्ञान होता है । पतञ्जलिनै भी कहा है “यद्यपि पुरुष स्वयं

१ ध्यात्मभाष्ये । २ साख्यतत्त्वकौमुद्यां । ३ सात्त्विकप्रथमेशोऽयम् । जैनाचार्य अमरदेवविरचिते  
वादमहाणवनामप्रथं कृतवान् । ४ अन्य सात्त्व्याचार्य इक्ष्वाकृष्णगुरुपरम्परायाऽनुपलम्ब्यते ।

शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि सबधी अन्वयवमायको देख कर, बुद्धिसे भिन्न हो कर भी अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझता है।” वास्तवमें वह, ज्ञान बुद्धिका ही होता है। वाचस्पतिने भी कहा है “ लोकके कार्योंमें प्रवृत्ति करने वाले सभी लोग यह मानते हैं, कि इसमें हमारा अधिकार है, और यह हमारा कर्तव्य है, ऐसा समझ कर निश्चय करते हैं। निश्चय करनेके पश्चात् कार्योंमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार लोगोंमें परिपाटी चलती है। यहा बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे ही कर्तव्य-बुद्धिका निश्चय होता है, यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है।” बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिमासित होने लगती है। वादमहार्णवमें भी कहा है “ दर्पणके समान बुद्धिमें पडनेवाला पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पुरुष रूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है, इसीसे पुरुषको मोक्षा कहते हैं। इससे आत्मामें कोई विकार नहीं आता।” आसुरिने भी कहा है “ जिस प्रकार निर्मल जलमें पडनेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलका ही विकार है, चन्द्रमाका नहीं, उसी तरह आत्मामें बुद्धिका प्रतिबिम्ब पडनेपर आत्मामें जो भोक्तृत्व है, वट केवल बुद्धिका विकार है, वास्तवमें पुरुष निर्लेप है।” भोगके विषयमें विन्ध्यवासीने कहा है “ जैसे भिन्न भिन्न रंगोंके सयोगसे निर्मल स्पष्टिक मणि काले, पीले आदि रूपका होता है, वैसे ही अविकारी चेतन पुरुष अचेतन मनको अपने समान चेतन बना लेता है। वास्तवमें विकारी होनेमें मन चेतन नहीं कहा जा सकता।”

न च वक्तव्यम् पुरुषश्चेद्गुणोऽपरिणामी कथमस्य मोक्षः । मुचेर्वन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनङ्गेशरुमाशियाना च बन्धनसमाम्नाताना पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात् । अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा ससारोऽस्ति, निष्क्रियत्वादिति । यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते ससरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षससारा पुरुष उपचर्यन्त । यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्पुपचर्येते, तत्फलस्य कोशलाभादे स्वामिनि सन्ध्यात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे सन्ध इति ॥

प्रतियादी—यदि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है, तो उसे मोक्ष नहीं हो सकता। मुच् घातुका अर्थ बधनसे छुटना है। अपरिणामी आत्मामें वासना और श्लेश रूप कमकि सन्धसे बधनका उत्पन्न होना समभव नहीं, अतएव आत्माके निष्क्रिय होनेमें उसके परलोक (ससार) भी नहीं हो सकता। सारय—नाना पुटपोंके आश्रित प्रकृतिके ही बध होता है, वही ससारमें भ्रमण करता है, और प्रकृति ही को मोक्ष होता है। अतएव पुरुषके बध, मोक्ष और ससारका व्यवहार उपचारमें होता है। जिस प्रकार किसी सेनाकी जय, पराजय होनेपर वह जय, पराजय सेनाके स्वामीकी समझी जाती है, क्योंकि जय, पराजयसे होनेवाले लाभ और हानिका फल स्वामीको ही मिलता है उसी तरह वास्तवमें

ससार और मोक्ष दोनो प्रकृतिके होते हैं, परन्तु पुरुषके विकल्पव्याप्ति होनेसे, पुरुषके ही ससार और मोक्ष माना जाता है।

तदेतदखिलमालजालम् । चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चित् परस्परविरुद्ध  
वच । चिती सङ्गाने । चतन चित्यते वानयेति चित् । सा चेत् स्वपरपरिच्छेदात्मिका  
नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात्, घटवत् । न चामूर्तायाश्चिच्छक्तैर्बुद्धौ प्रति  
निम्नादयो युक्तः । तस्य मूर्तधर्मत्वात् । न च तथा परिणाममन्तरणे प्रतिसक्रमोऽपि  
युक्तः । कथञ्चित् सक्रियात्मकताव्यतिरेकेण प्रकृत्युपधानेऽप्यन्यथात्वानुपपत्तेः ।  
अप्रच्युतप्राचीनरूपस्य च सुखदुःखादिभोगव्यपदेशानर्हत्वात् । तत्प्रत्यये च  
मात्तनरूपत्यागेनोत्तररूपाध्यासिततथा सक्रियत्वापत्तिः । स्फटिनादावपि तथा परि-  
णामैर्नैव प्रतिनिम्बोदयसमर्थनात् । अन्यथा कथमन्वोपलादौ न प्रतिविम्ब । तथा  
परिणामाभ्युपगमे च बलादायात् चिच्छक्ते कर्तृत्व साक्षाद्भोक्तृत्व च ॥

उत्तरपक्ष—( १ ) क—चेतनाशक्तिको पदार्थोके ज्ञानसे शून्य कहना परस्पर विरुद्ध  
है। चित् धातु ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त होती है। जानने मात्र अथवा जिसके द्वारा जाना जाय,  
उसे चित् ( चेतन, चित्यते वा अनयेति चित् ) कहते हैं। यदि चेतनाशक्ति निज और परका  
ज्ञान नहीं कर सकती, तो उसे घटकी तरह चेतनाशक्ति ( चित्शक्ति ) नहीं कह सकते।  
र—अमूर्त चेतनाशक्तिका बुद्धिमें प्रतिनिम्ब भी नहीं पड सकता, क्योंकि मूर्त  
पदार्थका ही प्रतिनिम्ब पडता है। तथा अमूर्त चित्शक्तिका परिणामके बिना बुद्धिमें परिवर्तन  
भी समभव नहीं। पुरुषको किसी न किसी रूपमें कर्ता माने बिना प्रकृतिमें भी कोई परिवर्तन  
नहीं हो सकता। तथा अपरिणामी और नित्य पुरुष अपने पूर्व रूपको छोड़े बिना सुख-दुःखका  
उपभोग नहीं कर सकता। यदि पुरुषके पूर्व रूपका त्याग और उत्तर रूपकी प्राप्ति स्वीकार  
की जाय, तो पुरुषको सन्निय मानना चाहिये, परन्तु पुरुषकी सन्नियता सारय लोगोमें  
अभीष्ट नहीं है। तथा स्वयं क्रिया रहित होते हुए लाल पुष्पके सबधमें लाल होनेवाले  
स्फटिक मणिका उदाहरण भी ठीक नहीं। क्योंकि स्फटिकमें थोड़ी बहुत क्रिया होनेसे  
ही उसमें लाल पुष्प आदिका प्रतिनिम्ब पडता है। यदि स्फटिक मणि बिना किसी  
प्रकारकी क्रियाके लाल पुष्पके सन्नधसे प्रतिनिम्बित हो, तो अथ पाषाणमें भी लाल पुष्पका  
प्रतिनिम्ब पडना चाहिये। यदि पुरुषमें यह परिणाम माना जाय, तो चेतनाशक्तिके बुद्धिमें  
प्रतिनिम्बित बिना माने ही पुरुषको कर्ता और भोक्ता स्वीकार करना पडेगा।

अथ “अपरिणामिनी भावतृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामिन्यथ प्रतिसक्रान्त  
च तद्वृत्तिमनुभवति” इति पतञ्जलित्वरनादौपचारिक एवाय प्रतिसक्रम इति चेत्, तर्हि  
“उपचारस्तत्रचि तायामनुपयोगी” इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम् । तथा च प्रति-

प्राणिप्रतीत मुखदुःखादिसवेदन निराश्रयमेव स्यात् । न चेद बुद्धेरूपपन्नम् । तस्या जड-  
त्वेनाभ्युपगमात् ।

शका—“ वास्तवमें मोक्षत्व शक्तिमें परिणाम और क्रिया नहीं होती, परन्तु जब पुरुषका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पडता है, उस समय पुरुषमें परिणाम और क्रिया होते हैं, ” पतञ्जलिके इस वचनसे पुरुषमें क्रिया केवल उपचारसे ही मानी जाती है । समाधान—यदि आप लोग बुद्धिमें चेतना शक्तिकी क्रियाको औपचारिक मानते हैं, तो “ तबोको निर्णय करनेमें उपचार अनुपयोगी होता है ” इस लिये यह औपचारिक व्यवहार बुद्धिमानोंको मान्य नहीं हो सकता । अतएव प्रत्येक आत्मामें सुख-दुःखका ज्ञान भी निराधार ही होना चाहिये, क्योंकि वास्तवमें सुख दुःखका आत्माके साथ सन्ध नहीं है । यदि कहो, कि सुख-दुःखका ज्ञान बुद्धि-जन्य है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि साध्यमतमें बुद्धि जड मानी गई है ।

अतएव जडा च बुद्धिः इत्यपि विरुद्धम् । न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमान सार्धायस्ता दधाति । न नूक्तमचेतनापि बुद्धिश्चिञ्चुक्ति-सान्नि-याचेतनाप्रतीवायभासत इति । सत्यमुक्तम् अयुक्तं तूक्तम् । न हि चैतन्यवति पुरुषादां प्रतिसन्नान्तं दर्पणस्य चैतन्यापत्तिः । चैतन्याचैतन्यारपरवर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथानर्तुमशक्यत्वात् । किञ्च, अचेतनापि चेतनावतीव प्रतिभासत इति इवशब्देनारोपो ध्वन्यते । न चारोपोऽर्थन्यासमर्थः । न खल्वतिक्रोपनत्वादिना समारोपितामित्वो माणवरुः कदाचिदपि मूर्याग्निसाध्यां दाहपाकाऽर्थक्रिया कर्तुमीश्वर । इति चिञ्चुक्तेरेव विषयाध्यवसाया घटतं न जडरूपाया बुद्धेरिति । अत एव धर्माद्यष्ट रूपतापि तस्या बाह्यमात्रमेव । धर्मादीनामात्मधर्मत्वात् । अत एव चाहङ्कारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते । तस्याभिमानात्मनत्वेनात्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात् ॥

२ ( २ ) बुद्धिको जड मानना भी विरुद्ध है । क्योंकि यदि बुद्धिको जड माना जाय, तो बुद्धिसे पदार्थोंका निश्चय नहीं हो सकता । शका—बुद्धि अचेतन हो कर भी चेतनाशक्तिसे सन्धसे चेतन जैसी प्रतिभासित होती है । समाधान—जैसे चेतन पुरुषके अचेतन दर्पणमें प्रतिबिम्ब पडनेसे दर्पण चेतन नहीं हो सकता, वैसे ही अचेतन बुद्धिमें चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पडनेसे बुद्धिमें चेतनता नहीं आ सकती । चेतन और अचेतनका स्वभाव अविनाशी है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता । तथा, ‘ अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होती है ’ यहा ‘ इव ’ ( तरह ) शब्दसे अचेतन बुद्धिमें चेतनताका आरोप किया गया है । परन्तु आरोपसे अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती । जैसे यदि किसी बालकका अत्यंत क्रोधी स्वभाप देख कर उसका अग्नि नाम रख दिया जाय, परन्तु वह अग्नि की जगने, पकाने आदि क्रियाओंको नहीं कर सकता, ऐसे ही विषयोंका ज्ञान चेतना-

शक्तिसे ही हो सकता है, अचेतन बुद्धिमें चेतनताका आरोप करने पर भी बुद्धिसे पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं। अतएव आप लोगाने जो बुद्धिके धर्म आदि आठ गुण माने हैं, वे भी केवल वचन मात्र हैं क्योंकि धर्म आदि आत्माके ही गुण हो सकते हैं, अचेतन बुद्धिके नहीं। इस लिये अहकारको भी बुद्धि-जन्य नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अहकार अभिमान रूप है, इस लिये वह आत्मामे ही उत्पन्न होता है, वह अचेतन बुद्धिसे उत्पन्न नहीं हो सकता।

अम्परादीनां च शब्दादित मात्रजत्प्र प्रतीतिपराहृतस्वर्नव विदितोचरम् । अपि च, सर्वथादिभिस्तादृविगानन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते । अयं च शब्दतन्मात्रात् तस्याप्यारिर्भात्रमुद्गायन्नित्यमन्तवादिना च धुरि आसन न्यासयज्ञसगतप्रलापीव प्रतिभानि । न च परिणामिनारण स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति “ शब्दगुण-मात्राशम् ” इत्यादि वाद्मात्रम् । वागादीना त्रेन्द्रियत्वमयं न युज्यते । इतरासाध्य कार्यनारित्वाभावात् । परभातपादनग्रहणप्रिहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामित्तरायत्रैरपि साध्यत्वोपलब्धे । तथापि तत्त्वकल्पने इन्द्रियसरया न व्यवतिष्ठते, अयाङ्गोपाङ्गाना मपीन्द्रियत्वमसङ्गात् ॥

( ३ ) आकाश आदिका शब्द आदि पाच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना अजुमवके सर्वथा विरुद्ध है। तथा, सब लोगोंन आकाशको नित्य स्वीकार किया है, नित्य एकान्तवादको मानकर भी केवल सास्य लोग ही उसकी शब्द तन्मात्रासे उत्पत्ति मान कर असगत प्रलाप करते हैं। तथा, जो वस्तु परिणामम कारण है, वह अपने कार्यका गुण नहीं हो सकती। इस लिये “ आकाशको शब्दका गुण मानना ” भी कथन मात्र है। तथा वाक्, पाणि आदि इन्द्रिया नहीं कही जा सकती, क्योंकि दूसरोंको समझाना, किसी वस्तुको उठाना, चलना, मल त्याग करना, आदि वाक्, पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेंद्रियोसे होने वाले कार्य शरीरके अन्य अयवोंसे भी किये जा सकते हैं। जैसे उगलियो-द्वारा भी दूसरोंको समझाया जा सकता है। अनप्य वाक् आदि शरीरके अवयव हैं, इन्हें इन्द्रिया नहीं कह सकते। यदि फिर भी वाक् आदिको इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियोंकी म्यारह सत्या नहीं बन सकती, क्योंकि शरीरके अन्य अण-उपाणोंको भी हम इन्द्रिय कह सकते हैं।

यच्चोक्त ‘ नानाश्रयाण प्रकृतरय वन्धमोक्षी ससारश्च न पुरुषस्य ’ इति । तदप्यसराम् । अनादिभयपरम्परानुसद्भया प्रकृत्या सह य पुरुषस्य त्रिवंशग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भाव स एव च न वन्ध, तदा नानापान्यो वन्ध स्यात् । प्रकृति सरोत्पत्तिमता निमित्तम् इति च प्रतिपद्यमानेनायुष्मता सङ्गान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्न । तस्यैवस्वरूपत्वात् अचेतनत्वाच्च ॥

( ४ ) तथा अनेक पुरुषोंके आश्रय रहने वाली प्रकृतिके ही बधमोक्ष और ससार होते हैं, पुत्रपके नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं । क्योंकि आप लोगोके मतमें अनादि कालसे प्रकृति और पुत्रपके विवेकको न समझ कर यह पुरप प्रकृतिमें बध रहा है, यदि आप लोग पुत्रपके प्रकृतिके साथ इस अनादि कालसे चले आये हुए बधनको बध नहीं कहते, तो फिर आपके मतमें बधका क्या लक्षण है ? अतएव पुरुषके ही बध स्वीकार करना योग्य है । प्रकृति सनको उत्पन्न करने वाली है, प्रकृतिको कर्म भी कह सकते हैं । प्रकृति अचेतन है, अतएव बध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं ।

यस्तु प्राकृतिर्बैकारिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधो बन्धः । तद्यथा प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारान्नेत्र भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धी, पुरपबुद्धयोपासते तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः । पुरपतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तमारी कामापहतमना बध्यत इति ।

“ इष्टापूर्ते मन्यमाना वरिष्ठं ।

नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।

नारूपं पृष्ठं ते सुकृतेन भूत्वा ।

इमं लोकां हीनतरं वा विशन्ति ” ॥

इति वचनात् । स त्रिविधोऽपि कल्पनामान कथञ्चिद् मित्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगेभ्याऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहतुष्वेवान्तर्भावत्वात् । बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्वाध ससारः । बन्धमोक्षयाश्चैकाधिमरणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्षः आनालगोपाल तथाप्रतीतिः ॥

सारंय—प्राकृतिक, वैकारिक, और दाक्षिणके भेदसे बध तीन प्रकारका होता है । प्रकृतिको आत्मा समझ कर प्रकृतिकी उपासना करना प्राकृतिक बध है । पाच मूल, इन्द्रिय, अहकार, और बुद्धि रूप विकारोंको पुत्रप मान कर उपासना करना वैकारिक बध है । यज्ञ और दान आदिको दाक्षिण बध कहते हैं । आत्माको न जान कर, सासारिक इच्छाओंसे यज्ञ, दान आदि कर्म करनेसे दाक्षिण बध होता है । कहा भी है “ जो मूढ पुरप यज्ञ दान आदिको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, यज्ञ दान आदिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते, वे लोग पहले स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, और अन्तमें फिर मनुष्य लोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें जन्म लेते हैं । ” जैन—उक्त तीनों

१ मुद्रक उ १-२-१० । २ मित्या विपरीत दर्शनं मिथ्यादर्शनम् । साधययोगेभ्या निवृत्त्यभाव अविरति । प्रवर्णेण मात्रत्यनेनेति प्रमाद । विषयकीदाभिन्नज्ञ । वल्लुपयन्ति प्रदत्त्वभाव एतत् कर्ममालिन उवन्ति चावमिति कपाया । कायवाह्मनया कर्म योग ।



प्रकारका बंध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगमें गमित हो जाता है, अतएव उसे पृथक् स्वीकार करना ठीक नहीं। अतएव जीवके बंध सिद्ध होनेपर, जीवके ही ससारकी भी सिद्धि होती है। तथा, जो बधता है, वह कभी मुक्त भी होता है, अतएव बंध और मोक्षका एक ही अधिकरण होनेसे पुरुषके मोक्ष भी सिद्ध होता है, अनएव 'पुरुषके न बंध होता है, न मोक्ष' यह कटना अयुक्तियुक्त है।

प्रकृतिपुरुषविग्रहदर्शनात् प्रकृतिरूपरतायां प्रकृतां पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानमाक्ष इति चेत् । न । प्रकृतिस्वभावाया प्रकृतेरौदासीन्यायांगात् । अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्या प्रकृतिः । विवेकरयातिश्च पुरुषार्थः । तस्या जातायां निरर्तत, कृतकार्यत्वात् ।

“ रङ्गस्य दर्शयित्वा निरर्तत नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथात्मान प्रकाश्य विनिरर्तत प्रकृति ॥ ”

इति उच्यते इति चेत् । नैवम् । तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्याभावात् ।

यथेय कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भ पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा विवेकरयातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यत । प्रकृतिचलक्षणस्य स्वभावस्थानपेतत्वात् । नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्पष्टविघातकारी । यथा हि नर्तकी नृत्य पारिपत्यभ्यां दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तत्कृतदृष्टान्तत्वात् प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मान दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति । तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

शशा—जिम समय प्रकृति और पुरुषमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है, प्रकृति प्रकृतिसे मुक्त मोड लेती है, उस समय पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। समाधान—प्रकृतिका स्वभाव प्रकृति करना ही है, अनएव वह प्रकृति प्रकृतिसे उदासीन नहीं हो सकती। शशा—प्रकृतिनी प्रकृति केवल पुरुषार्थके लिये उत्पन्न होती है, और पुरुष ओर प्रकृतिमें भेद-दृष्टि होना ही पुरुषार्थ है। इस भेद दृष्टिके उत्पन्न होनेपर प्रकृति कृतकृत्य हो कर विश्राम लेती है। कहा भी है “ जिम प्रकार रगभूमिम अपना नृत्य दिखा कर नटी निवृत्त होती है उसी तरह प्रकृति पुरुषको अपना रूप दिखा कर निवृत्त होती है। ” समाधान—प्रकृति अचेतन है, अतएव वह विचारपूर्वक प्रकृति नहीं कर सकती। तथा जिस प्रकार विषयका एक बार उपभोग करनपर भी फिरसे उमी विषयके लिये प्रकृतिनी प्रकृति होती है ( क्योंकि प्रकृति प्रकृति शील है ), वैसे ही विवेकख्याति होनेपर भी फिरसे पुरुषमें प्रकृतिकी प्रकृति होना चाहिये, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव प्रकृति करनेका है। तथा, नटीका दृष्टात उलटा आप लोगोंके सिद्धांत का घातक है। क्योंकि दर्शनोंको एक बार नृत्य दिखा कर चले जानेपर

भी अच्छा नृत्य होनेसे दर्शक लोगोंके आग्रहसे नर्तकी फिरसे अपना नाच दिखाने लगती है, वैसा ही पुरुषको अपना स्वरूप दिखा कर प्रकृतिके निवृत्त हो जानेपर भी प्रकृतिसे फिरसे प्रवृत्ति करना चाहिये । अतएव सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना ही मोक्षका स्वरूप मानना ठीक है ।

एवमन्यासामपि तत्कल्पनाना तमोमाहमंहामोहतामिसान्प्रतामिसभेदात् पञ्चधा अविग्रासितारागद्वेषाभिनिवेशरूपो विपर्यय । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्येन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो देव सर्गः । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थोपरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योन । ब्राह्मणत्वान्प्रान्तरभेदाविरक्षया चैकविधो मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः । बाधिर्यकुठता प्रत्यमडताऽजिघ्रतामूर्खताकौण्ड्यपहगुत्वैर्व्योदावर्तपत्ततारूपैकादशान्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्धयष्टनविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविशतिसा अगाक्ति । प्रकृत्युपादानकालभोगारया अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपरपर्यायवान्पाथस्तत्र आध्यात्मिकय । शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगार्हिसाद्रोपदर्शनहेतुजन्मान पञ्चनाद्यास्तुष्टय । ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भजत्तमाम्भशब्दव्यपदेश्या । इति नवधा तुष्टिः । तथा दुःखविधाता इति मुरयास्तिस्र सिद्धय प्रमादमुद्रितमाटमानारयाः । तथाध्ययन शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविधातापायतया गौण्य पञ्चतारसुतारतारताररम्यरुसदामुदितागयाः । इत्येवमष्टधा सिद्धिः । घतिश्रद्धामुखविनिदिपाविज्ञप्तिभेदात् पञ्चकर्मयानय । इत्यादीना सवरप्रतिमर्गरादीना च तत्त्वमीष्टदीर्घाण्डपान्भाष्यादिप्रसिद्धाना विरुद्धत्वमुद्गावनीयम् ॥ इति काव्यार्थ ॥ १५ ॥

इसके अतिरिक्त, साग्य लोगोंकी निम्न कल्पनायें भी विरुद्ध हैं । ( ऋ ) अधिधा, अभिधा, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अधतामिस्र, यह पांच प्रकारका विपर्यय है । तम और मोहके आठ, महामोहके दस, तामिस्र और अधतामिस्रके अठारह भेद होनेसे यह विपर्ययकुल ६२ प्रकारका होता है । ( ख ) ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य,

१ साख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ४७ । २ अनित्याद्युचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मरयातिरविधा । इन्द्रानागकथारिका मनेवाहिमता । सुखानुशयी राग । दुःखानुशयी द्वेष । स्वरमवाही विदुषोऽपि तथारुदोऽभिनिवेश । पातजलयोगसूत्रे २-५, ६, ७, ८, ९ । ३ घटादयस्त्वगरीरत्वेऽपि स्थायरा एव । इति वाचस्पतिमिः ।

४ मनुष्यजानिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।

शक्तिभेदादि तद्वेदा चातुर्विध्यमिहानुते ॥ जिनसेनकृतआदिपुराणे ३२-४६

५ साख्यकारिकागौडपादभाष्ये साख्यतत्त्वकौमुद्या च कारिका ५३ । ६ साख्यकारिकागौडपादभाष्ये साख्यतत्त्वकौमुद्या च कारिका ४९, ५०, ५१ । ७ 'सचारप्रतिषेधचारादीनाम्' इति पाठान्तरः ।

गार्धर्व, यक्ष, राक्षस, पैशाच ये आठ प्रकारके देव, पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर ये पाच प्रकारके तिर्यंच (अचेतन घट आदि भी स्थावरमें ही गर्भित होते हैं), तथा ब्राह्मण आदिके भेदोकी अपेक्षा न करके एक प्रकारका मनुष्य, यह चौदह प्रकारका भौतिक सर्ग कहा जाता है। भौतिक सर्ग ऊर्ध्व, अधो और मध्य लोकके भेदसे तीन प्रकारका है। आकाशसे लेकर सत्यलोक पर्यंत ऊर्ध्व लोकमें सत्व, पशुसे लेकर स्थावर पर्यंत अधो लोकमें तम, और ब्रह्मसे लेकर वृक्ष पर्यंत मध्य लोकमें रजकी बहुलता है। सात द्वीप और सप्तद्वीका मध्य लोकमें अतर्भाव होता है। (ग) ग्यारह प्रकारके इन्द्रिय-बन्ध और सतरह प्रकारके बुद्धि बन्धको मिला कर २८ प्रकारकी अशक्ति होती है। बधिरता (श्रोत्र), कुठता (वचन), अधापन (चक्षु), जडता (स्पर्श), गंधका अभाव (घ्राण), गूगापन (जिह्वा), छलापन (हाथ), लगडापन (पैर), नपुंसकता (लिंग), गुदग्रह (पायु), तथा उन्मत्तता (मन), यह ग्यारह इन्द्रियोका बन्ध है। नौ तुष्टि ओर आठ सिद्धिको उलटा करनेसे सतरह प्रकारका बुद्धि बन्ध होता है। प्रकृति (अम), उपादान (सलिल), काल (ओष), भोग (वृष्टि) इन चार आभ्यात्मिक तुष्टि, और पाच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति रूप उपार्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिसामे उत्पन्न होनेवाली पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम और उत्तमाम नामक पाच बाह्य तुष्टियोंको मिला कर नौ तुष्टि होती हैं। तीन प्रकारके दुःखोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली प्रमोद, सुदित-मोद और मान नामक तीन मुख्य सिद्धि, अभ्ययन, शब्द, तर्क, सच्चे मित्रोंकी प्राप्ति, और दानसे होनेवाली तार, सुतार, तारतार, रम्यक और सदासुदित नामक पाच गौण सिद्धियोंको मिला कर आठ सिद्धिया होती हैं। (घ) धृति, श्रद्धा, सुख, वाद करनेकी इच्छा तथा ज्ञान ये पाच कर्मयोनि हैं। इसी प्रकार सवर, प्रतिसवर आदिकी विरुद्ध करुणायें साम्यतत्वकौमुदी गौडपादभाष्य आदि ग्रंथोंमें की गई हैं। यह श्लोकका अर्थ है।

भाषार्थ—सारथ्य (१) चित्शक्ति (पुरुष अथवा चेतनशक्ति) से पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। अचेतन बुद्धिसे ही पदार्थ जाने जाते हैं। यह बुद्धि पुरुषका धर्म नहीं है, केवल प्रकृतिका विकार है। इस अचेतन बुद्धिमें चित्शक्तिका प्रतिबिम्ब पडनेसे चित्शक्ति अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझती है, इस लिये पुरुषमें 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। चित्शक्तिके प्रतिबिम्ब पडनेसे यह अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है। इस बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमें श्लक्ष्णता ही पुरुषका भोग है। वास्तवमें बंध और मोक्ष प्रकृतिके ही होता है, पुरुष और प्रकृतिका अभेद होनेसे पुरुषके ससार और मोक्षका सद्भाव माना जाता है। वास्तवमें पुरुष निष्क्रिय और निर्लेप है।

जैन—(क) चेतनशक्तिको ज्ञानसे शय कहना परम्पर विरुद्ध है। यदि चेतनशक्ति स्व और परका ज्ञान करनेमें असमर्थ है, तो उसे चेतनशक्ति नहीं कह सकते। तथा, अमूर्त चेतनशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब नहीं पड सकना। क्योंकि मूर्त पदार्थका ही प्रतिबिम्ब पडता है। चेतनशक्तिको परिणमनशील और कर्ता माने बिना चेतनशक्तिका बुद्धिमें परिवर्तन होना भी समभव नहीं है। पूर्व रूपके त्याग और उत्तर रूपके ग्रहण किये बिना पुरुष मुख-दुखका भोक्ता नहीं कहला सकना। इस पूर्वाकारके त्याग और उत्तराकारके ग्रहण माननेसे पुण्यको निष्क्रिय नहीं कह सकते। तथा, यह पुरुष अनादि कालमें अविवेकके कारण प्रवृत्तिते बध रहा है। परन्तु प्रवृत्ति अचेतन है, इस लिये बध पुरुषके ही मानना चाहिये। तथा, प्रवृत्तिका समाव सदा प्रवृत्ति करना है, अतएव प्रवृत्ति अपने म्भारमे कभी निवृत्त नहीं हो सकती, इस लिये पुरुषको कभी मोक्ष नहीं हो सकता। (ख) बुद्धिको जड मानना भी विरुद्ध है, क्योंकि बुद्धिको जड माननेमें उसमें पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार दर्पणमें पुण्यका प्रतिबिम्ब पटनेमें अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो सकता, उसी तरह अचेतन बुद्धि चेतन पुण्यके प्रतिबिम्बमें चेतन नहीं कही जा सकती। अतएव धर्म आदि बुद्धिके आठ गुण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि अचेतन है। इसी तरह अहकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं।

साग्न्य (०) (क) आकाश आदि पाच तन्मात्राओंमें उत्पन्न होते हैं। (ग) ग्यारह इन्द्रिया होती है। जैन (क) आकाश आदिकी पाच तन्मात्राओंमें उत्पत्ति मानना अनुभवके विरुद्ध है। सकार्यवाद (नियैकान्तवाद) के माननेवाले माक्य लोग भी आकाशको नित्य मानते हैं, यह आश्चर्य है। आकाशको सभी धादियोंने नित्य माना है। (ख) वाक्, पाणि आदिको अलग इन्द्रिय नहीं कह सकते। क्योंकि वाक्, पाणि आदि कर्म इन्द्रियोंमें होनेवाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंमें भी किये जा सकते हैं। अतएव वाक् आदिको अलग इन्द्रिय मानना ठीक नहीं। यदि इन्हें इन्द्रिय माना जाय, तो शरीरके अन्य अंगोपांगोको भी इन्द्रिय कहना चाहिये।

इत्यानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्न प्रमाणफलमाहु य च वाद्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति न्युयते तमनस्य विचार्यमाणत्वे विदारास्तामाह—

अत्र, प्रमाणसे प्रमाणके फल (प्रमिति) को सर्वथा भिन्न माननेवाले, तथा वाद्य पदार्थोंका निषेध करके ज्ञानाद्वैतको स्वीकार करनेवाले बौद्धोंका खटन करते हैं—

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।

न सविदद्वैतपथेऽर्थसविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—हेतु और हेतुका फल साथ साथ नहीं रह सकते, और हेतुके नाश हो जानेपर फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अगतको विज्ञान रूप माना जाय, तो पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव बुद्धका इन्द्रजाल विशीर्ण हो जाता है।

श्रीद्धा किल प्रमाणात् तत्फलमेतान्तेनाभिन्न मन्यन्ते । तथा च तस्मिन्नेन्द्रान्त'-  
“ उभयत्र तदेव ज्ञान प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् ” । “ उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञान प्रत्यक्षानुमानलक्षण फल कार्यम् । कुत । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेद रूपत्वात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमिव ज्ञानमुत्पद्यत । न च परिच्छेदादनेऽप्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिगमरूपत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्या भिन्न फलमस्तीति ” ॥

व्याख्यार्थ—( १ ) पूर्वपक्ष—प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक ही हैं। कहा भी है “ ( प्रत्यक्ष और अनुमान ) दोनों प्रमाणोंमें ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल है, क्योंकि ज्ञान अधिगम रूप है। ” “ प्रत्यक्ष और अनुमान जानमें ज्ञान ही फल ( कार्य ) है, क्योंकि वह अधिगम रूप है। ज्ञान ज्ञान रूप ही उत्पन्न होता है। पदार्थोंको जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका कोई दूसरा फल नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानसे भिन्न हेय और उपादेय रूप ज्ञानका फल वास्तवमें प्रमाणाका फल है, ज्ञानका नहीं। क्योंकि ज्ञानसे जाने हुए पदार्थोंमें पुरुषोंकी ही हित और अहित रूप प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव हेय और उपादेय रूप प्रवृत्तिके भिन्न अधिगम होनेसे उसे ज्ञानका फल नहीं मानना चाहिए। अतएव प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानका फल प्रत्यक्ष और अनुमान जानसे भिन्न नहीं है ” ।

एतच्च न समीचीनम् । यतो यत्प्रस्मादेतान्तेनाभिन्न, तत्तेन सर्ववोत्पद्यत । यथा घटन प्रदत्वम् । तत्र प्रमाणफलया कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते । प्रमाण कारण फल कार्यमिति । स चैकान्ताभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयो सव्येतर-गान्निपाणयारिव कार्यकारणभावा युक्तः । नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य । नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य । एतन्नेत्राह न तुल्यकाल, फलहेतुभाव इति । फल कार्य हेतु कारणम् तथाभाव स्वरूपम्, कार्यकारणभाव । स तुल्यकाल समानकालो न युज्यत इत्यर्थ ॥

१ दिङ्मानपरिचित-यायप्रवने पृ ७ । २ इतिभद्रपरिज्ञता-यायप्रवेशशक्ति पृ ३६ । ३ पार्श्वदिवङ्गन-यायप्रवेशशक्तिपरिज्ञाया-भिन्नमधिगमरूपमाभयो वस्य फलस्य तत्तथा जयमर्थ । शानाद्वयतिरिक्त यत्तु च्यते पत्र हानोपानादिक तदा तत्फल प्रमातुरेव स्यात् शानस्य । तथाहि शानेन प्रदर्शितेऽर्थे हानादिक तद्विषये पुरुषस्यैवोपपाद्यते अतो हानादिकस्य भिन्नाभ्यत्वाच्च फलत्व मत्वम् ।

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ जिस पदार्थसे सर्वथा अभिन्न होता है, वह उसी पदार्थके साथ उत्पन्न होता है। जैसे घट घटत्वमे सर्वथा भिन्न है, इस लिये घट और घटत्व दोनों साथ उत्पन्न होने हैं। तथा, बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य-कारण सन्ध मान कर प्रमाणको कारण, और प्रमाणके फलको उसका कार्य कहते हैं। यह कार्य-कारण भाव प्रमाण और उसके फलको सर्वथा अभिन्न माननेमें नहीं बनता। कारण कि प्रमाण और प्रमाणका फल बौद्ध लोगोंके मतमें गायने बाये और दाहिने सीगाकी तरह एक साथ उत्पन्न होते हैं, इस लिये उनमें कार्य कारण सन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि कारण कार्यके पहले, और कार्य कारणके बाद होता है। अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकते। २३-५५

अथ क्षणान्तरितत्वात् तयोः क्रमभावित्त्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह । हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति । हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमव निरन्वय विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भाव सत्ता, निर्मूलत्वात् । विद्यमान हि फलहेतारस्येदं फलमिति प्रतीयते नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । किञ्च, इतुफलभाव सम्बन्ध स च द्विष्ट एव स्यात् । न चानयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् सम्बन्ध क्षमते । तत कथम् 'अयं हेतुर्दि फलम्' इति प्रतिनियता प्रतीतिः । एकरूप अद्वेषेऽप्यन्यस्याग्रहणे तदसम्भवात् ।

“ द्विष्टसम्बन्धसावित्तिर्निरूपप्रवदनात् ।

द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ” ॥

इति वचनात् ॥

१ शङ्का—प्रमाण और प्रमाणके फलमें क्षण मात्रका अंतर पड़ता है, अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल क्रमसे होते हैं। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध लोगोंके क्षणिकवादमें प्रत्येक वस्तु एक क्षणके लिये उत्पन्न कर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतएव प्रमाणके क्षणिक होनेके कारण प्रमाण ( कारण ) के उत्पन्न होते ही सर्वथा नष्ट हो जानेसे प्रमाणके फल ( कार्य ) की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण रूप प्रमाणका सर्वथा ( निरन्वय ) विनाश हो जाता है। कार्यकी उत्पत्ति कारणके रहने पर ही होनी है, अन्यथा नहीं। यदि कारणके बिना कार्य उत्पन्न होने लगे, तो बीनके बिना वृक्षकी उत्पत्ति माननी चाहिये। अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य कारण सन्ध नहीं हो सकता। तथा, प्रमाण और उसके फलका सन्ध दो पदार्थोंमें ही रहता है। किन्तु क्षण क्षणमें नाश होनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमें कोई सन्ध नहीं हो सकता। अतएव 'यह हेतु है, और यह उसका फल है' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों क्षणिक होनेसे एक साथ नहीं रहते। इस लिये प्रमाणके

होनेसे फल, और फलके होनेसे प्रमाणका ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है “दो वस्तुओंमें रहनेवाले सन्धका ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। यदि दोनों वस्तुओंमेंसे एक वस्तु रहे, तो उस सन्धका ज्ञान नहीं होता।”

यद्यपि धर्मात्तरण “अर्थसाम्यप्रमस्य प्रमाणम् । तद्व्याप्यप्रतीतिसिद्धे ” इति न्यायविन्दुमूत्र विवृण्वता भणितम् “नीलनिर्भास हि विज्ञान, यतस्तन्माद् नीलस्य प्रतीतिरवसीयते । येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पन्नत, न तद्वशात् तज्ज्ञान नीलस्य सप्रदन शक्यतेऽप्रस्थापयितु नालसदृश त्वनुभूयमान नीलस्य सघेदनमवस्थाप्यते । न चान जन्यजनरुभावनिवन्धन, सायसाधनभाय । येनकस्मिन् वस्तुनि विरोध, स्यात् । अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकरुभावेन तत एरुस्य वस्तुन त्रिश्चिद्रूप प्रमाण त्रिश्चिन् प्रमाणफल न विरुध्यते । व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्य तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्य च नीलसवेदनरूपम् ” इत्यादि ॥

आचार्य धर्मात्तर (गौड) — “किसी पदार्थका ज्ञान करते समय, ज्ञानके पदार्थके आकारका होनेसे ही (अर्थसारूप्य) ज्ञानकी प्रमाणता कही जाती है, इसीसे पदार्थका ज्ञान होता है।” “जिस समय ज्ञान नील घटको जाननेपर नील घटके आकारका होता है, उस समय नील घटका ज्ञान होता है। चक्षु आदि इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे नीलका ज्ञान नहीं होता, किन्तु जिस समय ज्ञानमें नील घटके सदृश आकारका अनुभव होता है, उस समय नील घटका ज्ञान होता है। हम प्रमाण और प्रमाणके फलमें तब तक (कार्य कारण) सन्ध न मान कर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सन्ध मानते हैं। इस लिये प्रमाणसे प्रमाणका फल उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रमाणसे प्रमाणके फलकी व्यवस्था होती है। अतएव हमारे मतमें प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य कारण सन्ध न माननेसे विरोध नहीं आता। इस लिये एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों रूपहोता है। नील घटको जानते समय घटका सारूप्य (सदृश आकार) व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है।” स्पष्टार्थ—बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न मानते हैं। उनके मतमें जिस ज्ञानसे (प्रत्यक्ष, अनुमान) पदार्थ जाने जाते हैं, वही ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप होता है। बौद्ध लोगोंने पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाले सन्ध और विपर्यय रहित प्रापक ज्ञानको प्रमाण माना है। जिस प्रापण शक्तिने ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होनेपर भी प्रापक होता है, वही प्रमाणका फल है। अतएव जिस ज्ञानमें अर्थकी प्रतीति होती है, उसी ज्ञानसे अर्थका दर्शन होता है, इस लिये ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप है (तदेव च प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्)।

उक्त—यदि ज्ञान प्रमिति रूप होनेसे प्रमाणका फल है, तो प्रमाण किसे कहते

हैं । उत्तर—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है, और पदार्थोंके आकार रूप हो कर पदार्थोंको जानता है, इस लिये ज्ञान प्रमाण है । बौद्ध मतके अनुसार ज्ञान इन्द्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंको नहीं जानता । किंतु नील घटको जानते समय नील घटसे उत्पन्न ज्ञान नील घटके आकार रूप होता है । नील घटके सदृश आकारको धारण करना ही ज्ञानका प्रामाण्य है ( अर्थसारूप्यमस्य प्रमाण ) । शंका—यदि ज्ञान सादृश्य ( नील सादृश्य ) से अभिन्न है, तो उसी ज्ञानको प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप कहना चाहिये । एक ही वस्तुमें साध्य और साधन दोनों नहीं रह सकते । अतएव ज्ञान ( प्रमाण ) पदार्थोंके सदृश नहीं हो सकता । उत्तर—सारूप्य ( सदृश्य आकार ) से ही पदार्थोंकी प्रतीति होती है । क्योंकि पदार्थोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान नील घटके आकारका हो कर ही नील घटका ज्ञान करता है । चक्षु आदिकी सहायतासे नील घटका ज्ञान नहीं हो सकता । अतएव बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिमें कार्य-कारण संबन्ध न स्वीकार करके व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक संबन्ध मानते हैं । सारूप्य व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है । अतएव प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

तदप्यसारम् । एकस्य निरक्षस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षण-  
स्वभावद्वयायोगात् । व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च समन्धत्वेन द्विष्टत्वादेक-  
स्मिन्नसम्भवात् । किञ्च, अर्थसारूप्यमर्थाकारता । तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूप वा ?  
निश्चयरूप चेत्, तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया । अनिश्चित चेत्, स्वयम-  
व्यवस्थित कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम् । अपि च, कैयमर्थाकारता ।  
किमर्थग्रहणपरिणामः, आहोस्विदर्थान्धारधारित्वम् ? नात्र । सिद्धसाधनात् । द्विती-  
यस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुरूपणाज्जडत्वापर्यादिदोषाघात । तन्न प्रमाणादेकान्तेन  
फलस्याभेदः सार्धयान् । सर्वथातादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भाव-  
विरोधात् । न हि सात्त्विकमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथातादात्म्ये सिद्धयति ।  
अतिप्रसङ्गात् ॥

जैन—यह ठीक नहीं । क्योंकि निरक्ष क्षणिक ज्ञान ( बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, इस लिये वे लोग घटको घट न कह कर घट क्षण कहते हैं । इसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान-क्षणमे क्षणिक ज्ञान समझना चाहिये ) में व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक दो स्वभाव नहीं बन सकते । क्योंकि व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबन्ध दो पदार्थोंमें ही रह सकता है, निरक्ष क्षणिक ज्ञानमें नहीं । तथा पदार्थके आकार रूप होनेको अर्थसारूप्य ( अर्थाकारता ) कहते हैं । यह अर्थसारूप्य निश्चय रूप है, या अनिश्चय रूप ? यदि यह अर्थसारूप्य निश्चित है, तो इस निश्चित अर्थसारूप्यको ही व्यवस्थापक मानना चाहिये, व्यवस्थापक और व्यवस्थाप्यको अलग अलग माननेकी आवश्यकता नहीं । यदि



अर्थसारूप्य अनिश्चित है, तो स्वय अनिश्चित अर्थसारूप्यसे नील आदिका ज्ञान नहीं हो सकता । तथा, ज्ञानकी अर्थाकारतासे आपका क्या अभिप्राय है ? आप लोग ज्ञानके पदार्थोंको जाननेके स्वभावको अर्थाकारता कहते हैं, अथवा ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं ? प्रथम पक्ष माननेमें सिद्धसाधन है, क्योंकि हम भी ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको जानना मानते हैं । यदि आप लोग ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं, तो ज्ञानको जड़ प्रमेयके आकार माननेमें ज्ञानको भी जड़ मानना पड़ेगा । अतएव प्रमाण और प्रमितिका सर्वथा अभेद नहीं बन सकता । क्योंकि प्रमाण और प्रमितिका सर्वथा तादात्म्य सबध माननेसे प्रमाण और प्रमाणके फलकी व्यवस्था नहीं बनती । यदि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण, और अधिगति ( ज्ञानसवेदन ) को प्रमाणका फल मान कर प्रमाण और उसके फलको अलग नहीं मानते ।

ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्ति सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत् । नैवम् । स्वभावभेदमन्तरेणान्य-व्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्ते । कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाप्रमाणाफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याप्यप्रमाणत्वस्याफलवस्य च व्यवस्था न स्यात् । विजातीयादिय सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद् वस्तुनः । तस्मात् प्रमाणात् फलं त्र्यञ्चिद्विभ्रमवैष्टव्यं । साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात् । य हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयंते ते परस्पर भिद्यंते यथा कुठारच्छिदिक्रिये इति ॥

शंका—वास्तवमें सारूप्य और अधिगति एक ही प्रमाणके दो अलग अलग रूप हैं । क्योंकि हम असारूप्यव्यावृत्ति ( असारूप्यका निषेध ) को सारूप्य, और अनधिगति व्यावृत्ति ( अनधिगतिका निषेध ) को अधिगति कहते हैं । इस लिये सारूप्य और अधिगतिके निषेध रूप होनेसे एक निरश चानमें भी प्रमाण और उसके फलकी व्यवस्था बन सकती है । समाधान—यट ठीक नहीं । क्योंकि दो स्वभाव माने बिना असारूप्यव्यावृत्ति और अनधि गतिव्यावृत्ति रूप व्यावृत्ति नहीं बन सकती । तथा, जिस प्रकार आप लोग अप्रमाणव्यावृत्तिको प्रमाण और अफलव्यावृत्तिको फल मानते हैं, वैसे ही प्रमाणांतरव्यावृत्तिको अप्रमाण और फलान्तरव्यावृत्तिको अफल मानना चाहिये । इस लिये जैसे आप लोग विजातीयसे व्यावृत्ति मानते हैं, वैसे ही सजातीयमें भी एक दूसरेसे व्यावृत्ति माननी चाहिये । अतएव प्रमाण और उसका फल कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि दोनों साध्य-साधन रूपमें मालम होते हैं । जो साध्य-साधन होते हैं, वे परस्पर भिन्न हैं, जैसे कुठार और उद्वेदन क्रिया ( काटना ) ।

एव यौगाभिप्रेतः प्रमाणात् फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः । तस्यैकप्रमात्-  
तादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिदभेदव्यवस्थिते । प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मन  
फलतया परिणतिप्रतीतिः । यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजति उपक्षते चेति  
सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् । इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः  
प्रसज्यत इत्यलम् ॥

इससे प्रमाण और प्रमाणके फलका एकान्त भेद माननेवाले नैयायिकोंका भी  
निराकरण हो जाता है । क्योंकि प्रमाण और उसका फल अलग अलग नहीं है, कारण  
कि एक ही प्रमाता प्रमाण और उसके फल रूप हो कर पदार्थोंको जानता है । इस लिये  
प्रमाण प्रमाणके फलसे कथञ्चित् अभिन्न है । क्योंकि प्रमाण रूप परिणत आत्मा ही फल रूप  
कही जाती है । आत्माको छोड़ कर दूसरी जगह फलका ज्ञान नहीं होता । क्योंकि आत्मा  
ही पदार्थोंको ग्रहण करती है, छोड़ती है और उनकी उपेक्षा करती है, यह अनुभवसे  
सिद्ध है । यदि प्रमाण और उसके फलमें अभेद न माना जाय, तो एक मनुष्यके प्रमाणका  
फल दूसरे मनुष्यको मिलना चाहिये, और इस तरह प्रमाण और उसके फलकी कोई भी  
व्यवस्था नहीं रह सकती ।

अथवा पूर्वाद्धमिदमन्यथा व्याख्येय । सौगताः क्लृप्त्य प्रमाणयन्ति । सर्वं सत्  
क्षणिकम् । यत् सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते । तत्र  
येन स्वरूपेणान्त्वावस्थाया घटादिकं विनश्यति तच्चैतत्स्वरूपमुत्पन्नमानस्य विद्यते  
तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम्, इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् ॥

( २ ) पूर्वपक्ष—‘ सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं ’ ( सर्वं सत् क्षणिक ) । क्योंकि घट  
आदि सम्पूर्ण पदार्थ मुद्गर आदिका संयोग होनेपर नाश हो जाते हैं । जिस स्वरूपसे अन्त  
अवस्थामें घट आदिका नाश होता है, वही स्वरूप घट आदि सम्पूर्ण पदार्थोंके उत्पन्न होनेके  
समय होता है । अतएव जिस समय मुद्गरसे घटा नष्ट हो जाता है, उस समय मुद्गर घडेमें  
कोई नया स्वरूप उत्पन्न नहीं करता । क्योंकि घडेका स्वरूप अन्त और आरम्भ दोनों  
अन्यथांमें एकसा होता है । अतएव घटा उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाता है, इस लिये  
सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं । स्पष्टार्थ—बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ नाशमान है, क्योंकि  
नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है । यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो पदार्थ दूसरी  
वस्तुके संयोगसे भी नष्ट नहीं हो सकते । पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ  
और अन्त दोनों अनन्यथांमें समान है । यदि पदार्थोंको उत्पन्न होनेके बाद नाशमान न माना  
जाय, तो पदार्थोंका किसी भी कारणसे नाश नहीं हो सकता । इस लिये प्रत्येक पदार्थ क्षण  
क्षणमें नष्ट होता है । शका—यदि क्षण क्षणमें नाश होनेवाले परमाणु ही वास्तविक हैं,

तो घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—वास्तवमें स्थूल पदार्थोंका ज्ञान स्वप्न नान अथवा आकाशमें केश चानकी तरह निर्विषय है। अनादि कालकी वासनाके कारण ही स्थूल पदार्थोंका प्रतिभास होता है। शक्ता—यदि सम्पूर्ण पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होनेवाले हैं, तो पदार्थोंका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—जिस प्रकार दीपककी लौमें परस्पर समानता रखनेवाले पहले ओर दूसरे क्षणोंमें पहले क्षणके नष्ट होनेके समय ही पहले क्षणके समान दूसरे क्षणके उत्पन्न होनेसे यह वही दीपक है, यह नान होता है, उसी प्रकार समान आकारकी ज्ञान-परंपरासे पूर्व क्षणोंके अत्यंत नष्ट हो जानेपर भी पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है।

अथेदं एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्किंचन्तमपि काल स्थित्वा विनश्यति। एव तर्हि मुद्गरादिसनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभाव इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव काल स्यात्त्वयम् इति नैव विनश्येदिति। सोऽयं "अदितसोर्वणिज" प्रतिदिन परललितभस्तनदिनभणनन्याय।"। तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत्। एव तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वाच्चैव विनश्येदिति ॥

प्रतिवादी—अपनी उत्पत्तिके कारणमूल सहायकासे कुछ समय तक ठहर कर बादमें नष्ट हो जाना, यह प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है। बौद्ध—यदि पदार्थका स्वभाव क्षण क्षणमें नाशमान न माना जाय, तो घड़ेके साथ मुद्गरका सयोग होनेपर भी घड़ा नष्ट नहीं होना चाहिये, क्योंकि मुद्गरका सयोग होनेपर भी घड़ेका नाश नहीं होनेका स्वभाव मौजूद है। अतएव जिस प्रकार कोई कर्मदार साहुकारके कर्मको न चुकानेकी इच्छासे कर्म चुका देनेका प्रतिदिन वायदा करनेपर भी कभी अपने कर्मको नहीं चुका पाता, उसी तरह मुद्गरका सयोग होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें नष्ट होनेवाला घट दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें नष्ट न हो कर सर्वदा नित्य ही रहना चाहिये। अतएव पदार्थोंका स्वभाव क्षण क्षणमें नाश होनेका है।

स्यादतत्। स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातम्, पर बलेन विरोधेन मुद्गरादिना विनाश्यते इति। तदसत्। कथं पुनरेतद्विद्विष्यते। न च तद् विनश्यति स्थावरत्वात्, विनाशश्च तस्य विरोधिना प्रलेन क्रियते इति। न ह्येतत्सम्भवति जीवति देवदत्ता परण चास्य भवतीति। अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वर तद् वस्तु स्वहेतोर्जातमिति। न हि म्रियते च अमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादविनश्वरत्वे क्वाचिन्पि नाशयोगात् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमानमव विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वे सिद्धं भवति ॥

प्रतिवादी—प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये ही उत्पन्न होता है, बादमें अपने बलवान विरोधी मुद्गर आदिसे नष्ट हो जाता है। बौद्ध—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थका स्वभाव नष्ट नहीं होनेका है, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि पदार्थ अपने बलवान विरोधीसे नष्ट हो जाता है। क्योंकि जिस पदार्थका स्वभाव नाश होना नहीं है, वह पदार्थ नाश नहीं हो सकता। अतएव जिस प्रकार देवदेवके जति हुए उसको मरा हुआ नहीं कह सकते, वैसे ही यदि पदार्थ नष्ट हो जाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि यह पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये उत्पन्न हुआ था। अतएव जैसे नाशमान देवदेवको अनाशमान नहीं कहा जा सकता, वैसे ही नष्ट होनेवाले पदार्थको अविनश्वर नहीं कह सकते। तथा, पदार्थ नाशमान देखे जाते हैं, अतएव अपनी उत्पत्तिके कारणोंद्वारा उत्पन्न वस्तुको नश्वर ही मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, इस लिये प्रत्येक पदार्थ क्षणविध्वंसी है।

प्रयोगस्त्वेवम् । यद्दिनश्वरस्वरूप तद्दुत्पत्तेरनन्तरानवस्थायि, यथान्त्यक्षणवर्ति-  
घटस्य स्वरूपम् । विनश्वरस्वरूप च रूपान्तिकमुदयमाले, इति स्वभावहेतु । यदि  
क्षणक्षयिणो भवा कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात् । उच्यते । निरन्तर-  
सदृशापरापरोत्पादात्, अविद्यानुन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृश  
क्षणान्तमुदयते । तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदोऽपि स  
एवायमित्यभेदाव्यवसायी प्रत्यय प्रमूयते । अत्यन्तभिन्नेष्वपि लैनपुनरत्यन्तवृश-  
काशरूपादिषु दृष्ट एवाय स एवायम् इति प्रत्यय, तथेहापि किं न सभावते ।  
तस्मात् सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम् । अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणम् उत्तरक्षण  
उपादयम् इति पराभिप्रायमङ्गीकृत्याह न तुल्यकाल इत्यादि ॥

‘जिस पदार्थका स्वभाव नाशमान है, वह अत क्षणमें नष्ट होते हुए घटकी तरह अपनी उत्पत्तिके बाद भी नहीं रह सकता। रूप आदि अपनी उत्पत्तिके समय नष्ट हो जाते हैं, अतएव रूप आदि अपनी उत्पत्तिके बाद अवस्थित नहीं रह सकते’। यह स्वभाव हेतु अनुमान है। बौद्ध लोगोंमें स्वभाव हेतु, काय हेतु और अणुपरव्य हेतुके भेदमें हेतुके तीन भेद माने हैं। जैसे ‘यह वृक्ष है, शिशिपा (सीसम) होनेसे’ यहा वृक्षत्व और शिशिपात्वका कार्य कारण सद्य न हो कर स्वभाव सद्य है, अतएव यह स्वभाव हेतु अनुमान है। ‘यहा अग्नि है, धूम होनेसे’

१ श्रीश्रव च लिङ्गानि । अनुपस्थित स्वभावकार्ये चेति । तत्रानुपलब्धियया न प्रदेशविशेषे कश्चिद् घटोपस्थितलक्षणप्राप्तस्यानुपस्थितिः । स्वभाव स्वमत्तमात्रमादिनि साध्यधर्मो हेतु । यथा वृक्षोऽपि शिशिपात्वादिति । कार्ये यथाभिरथ धूमादिति । २ पूर्वं लनादिच्छन्ना कृशादय पुनरुत्पद्यन्ते ।

यहांपर कार्य कारण संबंध है, इस लिये यह कार्य हेतु अनुमान है। पदार्थके १ मिलनेको अनुपपत्ति कहते हैं। जैसे 'देवदत्त घरमें नहीं है, क्योंकि वह वहां अनुत्पन्न है'। स्वभाव हेतुमें एक स्वभावसे दूसरे स्वभावका, और कार्य हेतुमें कार्यसे कारण अनुमान होता है। स्वभाव और कार्य हेतु वस्तुकी उपस्थितिको, और अनुपपत्ति हेतु वस्तुकी अनुपस्थितिको निश्चय करते हैं। शक्यता—यदि पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होनेवाले हैं, तो प्रत्येक क्षणमें नाश होनेवाले घटकी उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे लगा कर अंतिम समय तक घटकी एकताका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। चौद्ध—वास्तवमें प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होनेवाले हैं। जो घट हमें स्थायी (एक) रूपसे दिखाई देता है, वह भी प्रतिक्षण नाश हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्ण घट (क्षण) प्रत्येक उत्तर घट (क्षण) को उत्पन्न करता है। ये सब पूर्व और उत्तर क्षण परस्पर इतने समान हैं, कि एक क्षणसे दूसरे क्षणकी उत्पत्ति होनेके समय अंतर होनेपर भी घटकी एकताके ज्ञानमें अंतर नहीं पड़ता। घटके पूर्व क्षणके नष्ट होते ही उसके समान दूसरा क्षण उत्पन्न हो जाता है, अतएव पूर्व आकारका नाश न दीसनेमें पूर्व क्षणके नाश और उत्तर क्षणकी उत्पत्तिमें व्ययमान नहीं मालूम होता। इस लिये घटके पूर्व क्षणका सर्वथा नाश होनेपर भी अविद्याके कारण यह वही घट है, ऐसी प्रतीति होती है। जिस प्रकार पहले काटे हुए और फिरसे उत्पन्न होनेवाले कुश (घास) और केश आदिकी पूर्व और उत्तर क्षणोंमें अत्यन्त भेद होनेपर भी यह वही घास है, यह वही केश है, ऐसा ज्ञान होता है, वैसा ही क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले प्रत्येक पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सर्वथा भेद होनेपर भी उनमें एकताका प्रत्यभिज्ञान होता है। यही पूर्व क्षण उपादान, और उत्तर क्षण उपादेय है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंकी क्षणिक मानना चाहिये।

ते निर्गलितमुक्तावलीमल्या निरन्वयनिनाशिन पूर्णक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्त किं स्वात्पत्तिनाल एव जनयन्ति, उत क्षणान्तरे ? न तावदाय । समकाल- भाविनार्थवतिकुचयोरिवापादानोपादेयभावाभावात् । अतः साधुक्तम् १ तुल्यकाल- फलहेतुभाव इति । न च द्वितीय । तदानीं निरन्वयनिनाशिन पूर्णक्षणस्य नष्टत्वादुत्तर- क्षणजननं कुत सभावनापि । न चानुपादानस्यात्पत्तिर्दृष्टा, अतिप्रसङ्गात् । इति सुष्ठु व्याहृतं हेतौ विलीनं न फलस्य भाव इति । पदार्थस्त्वनयो पादयो मागेयोक्त । फलमत्र फलमुपादेयं हतुत्पादानं तद्भाव उपादानापादयभाव इत्यर्थः ॥

उत्तरपक्ष—आपके मतमें स्वल्पिन मोतियोंकी मालाके समान, सर्वथा नाश होने-वाले पूर्व क्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न करते समय अपनी उत्पत्तिके क्षणमें ही उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते हैं, अथवा दूसरे क्षणमें उत्पन्न करते हैं, अर्थात् पूर्व और उत्तर क्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं, या क्रमसे १ पूर्व क्षण और उत्तर क्षण एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते । क्योंकि जैसे

एक हाथसे दूसरा हाथ पैदा नहीं होता, वैसे ही पूर्व क्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भाव नहीं बन सकता। इस लिये कहा है, 'हेतु और उसका फल दोनों एक साथ नहीं हो सकते' (न तुल्यकाल फलहेतुभाव)। यदि कहो, कि पूर्व क्षण उत्तर क्षणको दूसरे क्षणमें उत्पन्न करता है, तो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि पूर्व क्षण सर्वथा विनाश है, उसका सर्वथा नाश हो जानेसे उससे उत्तर क्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। अतएव दूसरे क्षणमें उपादान कारण रूप पूर्व क्षणका सर्वथा नाश होनेसे पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उपादानके विना भी उपादेयकी उत्पत्ति होने लगे, तो प्रत्येक पदार्थसे प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति माननी चाहिये। अतएव 'हेतुके नष्ट हो जानेपर फलका भी अभाव हो जाता है' (हेतौ विलीने न फलस्य भाव), यह हमने ठीक कहा है।

यच्च क्षणिकत्वस्यापनाय मोक्षारगुप्तेनानन्तरमेव प्रलपितं तत् स्याद्वादवादे निरन्तरमत्र। निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात्। प्रतिक्षण पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात्। यदप्यभिहितम् 'न ह्येतत् सभवाति जीवति च देवदत्ता मरण चास्य भवतीति,' तदपि सभवादेव न स्याद्वादिना क्षतिभावहति। यथा जीवन प्राणधारण, मरण चायुर्दलितक्षय। ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलितानामुर्दीर्घानां क्षयादुपपन्नमेव मरणम्। न च वान्यमन्त्यावस्थायामत्र कृत्स्नायुर्दलितक्षयात् तत्रैव मरण यपदेशो युक्त इति। तस्यामप्यवस्थाया न्यक्षेण तत्क्षयाभावात्। तथापि श्वशिश्टानामत्र तेषां क्षया न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम्। इति सिद्ध गर्भादारभ्य प्रतिक्षण मरणम्। इत्यल प्रसङ्गेन॥

तथा क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये जो मोक्षारगुप्त नामक बौद्धाचार्यने नित्यत्वका खंडन किया है, उसे स्याद्वादमें अनशय नहीं है। क्योंकि स्याद्वादी लोग 'निरन्वय विनाश' को छोड़ कर बौद्ध मतका ही समर्थन करते हैं। क्योंकि अनेकान्त वादियोंने भी पर्यायोंकी अपेक्षा प्रतिक्षण नाश स्वीकार किया है। तथा आपने जो कहा, कि 'जिने हुए देवदत्तको मरा हुआ नहीं कह सकते' उसमें भी स्याद्वादीयोंको कोई क्षति नहीं होती। क्योंकि स्याद्वादीयोंके अनुसार, प्राणोंके धारण करनेसे जीवन, और आयुके अंशोंके नाश होनेको मरण कहते हैं। अतएव देवदत्तके जीवित दशामें भी प्रत्येक समय उदय आनेवाले आयुके निपेकोंका क्षय होनेसे मरण होता रहता है। यदि आप लोग कहें, कि अन्न अवस्थामें सम्पूर्ण आयुके नाश हो जानेको ही मरण कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अत अस्थामें भी आयुके अवशिष्ट अंशोंका ही नाश होता है, एक ही क्षणमें आयुके सम्पूर्ण भागोंका नाश नहीं होता। अतएव गर्भके धारण करनेसे लेकर मृत्यु पर्यंत मनुष्यका मरण होता रहता है, यह निर्विवाद है।

अथवापरथा व्याख्या । सौगताना क्लियार्थेन ज्ञान जन्यते । तत्र ज्ञान तमेव स्वोत्पादकमर्थं घृष्टातीति । “ नाकारण विषय. ” इति वचनात् । ततथार्थः कारण ज्ञान च कार्यमिति ॥

( ३ ) पूर्वपक्ष—ज्ञान पदार्थमे उत्पन्न हो कर उर्मी पदार्थ को जानता है । कहा भी है “ जो पदाथका कारण नहीं होता, वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता । ” अतएव पदार्थ कारण है, और ज्ञान कार्य है ।

एतच्च न चारु यथा यस्मिन् क्षणेऽर्थस्य स्वरूपसत्ता तस्मिन्नत्रापि ज्ञान नोत्पन्नते । तस्य तत्र स्वात्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् । यत्र च क्षणे ज्ञान समुत्पन्न तत्रार्थोऽतीतः । पूर्वापरमालभावनियतश्च कार्यकारणभावः । क्षणातिरिक्त चारस्थान नास्ति । तत्र कथं ज्ञानस्यात्पत्तिः, कारणस्य विलीनत्वात् । तद्विलय च ज्ञानस्य निर्विषयता-नुपज्यत । कारणस्यैव युष्मन्मते तद्विषयत्वात् । निर्विषय च ज्ञानमप्रमाणमेवाकाशके-शज्ञानवत् । ज्ञानसहभाविनश्चार्थक्षणस्य न ग्राह्यत्वम्, तस्याकारणत्वात् । अत आह न तुल्यकाल इत्यादि । ज्ञानार्थयोः फलहेतुभावः कार्यकारणभावस्तुल्यकालो न घटते । ज्ञानसहभाविनोऽर्थक्षणस्य ज्ञानानुपादकत्वात् । युगपद्भाविना कार्यकारणभावायोगात् । अथ प्राचोऽर्थक्षणस्य ज्ञानोत्पादकत्व भविष्यति । तत्र । यत्र आह हती इत्यादि । हेतुार्थरूप ज्ञानकारणे विलीने क्षणिकत्वान्निर्वच्य विनष्टे न फलस्य ज्ञानलक्षणकार्यस्य भाव आत्मन्यभः स्यात् । जननस्यार्थक्षणस्यातीतत्वाद् निर्मूल्यमेव ज्ञानोत्थान स्यात् ॥

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस क्षणमें पदार्थ स्वरूपसे विद्यमान रहता है, उस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । क्योंकि बौद्धोंके क्षणिकवादके अनुसार जब तक एक पदार्थ बन कर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता । तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है ( क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है ) । तथा क्रमसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य कारण भाव होता है । परंतु बौद्ध मतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं टहरती । अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थके नाश हो जानेसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पहले ही ज्ञानका कारण फलार्थ नष्ट हो जाता है, परन्तु आप लोगोंके मतमें कारणको ही विषय माना है, इस लिये ज्ञानको निर्विषय मानना चाहिये । यह निर्विषय ज्ञान आकाशमें फेस ज्ञानकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता । तथा यदि ज्ञान और पदार्थ को सहभावी माना जाय, तो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है, कारण कि कारण कायसे पहले उत्पन्न होता है, कारण कार्यका सहभावी नहीं होता । अतएव आपके सिद्धांतके अनुसार पदार्थ ज्ञानका विषय ( कारण ) नहीं

हो सकता। इस लिये हमने कहा है 'ज्ञान और पदार्थमें एक समयमें कार्य और कारण भाव नहीं बन सकता' (न तुल्यकार्त्तु फलहेतुभावो)। इस लिये ज्ञानके साथ उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता कारण कि, एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण संबन्ध नहीं होता। यदि कहो, कि ज्ञानके पहले उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है, यह ठीक नहीं। क्योंकि हमने पहले कहा है, 'क्षणिक होनेसे पदार्थका निरन्वय विनाश होनेके कारण, नष्ट हुए पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' (हेतौ विलीने न फलस्य माप)। क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले पदार्थके नष्ट होनेपर ज्ञान निविषय रह जाता है।

जनकस्यैव च ग्राहत्वे इन्द्रियाणामपि ग्राहत्वापत्तिः । तेषामपि ज्ञानजनकत्वात् । न चान्यव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य ज्ञानहेतुत्व दृष्टं । मृगतृष्णादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानोत्पादात् । अप्या तत्प्रवृत्तेरसभवात् । भ्रान्त तज्ज्ञानमिति चेत्, ननु भ्रान्ताभ्रान्तविचारः स्थिरीभूय त्रियता त्वया । साप्रत प्रतिपद्यस्व तावदनर्थजमपि ज्ञानम् । अन्वयेनार्थस्य ज्ञानहेतुत्व दृष्टमेवेति चेत् । न । न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि । स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव । यागिना चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्, तयोरसत्त्वात् ।

“ णं णिहाणगया भग्गा पुजो णत्थि अणागए ।

णिब्बुधा णेव चिह्वति आरग्गे सरिसवोवमा ” ॥

इति वचनात् । निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः ॥

तथा, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मृत पदार्थको ज्ञानका विषय माननेसे इन्द्रियोको भी ज्ञानका विषय स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिया भी ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। परन्तु आप लोगोंने पदार्थकी तरह इन्द्रियोको ज्ञानका विषय नहीं माना है। शक्य—पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) है, क्योंकि पदार्थका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक संबन्ध है। जैसे अग्नि धूमका कारण है, क्योंकि 'जहा जहा धूम होता है, वहा वहा अग्नि होती है,' और 'जहा अग्नि नहीं होती, वहा धूम नहीं होता,' जैसे ही 'जहा ज्ञान होता है, वहा पदार्थ होता है,' और 'जहा पदार्थ नहीं होता, वहा ज्ञान भी नहीं होता' इस लिये ज्ञान और पदार्थमें अन्वय-व्यतिरेक संबन्ध होनेसे पदार्थ ज्ञानका कारण है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिम प्रकार धूमका होना अग्निके ऊपर अवलम्बित है, उस प्रकार ज्ञानका होना पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं। कारण कि मृगतृष्णामें जल (अर्थ) के अभाव होनेपर भी जलको पानेके लिये मनुष्यकी प्रवृत्ति देखी जाती है। शक्य—मृगतृष्णामें जलका ज्ञान होना अमूर्त्त है, अतएव यहा पदार्थके बिना भी ज्ञान हो जाता



है। समाधान—यहा ज्ञानके अम रूप या अमम रूप होनेका प्रश्न नहीं है, प्रश्न इतना ही है, कि ज्ञान पदार्थके बिना भी उत्पन्न होता है। यदि कहो, कि जहा ज्ञान होता है, वहीं पदार्थ होता है, इस लिये पदार्थ ज्ञानका कारण है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब तक पदार्थमें अ-वय और व्यतिरेक दोनों सबध न रहें, तब तक उनमें कार्य-कारण सबध नहीं बन सकता। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहा पदार्थ न हो, वहा ज्ञान भी न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक सबध न बने, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते। यह व्यतिरेक सबध पदार्थ और ज्ञानमें नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णामें जलका अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। तथा, अतीत और अनागत पदार्थोंको जाननेवाले योगियोंके ज्ञानमें पदार्थ कारण नहीं हो सकता। क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत और अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव मृत, भविष्यत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। कहा भी है, "जो पदार्थ नष्ट हो गये हैं, वे किसी रजानेमें जमा नहीं हैं, तथा जो पदार्थ आनेवाले हैं, उनका कहीं त्रे नहीं लगा है। जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सूईकी नोकपर रखी हुई सरसोके समान स्थायी नहीं हैं।" यदि अतीत और अनागत पदार्थोंको भी ज्ञानमें कारण माना जाय, तो अर्थनियाकारी होनेसे अतीत, अनागत पदार्थोंका भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। अतएव पदार्थको ज्ञानमें कारण माननेसे मृत, भविष्यत पदार्थोंका अभाव मानना चाहिये।

न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्व। प्रदीपाद्वर्धटादिभ्योऽनु-  
त्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्। जनकस्यैव च ग्राहत्याभ्युपगम स्मृत्यादेः प्रमाणस्याप्रा-  
माण्यप्रसङ्गः, तस्यार्थान्यत्वान्। न च स्मृतिर्नि प्रमाणम्। अनुमानप्रमाणभाणभूत-  
त्वान् सा यसाधनसम्बन्धस्पर्णपूर्वकत्वात् तस्य। जनकमेव च चेत् ग्राह्यम्, तदा  
स्वसर्वेणस्य कथ ग्राहकत्वम्। तस्य हि ग्राह स्वरूपमेव। न च तेन तज्जन्यते,  
न्यात्मनि क्रियाविरोधात्। तस्मात् स्वसामग्रीप्रभववयार्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रका-  
श्यप्रकाशकभावसम्भवाद् न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य ॥

ज्ञाना—प्रकाश्य (अर्थ) से उत्पन्न हो कर पदार्थोंको प्रकाशित करना ही प्रकाशक (ज्ञान) का प्रकाशकत्व है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि घटसे उत्पन्न न हो कर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है। अतएव प्रकाश्य (अर्थ) और प्रकाशक (ज्ञान) में कार्य-कारण सबध नहीं हो सकता। तथा, यदि ज्ञानको पदार्थमे उत्पन्न हुआ मान कर, ज्ञानको उसी पदार्थका जाननेवाला स्वीकार किया जाय, तो मृति प्रमाण नहीं कही जा सकता। क्योंकि मृति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती। परन्तु मृतिको प्रमाण अत्रय मानना चाहिये, क्योंकि मृति प्रमाणको बिना माने साध्य-साधनके सबध (व्याप्ति)

का स्मरण नहीं हो सकता, इस लिये अनुमान प्रमाण भी नहीं बन सकता ।-तथा, यदि कारण ( हेतु-जनक ) को ज्ञानका विषय ( ग्राह्य ) माना जाय, तो स्वसवेदन ज्ञानका क्या विषय होगा ? क्योंकि स्वसवेदन ज्ञानका विषय स्वय अपना स्वरूप ही है, स्वसवेदन-से स्वसवेदन ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वसवेदन ज्ञानमें क्रिया नहीं होती, अतएव उसमें कार्य करण सबध नहीं बन सकता । अतएव जैसे घटमें उत्पत्त न हो कर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थमें उत्पन्न न हो कर भी पदार्थको जानता है । इस लिये पदार्थ और ज्ञानमें प्रकाश्य प्रकाशक सबध है, कार्य कारण सबध नहीं ।

नन्वर्थान्जन्यत्वे ज्ञानस्य कथ प्रतिनियतरूपमव्यवस्था । तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सापेक्षते । तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् सर्व-ग्रहण प्रसज्येत । नैवम् । तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया याम्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशमत्वोपपत्तेः । तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्यमेष्टव्या । अन्यथाऽऽ-पार्थसांनिध्ये तत्तदर्थानि येऽपि कुतश्चिदवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्तुतोऽय विभाग ॥

बौद्ध—यदि ज्ञान पदार्थमें उत्पन्न नहीं होता, तो घड़ेका ज्ञान घड़ेको ही जानता है, अन्य पदार्थको नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती । यह व्यग्रम्या ज्ञानको पदार्थसे उत्पन्न हो कर, और पदार्थके आकार रूप हो कर पदार्थको जाननेवाला माननेमें ही बन सकती है । अन्यथा एक पदार्थको जानते समय ज्ञानको प्रत्येक पदार्थको जानना चाहिये । जैन—यह ठीक नहीं । क्योंकि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो कर भी पदार्थको जानता है । कारण कि ज्ञानमें अविद्याके कारणोंकी क्षय और उपशम रूप योग्यता विद्यमान है, इसीसे ज्ञान प्रति-नियत पदार्थको जानता है । इस लिय जिस समय जिस पदार्थके ज्ञानको आरण करनेवाला कर्म हट जाता है, उस समय उसी पदार्थका ज्ञान होता है । अतएव ज्ञानकी पदार्थसे उत्पत्ति मान कर भी ज्ञानमें योग्यता अवश्य माननी चाहिये । यदि इस योग्यताको न माना जाय, तो अमुक पदार्थसे ही अमुक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह व्यवस्था नहीं बन सकती ।

तदाकारता त्वर्थाकारसमान्या तावन्नुपपन्ना । अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य साकारत्वप्रसङ्गाच्च । अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृश सादृश्यम् । इत्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साभ्युपेया । तत —

“ अर्थेन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।

तस्मात् प्रमेयाधिगते. प्रमाण मयैरूपता ” ॥

इति यत्किञ्चिदेतत् ॥

ज्ञानको पदार्थके आकारका मानना भी समन नहीं है, अन्यथा पदार्थको ज्ञानके आकारका होनेमें पदार्थको निराकार, और ज्ञानको पदार्थके आकारका होनेसे ज्ञानको

साकार मानना चाहिये। परन्तु मूर्त पदार्थोंके साथ अमूर्त ज्ञानकी समानता नहीं हो सकती। अतएव ज्ञानकी अर्थाकारताका कार्य प्रतिनियत पदार्थोंको जानना ही मानना चाहिये। इस लिये “ज्ञान की अर्थाकारताको छोड़ कर पदार्थ और ज्ञानका कोई संबंध नहीं होना, अतएव ज्ञानका पदार्थोंके आकार होना ही ज्ञानकी प्रमाणता है,” यह आप लोगोंका कथन स्वडित हो जाता है।

अपि च, व्यस्ते समस्त वैते ग्रहणकारण स्याताम्। यदि व्यस्त, तदा क्वा लाग्रक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राह्यः प्राप्नोति। यथासरयु तदुत्पत्ते तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षण पूर्वघटक्षणस्य ग्राहक प्रसजति। तयोर्बभयोरपि सद्भावात्। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमित्ति चेत्, तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्यत, तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात्। तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारण पश्याम इति ॥

तथा, आप लोगोंका जो कहना है, कि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), और पदार्थोंके आकार हो कर पदार्थका ज्ञान करता है (तदाकार), सो यह ज्ञानकी तदुत्पत्ति और तदाकारता पदार्थोंके ज्ञानमें अलग अलग रूपसे कारण हैं, अथवा मिल कर यदि कहो, कि कहीं तदुत्पत्ति और कहीं तदाकारता, पदार्थोंके ज्ञानमें अलग अलग कारण हैं, तो कपालके प्रथम क्षणसे घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान मानना चाहिये, क्योंकि कपालके प्रथम क्षणमें घटका अन्तिम क्षण उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), तथा चन्द्रमाके जलमें पड़नेवाले प्रतिनिम्बसे आकाशके चन्द्रमाका ज्ञान मानना चाहिये, क्योंकि जल-चन्द्र आकाश-चन्द्रके आकारको धारण करता है (तदाकार)। परन्तु घटके अन्तिम क्षणके कपालके प्रथम क्षणसे उत्पन्न होनेपर भी कपालके प्रथम क्षणसे घटके अन्तिम क्षणका ज्ञान नहीं होता, तथा जलमें पड़नेवाले चन्द्रमाके प्रतिनिम्बके आकाशके चन्द्रमाके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। अतएव तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग अलग पदार्थोंके ज्ञानमें कारण नहीं हैं। यदि कहो, कि तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनों मिल कर पदार्थोंके ज्ञानमें कारण हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि घटका उत्तरक्षण घटके पूर्व क्षणसे उत्पन्न भी होता है (तदुत्पत्ति), और तदाकार भी है (तदाकारता), परन्तु घटके उत्तरक्षणसे पूर्व क्षणका ज्ञान नहीं होता। शब्द—जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, और जिस पदार्थके आकारको धारण करता है, वह ज्ञान उसी पदार्थको जानता है, इस लिये यह नियम नहीं है, कि जो कोई वस्तु जिस किसी वस्तुसे उत्पन्न होती हो, और जिस वस्तुका आकार रखती हो, वह उस वस्तुको जाने (ज्ञानरूपत्वे सति तदुत्पत्ति तदाकारता)। समाधान—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पीछेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (समनन्तर ज्ञान) पहले सदृश ज्ञान (समान

जातीय ज्ञान) से उत्पन्न हुआ है, उसके आकार रूप है, तथा स्वयं ज्ञान रूप भी है, फिर भी समनन्तर ज्ञान समानजातीय ज्ञानको नहीं जानता। अतएव प्रत्येक ज्ञानके प्रतिनियत पदार्थोंको जाननेमें कर्मोंके आवरणकी क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते । तत्र च साद्वार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये चोद्धमिशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः । तन्मतं चेदम् । साद्व्याग्रहकादिकलङ्कानङ्कित निष्पन्नं ज्ञानमात्रं परमार्थसत् । साद्वार्थस्तु त्रिचारमेव न क्षमन । तथाहि । कोऽप्यवाहोऽर्थः । किं परमाणुरूपं स्थूलावयविरूपं वा ? न तावत् परमाणुरूपं, प्रमाणाभावात् । प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा ? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनपद्धत्कक्षम् । तद्धि योगिना स्यात् अस्मदादीना वा ? नात्रम् । अत्यन्तविभक्तृष्टेया श्रद्धामात्रं गम्यत्वात् । न द्वितीयम् । अनुभवसाधितत्वात् । न हि वचनमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नैऽपि प्रतीकम् । स्तम्भाऽप्यकुम्भोऽप्यमित्येवमेव न सदैव सचेदनादयान् । नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः । अप्यूनामतीन्द्रियत्वेन तैः महाविनाभासस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात् ॥

( ४ ) ज्ञानाद्वैतवादी ( पूर्वपक्ष )—साद्व्य, साद्वहक, आदिमे रहित ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंका अभाव है। हम पूछते हैं, कि परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवी रूप एक पिंडको ? यदि परमाणुओंके समूहको बाह्य अर्थ करते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। योगी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष है, और वह केवल श्रद्धाका ही विषय है, इस लिये योगी प्रत्यक्षसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्षसे भी बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षसे परमाणु रूप सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उससे केवल स्म ( रभा ) और कुम्भ ( घडा ) रूप स्थूल पदार्थोंका ही ज्ञान हो सकता है। अनुमानसे भी परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, इस लिये परमाणु रूप साध्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान न होनेके कारण, साध्यके अविनामाधी हेतुका भी ज्ञान नहीं हो सकता।

किञ्च, अमी नित्या अनित्या वा स्युः । नित्याश्चेत्, क्रमणार्थक्रियणकारिणो युगपद्वा ? न क्रमण । स्वभावभेदेनानित्यत्वापत्तेः । न युगपत् । एकरक्षण एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावात्सत्त्वापत्तिः । अनित्याश्चेत्, क्षणिका कालान्तरस्थायिनो वा ? क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा ? निर्हेतुकाश्चेत्, नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । निरपेक्षत्वात् । अपेक्षता हि कादाचित्कत्वम् । सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां

स्थूल किञ्चित् कारण परमाणुना वा ? न स्थूल । परमाणुरूपस्यैव वायार्थस्याङ्गी-  
कृतत्वात् । न च परमाणवः ते हि सन्तोऽसन्तः, सदसन्तो वा स्वभायाणि दुर्यु ।  
सन्तथत्, त्रिभुत्पत्तिक्षण एव क्षणान्तरे वा ? नात्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्र-  
व्यग्रत्वात् तपाम् । अथ “ भूतियैषां क्रिया सैव कारणस्य ज्ञान्यते ” इति वच-  
नाद् भ्रमनेव तपामपरोत्पत्ती कारणमिति चेत्, एव तर्हि रूपाणवो रसाणुनाम्,  
ते च तपामुपादानं स्यु, उभयत्रभवनाभिनिपात् । न च क्षणान्तर, विनष्टत्वात् ।  
अथासन्तन्त तदुत्पात्ताः, तर्हि एक स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिमसद्, त-  
दसत्त्वस्य सर्वाऽभिनिपात् । सदसत्पक्षस्तु “ प्रत्येक यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे फल-  
न स ” इति उच्यते द्विरोधाघात एव । तन्नाणवः क्षणिकाः ॥

तथा, परमाणु नित्य हैं, या अनित्य ? यदि नित्य हैं, तो क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं,  
अथवा एक साथ ? यदि परमाणु नित्य हो कर क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, तो यह ठीक नहीं ।  
क्योंकि परमाणुओंमें क्रमसे अर्थक्रिया माननेमें परमाणुओंमें स्वभावका भेद मानना पड़ेगा । तथा  
परमाणुओंमें स्वभाव भेद माननेसे परमाणुओंको नित्य नहीं कह सकते । परमाणु एक साथ भी  
अर्थक्रिया नहीं कर सकते । क्योंकि यदि परमाणु एक साथ समस्त अर्थक्रिया करने लगे,  
तो विश्वमें जो क्रम क्रमसे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, यह नहीं होना चाहिये । तथा समस्त  
अर्थक्रियाके एक ही समयमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाका अभाव होगा, इस लिये  
परमाणुओंका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा । यदि परमाणु अनित्य हैं, तो वे क्षणिक हैं, अथवा  
एक क्षणके बाद भी रहते हैं ? यदि परमाणु क्षणिक हैं, तो वे सहेतुक हैं, अथवा निर्हेतुक ?  
यदि परमाणु निर्हेतुक हैं, तो या तो परमाणुओंको सत् मानना चाहिये, अथवा सदा  
असत्, क्योंकि निर्हेतुक वस्तु सदा एकसी रहती है । यदि परमाणु सहेतुक हैं, तो कोई स्थूल  
कारण परमाणुओंका हेतु है, अथवा स्वयं परमाणु ही परमाणुओंमें हेतु हैं ? यदि स्थूल पदार्थ-  
को परमाणुओंका कारण माना जाय, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि आप स्थूल वाद्य  
पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, कारण कि आप लोगोंने वाद्य पदार्थोंको परमाणु रूप ही  
माना है । तथा स्वयं परमाणु भी परमाणुओंमें कारण नहीं हैं । क्योंकि हम पूछते हैं, कि ये  
परमाणु सत्, असत्, अथवा सत् असत् हो कर अपने कार्यको करते हैं ? यदि परमाणु सत्  
रूप हो कर अपने कार्यको करें, तो परमाणु उत्पत्तिके समय ही अपना कार्य करते हैं, अथवा  
उत्पत्तिके दूसरे क्षणमें ? परमाणु उत्पत्तिके समय अपना कार्य नहीं करते, क्योंकि उस समय  
परमाणु अपनी उत्पत्तिमें ही व्यग्र रहते हैं । यदि कहो, कि “ उत्पन्न होना ही क्रिया है, और  
क्रिया ही कारण है ” इस लिये परमाणुओंकी उत्पत्ति होना ही दूसरोंकी उत्पत्ति होनेमें कारण  
है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि उत्पन्न होना ही उत्पत्तिमें कारण मान लिया जाय,  
तो रूपके परमाणुओंको रसके परमाणुओंकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, इस लिये रूपके

परमाणुओंको रस-परमाणुओंका उपादान कारण कहना चाहिये। क्योंकि जैसे एक परमाणु स्वयं उत्पन्न हो कर दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्ति कर सकता है, वैसे ही रूप और रसके परमाणु भी साथ उत्पन्न होते हुए एक दूसरेकी उत्पत्तिमें सहायक हो सकते हैं। अतएव रूप-परमाणु और रस-परमाणुओंको अपनी अपनी उत्पत्तिमें पृथक् कारण न मान कर रूपके परमाणुओंकी रसके परमाणुओंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। यदि कहो, कि परमाणु सत् रूप हो कर दूसरे क्षणमें अपना कार्य करते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। यदि कहो, कि परमाणु असत् रूप हो कर अपना कार्य करते हैं, (दूसरा पक्ष) तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अपनी उत्पत्तिके समयको छोड़ कर सदा ही इन परमाणुओंको अपना कार्य करते रहना चाहिये। कारण कि असत् परमाणु सदा एकसे रहते हैं। तथा सत्-असत् रूप हो कर भी परमाणु कार्य नहीं करते (तीसरा पक्ष)। क्योंकि “जो दोष सत् और असत् एक एक स्वभावके अलग अलग माननेमें कहे गये हैं, वे सब दोष सत् असत् दोनों स्वभावोंको एक साथ माननेमें भी आते हैं।” इस लिये परमाणु सत् और असत् रूप हो कर भी अर्थ किया नहीं कर सकते। अतएव परमाणु क्षणिक नहीं हैं।

नापि फालान्तरस्थायिनः । क्षणिकपक्षसदृशयोगक्षेमत्वात् । त्रि-च, अमी क्रियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थनियामपराद्गुखा. तत्कारिणो वा ? आत्रे खपुष्पवद-सत्त्वापत्ति । उदग्विकल्पं किमसद्रूप सद्रूपमुभयरूप वा ते कार्यं कुर्यु ? असद्रूप चेत्, शशविपाणादेरपि किं न करणम् । सद्रूप चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था । तृतीयभेदस्तु प्राग्द्विरोधदुर्गन्धः । तच्चाणुरूपोऽर्थ सर्वथा घटते ॥

तथा, अनित्य परमाणु एक क्षणके बाद दूसरे क्षणमें स्थित रह कर भी ( एक क्षणसे अधिक, परन्तु परिमित समय तक रहनेवाले ) अर्थ क्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि परमाणुओंको क्षणिक मान कर अर्थक्रियाकारी माननेमें जो दोष आते हैं, वे यहां भी आते हैं। तथा, एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, अथवा नहीं ? यदि ये परमाणु अर्थ-क्रिया नहीं करते, तो आकाशके फूलकी तरह इन परमाणुओंका अभाव मानना चाहिये। क्योंकि अर्थनियामकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। यदि एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, तो वह अर्थक्रिया सत् रूप है, असत् रूप, अथवा उभय रूप ? यदि परमाणुओंका कार्य असत् रूप है, तो परमाणुओंकी असत् रूप गंधके सीमोंकी उत्पत्तिमें भी कारण होना चाहिये। यदि यह कार्य सत् रूप है, तो इसका यह अर्थ हुआ, कि जो कार्य पहलेसे मौजूद था, उस कार्यको ही परमाणुओंने किया है। अतएव इस मायतामें अनवस्था दोष आता है। अतएव सत् और असत् रूप कार्यके न बननेसे सत्-असत् रूप कार्य भी नहीं बन सकता। अतएव परमाणु बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते।

नापि स्थूलावयविरूप' । एकपरमाण्वासिद्धौ प्रथमनेकतत्सिद्धि' । तदभावे च तत्प्रचयरूप' स्थूलावयवी वाङ्मानम् । किञ्च, अयमनेकावयवाधार इष्यते । त चावयवा यदि विरोधिन्, तर्हि नैक स्थूलावयवी, निरुद्धधर्माध्यासात् । अविराधिनश्चेत्, प्रतीतिनाथः । एरुस्मिन्नय स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्तवृत्तानावृत्तादिविरुद्धावयवानामुपलब्धे । अपि च, अस्मां तेषु वर्तमान कात्स्न्येन एकदेशेन वा वर्तते ? कात्स्न्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वात्तन्नेवावयववृत्तित्व न स्यात् । प्रयवयय कात्स्न्येन वृत्तां चावयविप्रवृत्त्वापत्ते' । एकदेशेन वृत्तां च तस्य निरशत्वाभ्युपगमविरोध । साशत्वे वा तेऽगास्तता भिन्ना' अभिन्ना वा ? भिन्नत्वे पुनरप्यननाशवृत्तेरेकस्य कात्स्न्यैकदेशविनित्यानतिक्रमादनवस्था । अभिन्नत्वं न केचिदशा स्यु ॥

बाह्य पदार्थोंको स्थूल अवयवी रूप भी स्वीकार नहीं कर सकते । क्योंकि जब एक परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, तो अनेक परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी कैसे सिद्धि हो सकती है ? अनएव परमाणु रहित बाह्य पदार्थोंकी परमाणुओंके सम्पूर्ण रूप कहना केवल कथन मात्र है । तथा, अनेक परमाणु रूप बाह्य पदार्थ परस्पर विरोधी हैं, या अविरोधी ? यदि ये परमाणु परस्पर विरोधी हैं, तो इन विरुद्ध धर्मोंवाले परमाणुओंसे एक स्थूल अवयवी पदार्थ नहीं बन सकता । यदि इन परमाणुओंको परस्पर अविरोधी मानो, तो यह अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि हमें प्रत्यक्षसे एक ही स्थूल अवयवीम चल, अचल, रक्त, अरक्त, आवृत, अनावृत आदि विरुद्ध धर्म देखनेमें आते हैं । तथा अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे ? यदि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, तो सम्पूर्ण अवयवोंके एक अवयवमें समाप्त हो जानेसे अवयवी अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकता । यदि अवयवी अनेक अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपमें रहे भी, तो अनेक अवयवी मानने पड़ेंगे । यदि अवयवी अवयवोंमें एक देशमें रहे, तो अवयवोंमें अशोंकी कल्पना होनेसे उसे निरश एक अवयवी नहीं कह सकते, परन्तु अवयवी निरश होता है । यदि कहो, कि अवयवी अश सहित हो कर अवयवोंमें रहता है, तो ये अश अवयवोंमें भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि अश अवयवसे भिन्न हैं, तो फिर प्रश्न होगा, कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, अथवा एक देशसे, इस तरह अनवस्था माननी पड़ेगी । यदि अश अवयवसे अभिन्न हैं, तो अवयवोंको छोड़ कर अवयवोंके अशोंका पृथक् अस्तित्व नहीं मान सकते ।

इति नास्ति चाद्योऽर्थ वक्षिचत् । किन्तु ज्ञानमंत्रेण सर्ग नीलाग्राकारेण प्रतिभाति । चाद्यार्थस्य जडत्वन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तम् " स्नातारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचरा " । अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

“ यदि सवेद्यत नील कथं वाद्यं तदुच्यते ।

न चेत् सवेद्यते नील कथं वाद्यं तदुच्यते ॥ ”

यदि बाधोऽर्थो नास्ति, निर्विषयमन्तर्षय घटपटादिप्रतिभास. इति चेत्, ननु निरालम्ब्येन एवायमनादिविद्यतवासनाप्रवर्तितः, निर्विषयत्वात्, आकाशज्ञानवत्, स्वमज्ञानवद् वेति । अत एवोक्तम्—

“ नान्योऽनुभाष्यो वृद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।

ग्राह्यग्राह्यैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशत ॥

यागो न विद्यत एषा यथा बालैर्विभ्रलप्यते ।

वासनालुठित चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ” ॥ इति ॥

अतएव बाध पदार्थोको स्थूल अवयवी रूप अथवा परमाणु रूप नहीं कर सकते । किन्तु जो कुछ नील, पीन आदि रूप दृष्टिगोचर होता है, वह सन नान रूप ही है । बाध पदार्थोका प्रतिभास नहीं हो सकता, क्योंकि बाध पदार्थ जड हैं । कहा भी है, “ चानके गोचर दृश्य पदार्थ बुद्धिको पदार्थाकार उत्पन्न करते हैं । ” प्रमाणमार्तिकालकारके कर्ता प्रकाशगुणने भी कहा है, “ यदि नीलका प्रतिभास होता है, तो उसे बाध पदार्थ कैसे कह सकते हैं ? यदि नीलका प्रतिभास नहीं होता, तो उसे बाध पदार्थ नहीं कह सकते ? ” अर्थात् यदि नीलका प्रतिभास होता है, तो उसे नान रूप ही मानना चाहिये, और यदि उसका प्रतिभास नहीं होता, तो उसे बाध पदार्थ नहीं कह सकते । शक्य—यदि बाध पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो घट, पट आदिका नान कैसे होता है ? समाधान—जिस प्रकार बाध आत्मनके विना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, अथवा स्वप्नस्वप्नमें स्वप्न-नान होता है, वैसे ही अनादि कालकी अविद्या-वासनाके कारण बाध पदार्थोके आत्मनके विना ही घट, पट आदि पदार्थोका नान होता है । इसीलिये कहा है, “ बुद्धिमें प्रतिभासित होनेवाला पदार्थ ( अनुमाज्य ) बुद्धिके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, इसी तरह अनुभव भी बुद्धिके अनिरिक्त कोई वस्तु नहीं है । ग्राह्य ( अनुमाज्य ) और ग्राहक ( अनुभव ) के अभिन्न होनेसे स्वयं बुद्धि ही ग्राह्य-ग्राहक रूपसे प्रतिभासित होनी है । मूल रोगोद्धार कल्पित बाध पदार्थ कोई वस्तु नहीं है । अनादि कालकी अविद्याकी वासनाके कारण ही चित्त ( बुद्धि ) नाना रूप प्रतिभासित होता है । ”

तन्नेतरसर्वमवग्रम् । ज्ञानमिति हि क्रियागन्धः ततो ज्ञापतेऽनेनेति ज्ञान, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति । अस्य च उर्मणा भाव्य निविषयाया ज्ञप्तेरघटनात् । न चाकाश-केशादी निर्विषयमपि दृष्ट ज्ञानमिति वाच्यम् । तस्याप्येकान्तन निर्विषयत्वाभावात् । न हि सर्वथागृहीतसत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीति । स्वमज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थाविषयत्वाच्च निरालम्ब्यम् । तथा च महाभाष्यकारः—



“अणुहृयदिद्विचिंतिय सुयपयइवियारदेवपाणूवा ।  
सुमिणस्य निमित्ताइ पुण्ण पाप च णाभावो ”

यश्च ज्ञानविषय. स बाह्योऽर्थः । भ्रान्तिरियमिति चेत् चिर जीव । भ्रान्तिर्हि मुर्येऽर्थ क्वचित् दृष्टे सति करुणापाटवादिनान्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा । यथा शुकौ रजतभ्रान्ति । अर्थक्रियासमर्थऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरन्यते तद्वि प्रलीना भ्रान्ता-भ्रान्तव्ययस्या । तथा च सत्यमेतद्द्वच.—

“आशाभोदकृतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।  
रसवीर्यविपाकादि तुल्य तेषां प्रसज्यते ” ॥

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है । ज्ञान शब्द क्रियाका द्योतक है । जिसके द्वारा जाना जाय, अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते हैं । ज्ञान ( क्रिया ) के कोई कर्म अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान निर्विषय नहीं होता । यदि आकाशमें निर्विषय केश ज्ञानकी तरह मिथ्या ज्ञानको ही ज्ञानका विषय मानो, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आकाशमें केश ज्ञान भी एकान्त रूपसे निर्विषय नहीं है । कारण कि जिसने कभी वास्तविक केशोंका ज्ञान नहीं किया है, उसे आकाशमें मिथ्या केश ज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रकार स्वप्नमें भी आमत दशामें अनुमत पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इस लिये स्वप्न ज्ञान भी सर्वथा निर्विषय नहीं है । महामाप्यकार जिनभद्रगणि धमाश्रमणने भी कहा है, “अनुभव किये हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए पदार्थ, चांत, पित्त आदि पृथगिके विकार, दैविक और जल प्रधान देश स्वप्नमें कारण होते हैं । सुख-निद्रा आनेसे पुण्य रूप, और सुख निद्रा न आनेसे पाप रूप स्वप्न दिखाई देते हैं । वास्तवमें स्वप्न सर्वथा अस्त्य रूप नहीं हैं ।” तथा, ज्ञानका विषय ही बाह्य अर्थ है । यदि कहो, कि ज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले पदार्थ भ्रम रूप हैं, तो यह बहुत ठीक है, क्योंकि यथार्थ पदार्थको देखनेपर इन्द्रियोंमें रोग आदि हो जानेके कारण ही चार्थम सीपके जानका तरह, पदार्थोंमें भ्रम रूप ज्ञान होता है । यदि अर्थक्रिया करनेवाले पदार्थमें भी भ्रान्ति स्वीकार की जाय, तो भ्रान्त और अभ्रान्त ज्ञानकी व्यवस्था नहीं बन सकती । इस लिये “मनके लक्ष्णानेवालोंको और यथाथ लक्ष्णोंका स्वाद चखनेवालोंको लक्ष्णोंके रस, वीर्य, विपाक आदिका समान फल मिलना चाहिये ।”

न चाभूत्पर्यर्द्धपणानि स्याद्वादिना माथा विदधते । परमाणुरूपस्य स्थूल-वयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वान् । यच्च परमाणुपक्षखण्डनऽभिहित प्रमाणाभावा-दिति । तत्सत् । तत्कार्याणा घटानीना प्रत्यक्षत्व तेषामपि कथञ्चित् प्रत्यक्षत्व योगि प्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमयसेयम् । अनुपलब्धिस्तु सांक्ष्म्यात् । अनुमानादपि

१ छाया-अनुभूतदृष्टिचित्ततुल्यप्रवृत्तिविनादैविकान्तर वा । स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्य पाप च नाभाव ॥  
जिनभद्रगणिसमाश्रमण विशेषावश्यकमाथे १७०१ ।

तत्सिद्धि । यथा सन्ति परमाणवः, स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्ते, इत्यन्तर्व्याप्ति । न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद् इत्येकान्तः । स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात् । आत्माकाशादेरपुद्गलत्वकक्षीकाराच्च । यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तत्कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात् प्रादुर्भूत सयोगातिशयमपेक्ष्येयमवितथैव ॥

तथा, आप लोगोंने ज्ञानाद्वैतका प्रतिपादन करते हुए जो परमाणु रूप और स्थूल अवयवी रूप बाह्य पदार्थोंका स्पष्टन किया, उससे स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि जैन लोगोंने परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप बाह्य पदार्थोंको स्वीकार किया है । तथा, परमाणुओंके अस्तित्वमें प्रमाणका अभाव बताना भी ठीक नहीं । क्योंकि परमाणुओंके कार्य घट आदिका प्रत्यक्ष होनेसे घट आदिके कारण रूप परमाणुओंका भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष मानना चाहिये । क्योंकि योगी प्रत्यक्षसे परमाणुओंका साक्षात् प्रत्यक्ष भी होता है । हम लोगोंको परमाणुओंके सूक्ष्म होनेसे ही उनका प्रत्यक्ष नहीं होता । तथा 'परमाणुओंके अस्तित्वके बिना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' ( सन्ति परमाणवः स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्ते ) इस अनुमानसे परमाणुकी सिद्धि होती है । स्थूल पदार्थोंकी परमाणुओंसे ही उत्पत्ति होती है, यह कोई एकान्त नियम हम लोग नहीं मानते । क्योंकि स्थूल तन्तु आदिसे भी स्थूल पट आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है, तथा आत्मा और आकाश आदि भी पुद्गल परमाणुओंसे उत्पन्न नहीं होते । अतएव 'स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति परमाणुओंसे होती है' इसका यही अभिप्राय है, कि परमाणुओंका काल आदि क्रियाके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुओंसे स्थूल अवयवी उत्पन्न होते हैं ।

यदपि विश्वायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथञ्चिद्विराध्यने कावयवाविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते । तत्र च यद्विराध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माभ्यामनमभिहित तत्कथञ्चिदुपेयत एव तावत् । अवयवात्मकस्य तस्यापि कथञ्चिदनेकरूपत्वात् । यच्चोपन्यस्तम्, अपि च असौ तेषु वर्तमान कात्स्न्येनैकदेशेन वा वर्तेतेत्यादि । तत्रापि विरुद्धपदानभ्युपगम एवोत्तरम् । अविष्वग्भावेनावयवगिनोऽवयवेषु वृत्ते स्वीकारात् ॥

तथा, आप लोगोंने जो कहा, कि 'अवयवी अनेक अवयवोंके आश्रयसे हैं, अथवा एक अवयवके' सो हम लोगोंके अनुसार प्रत्येक अवयवी अनेक अवयवोंमें अमेद रूपसे रहता है, इस लिये अवयवी और अवयवोंका सर्गया विरोध न मान कर कथञ्चित् विरोध ही मानना चाहिये । अतएव अवयवीको कथञ्चित् एक, और कथञ्चित् अनेक मानना चाहिये । तथा आप लोगोंने जो प्रश्न किया था, 'कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा

एक देशसे,' सो हम दोनों विकल्पोंको नहीं मानते । हमारे मतके अनुसार अवयवी अवयवोंमें अमेद रूपसे रहता है ।

किञ्च, यदि वाह्योऽर्थो नास्ति, किमिदानीं नियताकार प्रतीयत । नील-  
मेतत् इति विज्ञानाकारोऽप्यमिति चेत् । न । ज्ञानाद् वद्विर्भूतस्य संवेदनात् । ज्ञानाकार-  
त्वे तु अह नीलम् इति प्रतीति स्यान्न तु इद नीलम् इति । ज्ञानानां प्रत्येकमा-  
कारभेदात् ऋस्यचित् 'अहम्' इति प्रतिभास', कस्यचित् 'नीलमेतत्' इति चेत् । न ।  
नीलाद्याकारवद्दहमित्याकारस्य व्यवस्थितत्वाभावात् । तथा च यदेकेनाहमिति प्रती-  
यते तदंवापरण त्वमिति प्रतीयते । नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थित', संवेदनेऽहमिति प्रती-  
ग्रहणात् । भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु यत्रापि नीलादिक पीतादितया गृह्यते, तथापि तेन न  
व्यभिचार, तस्य भ्रान्तत्वात् । स्वय स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत्,  
ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति । कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयाग । प्रतियोगिशब्दो  
ह्यय परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते । स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत्, इन्त  
प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेद कथं न वास्तव ॥

तथा, यदि 'बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है' तो वास्तविक नील  
पदार्थके बिना हमें नीलका निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता । यदि कहो, कि नील  
आदि सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ ज्ञानके आकार ही प्रतिभासित होते हैं, तो यह ठीक नहीं ।  
क्योंकि हमें ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होना है । यदि पदार्थोंका ज्ञानके आकार ही  
ज्ञान हो, तो 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान न हो कर 'मैं नील हूँ' यह ज्ञान होना  
चाहिये । शक्यता—प्रत्येक ज्ञानका आकार भिन्न भिन्न होता है, इस लिये कहीं 'मैं नील  
हूँ' ऐसा ज्ञान होना है, और कहीं, 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान होता है ।  
अतएव बाह्य और अतरंग दोनों पदार्थ ज्ञानाकार होते हैं । समाधान—यह ठीक नहीं ।  
क्योंकि जिन प्रकार नील आकार व्यवस्थित है, वैसे 'अहम्' आकार व्यवस्थित नहीं  
है । कारण कि जो मेरे लिये 'अह' है, वह दूसरेके लिये 'त्व' है । परन्तु नील आकार  
व्यवस्थित है, क्योंकि वह सब लोगोंके अनुभवमें एक रूपमें ही जाना है । यदि कहो, कि  
पित्त उत्पन्न करनेवाले धतूरेको खा लेनेसे नील पदार्थ भी पीत रूप प्रतिभासित  
होता है, इस लिये नील आकार सब लोगोंके अनुभवमें एकसा नहीं आता । यह भी ठीक  
नहीं । क्योंकि नीलका पीत रूप प्रतिभासित होना भ्रान्त है । रोग रहित मनुष्योंको नील  
सदा नील रूप ही प्रतिभासित होता है । स्वयंको अपने आपका ज्ञान होनेसे  
'अह' का प्रतिभास होता है, यह आपका कथन तभी सत्य माना जा सकता है, जब  
आप अपने अतिरिक्त दूसरेका भी संवेदन मानते हों । 'स्व' शब्द प्रतियोगी शब्द है ।

१ हृत्पूरित्तरोगकर फलभिन्नेपस्तद्रूपेण पित्तपीतिहा सर्वे पदार्था पीता इव भासन्ते ।

अतएव स्व शब्दमे पर शब्दका भी ज्ञान होता है। यदि कहो, कि स्व शब्दमें पर रूप भेदका ज्ञान होता है, वास्तवमें स्व और परमें कोई भेद नहीं है, तो खेद है, कि आप लोग प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले स्व और पर, अतर और बाधके भेदको भी वास्तविक नहीं मानना चाहते।

भ्रान्त प्रत्यक्षमिति चेत्, ननु कुत एतत् । अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चत्, किं तदनुमानमिति पृच्छाम\* । ययेन सह नियमनोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते, यथा सचन्द्रादसचन्द्र । नियमनोपलभ्यत च ज्ञानन सहार्थ इति व्यापकानुपलब्धि । प्रतिषेधस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापक सहोपलम्भानियमस्त स्यानुपलब्धि । भिन्नयोर्नीलपातयार्थुगपदुपलम्भनियमाभावात् । इत्यनुमानेन तयो-  
रभेदसिद्धिरिति चत् ॥

बौद्ध—स्व और परके भेदको बतानेवाग प्रत्यक्ष भ्रान्त है। क्योंकि अनुमानमे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। ' जो जिसके साथ उपलब्ध होता है, वट उससे भिन्न नहीं होता। जैसे यथार्थ चन्द्रमा भ्रान्त चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमामे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ एक साथ पाये जाते हैं, अतएव ज्ञान पदार्थमे भिन्न नहीं हैं ' इस व्यापकानुपलब्धि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। प्रतिषेध ( साध्यमे विपरीत ) व्यापककी अनुपलब्धिको व्यापकानु-  
लब्धि कहते हैं। यहा पर ज्ञान और पदार्थके भेद रूप ( नील और पीत परस्पर भिन्न हैं, इम लिये एक साथ उपलब्ध ( सहोपलब्ध ) नहीं होते ) प्रतिषेधका सहोपलम्भ अनियम व्यापक है। यह सहोपलम्भ अनियम ज्ञान और पदार्थके साथ न पाये जानेको सिद्ध नहीं करता। इस लिये ज्ञान और पदार्थके सहोपलम्भ अनियम व्यापकके न पाये जानेसे ज्ञान और पदार्थका भेद रूप व्याप्य भी सिद्ध नहीं होता। इस लिये ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं।

न । सदिग्धानैकान्तिकृत्वैनास्यानुमानाभासत्वात् । ज्ञान हि स्वपरसंवेदनम् । तत्परसवेदनतामात्रेणैव नील गृह्णाति, स्वसवेदनतामात्रेणैव च नीलानुद्धिम् । तदेव-  
मनयार्थुगपद् ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति अभेदश्च नास्ति । इति सहोपलम्भ-  
नियमरूपस्य हतोर्विपक्षाद् व्यावृत्त\* सदिग्धत्वात् सदिग्धानैकान्तिकृत्वम् ।  
अमिदश्च सहोपलम्भनियम । नीलमतत् इति वहिर्मुखतयाऽर्थेनुभूयमाने तदा-  
नीमेवान्तरस्य नीलानुभयस्याननुभवात्, इति कथ प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थ  
योरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम् । अपि च, प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनानाधितप्रियत्वादानुमान-  
स्यात्मलाभ, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वम्, इत्यन्यान्याश्रयदोषोऽपि

दुनिवार' । अर्थाभावे च निपतदेशाधिकरणा प्रतीति' कुत । न हि तत्र त्रियक्षितदेशेऽ-  
यमारोपयितव्यो नान्यनेत्यस्ति नियमहेतु ॥

जैन—यह ठीक नहीं है । ( क ) क्योंकि यह अनुमान सदिग्धानैकातिक हेत्वाभास है ( जिम हेतुका साध्यसे विरुद्ध धर्मके साथ रहना समभव हो ) । क्योंकि जहा सहोपलभ है, वहा अभेदकी सिद्धि नहीं होती । ज्ञान अपने आपको और पर पदार्थोंको जानते समय नीलको और नील ज्ञानको जानता है । नील और नील ज्ञान दोनोंका एक साथ ज्ञान होनेसे उनमें सहोपलभ नियम है, परन्तु नील और नील ज्ञानमें सहोपलभ नियम होनेपर भी अभेद नहीं पाया जाता । क्योंकि नील ओर नील ज्ञान अभिन्न नहीं हैं । अतएव सहोपलभ नियम और अभेदकी व्याप्ति नहीं बनती । इस लिये ज्ञान और पदार्थमें अभेद बतानेके लिये बौद्ध लोगोंने जो सहोपलभ नियम हेतु दिया था, वह अभेद रूप साध्यसे विपरीत भेदमें रहनेसे सदेहात्मक होनेके कारण सदिग्धानैकातिक हेत्वाभास है । ( ख ) सहोपलभ नियम हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि हेतु पक्षमें नहीं पाया जाता । कारण कि ज्ञान और पदार्थमें ही अभेदकी सिद्धि नहीं होती । 'यह नील है' इम प्रकार पदार्थका बाह्य रूप ज्ञान होनेपर उसी समय अतरंग नील ज्ञानका अनुभव नहीं होता । क्योंकि दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें समयका अंतर पड़ता है । अतएव ज्ञान और पदार्थके भेदको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्षको अनुमान द्वारा भ्रान्त नहीं ट्टराया जा सकता । ( ग ) यदि प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, तो अनुमानका विषय अबाधित सिद्ध हो, तथा अनुमान का विषय अबाधित सिद्ध हो, तो प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, इस प्रकार अनुमान और प्रत्यक्षके परस्पर अन्योन्याश्रित होनेसे अन्योयाश्रय दोष आता है । इस लिये प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे भी ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता । तथा, यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो पदार्थोंके निश्चित स्थानकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए । इस लिये यह वस्तु इसी स्थानपर है, अन्यत्र नहीं, यह नियम नहीं बन सकता ।

वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत् । न । तस्या अपि तद्देशनियमकारणा भावात् । सति धर्मसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभव तद्देशा च तत्पृथिव्या वासना । चाद्यार्थाभावे तु तस्या किञ्चित्तो देशनियम ॥

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग वासनासे प्रतिनियत स्थानमें रहनेवाले पदार्थोंका ज्ञान करते हैं । घटके प्रतिनियत स्थानमें रहनेसे उस स्थानका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, परन्तु हम वासनाके द्वारा अमुक पदार्थके अमुक स्थानमें स्थित रहनेका ज्ञान करते हैं । अतएव बाह्य पदार्थोंका ज्ञान हमारी वासनाके कारण होना है, वास्तवमें बाह्य पदार्थ स्वतंत्र वस्तु नहीं हैं । जैन—यह ठीक नहीं । क्योंकि हम वासनासे प्रतिनियत स्थानका ज्ञान नहीं कर सकते । बाह्य पदार्थोंके होनेपर ही जिस स्थानमें पदार्थोंका अस्तित्व होता है, उसी जगह

पदार्थोंका अनुभव होता है, और इस अनुभवसे वासना उत्पन्न होती है। अतएव यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो प्रतिनियत म्यानका कोई नियम नहीं बन सकता।

अथास्ति तापदारोपनियम । न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते । बाह्यदृश्याणि नास्ति । तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्, तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यत्, अनन्यद्वा । अनन्यच्चेत् । बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेष । अन्यच्चेत् । अर्थे क प्रद्वेष, येन सर्वलोकप्रतीतिरपहृयते । तदेव सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेद ॥

विज्ञानवादी—वासनवर्मे बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। पदार्थोंके नाना रूप ज्ञान करनेमें वासना वैचित्र्य ही कारण है। जैन—हम पूछते हैं, कि यह वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे भिन्न है, अथवा अभिन्न ? यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे अभिन्न है, तो वासनामें वैचित्र्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एक है, इस लिये उसमें वैचित्र्य समभव नहीं। यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे भिन्न है, तो अन्य बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व माननेमें ही क्या दोष है, तथा ज्ञान और वासनाको अलग अलग माननेसे आप लोगोंके ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये वासना-वैचित्र्यको न मान कर आप लोगोंको अर्थ-वैचित्र्य स्वीकार करना चाहिये। अतएव ज्ञान और पदार्थ परस्पर भिन्न हैं।

तथा च प्रयोग । विवादाध्यासित नीलादि ज्ञानाद्यतिरिक्त, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासाश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः, अर्थस्य च बहिः । ज्ञानस्यापरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात् । ज्ञानस्यात्मनः सकाशात्, अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः । ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वात्, अर्थस्य च जडरूपत्वादिति । अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीति कथमपि सद्गतिमङ्गति । न च दृष्टमपद्रोहं शक्यमिति ॥

अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न हैं। क्योंकि नील, पीत आदिमें और ज्ञानमें परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं। ज्ञान अतरंग है, ज्ञेय बाह्य है, ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पहले भी रहता है, ज्ञान आत्मासे उत्पन्न होता है, ज्ञेय अपने अपने कारणोंमें उत्पन्न होते हैं, ज्ञान प्रकाश रूप है, ज्ञेय पदार्थ जड रूप हैं, अतएव ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हैं। इस लिये ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। परंतु बाह्य पदार्थोंका निषेध नहीं किया जा सकता।

अत एवाह स्तुतिकार न सविद्वैतपथेऽर्थसविद् इति । सम्यगवैपरीत्येन विग्रतस्वगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति सविद् । स्वसवेदनपक्षे तु सवेदन सविद् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतम् द्वायाभावा दिता, द्वितैव द्वैत, प्रज्ञादित्वात् म्यार्थिकेऽणि । न

द्वैतमद्वैतम्, वागार्थप्रतिक्षेपादेकत्व । सविदद्वैत ज्ञानमैरक तात्परिक न वाद्यार्थ  
इत्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः । तस्य पन्था' मार्ग सविदद्वैतपथस्तस्मिन् ज्ञानद्वैतवादपक्ष  
इति यावत् । निमित्प्याह । नार्थसन्निवृत्ति । येय रहिर्मुत्पत्तयार्थप्रतीति साक्षात्नुभूयते  
सा न घटते इत्युपन्कार । एतच्चानन्तरमेव भावितम् ॥

अतएव हेमचन्द्र आचार्यने कहा है, कि 'ज्ञानद्वैतके स्वीकार करनेपर पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता' ( न सविदद्वैतपथेऽर्थसन्निवृत्ति ) जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो, उसे ज्ञान ( सन्निवृत्ति ) कहते हैं । बाह्य पदार्थोंका निषेध करके केवल एक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करना ज्ञानद्वैत है । इस ज्ञानद्वैतके माननेपर पदार्थोंकी बाह्य रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती ।

एव च स्थित सति निमित्प्याह । विलूनशीर्णं सुगतन्द्रजागम् इति । सुगतो  
मायापुत्रस्तस्य सम्बन्धि तन परिकल्पित क्षणक्षयादि वस्तुजातम् । इन्द्रजालमिन्द्रजाल ।  
मतिव्यामोहविधातृत्वात् । सुगतेन्द्रजाल सर्वमिदं विलूनशीर्णम् । पूर्वं विलून पश्चात्  
शीर्णं विलूनशीर्णम् । यथा निश्चित् तृणस्तस्मादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति, एव  
तत्कल्पितमिदमिन्द्रजाल तृणप्राय धारालयुक्तिशक्तिरूपा छिन्न सद्विशिष्यते इति ।  
अथवा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथा-  
त्रिध बुद्धिदुर्विदग्ध जन विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरययव विलूनशीर्णतां कलयति,  
तथा सुगतपरिकल्पित तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलभेदक्षणक्षयज्ञानार्थइतुकत्वज्ञानद्वैताभ्युपग-  
मादि सर्वे प्रमाणानभिज्ञ लोको व्यामोहयमानमपि युक्त्या विचार्यमाण विशारोहतामेव  
सेवत इति । अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः । सौगता हि शोभन गत ज्ञानमस्यति  
सुगत इत्युच्यन्ति । ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता, यनेत्यभ्युक्तिपुक्तमुक्तम् ॥ इति  
काव्यार्थः ॥ १६ ॥

अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणस्थायी हैं,' 'ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं' आदि  
मायाके पुत्र बुद्धके सिद्धात बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण इन्द्रजालकी तरह  
विशीर्ण हो जाते हैं । जिस प्रकार बाजीगरका इन्द्रजाल मिथ्या होनेसे थोड़े समयके लिये  
अद्भुत अद्भुत वस्तुओंका प्रदर्शन करके भोले लोगोंको ठग कर इन्द्रधनुषकी तरह विलीन  
हो जाता है, उसी प्रकार 'प्रमाण और फल अभिन्न हैं,' 'सब पदार्थ क्षणिक हैं,'  
'ज्ञान और पदार्थमें परस्पर अभेद है' आदि सिद्धांतोंसे भोले प्राणियोंको व्यामोहित करनेवाले  
बुद्धके सिद्धात युक्तियोंसे जर्जरित हो जाते हैं । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—इस कारिकामें बौद्धोंके चार सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है ।  
 बौद्ध—( १ ) प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं । क्योंकि ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल है, कारण कि वह अधिगम रूप है । चाहे पदार्थ जाने जाते हैं, इस लिये ज्ञान प्रमाण है । तथा पदार्थोंको जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका दूसरा कोई फल नहीं हो सकता, इस लिये ज्ञान ही प्रमाणका फल है । प्रमाण और प्रमितिके प्रमाण कारण है, और प्रमाणका फल प्रमाणका कार्य है । जैन—( ५ ) यदि प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं, तो वे दोनों एक साथ उत्पन्न होने चाहिये । इस लिये प्रमाण और प्रमितिके कार्य कारण सन्ध नहीं बन सकता । क्योंकि कारण सदा कार्यके पहले ही उत्पन्न होता है । ( २ ) प्रमाण और प्रमितिके क्रम-भावी मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तु क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली है । अतएव प्रमाणका निरन्वय विनाश होनेसे प्रमाणमें प्रमितिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । ( ३ ) प्रमाण और प्रमितिके कोई सन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमिति दोनों क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं । तथा प्रमाण और प्रमितिके रहनेवाले कार्य कारण सन्धका ज्ञान दो वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है ।

सांज्ञातिक बौद्ध—हम प्रमाण और प्रमितिके व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सन्ध मानते हैं, कार्य-कारण सन्ध नहीं । ज्ञान पदार्थको जानते समय पदार्थके आकारको धारण करके पदार्थका ज्ञान करता है । वास्तवमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता । जिस समय ज्ञानमें अमुक पदार्थके आकारका अनुभव होता है, उस समय उस पदार्थका ज्ञान होता है । इस लिये प्रमाण प्रमितिको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह प्रमितिकी व्यवस्था करता है । जिस समय ज्ञान नील घटके आकार हो कर नील घटको जानता है, उस समय ज्ञानमें नील घटका सारूप्य व्यवस्थापक है, और घटका नील रूप ज्ञान व्यवस्थाप्य है । पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान नील घटके आकारको धारण करके ही नील घटको जानता है । अतएव प्रमाण और प्रमितिके व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सन्ध मन्वीकार करनेसे एक ही वस्तुमें प्रमाण और प्रमितिके माननेमें विरोध नहीं आता । जैन—( ५ ) निरस क्षणिक विज्ञानमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक सन्ध नहीं बन सकता । क्योंकि व्यवस्थाप्य व्यवस्थापक सन्ध दो पदार्थोंमें ही रह सकता है । ( २ ) ज्ञानको अर्थाकार माननेमें ज्ञानको जड प्रमेयके आकार माननेसे ज्ञानको भी जड मानना चाहिये । तथा ज्ञानको पदार्थोंकार माननेमें 'यह नील पदार्थ है' ऐसा ज्ञान न हो कर 'मैं नील हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होना चाहिये । तथा जल-चन्द्रके आकाश-चन्द्रके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता । ( ३ ) यदि प्रमाण और प्रमिति सर्वथा अभिन्न होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण और ज्ञानसंबेदनको प्रमिति मान कर प्रमाण और उसके फलको अलग अलग नहीं मानते । अतएव प्रमाण और प्रमितिको सर्वथा अभिन्न न मान कर उन्हें कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिये ।



बौद्ध—( २ ) सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। पदार्थोंका नश्वर स्वभाव दूसरेके ऊपर अवलम्बित नहीं है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो दूसरी वस्तुओंके सयोग होनेपर भी पदार्थ नष्ट होने चाहिये। पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरम्भ और अन्त दोनों अवस्थाओंमें समान है। इसीलिये प्रत्येक पदार्थ क्षणम्यायी है। अतएव जो घट हमें नित्य दिखलाई देता है, वट भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्ण क्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न करता है। य ममस्त क्षण परस्पर इतने सदृश हैं, कि घटके क्षण क्षणमें नष्ट होनेपर भी घट एक रूप ही दिखाई देता है। अतएव क्षणोंकी पारस्परिक सादृशताके कारण ही हमें अत्रिधाके कारण घटमें एकत्वका ज्ञान होता है। जैन—पूर्व और उत्तर क्षणोंका एक साथ अथवा क्रमसे उत्पन्न होना नहीं बन सकता, अतएव पदार्थोंको क्षणिक मानना ठीक नहीं है। तथा क्षणिकवादी निरन्तर्य विनाश मानते हैं, अतएव क्षणिकवादका सिद्धांत एकान्त रूप होनेसे सत्य नहीं कहा जा सकता। इस लिये पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य रूप ही स्वीकार करना चाहिये। यही सत् का लक्षण है। जिस समय मनुष्य गर्भम आता है, उस समय जीवका उत्पाद होता है, और उसी समयसे उसकी आयुके अंशोंकी हानि होना प्रारम्भ हो जाती है, इस लिये उसका व्यय होता है, तथा जीवत्व दशाके सदा ध्रुव रहनेसे जीवमें प्रौढ्य पाया जाता है। अतएव पर्यायोंकी अपेक्षासे ही पदार्थोंको क्षणिक मानना चाहिये। द्रव्यकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य ही हैं।

वैभाषिक बौद्ध—( ३ ) ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होता है उसी पदार्थको जानता है। अतएव पदार्थ कारण हैं, ओर ज्ञान कार्य है। जैसे अमिका धूम कारण है, क्योंकि अग्नि और धूमका अन्वय-व्यतिरेक संबन्ध है। इसी तरह पदार्थका भी ज्ञानका कारण है, क्योंकि पदार्थ ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेकसे संबन्ध है। यदि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो, तो घड़ेके जानसे घड़ेका ही ज्ञान होना चाहिये, अन्य पदार्थोंको नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती।

जैन—( ४ ) बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। अतएव जब तक एक पदार्थ बन कर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतएव पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। ( ५ ) क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव हो सकता है, परन्तु बौद्धमतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं टूटती। अतएव ज्ञानकी उत्पात्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थका नाश हो जानेमें पदार्थमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होनेके पहले ही पदार्थ नष्ट हो जाता है। ( ६ ) पदार्थको ज्ञानका सहभागी माननेसे भी पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण

समझ नहीं बन सकता । ( घ ) यदि पदार्थको ज्ञानमें कारण माना जाय, तो इन्द्रियोको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिया भी ज्ञानको पैदा करती हैं । ( च ) ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थके ऊपर अन्वयित नहीं है, कारण कि प्रगट्टणमें जल रूप पदार्थके अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है । अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहा पदार्थ न हो, वहा ज्ञान न हो' इस प्रकारका अतिरेक समझ सिद्ध न हो, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते । ( छ ) योगियोंके अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत, अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है । अतएव अतीत, अनागत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते । ( ज ) प्रकाश्य रूप अर्थसे प्रकाशक रूप ज्ञानकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं । क्योंकि घट दीपकमें उत्पन्न नहीं होता, फिर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है । ( झ ) ज्ञानकी पदार्थमें उत्पत्ति मान कर ज्ञानको पदार्थका ज्ञान माननेमें स्पृति भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता । क्योंकि मृत्ति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती । इसी प्रकार एक स्वप्नेदन ज्ञानमें क्रियाका अभाव होनेमें कार्य कारण भाव नहीं बन सकता । क्योंकि स्वप्नेदनसे स्वप्नेदनकी उत्पत्ति नहीं होती । ( ट ) कपालके प्रथम क्षणसे घटका अंतिम क्षण उत्पन्न होता है, परन्तु कपालके प्रथम क्षणसे घटके अंतिम क्षणका ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार समानान्तरात् ज्ञानमें समनन्तर ज्ञानके उत्पन्न होनेपर समानजातीयमें समनन्तर ज्ञानका ज्ञान नहीं होता । ( ठ ) अतएव जिस समय ज्ञानको आरण करनेवाले कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे आत्मामें क्षय और उपशम रूप योग्यता होती है, उसी समय प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान स्वीकार करना चाहिये ।

योगाचार ( चोद्ध )—( ४ ) ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि ज्ञानका कारण कोई बाह्य पदार्थ नहीं है । बाह्यार्थवाणी परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अणुवही रूप पिंडको प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, अतएव बाह्य पदार्थ परमाणु रूप नहीं हो सकते । तथा बाह्य पदार्थोंकी परमाणु रूप सिद्धि न होनेसे उन्हें स्थूल अवयवी भी नहीं कह सकते । क्योंकि परमाणुओंके समूहको ही अणुवही कहते हैं । अतएव जो नील, पीत आदि पदार्थ प्रतिभासित होने हैं, वे सब ज्ञान रूप ही हैं । निम्न प्रकार बाह्य आलम्बनके विना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, उसी तरह अनादि कालकी अविद्याकी वासनासे बाह्य पदार्थके अलम्बनके विना ही घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है । वास्तवमें स्वयं ज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहक रूप प्रतिभासित होता है । जैन—( क ) यदि बाह्य पदार्थोंको ज्ञानका विषय नहीं माना जाय, तो ज्ञानको निर्विषय माननेमें ज्ञानको अप्रमाण मानना पड़ेगा । वास्तविक बाह्य पदार्थके विना हमें ज्ञान मात्रसे ही पदार्थोंका प्रतिभास नहीं हो सकता । ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होना अनुभवसे

सिद्ध है। (ख) परमाणु रूप बाह्य मदार्थी प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध होती है। क्योंकि हम परमाणुओंके कार्य घट आदिके प्रत्यक्षसे परमाणुओंका कथञ्चित् प्रत्यक्ष करते हैं। इसीलिये परमाणुओंकी अनुमानसे भी सिद्ध होती है, क्योंकि परमाणुओंके अस्तित्वके विना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अवयव (परमाणु) और अवयवीका हम लोग कथञ्चित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं, अतएव बाह्य पदार्थोंको परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप मानना चाहिये। (ग) वासना-वैचित्र्यसे भी पदार्थोंका नाना रूप प्रतिभासित मानना ठीक नहीं। क्योंकि बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना उत्पन्न होती है। तथा ज्ञान और वासनाको अलग अलग माननेमें चानाद्वैत नहीं बन सकता।

**योगाचार—**‘ जो जिनके माय उपलब्ध नहीं होता है, वह उमसे अभिन्न है। जैसे आकाश चन्द्रमा जल-चन्द्रमाके माय उपलब्ध होता है, इस लिये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसी तरह ज्ञान और पदार्थ एक साथ उपलब्ध होने हैं। अतएव ज्ञान और पदार्थ एक दूसरेसे अभिन्न हैं’ इस अनुमानसे ज्ञान और पदार्थकी अभिन्नता सिद्ध होती है।

**जैन—**यह अनुमान सदिग्धानैतिक हेतुभास है। क्योंकि ज्ञानमें जाने हुए नील और नील ज्ञानमें सगोचलम नियम होनेपर भी उनमें अभिन्नता नहीं पायी जाती। तथा सगोचलम नियम पक्षमें नहीं रहनेके कारण असिद्ध भी है। क्योंकि ज्ञान और पदार्थमें अमेद सिद्ध नहीं होता। तथा बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेसे, यह वस्तु इसी स्थानपर है, दूसरे स्थानपर नहीं, यह नियम नहीं बन सकता। अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हैं। ज्ञान अतरंग है, ज्ञेय बाह्य, ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पूर्व, ज्ञान आत्मानं उत्पन्न होता है, ज्ञान अपने भिन्न कारणोंसे, तथा ज्ञान प्रकाशक है, और ज्ञेय जड है। अतएव विज्ञानाद्वैतको न मान कर ज्ञान और बाह्य पदार्थोंका परस्पर भेद मानना चाहिये।

अथ तत्त्वव्यवस्थापरुप्रमाणोदित्तुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यत्वादिनाः सौगत-जातीयास्तत्त्वक्षीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तद-भिमतार्थासिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसच्चाह—

इसके बाद तत्त्वोंके व्यवस्थापरु प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताके व्यवहारका लोप करनेवाले शून्यवादी बोद्धोंके पक्षका खडन करते हुए उपहास करते हैं—

**विना प्रमाण परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।**

**कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्ट त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥**

**श्लोकार्थ—**दूसरे वादी प्रमाणोंको मानते हैं, इस लिये उनके मतकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु शून्यवादी प्रमाणके विना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते। यदि

शून्यवादी किसी प्रमाणको मानें, तो शून्यता रूपा यमके रुपित होनेसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। हे भगवन्, आपके मतसे ईर्ष्या रखनेवाले लोगोंने जो उठ उठानि ज्ञान रूपा नेत्रोंसे जाना है, वह मिथ्या होनेके कारण उपहासके योग्य है।

शून्य शून्यवादी प्रमाण प्रत्यक्षादिक विना अन्तरण स्वपक्षसिद्धे स्याभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्ते. पद प्रतिष्ठा नाशनुवीत न प्राप्नुयात् । किञ्च परवत् इतरप्रामाणिकम् । बंधम्यणाय दृष्टान्त । यथा इतरे प्रामाणिका प्रमाणेन साधन्तमेन स्वपक्षसिद्धिमश्रुवते एव नायम् । अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात् । “ सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यास्त्वेन धर्मधर्मिभावन न त्रिहि मदसत्त्वमपक्षत ” इत्यादिवचनात् । अप्रमाणम् इव शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रेक्षावतामुपादेया भविष्यति । प्रेक्षावत्त्वव्याहृतिप्रसगात् ॥

व्याख्यानार्थ—दूसरे वादी प्रमाणोंके द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि करते हैं, परन्तु शून्यवादी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको विना माने ही अपने सिद्धातको स्थापित करना चाहते हैं, इस लिये शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि शून्यवादियोंके मतमें प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताका व्यवहार वास्तविक नहीं माना गया है। कहा भी है “बुद्धिम धर्म और धर्मीकी कल्पनामे ही अनुमान और अनुमेयका व्यवहार होता है। वास्तवमें बुद्धिके बाहर सत् और असत् कोई पदार्थ नहीं है।” अतएव शून्यवादकी किसी भी प्रमाणसे सिद्धि नहीं होनी, इस लिये शून्यवाद बुद्धिमानोंको आत्तरणीय नहीं हो सकता।

अथ चेत् स्वपक्षसिद्धय किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुत, तत्रायमुपालम्भ कृष्येदित्यादि । प्रमाण प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणात्स्मै शून्यवादिने, कृतान्तस्तत्सिद्धान्त बुध्येतकाप कुर्यात् सिद्धान्तप्राध स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरद्धवृत्त्या कुपिता नृपति. सर्वस्वमपहरति, एव तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्ध प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूत सम्भवादित्वमपहरति ॥

यदि शून्यवादी अपने सिद्धातको सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण दें, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका आश्रय लेनेके कारण शून्यवादियोंका सिद्धात बाधित होता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने सेवकके अवाञ्छनीय आचरणमे रुपित हो कर सेवकका सर्वस्व हरण कर लेता है, वैसे ही शून्यवादका सिद्धात शून्यवादके विरुद्ध प्रमाण आदि व्यवहारको स्वीकार करनेवाले शून्यवादीका सर्वस्व हर्षण करता है। अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती।

किञ्च, स्वागमापदेशनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृत-मागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात् । किञ्च, प्रमाण

प्रमेय विना न भवतीति प्रमाणानङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूर्त्तैव युक्ता, न पुनः शून्यवादापन्यासाय तुण्डताण्डवाहम्बर । शून्यवादस्यापि भ्रमं पत्न्यात् । अत्र च स्पृगिधातु कृतान्तशब्द च प्रयुञ्जानस्य मूरेरयमभिप्रायः । यत्रसौ शून्यवादी दूर प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारा यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्त, तत्रा तस्मै कृतान्तो यमराज कुप्यन्त । तत्कौपो हि मरणफलः । ततश्च स्वसिद्धान्तविस्मयसौ प्रमाणयन् निग्रहस्थानापन्नत्वाद् मृत एवेति ॥

तथा, शून्यवादी लोग अपने आगमके अनुकूल ही शून्यवादका प्ररूपण करते हैं । अतएव आगम माननेसे शून्यवादियोंके सिद्धातकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आगम प्रमाण माननेसे सर्वथा शून्यपना नहीं बनता । तथा प्रमाण प्रमेयके विना नहीं हो सकता, अतएव कोई प्रमाण न माननेसे प्रमेय भी नहीं बन सकता, अतएव शून्यवादियोंको शून्यवादकी स्थापना करनेका आडम्बर न रचते हुए मौन रहना ही ठीक है, क्योंकि शून्यवात् भी प्रमेयमें ही गर्भित होता है । तथा शून्यवादियोंके मतमें प्रमेय कोई वस्तु नहीं है । यहापर स्तुतिकारका स्तृग् धातु और कृतान्त शब्दके प्रयोग करनेसे यही अभिप्राय है, कि शून्यवादी लोग शून्यवात्की सिद्धि करनेके लिये प्रमाणका स्पर्श भी करें, तो कृतान्त (यमराज तथा सिद्धात) कुपित होता है । अतएव जिस प्रकार यमराजके कुपित होनेसे जीवकी मृत्यु होती है, उसी प्रकार प्रमाणोका आश्रय लेनेसे शून्यवादी निग्रहस्थानमें पड़ अपने सिद्धातकी स्थापना नहीं कर सकता ।

एव मति अहो इत्युपहासप्रशसायाम् । तुभ्यममूयन्ति गुणेषु दोषाना-  
त्रिष्वुर्वतीत्येव शीलास्त्वदसूयिनस्तत्रा तरीयास्तैर्दृष्ट मत्वज्ञानचक्षुषा निर्गीक्षितमहा ।  
मुन्य साधु दृष्टम् । विपरीतलक्षणयोपहासाच्च सम्यग्दृष्टमित्यर्थः । अत्रामूयघाता-  
स्ताच्च शीलिकृणद्भासावपि प्राहुल्लक्षणिन् । असूयास्त्यपामित्यमूयिनस्त्वयमूयिन-  
त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्त वा । त्वदसूयुदृष्टमिति पाठऽपि न किञ्चिद्वचः ।  
अमूयुशब्दस्यान्तस्यादयनार्थन्यायतात्पर्यपरिशुद्ध्यादां मत्सरिणि प्रयागादिति ॥

‘अहो’ शब्द उपहास और प्रशसा अर्थमें प्रयुक्त होता है । अतएव हे भगवन्, तुम्हारे गुणोंमें ईषा रखनेवाले अयमतावलम्बियोंने जो कुमति ज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वट मिन्या होनेके कारण उपहासके योग्य है । यहा अमूय् धातुमें ‘णक्’ प्रत्यय होनेसे ‘अमूयक’ शब्द बनना चाहिये था, परन्तु बहुलतासे असूय् धातुमें ‘णिन्’ प्रत्यय होनेपर ‘असूयि’ शब्द बना है । अथवा, जिनके ‘असूया’ हो वे असूयी हैं । यहा अमूया शब्दसे मत्वर्थमें ‘इन्’ प्रत्यय करनेसे ‘अमूयी’ शब्द बनता है । अथवा, ‘असूयु’ शब्द भी अशुद्ध नहीं है । उदयन आदि आचार्योंने न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदि प्रर्थोंमें ‘असूयु’ शब्दका ही प्रयोग किया है ।

इह शून्यवादिनामयमभिसाधि । प्रमाता प्रमेय प्रमाण प्रमितिरिति तत्त्वचतु-  
ष्टय परपरिकल्पितमवस्त्वव, विचारासहत्वात्, तुरङ्गशृङ्गत् । तत्र प्रमाता ताव-  
दात्मा तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाभावादभाव । तथाहि । न प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिरिन्द्रि-  
यगोचरातिक्रान्तत्वात् । यत्तु अहङ्कारप्रत्ययन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनम् तद-  
प्यनैकान्तिरुम् । तस्याह गोरे श्यामो वेत्यादां शरीराश्रयतयाप्युपपत्तः । किञ्च,  
यत्रयमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचर स्यात् तदा न कादाचित्क स्यात् । आत्मनः  
सदा सन्निहितत्वात् । कादाचित्क हि ज्ञान, कादाचित्कारणपूर्वक दृष्टम् । यया  
सौदाभिनीज्ञानमिति । नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाग्रहणात् । आगमाना च  
परस्परविरुद्धार्थवादिना नास्त्येव प्राधान्यम् । तथाहि । एकेन ऋथमपि कश्चिदर्थो  
व्यवस्थापित, अभियुक्ततरेणापरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते । स्वयमव्यवस्थित-  
प्रामाण्याना च तया ऋथमन्यव्यवस्थापन मामर्थ्यम् । इति नास्ति प्रमाता ॥

पूर्वपक्ष—शून्यवादी—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों अवस्तु हैं, क्योंकि  
इनका विचार करनेपर खरत्रिपाणकी तरह प्रमाण आदिकी व्यवस्था नहीं बनती । (क)  
प्रमाता आत्मा है । आत्मा किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, अतएव आत्माका अभाव है ।  
आमा इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस लिये इन्द्रिय प्रत्ययसे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती ।  
यदि कहो, कि 'अह प्रत्यय' से मानस प्रत्ययद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है, यह मानना  
भी अनैकान्तिक है । क्योंकि 'मैं गोरा हूँ,' 'मैं काला हूँ' इस प्रकारका ज्ञान शरीरमें  
भी होता है । तथा, यदि 'अह प्रत्यय' से आत्माका ज्ञान होता है, तो यह 'अह प्रत्यय'  
आत्मामें सदा होना चाहिये, कभी कभी नहीं । क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान रहता है । ज्ञान  
सदा नियमान नहीं रहता, इस लिये वह कभी कभी उत्पन्न होता है, क्योंकि बिजलीके जान-  
की तरह ज्ञान अनित्य कारणोंसे ही उत्पन्न होता है, अतएव आत्मामें सदा ही 'अह प्रत्यय'  
होना चाहिये । अनुमानसे भी आत्मा सिद्ध नहीं होती । क्योंकि आमाको प्रदृष्ट करनेजाला  
कोई निर्दोष हेतु नहीं है । तथा, आगम परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेजाले हैं, इस  
लिये आगमसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता । जिस पदार्थको एक शब्द अमुक  
प्रकारसे प्रतिपादन करना है, उसी पदार्थको दूसरा दूसरी तरहसे कहता है । अतएव आगमके  
स्वय अव्यभिक्त होनेके कारण आगमसे दूसरे तत्वोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती । अतएव  
प्रमाता आत्माका अस्तित्व मानना ठीक नहीं है ।

प्रमेय च सादोर्ष्य, स चानन्तरमेव प्रागार्थप्रतिक्षेपक्षणे निलाडित । प्रमाण  
च स्वपरावभामि ज्ञानम् । तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु, निर्विषयत्वात् । किञ्च,  
एतत् अर्थसमकालम्, तद्विन्नकाल वा तद्ग्राहक कल्प्यत ? आग्रपक्ष, त्रिभुवन-  
वर्तिनाऽपि पदार्थास्तजानभासेरन् । समकालत्वाभिनेपात् । द्वितीयं तु, निराकारम्

साकारम् वा तत्स्वात् ' प्रथमं, प्रतिनियतपदार्थपरिच्छदानुपपत्तिः । द्वितीयं तु, स्मिप-  
मानारो व्यतिरिक्तो अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात् ? अव्यतिरक्ते, ज्ञानमयायम् तथा च  
निराकारपक्षदाय । व्यतिरक्ते, यद्य चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदम्' स्यात् । तथा  
चायमपि निराकार' साकारो वा तद्वेदम् भवत् । इत्यावर्त्तनानवस्था । अथ  
अचिद्रूप, स्मिज्ञात ज्ञातो वा तज्ज्ञापक स्यात् । प्राचीनविमल्ले, चैत्रस्वव  
भ्रमस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात् । तदुच्यते तु, निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन,  
तस्यापि ज्ञान स्यात् । इत्याद्यावत्तावनवस्थैवति ॥

(ख) बाह्य पदार्थोंको प्रमेय कहते हैं । प्रमेयका प्रतिषेध विनानाद्वैतकी सिद्धिमें  
क्रिया जा चुका है) (ग) स्व और परको जाननेको प्रमाण कहते हैं । प्रमेयके अभाव  
होनेपर प्रमाणकी सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा प्रमाणको निर्विषय मानना पड़ेगा । तथा, प्रमाण  
पदार्थको पदार्थकी उत्पत्तिके समय जानता है, अथवा भिन्न समयमें ? यदि प्रमाण पदार्थको  
पदार्थकी उत्पत्तिके समय ही जानता है, तो तीनों लोकोंके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित होने  
चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञानके समकालीन हैं । यदि कहां, कि ज्ञान पदार्थोंको उत्पन्न  
होनेके समयमें भिन्न समयमें पदार्थको जानता है, तो वह ज्ञान निराकार है, अथवा साकार ?  
यदि ज्ञान निराकार हो कर पदार्थोंको जानता है तो उस ज्ञानसे प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान  
नहीं हो सकता । यदि ज्ञान साकार है, तो ज्ञानका आकार ज्ञानसे भिन्न है, अथवा अभिन्न ?  
यदि आकार ज्ञानसे अभिन्न है, तो इसे ज्ञान ही कहना चाहिये । तथा इस पक्षमें प्रतिनियत  
पदार्थोंके ज्ञानका अभाव होनेसे जो निराकार पक्षमें दूषण दिया था, वह दूषण यहां  
भी मानना पड़ेगा । यदि ज्ञानका आकार ज्ञानसे भिन्न है, तो यह आकार चेतन  
है, या जड ? यदि आकार चेतन रूप है, तो ज्ञानकी तरह ज्ञानके आकारको  
भी वेदक मानना चाहिये । यदि ज्ञानकी तरह आकार भी वेदक है, तो यह  
आकार स्वयं साकार है, अथवा निराकार ? यदि निराकार है, तो पदार्थोंका निश्चय नहीं  
हो सकता । यदि साकार है, तो वह चेतन है, या जड ? यदि चेतन रूप है, तो  
फिर निराकार है, या साकार ? इस प्रकार अनवस्था दोष मानना पड़ता है ।  
यदि आकार जड स्वरूप है, तो वह आकार स्वयं अज्ञात हो कर पदार्थोंको जानता है, अथवा  
ज्ञात हो कर ? यदि आकार अज्ञात है, तो एक प्राणीको जो एक पदार्थका ज्ञान होता है, वह  
ज्ञान दूसरेको भी होना चाहिये । यदि कहे, कि ज्ञानका आकार स्वयं ज्ञात हो कर पदार्थोंको  
जानता है, तो वह जड स्वरूप आकारका ज्ञान निराकार ज्ञानसे होता है, अथवा साकार  
ज्ञानसे ? इस प्रकार फिर अनवस्था दोष मानना पड़ेगा ।

इत्थं प्रमाणाभाव तत्फलरूपा प्रमिति' बुतस्तनी । इति सर्वशून्यतैव पर  
तत्त्वमिति । तथा च पठन्ति—

“ यथा यथा विचार्यन्ते विगीर्यन्ते तथा तथा ।

यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ”

इति पूर्वपक्ष । विस्तरतस्तु प्रमाणग्रण्डन तत्त्वोपप्लवसिहाट्टवगेरनीयम् ॥

(घ) प्रमाणाती सिद्धि न होनेपर प्रमाणका एक प्रमिति भी सिद्ध नहीं होती । अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तन्त्र है । कहा भी है “ जैसे जैसे तत्वोंका विचार करते हैं, वैसे वैसे तत्र विशीर्ण होते हैं । वास्तवमें पदार्थोंका स्वरूप ही इस तरहका है, इसमें हमारा दोष नहीं । ” प्रमाणका विस्तृत खडन तत्त्वोपप्लवमिद् नामक ग्रंथमें देरना चाहिये ।

अत्र प्रतिविधीयते । ननु यदिद शून्यवादव्ययस्थापनाय देवानामपिपेण वचनमुपयस्तम् तत् शून्यम् अशून्यम् वा ? शून्य चेत्, सर्वापाग्याविरहितत्वात् स्वप्पुण्येणैव नानेन किञ्चित्साध्यत निषि यते वा । ततश्च निष्पत्तिपथा प्रमाणा-न्तितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था । अशून्य चेत्, प्रलीनस्तपस्वी शून्यवाद । भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् । तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती । तत्रापि भामाणिक-समयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधन दृष्यत ॥

उत्तरपक्ष—जैन—बौद्ध लोगोंने शून्यवादकी स्थापना करनेके लिये जो वाक्य कहे हैं, वे स्वयं शून्य हैं, या अशून्य ? यदि ये वाक्य शून्य रूप हैं, तो खरविषाणकी तरह निःप्रयोजन होनेसे इन वाक्योंसे न शून्यवादकी सिद्धि हो सकती है, और न शून्यवादका निषेध किया जा सकता है । अतएव प्रमाण, प्रमेय आदिको अवश्य स्वीकार करना चाहिये । यदि कहे, कि उक्त वाक्य अशून्य हैं, तो शून्यवाद ही नष्ट हो जाता है ।

१ बुद्ध्या विविच्यमानाना स्मभावो नावधार्यते ।

अतो निरभिप्रायस्ते निस्त्वभावाच्च कर्मिता

इद वस्तु बलायत यद्वादात् विपरिचय ।

यथा यथाऽप्यादिचिन्त्यन्ते विगीर्यन्ते तथा तथा ॥

लकान्तारसूत्रे

२ यह ग्रंथ पाठके एक जैन भगवते मिलता है । इसके कर्ता जयराशि भट्ट हैं । प वेचरदास शिवराज दोशीका अनुमान है, कि ये जयराशि भट्ट ही तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंह नामके कहे जाते थे । तत्त्वोपप्लवके अंतिम दो श्लोक—

“ ये याता न हि गाचर सुरगुणैरुद्धर्षिकत्वा दृष्टा

प्राप्यते ननु तेऽपि यत्र त्रिमल पापण्डदर्षिच्छिदि ।

मन्थ्रीनयराशिद्वगुर्भ सृणे महामोदय

स्तत्त्वोपप्लवसिंह एव इति य ख्यातिं पय यास्यति ॥

पापण्डस्तण्डनामिजा शानोदधिनिर्वाधिता ।

जयराशेजयन्तीह विकल्पा यादिजिणव ॥

पहले श्लोकके स्थल मालूम होता है, कि यही ग्रंथ तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे प्रसिद्ध था । ”

देवो ‘पुरातन’ ५-४ पृ २६१ ।



क्योंकि शून्यवादियों के बचनोंको अशून्य माननेसे सशून्यता नहीं बन सकती । अतएव प्रमाण आदिकी व्यवस्था अवश्य स्वीकार करनी चाहिये ।

तत्र यत्तावदुक्तम् प्रमातु प्रत्यक्षेण न सिद्धि, इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तत्सिद्धसाधनम् । यत्पुन अहप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वरूपमैकान्तिकमित्युक्तम् तदसिद्धम् । अहं सुखी अहं दुःखी इति अतर्मुंसस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तः । तथा चाहु —

“सुखादि चत्यमान हि स्वतन्त्र नानुभूयते ।

मतुवर्यानुबेधात्तु सिद्ध ग्रहणमात्मन ॥

इदं सुखमिति ज्ञान दृश्यते न घटादिवत् ।

अहं सुखीति तु शक्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥”

यत्पुन, अहं गौर, अहं श्याम इत्यादिनहिर्मुंस' प्रत्यय स स्वल्पात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीर प्रयुज्यते । यथा प्रियभृत्यऽहमिति व्यवपदश ॥

(क) — आप रोगीने जो कहा, कि 'प्रमाता इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस लिये प्रमाता प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता' सो हम भी आत्माके प्रत्यक्षका विषय नहीं मानते, अतएव उक्त कथन हमारे लिये सिद्धसाधन है । (ख) 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माका अस्तित्व स्वीकार करनेमें अनैकान्तिक दोष' नहीं आता, क्योंकि 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारका अतरंग ज्ञान आत्मा ही के आधारसे होता है । कहा भी है " 'मैं सुखी हूँ' यह सुखी होनेका ज्ञान सर्वथा स्वतंत्र नहीं होता । अतएव सुख आदिके ज्ञानद्वारा सुखकी आधारभूत आत्माका ज्ञान होना है । जिस प्रकार 'यह घट है,' यह ज्ञान सर्वथा स्वतंत्र है, उसी प्रकार 'यह सुख है' यह ज्ञान सर्वथा बिना किसी आधारके नहीं होता, इस लिये 'मैं सुखी हूँ,' इस ज्ञानसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है ।" तथा 'मैं गौरा हूँ, मैं काला हूँ' यहा अहं प्रत्यय शरीर मात्रका ही सूचक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार अपने प्रिय नौकरमें अहं बुद्धि होती है, उसी प्रकार यहा भी अहं प्रत्ययका प्रयोग आत्माके उपकार करनेवाले शरीरमें उपचारसे किया गया है ।

यच्च, अहंप्रत्ययस्य फादाचित्कत्वम् तत्रय नासना । आत्मा तावदुपयोग-लक्षण । स च साकारानाशारापयोगरन्यतरस्मिन्नियमनोपयुक्त एव भवति । अहं प्रत्ययोऽपि चापयागविशेष एव, तस्य च र्मक्षयापक्षमपैचिष्यान् इन्द्रियानिन्द्रिया लोभविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव । यथा बीज सत्यामप्यहङ्कुरापजननशक्तौ पृथिव्युदनादिसहकारिकारणकलापसमग्रहितमे-राङ्कुर जनयति, नान्यथा । न चैतावता तस्याहङ्कुरोत्पादने कादाचित्कऽपि

१ 'वायम' नाम् । साक्षात्परिहृतद्वयसाधनानि यथातभवमुपपुञ्जैतयानुविधायी परिणाम उपयोग । राजर्षिके पु ।

तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की । तस्या\* रूपचिन्नित्यत्वात् । एवमात्मन सदा सन्नहितत्वेऽप्यहप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् ॥

( ग ) तथा ' आत्मा सदा विद्यमान रहती है, इस लिये आत्मामें अह प्रत्ययको भी सदा होते रहना चाहिये ' यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आत्माका लक्षण उपयोग ( चेतना ) है । यह उपयोग ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है । अह प्रत्यय भी एक प्रकारका उपयोग है । कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन, आलोक आदिकी सहायता मिलनेपर उपयोग रूप अह प्रत्यय उत्पन्न होता है, इस लिये यह अह प्रत्यय आत्माके सदा विद्यमान रहते हुए भी आत्मामें सदा नहीं हो कर कभी कभी होता है । जिस प्रकार बीजमें अकुरके उत्पन्न करनेकी शक्तिके सदा विद्यमान रहते हुए भी पृथिवी, जल आदिके सहकार मिलनेपर ही बीज अकुरको उत्पन्न करता है, परन्तु अकुरकी उत्पत्तिकी अनित्यताको देख कर अकुर उत्पादन करनेकी शक्तिको कादाचित्क नहीं कह सकते, इसी तरह आत्माके सदा विद्यमान रहनेपर भी कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन आदिके सहकार मिलनेपर ही अह प्रत्यय होता है, इस लिये अह प्रत्यय ( आत्माना उपयोग ) के अनित्य होनेसे अहम् ( आत्मा ) को कादाचित्क ( अनित्य ) नहीं कह सकते ।

यद्रूप्युक्तम् तस्याव्यभिचारि लिङ्ग किमपि नोपलभ्यत इति । तद्रूप्यसार । साध्याविनाभाविनोऽनेनस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धे\* । तथाहि । न्यायुपलधि सकर्तृता, क्रियात्वात्, छिन्निक्रियात् । यश्चास्या कर्ता स आत्मा । न चान चक्षुरादीना कर्तृत्वम् । तेषा कुठारादिवत् करणत्वनास्वतन्त्रत्वात् । करणत्व चैषा पौद्गलिकृते-नाचेतनत्वात्, परमर्थत्वात्, प्रयोगतृव्यापारनिरपत्प्रवृत्त्यभावात् । यदि हि इन्द्रियाणामत्र कर्तृत्व स्यात्, तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वानुभूतार्थस्मृते, मया दृष्टम् स्पृष्टम् घ्रातम् आस्वादितम् श्रुतम् इति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तश्च कुत सभव । निश्च, इन्द्रियाणा स्वस्वप्रियनियतत्वन रूपरसयो\* साहचर्यप्रतीर्ता न सामर्थ्यम् । अस्ति च तथाविधफलादे रूपग्रहणानन्तर तत्सहचरितरसानुम्भरणम् । दन्तोदकस-त्त्वान्यथानुपपत्त । तस्माद्बुभ्यांगवाक्षयोरन्तर्गत प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्या रूपरसयोर्दर्शा कश्चिदकोऽनुमीयते । तस्मात्करणाण्येतानि यश्चैषा व्यापार यिता स आत्मा ॥

( घ ) आमाको सिद्ध करनेवाले ' अव्यभिचारि हेतुका अभाव ' बताना भी ठीक नहीं है । क्योंकि आत्माके अविनाभावी जनेक लिंग हैं । ( १ ) नेत्र आदिते प्रत्यक्ष होनेवाले रूपादि गुणोंका कोई कर्ता होना चाहिये, क्रिया होनेसे । जैसे काटने का क्रियाका कोई काटनेवाला देखा जाता है, उसी तरह देगने, चानने आदि रूप क्रियाका कोई कर्ता

होना चाहिये । इत देखने और जानने रूप क्रियाआका आत्मा ही कर्ता है । यदि फहो, कि चक्षु आदि इन्द्रिया ही देखने, जानने आदि क्रियाके कर्ता हैं, इम लिये आमाके माननेकी आवश्यकता नहीं, यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस प्रकार उठार आदि करण होनेसे किसी दूसरे कर्ताके आर्धान रहते हैं, उमी तरह इन्द्रिया भी करण हैं, इम लिये वे भी परतत्र हैं । तथा इन्द्रिया पौष्टिक हा कर अचेतन हैं, इस लिये इन्द्रिया करण हैं, क्योंकि वे स्वयं जड होनेके कारण दूसरेका प्रणामे काय करनी है, क्योंकि प्रेरक चेतनके अभावमें इन्द्रियोंमें प्रवृत्ति नहीं होती । यदि मय इन्द्रिया ही कर्ता हो, तो इन्द्रियोंके नष्ट होनेपर इन्द्रियोंसे अनुभूत पन्थाका स्मरण नहीं होना चाहिये । तथा, 'मने देगा, मने हुआ मने सूखा, मने चाखा, मने मुना' इस प्रकार विविध इन्द्रियोंसे उत्पन्न होयावाला ज्ञान एक कर्ताके साथ सबद्र नहीं हा सकता । तथा इन्द्रियोंके कर्ता माननेमें विविध इन्द्रियोंके विविध विविध विषयोंका एक साथ जान नहीं होना चाहिये । क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियका विषय अलग अलग है । इस लिये यदि आमाको कर्ता न मान कर इन्द्रियोंके ही कर्ता माना जाय, तो रूप और रमना एक साथ जान न होकर नेत्र इन्द्रियमें रूप और रमना इन्द्रियमें रसका अलग अलग जान होना चाहिये । परन्तु हम देखते हैं, कि आम वंगरः पत्रके देखने ही मुहमें पानी आ जानेसे साथ ही साथ आमके रसका भी अनुभव होता है । यदि इन्द्रिया ही कर्ता हा, तो आमके रूपको देखने ही उसके रसका अनुभव न होना चाहिये । अतएव भिन्न भिन्न सिद्धियोंमेंसे देखनेवाले प्रेषककी तरह भिन्न इन्द्रियोंके रूप, रम आदिके विषयोंको अनुभव करनेवाले एक आत्माको ही कर्ता मानना चाहिये । इस लिये इन्द्रिया करण है, और इन्द्रियोंका प्रेरक आमा कर्ता है ।

तथा, साधनोपादानपरिचर्जनद्वारण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चष्टा प्रयत्न-  
पूर्विना, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत् । शरीर च प्रयत्नवत्प्रिष्टितम्, विशिष्टक्रिया-  
श्रयत्वात्, रथवत् । यथास्याधिष्ठाता स आत्मा, सारथियत् । तथानेव पक्षे, इच्छा-  
पूर्वकविकृतमात्राश्रयत्वाद् भ्रूषावत् । वायुश्च प्राणापानादि । यद्वास्याधिष्ठाता स  
आत्मा, भ्रूषाभ्यापयितृत् । तथानेव पक्षे, इच्छाधीननिमग्नान्मपरन्वयययोगित्वाद्,  
दारूयवत् । तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभ्रूषसरोहण च प्रयत्नवत्कृतम्, वृद्धिक्षतभ्रूषस-  
रोहणत्वाद्, वृद्धवृद्धिक्षतभ्रूषसरोहणवत् । वृक्षादिगतन वृद्धगतिना व्यभिचार इति चेत् ।  
न । तपामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मन्त्वात् । यथैषां कर्ता स आत्मा गृहपति-  
वत् । वृक्षादीना च सात्मन्त्वमाचारान्ज्ञानेरस्येयम् । त्रिचिद्द्रव्यते च ॥

( २ ) हिन रूप साधनोका प्रहण और अहित रूप साधनोका त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है, क्योंकि यह क्रिया है । जितनी क्रिया होती हैं, वे सब

प्रयत्नपूर्वक होता है। जेमे रथकी चलनेकी क्रिया सारथिके प्रयत्नसे होती है, वैसे ही शरीरको नियत दिशामें लेजानेवाली चेष्टा आत्माके प्रयत्नसे होती है। यही आत्मा रथको चलानेवाले सारथिकी तरह कर्ता है। (३) जिस प्रकार वायुकी सहायतासे कोई पुरुष धौंकनीको फूकता है, वैसे ही श्वाभोच्छ्वास रूप वायुसे शरीर रूपी धौंकनीको फूकनेवाला शरीरका अधिष्ठाता आत्मा है। (४) जिस प्रकार मशीनके सिलैनोंकी आलौका गुलना और बंद होना किसी कर्ताके आधीन रहता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यत्रका कर्ता किसी आत्माको स्वीकार करना चाहिये। (५) जैसे घरका बनाना, फोडना और टूटे हुएकी मरम्मत करना आदि कार्य किसी कर्ताद्वारा किये जाते हैं, उसी प्रकार शरीरकी वृद्धि, हानि, घावका भर जाना आदि कार्य आत्माके स्वीकार करनेमें ही बन सकते हैं। यदि कहो, कि वृक्ष आदिमें जो वृद्धि, हानि होती है, उसका कोई अधिष्ठाता नहीं देखा जाता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वृक्ष आदि पञ्चेन्द्रिय जीव हैं, इस लिये उनमें भी आत्मा है। वृक्ष आदिमें आत्माकी सिद्धि आचाराग (१-१-५) से जाननी चाहिये। इसका वर्णन आगे भी किया जायगा (देखो श्लोक २९ की व्याख्या)।

तथा प्रेर्य मन अभिमतत्रिपयसम्बन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्, दारकद्वस्तगत-  
गालम्बवत्। यथास्य प्रेरक स आत्मा इति। तथा, आत्मचतनक्षेत्रज्ञजीवपुद्गलादय  
पर्याया न निविपया पर्यायत्वाद्, घटकुट्टकलशादिपर्यायवत्। व्यतिरेके पष्ठभृतादि।  
यथात्रिपय स आत्मा। तथा, अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवान्चत्वात्। या  
योऽसाङ्गतिरुशुद्धपर्यायवाच्य, स सोऽस्तित्व न व्यभिचरति, यथा घटादि। व्यतिरेके  
खरविपाणनभाष्मभोरहादय। तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वाद्, रूपवत्।  
योऽर्सा गुणी स आत्मा। इत्यादिलिङ्गानि। तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः॥

(६) जिम प्रकार बालकके हाथका पत्थरका गोला बालककी प्रेरणासे ही नियत स्थानपर पहुँच सकता है, उसी तरह नियत पदार्थोंकी ओर दौड़नेवाला मन आत्माकी प्रेरणासे ही पदार्थोंकी ओर जाता है। अतएव मनके प्रेरक आत्माको स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करना चाहिये (७) जिस प्रकार घडा, कलश आदि पर्याय मिट्टी द्रव्यके द्योतक हैं, उसी तरह आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव, पुद्गल (बौद्ध लोग जीवको पुद्गल कहते हैं। जैन ग्रंथोंमें भी कहीं कहीं जीवको पुद्गल कहा गया है) आदि पर्याय किसी द्रव्यके द्योतक हैं। जिनका कोई द्रव्य नहीं होता, उनकी पर्याय भी नहीं होती, जैसे छटा भूत। क्योंकि मृत पाच होते हैं, छटा भूत नहीं होता। अतएव आत्मा, चेतन आदि पर्यायोंका द्रव्य आत्मा ही है। (८) आत्मा शुद्ध निर्विकार पर्यायका वाचक है, इस लिये उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिये। जो शब्द बिना सकेतके शुद्ध पर्यायके वाचक होते हैं, उनका अस्तित्व अवश्य होता है, जैसे घट आदि। जिनका अस्तित्व नहीं होता, उनके वाचक शब्द भी नहीं होते, जैसे गधेके सींग,

आकाशके पुष्य आत्ति । ( ९ ) सुग, दुग आदि किसी द्रव्यके आश्रित हैं, क्योंकि वे गुण हैं । जो गुण होते हैं, वे द्रव्यके आश्रित रहते हैं, जैसे रूप । जो सुग, दुग आत्ति गुणोंमें युक्त है, वह आत्मा है । इत्यादि अनेक साधनोंसे अनुमातद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है ।

आगमाना च येषा पूर्वापरविरुद्धार्थत्वम् तेषामप्रामाण्यमत्र । यस्त्वामप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव । ऋष्युदतापलक्षणोपाधिप्रयविशुद्धत्वात् । कपर्दीना च स्वरूप पुरस्ताद्दक्षयाम् । न च सान्यमाप्त क्षीणसर्वादाप तथाविध चाप्तन्व फस्यापि नास्तीति । यत रागादय ऋष्यचिदत्यन्तमुच्चिप्रन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छदमर्णापरूपोपलम्भात्, सूर्याप्रारकजल्पपटलवत् । तथा चाहु —

“ देशता नाशिता भावा ष्टा निरिलनश्वरा ।

मेघपद्मत्स्यादया यद्वत् एव रागादयो मता ” ॥

इति । यस्य च निरययतयत त्रिनीना स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञ ॥

तथा, आप लोगोंमें जो ‘ आगमोंका परस्पर विरोध ’ लिखलाया, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम आसके द्वारा प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानने हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले आगमको नहीं । आसकथित आगममें कप, छेद और ताप रूप उपाधियोंका निषेध किया गया है, इस लिये वह आगम प्रमाण है । ( कप आदिना स्वरूप वचीसर्वे श्लोककी व्याख्यान बताया गया है ) । शत्रु—जिमके सम्पूर्ण दोष क्षय हो गये हो, उमे आप्त कहते हैं, ऐसा आस होना समभव नहीं है । समाधान—राग आदि दोष किसी जीवमें सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि हम लोगोंमें राग आदि दोषोंकी हीनाधिकता देखी जाती है । जिसकी हीनाधिकता देखी जाती है, उसका सर्वथा नाश होना समभव है । जिस प्रकार सूर्यको आच्छादित करनेवाले बादलोंमें हीनाधिकता पायी जाती है, इस लिये कहींपर बादलोंका सर्वथा नाश भी समभव है, इसी तरह राग आदि दोषोंमें हीनाधिकता रहनेके कारण कहींपर राग आदिका सर्वथा विनाश भी समभव है । कहा भी है, “ जो पदार्थ एक देशसे नाग होते हैं, उनका सर्वथा नाग भी होना है । जिस प्रकार मेघोंके पटलोंका आशिक नाश होनेसे उाका सर्वथा नाग भी होता है, इसी प्रकार राग आदिका आशिक नाश होनेसे उनका भी सर्वथा नाग होता है । ” जिस पुरुष विशेषमें राग आदिना सम्पूर्ण रीतिमें नाग हो जाता है, वही पुरुष विशेष आप्त भगवान् सर्वज्ञ है ।

अत्र अनादित्वाद् रागादीना ऋथ प्रक्षय इति चत् । न । उपायतन्तद्भावात् । अनादरपि मृत्तमलस्य क्षारमृत्पुष्पाग्निना त्रिलयोपलम्भात् । तद्देवानादीनामपि रागादिदोषाणा प्रतिपन्नभूतरत्ननयाभ्यासेन त्रिलयापपत्ते । क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानान्यभिपारात् सर्वज्ञत्वम् ॥

शक्ता—राग आदि दोष अनादि हैं, इस लिये उनका क्षय नहीं हो सकता । समाधान—जिस प्रकार अनादि सुवर्णके मैलका खार, मिट्टीके पुटपाक आदिसे नाश हो जाता है, उसी तरह अनादि राग आदि दोषोका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रयकी भावनासे नाश हो जाता है । निम्न पुरुषके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं, उसके केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतएव वीतराग भगवान् सर्वज्ञ हैं ।

तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्य क्विद् विश्रान्तम् तारतम्यत्वात्, आकाशे परिणाम-तारतम्यत् । तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्था कस्यचित्प्रत्यक्षा, अनुमेयत्वात्, क्षिति-धरकन्धराभिरुगणध्रमध्वजवत् । एव चन्द्रसूर्योपरागादिमूचमज्ज्योतिर्ज्ञानाविसवादा-न्यथानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि दैतवा चान्या । तदेवमात्मन सर्वविदा प्रणीत आगम-प्रमाणमेव । तद्रामाण्य द्वि प्रणायकदोषनिवन्धनम् ।

“ रागाद्वा द्वेषाद्वा माहाद्वा वाक्यमुच्यते तन्वृतम् ।

यस्य तु नैत दापास्तस्यानृतमारण किं स्यात् ” ॥

इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति सिद्ध आगमादप्यात्मा “ एग आया ” इत्यादि वचनात् । तदेव प्रत्यक्षानुमानागमै सिद्ध प्रमाता ॥

सर्वज्ञसिद्धि—(४) ज्ञानकी हानि और वृद्धि किसी जीव में सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी जाती है, हानि, वृद्धि होनेसे । जैसे आकाशमें परिणामकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है, वैसे ही ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती है । (ख) रामावमे दूर परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, देशसे दूर सुमेरु पर्वत आदि, तथा कालसे दूर राम, रावण आदि किमीके प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमेय होनेसे । जो अनुमेय होते हैं, वे किसीके प्रत्यक्ष होते हैं । जिस प्रकार पर्वतकी गुफाकी अग्नि अनुमानका विषय होनेसे किसी न किमीके प्रत्यक्ष होती है, इसी प्रकार हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानके बाह्य परमाणु आदि अनुमेय होनेसे किसी न किमीके प्रत्यक्ष अवश्य होने चाहिये । इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यके ग्रहणको बनानेवाले ज्योतिषशास्त्रकी सत्यता आदिसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । इस लिये सर्वज्ञ आसका बनाया हुआ आगम ही प्रमाण है । जिस आगमका बनानेवाला सद्दोष होता है, वही आगम अप्रमाण होता है । कहा भी है “ राग द्वेष और मोहके कारण असत्य वाक्य बोले जाते हैं । जिस पुरुषके राग, द्वेष और मोहका अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता । ” अतएव आगमोंके प्रणेताके निर्दोष सिद्ध होनेपर आगमसे भी “ आत्मा एक है ” इत्यादि वचनोंमें आत्माकी सिद्धि होती है । इस लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आत्माको सिद्ध करते हैं ।

१ उपरागा प्रश्न राहुग्रहे न्विदी च पूणि च । इत्यमर । २ स्थानाङ्गवृत्त १-१ । प्रदेशार्थनया असत्यातप्रदेशो-पि जीवा द्रव्यार्थतया एक । इति अमयदेवसूरीटीकाया ।

प्रमेय चानन्तरमेव वाद्यार्थसाधने साधितम् । तत्सिद्धौ च प्रमाण ज्ञानम् तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निश्चिपयत्वात् इति प्रलापमात्रम् । करणमन्तरेण क्रिया सिद्धेरयोगाद् । लवनादिषु तथादर्शनात् । यच्च, अर्थसममालमित्पाद्युक्तम्, तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव । अस्मदादिप्रत्यक्ष हि सममालार्थीकलनकुशलम् । स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् । शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याप्यर्थस्य परिच्छेदक । निराकार चेतद् द्वयमपि । न चातिप्रसङ्ग । स्वज्ञानावरणरीर्यान्तरायक्षयोपशम विगेषशब्दाद्यस्य नैयत्यन प्रवृत्ते । 'नैपिकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कार' ॥

( २ ) बाह्य पदार्थोंके अस्तित्व सिद्ध करनेके प्रसंगमें पिछली कारिकामें प्रमेयकी सिद्धि गई है । ( ३ ) प्रमेयके सिद्ध होनेपर ' प्रमेयके अभावमें निर्विकल्प चान प्रमेयका ग्रहण नहीं कर सकता ' यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि बिना कारणके किसी भी क्रियाका होना संभव नहीं है । जैसे काटनेकी क्रिया तुटारसे ही संभव है, उसी प्रकार जानना रूप क्रियाका भी कोई कारण होना चाहिये । तथा, आप लोगोंने जो कहा, ' प्रमाण पदार्थोंको जानने समय पदार्थके साथ उत्पन्न होता है, अथवा भिन्न समयमें ' यह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम लोग दोनों विकल्पोंको स्वीकार करते हैं । हम लोगोंके मतमें प्रत्यक्ष प्रमाण समकालमें रहनेवाले ( विद्यमान ) पदार्थोंका, स्मरण अतीत पदार्थोंका, तथा शब्द और अनुमान तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करते हैं । इन दोनों ज्ञानोंके निराकार होनेपर भी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर ही उनकी निश्चित पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है । शून्यवादका स्थापन करनेमें जो दूसरे विकल्प प्रतिपादित किये गये हैं, उनको न मानना ही शून्यवादका तिरस्कार करना है ।

प्रमितस्तु प्रमाणस्य फल स्वसवेदनसिद्धैव । न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापक्षा । फल च द्विधा आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात् । तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्ति फलम् । पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमोदासीन्यम् । शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्य । इति मुख्यवस्थित प्रमात्रादिचतुष्टयम् । ततश्च—

“ नैसन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मन्म् ।

चतुष्पांतिविनिर्मुक्त तच्च माध्यामिना चिद् ” ॥

इत्युन्मत्तभाषितम् ॥

( ४ ) प्रमाणके फल प्रमितिकी सत्य अनुभवसे सिद्धि होती है । अतएव प्रमितिको सिद्ध करनेके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है । प्रमाणका फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे

१ न स्वतो नापि परतो न द्वय्या नाप्यहेतुत ।

उत्पन्ना जातु विद्यते भावा इचन कचन ॥

दो प्रकारका होता है। पदार्थको जानते समय पदार्थ सबधी अनानका नाश हो जाना ही मव प्रमाणोंका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परम्परा फल ससारमे उदासीन होना है, केवलज्ञानके अतिरिक्त शेष प्रमाणोंका परम्परा फल इष्टानिष्ट पदार्थोंको छेडना, ग्रहण करना तथा उपेक्षा करना है। अतएव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों पदार्थ सिद्ध होते हैं। इस लिये “ जो न अमत् हो, न मत् हो, न सत्-असत् हो, और न सत्-असत्के अमाव रूप हो, इस प्रकार माध्यमिक ( शून्यवादी ) लोगोंका चारों कोटियोंसे रहित तत्वको स्वीकार करना ” केवल उन्नत पुरुषके प्रलापकी तरह है।

किञ्च, इन् प्रमात्रादीनामवास्तवत्व शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावद्रेष्टव्यम् । तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते अप्रमाणाद्वा ? न तावत्प्रमाणात्, तस्यान्निश्चित्करत्वात् । अथ प्रमाणात् । तत्र । अवास्तवत्वग्राहन् प्रमाण सावृत्तमसावृत्तम् वा स्यात् ? यदि सावृत्तम्, कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः । तथा तदासिद्धा च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहार प्राप्तः । अथ तद्ग्राहकप्रमाणमव्ययमसावृत्तम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहारावास्तवत्वप्रतिष्ठा । तेनैव व्यभिचारात् । तदेव पक्षद्वयेऽपि “ इतो व्याघ्र इतस्तटी ” इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः ॥ इति काव्यार्थः ॥ १७ ॥

तथा, शून्यवादी लोग प्रमाता, प्रमेय आदिकी अवास्तविकता प्रमाणसे सिद्ध करते है, अथवा अपमाणसे ? अपमाणसे प्रमाण आदिकी असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अपमाण अकिञ्चिन्कर है। दूसरे पक्षमें, प्रमाण आदिको अमत्य सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वयं अमत्य है, या सत्य ? यदि प्रमाण असत्य है, तो अमत्य प्रमाणसे सत्य शून्यवादकी स्थापना नहीं की जा सकती। यदि प्रमाण आदिको अवास्तविक सिद्ध करनेवाला प्रमाण वास्तविक है, तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिके व्यवहारको वास्तविक ही मानना चाहिये। यदि शून्यवादको सिद्ध करनेवाले प्रमाणको सत्य मानो, तो आप लोग जो प्रमाता आदिके व्यवहारको असत्य कहते हैं, वह नहीं बन सकता। अतएव प्रमाण अथवा प्रमाणके विना किसी भी प्रकार शून्यवादकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये ‘ एक तरफ व्याघ्र है, दूसरी ओर नदी बहती है ’ इस न्यायसे प्रमाण और अपमाण दोनों पक्षोंके स्वीकार करनेमें शून्यवा दियोंको प्रमाता आदिका व्यवहार सत्य ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—शून्यवादी—सब पदार्थ शून्य हैं, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति अवस्तु हैं। ( क ) प्रमाता ( आत्मा ) इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतएव

१ सवृत्तेलक्षणम्—

अभूत ख्यापयत्यर्थे भूतमावृत्त्य वर्णत ।

अविद्या जायमानेव कामलातकवृत्तिवत्



प्रत्यक्षसे आमाकी सिद्धि नहीं होती। अणुमा भी आत्माको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि किसी भी हेतुसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। आगम परस्पर विरोधी हैं, इस लिये आगम भी आत्माको सिद्ध नहीं कर सकता। (र) प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। अविद्याकी वासनासे ही बाह्य पदार्थोंके अभावमें घट, पट आदि पदार्थोंका चान होता है। अतएव प्रमेय भी कोई पदार्थ नहीं है। (ग) प्रमेयके अभाव होनेपर प्रमाण भी नहीं बन सकता। (घ) प्रमाणके अभावमें प्रमिति भी नहीं सिद्ध हो सकती। अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्व है। क्योंकि अनुमान और अनुमयका अन्तर बुद्धि-जन्य है। नास्त्यमें बुद्धिके बाहर सत् और असत् कोई वस्तु नहीं। अतएव न सत्, न असत्, न सत् असत्, और न सत् असत्के अभाव रूप, ही वास्तवमें परमार्थ है।

जैन—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं। (क) 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' आदि अह प्रत्यय से प्रमाता सिद्ध होता है। (ख) वायु पदार्थोंका ज्ञान अनुभवसे सिद्ध है। तथा बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना बन सकती है। अतएव प्रमेय भी स्वीकार करना चाहिये (ग) प्रमेयके सिद्ध होनेपर प्रमाण भा अवश्य मानना चाहिये। जैसे जुटागमे काटनेकी क्रिया हो सकती है, वैसे जानने रूप क्रियाका भी कोई करण होना चाहिये। (घ) पदार्थको जानते समय पदार्थ सबधी अनानका नाश होना ही प्रमाणका साक्ष्यत् पत् है, अतएव प्रमिति भी मानना चाहिये। तथा, शून्यवादी लोग प्रमाता आदिको प्रमाण अथवा अप्रमाण किसीसे भी सिद्ध नहीं कर सकते। अप्रमाण अकिंचित्कर है, इस लिये अप्रमाणसे प्रमाता आदि सिद्ध नहीं हो सकते। इसी तरह प्रमाणसे भी प्रमाता आदि सिद्ध नहीं होते, क्योंकि गन्यवादियोंके मतमें स्वयं प्रमाण ही अस्तु है। तथा जिस प्रमाणसे शून्यवादी लोग अपने पक्षकी सिद्धि करते हैं, वह प्रमाण बिना प्रमेयके नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाण निर्दिश्य नहीं होता, अतएव शून्यवादियोंको मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिन्व्यवहारानुपपन्नाथसमर्थनमविमृश्यकारित दर्शयन्नाह—

क्षणिक वादियों के मतमें इस लोक और परलोककी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव उनके मतको अविचारपूर्ण सिद्ध करते हैं—

कृतप्रणागाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभद्गदोपान् ।

उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिक' परस्ते ॥ १८ ॥

श्रोत्रार्थ—आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी बौद्ध क्षणिकवादको स्वीकार करके, किये हुए कर्मोंके फलको न भोगना, अकृत कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होना, परलोक का नाश, मुक्तिका नाश, तथा स्मरण शक्तिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करके अपने सिद्धान्तको स्थापित करनेका महान साहस करते हैं ।

कृतप्रणाशदोषम् अकृतकर्मभोगदोषम् भवभङ्गदोषम् प्रमोक्षभङ्गदोषम् स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् दोषान् । सांभ्रादित्यनुभवासिद्धान् । उपेक्ष्यानादित्य । साक्षात् कुर्वन्नपि गजनिमीलित्नामबलम्बमान । सर्वभावानां क्षणभङ्गम् उदयानन्तरविनाशरूपां क्षणक्षयिताम् । इच्छन् प्रतिप्रमानः । ते तत्र । परं प्रतिपक्षी वैनाशिरुं सांगत इत्यर्थः । अहो महासाहसिकुं सहसा अविमर्शात्मकेन चलन वर्तते साहसिकु । भाविनमनर्थमत्रिभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांथासो साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमत्रिमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति मुकुलितार्थः ॥

व्याख्यानार्थ—जिस प्रकार हाथी आखोंको बन्द करके अज्ञान करता है, वैसे ही ससार, मोक्ष आदिका अनुभव करते हुए भी सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षणस्मयी माननेवाले प्रतिपक्षी बौद्ध ( १ ) किये हुए कर्मोंका नाश, ( २ ) नहीं किये हुए कर्मोंका भोग, ( ३ ) ससारका क्षय, ( ४ ) मोक्षका नाश और ( ५ ) स्मृतिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करते हुए क्षणवादके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेका महान साहस करते हैं ।

विद्वृत्तार्थस्त्वयम् । बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामानयेऽत्मानमामनन्ति न बुद्धैर्नैतिककृष्णनिरातुस्यूतैरुभूतवत् तदन्वयिनमेकम् । तन्मते यन ज्ञानक्षणेन सन्नुष्ठानमसदनुष्ठान वा कृतम् तस्य निरन्वयविनाशात् तत्कलापभोग, यस्य च फलापभोग, तेन तत् कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्थ-चकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मण फलापभागादिति । अत्र च कर्मशब्द-उभयत्रापि योज्य, तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्था इदम् । वन्द्यानुलोम्याद्येत्यमुपन्यास ॥

( १ ) बौद्ध लोग विचारके क्षणोंकी परम्पराको आत्मा मानते हैं । जिस प्रकार एक सूतका डोरा बहुतसे मोतियोंमें प्रविष्ट हो कर सत्र मोतियोंकी एक माला बनाता है, उस तरह बौद्धोंके मतमें विचारके सम्पूर्ण क्षणोंके साथ सत्रध रत्नवाली किसी एक वस्तुको आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है । अतएव बौद्ध मतमें जिस विचारके क्षणसे अच्छे या बुरे कर्म

१ गणने भेदे निमीय अल्पानादि कर्त्तव्ये । नेत्रनिमीलनेन न किञ्चित्करोमीति भावयति च तददृश्यवादी कृतप्रणाशदीन् दोगान् साक्षादनुभवन् सप्रभावान् क्षणमहुरता प्रतिपद्यते ।

२ सतानस्थैकमात्रिय बना भावेति देशित ॥

यथैव कदलीस्वामा न कश्चिद्भाग्य कृत । तथाहमप्यसद्वृत्तो मृग्यमाणो विचारत ॥

बोधिचर्यावतारे ९-७३, ७५ ।

किये जाते हैं, उस विचार क्षणके सर्वथा नष्ट हो जानेसे अच्छे या बुरे कर्म करनेवाले मनुष्यको उन अच्छे, बुरे कर्मोंका फल न मिलना चाहिये। क्योंकि फल भोगनेवाले मनुष्यने उन कर्मोंको नहीं किया है। कारण कि निम्न पूर्व विचारके क्षणसे कर्म किया गया था, वह क्षण सर्वथा नष्ट हो चुका है। अतएव मनुष्यको अपने कर्मोंके फलका उपभोग नहीं करना चाहिये। (२) तथा क्षणिकवादमें जिस विचार क्षणने कर्मोंको नहीं किया, उस विचार क्षणको कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होनेके कारण स्वयं नहीं किये हुए दूसरोंके कर्मोंको भोगनेसे अदृष्टकर्म भोग नामका दोष आता है। यहा जिस प्रकार श्लोककी प्रथम पक्तिमें 'अदृष्टकर्मभोग' में कर्म शब्दका संबन्ध है, उसी तरह 'कृतप्रमाणश' में भी कर्म शब्द जोड़ कर 'कृतकर्मप्रमाणश' अर्थ करना चाहिये।

तथा भवभङ्गदोष'। भव आर्जवीभावलक्षण ससार, तस्य भङ्गा विलोप स एव दोष' क्षणिकवाद प्रसज्यत । परलोकाभावमसङ्ग इत्यर्थ' । परलोकिन कस्यचिदभावात् । परलका हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारण भवति । तत्र प्राचीनज्ञान क्षणानां निरन्वय नाशात् केन नामोपभृज्यता जन्मांतरे ॥

(३) क्षणिकवादान् ससार भी नहीं बन सकता। क्योंकि पूर्व जन्ममें किये हुए कर्माके अनुसार ही परलोक मिलता है। क्षणिक वादियोंके मतमें विचारके पहले क्षणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है, अतएव पूर्व क्षणोंका उत्तर क्षणोंके साथ कोई भी संबन्ध नहीं रहता। इस लिये पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंका दूसरे जन्ममें फल नहीं मिल सकता। इस कारण बौद्ध मतमें परलोक (आला) के अभाव होनेसे परलोककी भी सिद्धि नहीं होती।

यच्च मोक्षाकरगुप्तेन "यच्चित्त तच्चित्तान्तर प्रतिसन्धत्त यथेदानीन्तन चित्त, चित्त च मरणकालभावि" इति भवपरम्परासिद्धय प्रमाणमुक्तम्, तदव्यर्थम् । चित्त-क्षणाणां निरवशेषनाशिना चित्तान्तरप्रतिसधानायागात् । द्वयारवस्थितयोर्हि प्रति-सधानमुभयानुगामिना क्वचित् क्रियते । यश्चानयो, प्रतिसधाता, स तन नाभ्युप-गम्यते स ह्यात्मान्वयी ॥

माहाकरगुप्त (बौद्ध) — "वर्तमान विचार (ज्ञान-बुद्धि-चित्त) की तरह एक विचार दूसरे विचारसे संबन्ध होता है। अतएव मरणके समयमें रहनेवाला विचार भी दूसरे विचारसे संबन्ध होता है" (यच्चित्त तच्चित्तात्तर प्रतिसधत्ते यथेदानीन्तन चित्त चित्त, च मरण-कालभावि), अतएव ससारकी परम्परा सिद्ध होती है। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्धोंके मतमें विचार क्षणोंका सर्वथा नाश माना गया है, अतएव एक विचार दूसरे विचारसे

१ वाचिन्नियममर्शादाऽनस्यैव परिकीर्त्यते ।  
तस्याश्चानाद्यनन्ताया पर पूव इहेति च ॥

सम्बद्ध नहीं हो सकता । पूर्व ओर अपर चित्त क्षणोंमें कोई सन्ध करानेवाला होना चाहिये, अन्यथा दोनों क्षणोंका सन्ध नहीं हो सकता । इन दोनों क्षणोंका सन्ध करनेवाला आत्मा ही हो सकता है ।

न च प्रतिसन्धत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः । कार्यहेतुप्रसङ्गात् । तत्र चादिनास्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात् । स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति । भिन्नकाल-भाविनोश्च चित्तचिच्चात्तरयोः कुतस्तादात्म्यम् । युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रति-सन्धायकत्वाभावापत्तिः, युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामरम्, यदेक-प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति । अस्तु या प्रतिसन्धानम्य जननमर्थः । सोऽप्यनुपपन्नः । तुल्यकालत्वे हेतुफलभावम्याभावात् । भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्त-क्षणस्य विनष्टत्वात् उत्तरचित्तक्षण कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम् । इति यस्मिंश्चिदेतत् ॥

शंका—‘यच्चित्त तच्चित्तान्तर प्रतिसन्धत्ते’ यद्वा प्रतिसन्धानका अर्थ उत्पन्न करना है, अतएव हमारे मतमें पूर्व चित्त उत्तर चित्तमें सम्बद्ध नहीं होता, बल्कि पूर्व चित्त उत्तर चित्तको उत्पन्न करता है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें कार्य कारण सन्ध माननेसे कार्य हेतु मानना चाहिये । परन्तु बौद्धोंने पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें स्वभाव हेतु माना है । तथा, स्वभाव हेतु तादात्म्य सन्ध होने-पर ही होता है । जैसे यह वृक्ष है, सीसम होनेसे, यद्वा वृक्ष और सीसमका तादात्म्य होनेसे स्वभाव हेतु अनुमान है । इस लिये भिन्न भिन्न समयमें होनेवाले पूर्व ओर अपर चित्त क्षणोंमें स्वभाव हेतु भी नहीं बन सकता । क्योंकि यदि पूर्व और अपर चित्त क्षणोंको एक ही समयमें होनेवाला माना जाय, तो उनमें प्रतिसन्धेय ओर प्रतिमधायकका विभाग नहीं बन सकता । तथा प्रतिसन्धानका अर्थ उत्पन्न करना भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि पूर्व ओर उत्तर क्षणोंको एक समयवर्ती माना जाय, तो उनमें कार्य कारण सन्ध नहीं बन सकता । यदि पूर्व और उत्तर क्षणोंको भिन्न समयवर्ती मानो, तो पूर्व चित्त क्षणके सर्वथा नाश हो जानेपर उपादान कारणके बिना उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

तथा प्रमोक्षमद्भुतोपः । प्ररुपेणापुनर्भावेन कर्मसन्धानाद् मोक्षां मुक्तिः प्रमा-हस्तस्यापि भङ्ग प्राप्नोति । तन्मते तावदात्मैव नास्ति । न प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते । ज्ञानक्षणोऽपि ससारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यत । न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तमुख्याय चेट्टमाना दृष्टः । क्षणस्य तु दुःख स्वरसनाशित्वात् तेनैव सार्धं दध्वसे । सन्तानस्तु न वास्तव कश्चित् । नास्तवत्वे तु आत्मानुपगमप्रसङ्गः ॥

( ४ ) कर्मोंके बंध नहीं होनेको मोक्ष कहते हैं । बौद्धोंके मतमें मोक्षका सद्भाव भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि बौद्ध मतमें आत्मा नहीं है, इस लिये सुखी होनेके लिये कौन प्रयत्न करेगा । जब तक समार है, तभी तक ज्ञान क्षण रूप पर्याय मौजूद है, इस लिये

पूर्व ज्ञान क्षणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर अपर ज्ञान क्षणोंके सुरी होनेके लिये कोई भी प्रयत्न नहीं कर सकता । क्योंकि पूर्व और अपर ज्ञान क्षणोंमें कोई सबध नहीं रह सकता । जैसे दुखी देवदत्त यज्ञदत्तके सुखके लिये प्रयत्न करता हुआ नहीं देखा जाता । तथा प्रत्येक ज्ञान क्षणका दुख भी उमी क्षणके साथ नष्ट हो जाता है । यदि सब ज्ञान क्षणोंमें मुरत दुःख पहचानेवाली सतान स्वीकार की जाय, तो यदि वह सतान ज्ञान क्षणोंके अनिरिक्त कोई पृथक् वस्तु है, तो उसे आत्मा ही कहना चाहिये । यदि सतान अस्तु है, तो वह सतान अकार्यकारी है ।

अपि च बौद्धा “ निखिलवासनोच्छेदे विगतविपनाकाराप्लवविशुद्धज्ञानो-  
त्पादा माधु ” इत्याहुस्तच्च न घटते । कारणाभावाद्द तद्रनुपपत्तं । भावनाप्रचयो हि  
तस्य कारणमिष्यते । स च स्थिरैकाश्रयाभावाद् विशपानाधायक प्रतिक्षणमपूर्वम्  
उपजायमानो निरन्वयविनाशी, गगनलङ्घनाभ्यासम् अनासादितप्रकृपा न स्फुटा-  
भिज्ञानजननाय प्रभवति, इत्यनुपपत्तिरत्र तस्य । समलचित्तक्षणाना स्वाभाविस्याः  
सन्धारम्भणशक्तेरसद्विधारम्भम् प्रत्यशक्तेश्च अस्मान्नुच्छेदात् । किंच, समल-  
चित्तक्षणा पृथक् स्वरसपरिनिर्वाणा अयमपूर्वा ज्ञान सतानदर्शनी न विद्यते वन्य  
माक्षा चैकाधिनरणा न विषयभेदेन वर्तते । तन् अस्येय मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते ।  
अयं हि मोक्षशब्दो वचनविच्छेदपर्यायः । मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्ध । क्षणक्षयनाद  
त्यन्य क्षणो बद्ध, क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति प्राप्नोति मोक्षाभावात् ॥

तथा बौद्ध लोग “ सम्पूर्ण वासनाओके नष्ट हो जानेपर विविध प्रकारके  
प्राज्ञ प्रादक सन्धसे रहित विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेको मोक्ष कहते हैं, ” परन्तु  
यह ठीक नहीं । क्योंकि क्षणिक वाणियोंके मतमें कार्य कारण भाव नहीं बन  
सन्ता । बौद्धोंके मतमें ‘ सब पदार्थ क्षणिक हैं, सब दुःख रूप है, सामान्य  
रूपमें जात न हो कर अपने अमाधारण रूपमें जात होते हैं, अतएव स्वल्पक्षण हैं,  
तथा सब पदार्थ निम्नमान होनेसे शून्य हैं ’ इस प्रकार भावना चतुष्टयकी उत्कटतासे  
सम्पूर्ण वासनाओंका नाश हो जाना मोक्ष है । परन्तु बौद्धोंने इन भावनाओंका कोई नित्य  
आश्रय नहीं माना है । तथा, प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन उत्पन्न हो कर दूसरे क्षणमें सर्वथा  
नष्ट होनेवाली अनन्त अशुद्ध ज्ञानकी सतान अशुद्ध ज्ञानको ही उत्पन्न कर सकती है, शुद्ध  
ज्ञानको नहीं । अतएव अशुद्ध ज्ञानसे शुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । जिस तरह बीज  
अपने सजातीय फलको उत्पन्न कर सकता है, विजातीय फलको नहीं, उसी तरह अशुद्ध ज्ञान  
क्षणोंसे केवल अशुद्ध ज्ञान क्षणोंकी उपत्ति हो सकती है, शुद्ध ज्ञान क्षणोंकी नहीं, अतएव  
अशुद्ध ज्ञान क्षणोंका सर्वथा नाश नहीं हो सकता । तथा, बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके  
क्षणस्थायी होनेके कारण अशुद्ध ज्ञान क्षणोंके अपने स्वरूपमें सर्वथा नष्ट हो जानेपर शुद्ध

ज्ञान क्षणकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। अतएव पूर्व और अपर ज्ञान धर्मात्मै कोई सतान समन नहीं। तथा, जिम पुरुषके बध हो, उसे ही मोक्षकी तैय्यारी करनी चाहिये, और निम कर्मोसि समारी अवस्थामें बध होता है, उन्हीं कर्मोंका मोक्ष अवस्थामें क्षय होना चाहिये। परन्तु क्षणिक वादियोंके मतमें निस क्षणमें पुरुषके बध होता है, वह क्षण मोक्ष होनेके क्षणसे भिन्न है, अतएव बौद्धोंके मतमें निस पुरुषके बध होता है, उन्हीं पुरुषके मोक्ष नहीं हो सकता, इस लिये मोक्षका अभाव हो जाता है।

तथा स्मृतिभङ्गदोष । तथाहि । पूर्वतुद्घयानुभूतेऽर्थे नोत्तरतुद्घीनां स्मृति सभगति । ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत् । न ह्यन्यदृष्टाऽर्थोऽन्येन स्मर्यते अन्यथा एतेन दृष्टोऽर्थ संर्व, स्मर्येत । स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञापमृति । तस्याः स्मरणानुभवोभयसभवत्वात् । पदार्थमेक्षणमनुद्भवाक्तनसस्कारस्य हि प्रभानु. स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते ।

( ५ ) बौद्धोंके मतमें स्मृति ज्ञान भी नहीं बन सकता। निस प्रभार एक बुद्धिसे अनुभूत पदार्थका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि एक बुद्धि दूसरी बुद्धिसे भिन्न है उसी तरह बुद्धिका प्रथम क्षण दूसरे क्षणको नहीं जान सकता। अतएव एक मनुष्यके देखे हुए पदार्थको दूसरा मनुष्य स्मरण नहीं कर सकता, अन्यथा एक पदार्थका एक पुरुषके द्वारा ज्ञान होनेपर उस पदार्थका सन पुरुषोंको स्मरण हो जाना चाहिये। स्मरणके अभाव होनेपर प्रत्यभिज्ञान भी नहीं बन सकता। कारण कि पड़े देखी हुई वस्तुके स्मरणपूर्वक ' यह वही है,' इस प्रकारके अनुभवको प्रयभिज्ञान कहते हैं।

अथ स्यादय दोष, यत्रविशेषेणान्यदृष्टमन्य. स्मरतीत्युच्यते । किन्तु अन्य-त्वेऽपि कार्यकारणभावाद् एव च स्मृति. । भिन्नसतानबुद्धीना तु कार्यकारणभावो नास्ति तेन सतानान्तराणा स्मृतिर्न भवति । न चैतान्तानिमीनामपि बुद्धीनां कार्य कारणभावो नास्ति, येन पूर्वतुद्घयानुभूतेऽर्थे तदुत्तरतुद्घीना स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम् । एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात् । न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगत । क्षणिकत्वेन सर्वासा भिन्नत्वात् । न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभय-प्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः ॥

शक्ता—अपने अनुभूत किये हुए पदार्थोंका हम स्वय ही स्मरण कर सकते हैं। इस लिये एक मनुष्यके द्वारा अनुभूत पदार्थोंका दूसरे मनुष्यद्वारा स्मरण किया जाना समन नहीं। क्योंकि बुद्धिका एक ही सतानके अनुभव और स्मरणमें काय कारण समन होता है, एक सतानका दूसरी सतानके साथ कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता। अतएव एक पुरुषके अनुभव करनेपर दूसरे पुरुषको स्मरण नहीं होता। सतानी ( ज्ञान क्षण ) और

१ कार्यकारणभावप्रतिनियमादेव स्मृत्यभावोऽपि निरस्त । न रमना कश्चिदिह विद्यते । किं तर्हि स्मरणमेव केवलमाद्येनयात् । अनुभूत हि वस्तुनि विशानसताने स्मृतिवीजाधानात्कालान्तरेण सततिपरिपाक श्चेतो स्मरण नाम कार्यमुत्पद्यते । बोधिव्यावहारपञ्जिकाया पृ ४१५ ।

सतानमे परस्पर कार्य-कारण सन्ध रहता है, इस लिये एक ज्ञानसे किसी पदार्थका अनुभव होनेपर उसी ज्ञानसे उस पदार्थका स्मरण होता है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सतानमें काय कारण भाव माननेपर भी सतानके क्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती, क्योंकि बाँझ मतमें सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं। तथा परस्पर भेद होनेपर भी कार्य कारण सन्ध वाला कोई दृष्टात वादी और प्रतिवादीको माय नहीं है।

अथ— “ यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्षयासना ।

फल तत्रैव सधत्ते कर्षासे रक्तता यथा ” ॥

इति। कर्षास रक्ततादृष्टान्तोऽस्तीति चत् । तन्साधीय । साधनदूषणयोरसम्भवात् । तथाहि । अत्रयात्रसम्भवाच्च साधनम् । न हि कार्यकारणभावां यत्र तत्र स्मृतिः कर्षासे रक्तताप्रदित्यन्वयः सम्भवति । नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽपि । असिद्धत्वाद्यनुद्भायनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽयत्वात् इत्यस्य हेतोः कर्षासे रक्ततावत् इत्यनेन कश्चिदोप प्रतिपाद्यत ॥

उदा— “ जिस प्रकार कपासके बीजेमे लाल रंग लगानेसे बाँझका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस सतानमें कर्म वासना रहती है, उसी वायनामें कर्म वासनाका फल रहता है । ” अतएव जिन पदार्थको एक पुरुष अनुभव करता है, वही पुरुष उस पदार्थका स्मरण करता है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि कपासमें रक्तताका दृष्टात न साधक है, और न बाधक। क्योंकि इस दृष्टातसे ‘ जहा कार्य कारण भाव होता है, वहा स्मृति होती है, जैसे कपासमें रक्तता, ’ तथा ‘ जहा स्मृति नहीं होती, वहा कार्य कारण भाव भी नहीं होता ’ इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक सन्ध नहीं बनते। अवयव व्यतिरेक न बननेसे कार्य कारण भाव भी मिट नहीं होता। अतएव बुद्धिकी सतानमें कार्य कारण सन्ध नहीं बनता। तथा ‘ कपासमें रक्तता ’ के दृष्टान्तसे ‘ एक ज्ञानसे अनुभूत पदार्थका दूसरे ज्ञानमे स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि पहला ओर दूसरा दोनों ज्ञान भिन्न हैं, अन्य सतानकी तरह ’ हमारे इस अनुमानमें असिद्ध आदि दोष नहीं आते। क्योंकि ‘ जहा जहा भिन्नत्व होता है, वहा वहा स्मृति नहीं होती ’ यह अनुमान ‘ कपासमें रक्तता ’ के दृष्टातसे असिद्ध नहीं कहा जा सकता, कारण कि यह दृष्टात स्मृति अथवा अनयत्वं किसीके लिये भी लागू नहीं होता। क्योंकि क्षणिक वादियोंके मतमें कपासमें भी क्षण क्षणमें परिवर्तन होता है, इस लिये कपासके दो क्षणोंमें एकसी न रहनेसे कपासमें भी अन्य न है।

रिद्ध, यत्रन्वयत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावात्सद्भावेन स्मृत्यादि स्यात् । अथ नाय प्रसङ्गः, एकसतानत्वे सतीतिविशेषणादिति चेत् । तदप्युक्तं । भेदाभेदपक्षाभ्या तस्योपश्लेषणत्वात् । क्षणपरम्परातस्तस्याभेदे हि क्षणपरम्परैव सा । तथा च सतान इति न निश्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात् । भूत् तु पारमार्थिक अपारमार्थिको वासौ स्यात् ? अपा-

रमार्थिस्तत्स्य द्रुपण, अकिञ्चित्करत्वात् । पारमार्थिस्तत्त्वे स्थिरो वा स्यात्  
क्षणिका वा ? क्षणिकत्व सतत्तन्निर्देशेप एवायम्, इति किमनेन स्तनभीतस्य  
स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुसराणिना । स्थिरथेत् आत्मैव सज्ञाभेदतिरोहित\* प्रतिपन्न\* ।  
इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् ॥

तथा, यदि अनुभव और स्मरणके पीछे कोई नित्य पदार्थ स्वीकार न करके, भिन्न  
भिन्न मतानोंमें कार्य-कारण भाव मान कर स्मृति स्वीकार की जाय, तो शिष्य और आचार्य-  
की बुद्धिमें भी कार्य कारण मानना चाहिये । क्योंकि गुरु शिष्यको पढाता है, अतएव गुरुकी  
बुद्धि कारण, और शिष्यकी बुद्धि कार्य कही जा सकती है । यदि कहे, कि हम एक  
मतानके होनेपर ही ( एकसतानत्वे सति ) कार्य कारण समझ मानते हैं, अतएव गुरु-  
शिष्यकी बुद्धिमें कार्य-कारण समझ नहीं बन सकता, क्योंकि यदा दो भिन्न सतान मौजूद  
हैं । यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि आप लोग अनुभवको स्मृतिके साथ जोड़नेके लिये  
बुद्धि क्षणों ( मतानी ) की एक सतान स्वीकार करते हैं, तो हम पूछते हैं, कि सतान  
सतानी ( बुद्धिक्षण परंपरा ) से भिन्न है, या अभिन्न ? यदि सतान क्षण परंपरामे अभिन्न  
है, तो उसे क्षण परंपरा ( सतानी ) ही कहना चाहिये, सतान नहीं । यदि सतान और  
क्षण परंपराको भिन्न मानो, तो यह सतान और क्षण परंपराका भेद वास्तविक है, या  
कल्पित ? यदि यह भेद कल्पित है, तो वह अकार्यकारी है । यदि सतान और क्षण पर-  
ंपराका भेद वास्तविक है, तो वह स्थिर है, या क्षणिक ? यदि सतान क्षणिक है, तो क्षण  
परंपराको छोड़ कर सतानका आश्रय लेना एक चोरके भयसे दूसरे चोरके आश्रय लेनेके  
समान है । यदि सतानको स्थिर मानो, तो फिर आत्मा स्वीकार करनेमें ही क्या दोष है ?  
अतएव क्षणिक वादियोंके मतमें स्मृति भी नहीं बनती ।

तदभावे च अनुमानस्यानुत्थानमित्युक्तम् प्रागव । अपि च, स्मृतरभावे  
निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विर्त्तयिष्यन् ।

“ इत्येकनवते कल्पे शक्यता मे पुरपा इत ।

तन र्भर्मिपात्रेन पाटे विद्भोऽस्मि भिक्षर. ॥ ”

इति वचनस्य का गति । एवमुत्पत्तिरत्पाद्यति, स्थिति स्थापयति, जरा  
जर्जरयति, विनाशो नाशयतीति चतुर् क्षणिक वस्तु प्रतिज्ञानाना अपि प्रतिक्षेप्या ।  
क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादि व्यवहारार्था दर्शनात् । तदेवमनेन्द्रोपापा-  
वेऽपि य. क्षणभङ्गमभिप्रैति तस्य महत् साहसम् ॥ इति काव्यार्थ ॥ १८ ॥

स्मृतिके अभाव होनेपर अनुमान भी नहीं बन सकता । तथा स्मृतिके अभावे धरोहर  
रस कर भूल जाना, धरोहरको लौटानेकी याद न रहना आदि व्यवहारका भी लोप हो  
जायगा । तथा, “ अबमे इक्यानेवे भवमे मेने एक पुरपको बगत्कारसे मार डाला, उस

१ लक्षणानि तथा जानिर्द्रुपस्थितिरनित्यता ।

जाति जात्यादयस्तथा तेऽष्टधर्मेकचूत्तय ।



कर्मके सोटे फलसे मेरा पैर छिद गया है" आदि वचन भी नहीं कहे जा सकते। अतएव उत्पत्ति, स्थिति, जरा और विनाश इन चार क्षण पर्यंत जो वस्तुकी स्थिति मानी है (क्षणिकवादका परिवर्तित रूप), वह भी नहीं बन सकती। क्योंकि चार क्षणोंके बाद भी वस्तुकी स्थिति देरी जाती है। इस लिये अनेक दोषोंके आनेपर भी क्षणमगको मानना बौद्धोंका महान सहास है। यह श्लोकका अर्थ है।

**भावार्थ—**इस श्लोकमें बौद्धोंके 'क्षणमग' वादपर विचार किया गया है। जैन लोगोंका कहना है, कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी माननेपर बौद्धोंके मतमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं बन सकता। तथा आत्माके न माननेपर (१) समार नहीं बनता, क्योंकि क्षणिक वादियोंके मतमें पूर्व और अपर क्षणोंमें कोई सबध न हो सकनेसे पूर्व जन्मके कर्माका जन्मांतरमें फल नहीं मिल सकता। बौद्ध लोग सतानको वस्तु मानते हैं। उनके मतानुसार सतानका एक क्षण दूसरे क्षणसे सबद्ध होता है, मरणके समय रहनेवाला ज्ञान क्षण भी दूसरे विचारसे सबद्ध होता है, इसीलिये ससारकी परम्परा सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि सतान क्षणोंका परस्पर सबध करानेवाला कोई पदार्थ नहीं है, जिससे दोनों क्षणोंका परस्पर सबध हो सके। (२) आत्माके न माननेपर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि ससारी आत्माका अभाव होनेसे मोक्ष किसको मिलेगा। बौद्ध लोग सम्पूर्ण वासनाओंके नष्ट होजाने पर भावना चतुष्टयसे होनेवाले विशुद्ध ज्ञानको मोक्ष कहते हैं। परंतु क्षणिक वादियोंके मतमें कार्य कारण भाव नहीं सिद्ध होता। तथा अशुद्ध ज्ञानसे अशुद्ध ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है, विशुद्ध ज्ञान नहीं। तथा, जिस पुण्यके बंध हो, उसे ही मोक्ष मिलना चाहिये। परन्तु क्षणिक वादियोंके मतमें बंधके क्षणसे मोक्षका क्षण दूसरा है, अतएव बंध पुण्यको मोक्ष नहीं हो सकता। (३) अनात्मवादी बौद्धोंके मतमें सृष्टि ज्ञान भी नहीं बन सकता। क्योंकि एक बुद्धिसे अनुभव किये हुए पदार्थोंका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता। सृष्टिके स्थानमें सतानको एक अलग पदार्थ मान कर एक सतानका दूसरी सतानके साथ कार्य कारण भाव माननेपर भी सतान क्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं भिन्न हो सकती। क्योंकि बौद्ध मतमें सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

अथ ताथागतता, क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्ति परंरुद्रावितामार्गण्य इत्थ प्रतिपादयन्ति । यत् सर्वपदार्थानां क्षणिकरूपेण वासनात्रयलब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायन ऐहिकामुष्मिन्व्यवहारमवृत्ते कृतप्रणाशादिदापा निरवेकाशा एव

\* यथा बीजादिध्यातमानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पात्तश्च क्रमेण भवति । तथा प्रकृतेऽपि परलोकागामिनमेकं निनापि कायकारणभासस्य नियामकत्वात्प्रातीनियतमेव फल । ज्ञेयकर्माभिनसहृत्स्य संतानस्थायिविच्छेदेन प्रवर्तनात् परलोके फलप्रतिलभोऽभिधीयते । इति नाश्रुताभ्यागमो न इतिप्रमाणो बाधक । बोधिचयावतारपरिज्ञा पृ ४७३ । अत्र शान्तरक्षितवृत्ततत्त्वसमक्षे कर्मफलसंबन्धपरिज्ञानामप्रकरणम् अन्त्याकथितव्यम् ।

इति । तत्राहृत परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणै  
पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्व दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गी-  
कारयितुमाह—

बौद्ध—पदार्थोंके क्षणिक होनेपर भी वासनासे उत्पन्न होनेवाले अभेद जानसे  
इस लोक और परलोक सबधी व्यवहार चल सकता है, अतएव 'वृत्तकर्मप्रणश' आदि दोष  
हमारे सिद्धातमें नहीं आ सकते । जैन—आप लोग जिस वासनाको स्वीकार करते हैं, वह  
वासना क्षण परम्परासे भिन्न, अभिन्न, अथवा न भिन्न और न अभिन्न ( अनुभय ) किसी भी  
तरह सिद्ध नहीं होती । अतएव म्याद्वादके भेदाभेदको ही स्वीकार करना चाहिये—

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदानुभयैर्घटेते ।

ततस्तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—वासना और क्षणसन्तति परस्पर भिन्न, अभिन्न, और अनुभय तीनों  
प्रकारसे किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती । अतएव जिस प्रकार समुद्रमें जहाजसे उडा हुआ  
पक्षी समुद्रका किनारा न देख कर पीछे जहाजपर ही लौट आता है, उसी तरह उपायान्तर  
न होनेसे बौद्ध लोग आपके ही सिद्धान्तोंका आश्रय लेते हैं ।

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पाना परस्परविशकलिताना क्षणाना  
मन्योन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना । वासनेति  
पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः । सा च क्षणसन्ततिस्तदर्शनप्रसिद्धा । प्रदीपप्रलि-  
कावत् नवनवोत्पद्यमानापरपरसदृशक्षणपरम्परा । एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते ॥

व्याख्यार्थ—टूटे हुए मोतियोंकी मालाकी तरह परस्पर भिन्न क्षणोंको  
जोडनेवाली वासना मानी गई है । यह वासना मोतियोंकी मालामें डोरेकी तरह  
सम्पूर्ण ज्ञान क्षणोंमें प्रविष्ट रहती है । वासनाका दूसरा नाम सन्तान भी है । पूर्व  
ज्ञान क्षणमें उत्तर ज्ञान क्षणमें उत्पन्नकी हुई शक्तिको वासना कहते हैं । दीपककी लौके समान  
नये नये उत्पन्न होनेवाले एकसे पूर्व और उत्तर क्षणोंकी परम्पराको क्षणसन्तति कहते हैं ।  
जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें  
परम्पर सदृश ज्ञान होनेके कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है, उसी तरह पदार्थोंके  
प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृश ज्ञान होनेके कारण  
यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है । इसे ही बौद्ध मतमें क्षणसन्तति कहा है । यह  
वासना और क्षणसन्तति परस्पर भिन्न, अभिन्न, अथवा अनुभय रूपसे किसी भी प्रकार सिद्ध  
नहीं होती ।

न तावद्भेदेन तादात्म्येन ते घटेते । तयोर्हि अभेदे वामना वा स्यात् क्षण-  
परम्परा वा । न द्वयम् । यद्धि यस्मादभिन्न न तत् तत' पृथगुपलभ्यते, यथा घटाद्

घटस्वरूपम् । केवलयां वासनायामन्वयिस्वीकार' । वास्याभावे च किं तथा वासनी-  
यमस्तु । इति तस्या अपि न स्वरूपमतिष्ठते । क्षणपरम्परामात्राङ्गीकरणं च मात्र  
एव दोषः ॥

( १ ) वासना ( सतति ) और क्षणसततिको परस्पर अभिन्न मानना ठीक नहीं ।  
क्योंकि वासना और क्षणसततिके अभिन्न होनेसे वासना और क्षणसतति दोनोंमें से किसी  
एकको ही मानना चाहिए । जो पदार्थ जिससे अभिन्न होता है, वह उससे अलग नहीं पाया  
जाता । जैसे घट स्वरूप घटसे अभिन्न है, इस लिये घट स्वरूप घटसे अलग नहीं पाया  
जाता । अतएव केवल वासनाको स्वीकार करना नित्य पदार्थको स्वीकार करनेके समान  
है । तथा, वास्य ( क्षणसतति ) को स्वीकार न करके केवल वासनाको स्वीकार करना  
निष्प्रयोजन है । यदि केवल क्षण परम्परा स्वीकार करो, तो पूर्वोक्त दोष आते हैं ।

न च भेदेन ते युज्यत । सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यात् अक्षणिका  
वा ? क्षणिका चेत्, तर्हि क्षणभ्यस्तस्या' पृथक्कल्पन व्यर्थम् । अक्षणिका चेत्,  
अन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनागममाद्य । तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो  
व्यसनमानम् ॥

( २ ) यदि वासना ओर क्षणसततिको परस्पर भिन्न मानो, तो वासना क्षणिक है,  
अथवा अक्षणिक ? यदि वासना क्षणिक है, तो वासनाको क्षणोंसे नि  
यदि वासना अक्षणिक है, तो वासनाको नित्य माननेसे आपके आ  
इस लिये पदार्थोंका क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

अनुभयपक्षेणापि न घटेत । स हि कदाचित् एव ह्यात्, नाह वासनाया,  
क्षणश्रेणितोऽभेद प्रतिपत्ते, न च भेद कित्वनुभयमिति । तदप्यनुचितम् । भेदाभेदयो-  
र्विधिनिषेधरूपयोरन्तरप्रतिषेधजन्यतरस्यावश्य विधिभावात् अन्यतरपक्षाभ्युपगमः ।  
तत्र च प्रागुक्त एव दोषः । अथवानुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः । भेदाभेदलक्षणपक्षद्वय-  
व्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात् । अनार्हताना हि वस्तुना भिन्नं वा भाव्यम्  
अभिन्नं वा ? तदुभयातीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वान् । एव विस्मयजन्येऽपि क्षण-  
परम्परावासनयोरनुपपत्तो पारिश्रम्याद् भेदाभेदपक्ष एव षष्ठीकरणीयः । न च  
“ प्रत्यरू यो भवेद् दापो द्वयोर्भावं कथं न सः । ” इति वचनादत्रापि दोषतादव-  
स्थामिति वान्यम् । कुक्कुटसर्पनरसिंहाद्विवद् जात्यन्तरत्वाद्नेऽन्तपक्षस्य ॥

( ३ ) वासना और क्षणसततिमें भेद और अभेदसे विकक्षण भेदाभेदका अभाव  
( अनुभय ) भी नहीं बन सकता । क्योंकि भेद विधि रूप है, और अभेद निषेध रूप, इस

१ यथा नरसिंह नखसिंहत्वोभयजाति यतिरिति नरसिंहत्वाख्य जात्यन्तरम् । तद्वदित्यर्थं । कुक्कुट  
सर्प-पि कश्चन कुक्कुटत्ववत्पत्न्युभयजाति यतिरिति कुक्कुटसत्त्वजातिमान् प्राणिविशेष स्यात् ।

लिये एकके निषेध करनेपर दूसरेको स्वीकार करना पडना है । अतएव भेद न माननेमें, अमेद, और अमेद न माननेसे, भेद मानना पडता है । अलग अलग भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें दोष दिये जा चुके हैं । यदि कहो, कि वासना और क्षणसततिका सञ्च परम्पर भेदाभेदके अभाज रूप है, तो इस सबधको कल्पित ( अवस्तु ) ही कहना चाहिये । क्योंकि बौद्धोंके मतमें भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष नहीं बन सकता । क्योंकि अनेकान वादियों छोड कर अन्य वादियोंके मतमें पदार्थोंके परम्पर भेद और अमेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष समज नहीं है । अतएव भेद, अभेद और अनुमय तीनों विकल्पोसे वासना और क्षणपरम्परा सिद्ध नहीं हो सकती । इस लिये वासना और क्षणपरम्परामें भेदाभेद ही स्वीकार करना चाहिये । यदि कटो, कि “ भेद और अमेद पक्ष स्वीकार करनेम जो दोष आते हैं, वे मत्र दोष भेदाभेद माननेमें भी आते हैं, ” यह ठीक नहीं । क्योंकि जैसे कुक्कुटमर्ममें कुक्कुट और सर्प दोनोंसे विलक्षण, ओर नरसिंहमें नर और सिंह दोनोंसे विलक्षण तीसरा रूप पाया जाता है, उसी तरह अनेकाल पक्षमें भेद और अमेद दोनोंसे भिन्न तीसरा पक्ष स्वीकार किया गया है ।

ननु आर्हताना वासनाक्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति तत्रथ तदाश्रय-भेदाभदचिन्ता चरितार्था इति चत् । नैवम् । स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षण नवनवपर्यायपरम्परात्पत्तिरभिमतैव । तथा च क्षणिकत्वम् । अतीतानागतवर्तमानपर्यायपरम्परानुसधायक चान्वायिद्रव्यम् । तच्च वासनेति सज्ञान्तरभागप्यभिमतमेव । न खलु नामभेदाद् वाद् कापि काविदानाम् । सा च प्रतिक्षणोत्पादिष्णुपर्यायपरम्परा अन्ययिद्रव्यात् कथचिद् भिन्ना कथचिदभिन्ना । तथा तदपि तस्या स्याद् भिन्न स्याद्भिन्नम् । इति पृथग्रूपत्वपच्यपदेशविषयत्वाद् भेदः । द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनाद्भेदः । एतच्च सकलादेशविकृतादृशव्यागयाने पुरस्तात् प्रपञ्चयिष्यामः ॥

ज्ञाना—जैन लोगोंने वासना और क्षण परम्पराको स्वीकार ही नहीं किया, फिर वासना और क्षण परम्परामें भेद, अमेद आदिके विकल्प करना असगत है । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि स्याद्वादी लोगोंने प्रत्येक द्रव्यमें क्षण क्षणमें नयी नयी पर्यायोंकी परम्पराकी उत्पत्ति स्वीकार की है । इसीको जैन लोग क्षण परम्परा कहते हैं । इसी प्रकार अतीत, अनागत, और वर्तमान पर्यायोंका सञ्च करानेवाला नित्य द्रव्य भी जैन लोगोंने माना है । इम नित्य द्रव्यको वासना भी कह सकते हैं । अतएव पर्याय परम्परा और क्षण परम्परा, तथा द्रव्य और वासनामें नाम मात्रका अन्तर है । प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली पर्याय परम्परा नित्य द्रव्यसे कथचित् भिन्न है, और कथचित् अभिन्न है । पर्याय द्रव्यमें भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पर्यायका भिन्न भिन्न ज्ञान होता है, तथा द्रव्य और पर्याय

अभिन्न हैं, क्योंकि एक ही द्रव्य भिन्न भिन्न रूप पर्यायोंको धारण करता है। अतएव वासना और क्षणसतनिको भी भिन्नाभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये। द्रव्य और पर्यायके कथञ्चित् भेदाभेद का खुलामा सकलादेश और विकलादेशका स्वरूप वर्णन करनेके अवसरपर ( २३ वें श्लोकमें ) किया गया है।

अपि च, बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते, इति निर्दिष्टया तत्र भेदादिविकल्प-चिन्ता। तल्लक्षण हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चास्थिराणा भिन्नकाल-तयान्योन्यासप्रदानां च तेषा वास्यवासकभायो युज्यत। स्थिरस्य सवद्धस्य च चन्द्रादेर्भ्रमदादिना वास्यन्व दृष्टमिति ॥

बौद्धोंके मतमें ' वासना ' ही सिद्ध नहीं होती, अतएव वासना और क्षण परम्पगमें भेद आदिकी कल्पना निरर्थक है। बौद्ध लोग पूर्व क्षणमें उत्तर क्षणसे उत्पन्न होनेवाले 'चित्त' को वासना कहते हैं। परन्तु बौद्धोंके मतमें क्षण स्वयं अस्थिर हैं। इस लिये परस्पर भिन्न और असप्रद्व क्षणोंमें वास्य-वासक सबध नहीं बन सकता। क्योंकि नित्य और कस्तूरीसे समद्व नित्य बत्तमें ही कस्तूरीसे वासना उत्पन्न हो सकती है।

अथ पूर्वचित्तसहजात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्ट चित्तमुत्पद्यते, सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पत्तो वासना। तथाहि। पूर्वचित्त रूपादिविषय प्रवृत्तिविज्ञान यत्तत् पद्विध। पञ्च रूपादिविज्ञानान्यविकल्पकानि पृष्ठ च विमल्यविज्ञानम्। तेन मह जात समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्। तस्मात् पूर्वशक्ति-विशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति ॥

शक्ता—पूर्व चित्तसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त दूसरा चित्त उत्पन्न होता है। इस चेतना शक्ति विशिष्ट चित्तका उत्पन्न होना वासना है। इस वासनासे वासक ( पूर्व क्षण ) और वास्य ( उत्तर क्षण ) में सबध होता है। आल्यविज्ञान भी इसी वासनाका नाम है। जिस प्रकार पवनके द्वारा समुद्रमें लहरें उठती हैं, उसी तरह अहकार सयुक्त चेतना ( आल्यविज्ञान ) में आलम्बन, समनंतर, सहकारी और अधिपति प्रत्ययोद्वारा प्रवृत्ति विज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता है। शब्द आदि ग्रहण करनेवाले पूर्व चित्तको प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं। यह प्रवृत्ति विज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और विमल्य विज्ञानके भेदसे छह प्रकारका है। शब्द, स्पर्श आदिको ग्रहण करनेवाले पांच विज्ञानोंको निर्विकल्पक ( जिस ज्ञानमें विशेषाकार रूप नाना प्रकारके भिन्न भिन्न पदार्थ प्रतिभासित हों ), और विकल्प विज्ञानको सविकल्पक ( जिस ज्ञानमें सत्र पदार्थ विज्ञान रूप प्रतिभासित हों ) कहा गया है। इन्हीं ज्ञानोंको बौद्ध लोग

१ सशाल्यविज्ञान नामाहमास्पद विज्ञान। नीलगुण्डोव्य च विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञानम्।

२ तर्हिमा ह्युदधेर्भ्रमत् पवन प्रत्ययेरिता। नृत्यमाना प्रवतन्ते विच्छेदश्च न विद्यते ॥

आल्योपस्था मित्य विषयपवनेरित। चिह्नेस्तरगविज्ञाने नृत्यमानः प्रवर्तते ॥

चित्त कहते हैं । सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके बाह्य और आन्तर दो भेद हैं । बाह्य मूल और भौतिकके भेदसे दो प्रकारका है । पृथ्वी आदि चार परमाणु भूत हैं, और रूप आदि और चक्षु आदि भौतिक है । आन्तर चित्त और चैतिकके भेदसे दो प्रकारका है । विज्ञानको चित्त अथवा चैतिक, और बाकीके रूप, वेदना, सजा और सस्कार स्फूर्तियोंको चैत कहते हैं । प्रवृत्ति विज्ञानके साथ एक कालमें उत्पन्न होनेवाले अहकारसे युक्त चेतनाको आल्यविज्ञान कहते हैं । इस आल्यविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्ति विगिष्ट उत्तर चित्त उत्पन्न होता है । इसी आल्यविज्ञानको वासना कहा है ।

तदपि न । अस्थिरत्वाद्वासनासम्पन्नाच्च । यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्त-सहभागी, स न वर्तमाने चेतस्युपभार करोति । वर्तमानस्याशक्यापनेधोपनेयत्वेनाप्रि-कार्यत्वात् । तद्वि यथाभूत जायते तथाभूत विनश्यतीति । नाप्यनागते उपभार कराति । तेन सदासवद्धत्वात् । असरद्ध च न भावयतीत्युक्तम् । तस्मात् सोगतमते वासनापि न घटते । अत्र च मृत्तिकारेणाभ्युपेत्यापि ताम् अन्वयिद्रव्यस्थापनाय भेदाभेदादि-चर्चा प्रिचितेति भावनीयम् ॥

समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि पूर्व और उत्तर चित्तों (प्रवृत्ति नान) का सन्ध करानेवाला बौद्धोंका आल्यविज्ञान ( वासना ) स्वयं क्षणिक है । अतएव क्षणिक आल्य-विज्ञानसे पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सन्ध नहीं बन सकता । तथा पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न होनेवाली चेतना ( आल्यविज्ञान ) वर्तमान चित्तको उत्पन्न नहीं कर सकती । क्योंकि बौद्धोंके मतमें वर्तमान चित्त क्षणिक होनेसे उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, अतएव पूर्व चित्तसे वर्तमान चित्त उत्पन्न नहीं हो सकता । इस चेतनासे भविष्यमें भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि चेतना भविष्यके साथ सबद्ध नहीं हो सकती । अतएव भविष्यसे अमवद्ध रहनेके कारण यह चेतना भविष्यमें किसी प्रकारकी वासना उत्पन्न नहीं कर सकती । इस लिये बौद्ध मतमें वासना नहीं बनती । यहा हेमचन्द्र आचार्यने वासनाके असम्भव होनेपर भी नित्य द्रव्यकी सिद्धि करनेके लिये भेद, अमेद आदिकी चर्चा उठाई है ।

अधोत्तरार्द्धव्याख्या । तत इति पक्षत्रयंऽपि दोषसद्भावात् त्वदुक्तानि भवद्र-चनानि भेदाभेदस्याद्वादसत्त्वात्पूतानि, परे कुतीर्थ्याः प्रकरणात् मायातनया श्रयत्तु आट्टियन्ताम् । अत्रोपमानमाह तदादर्शात्त्यादि । तत न पश्यतीति तदादर्शात् । यः शकुन्त-पोत पक्षिशावक तस्य न्याय उदाहरणम् तस्मात् । यथा किल कथमप्यपारपारावा-रान्त पतित काकादिशकुनिशावको यदि निर्जगमिपया प्रवहणकृपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये सुग्रतयोर्द्धानि, समन्ताज्जलैर्कार्णवमेवात्रलोभयस्तटमहदृषैव निर्वेदाद् व्याट्टत्य तदेव कृपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते । गत्यन्तराभावात् । एव तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयंऽपि चस्तुसिद्धिमनासाद्यन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाभेदपक्षमनिच्छयापि कर्षीकुर्वाणास्त्व-

ञ्जासनमेव प्रतिपन्नताम् । न हि स्वस्य उल्लिख्यतामान्तरम्य वलीयस\* प्रभोः  
शरणाश्रयण दापपोपाय नीतिशालिनाम् । त्वदुक्तानीति बहुवचन सर्वेषामपि तवा तरो-  
याणां पद पदस्नान्तवाटप्रतिपत्तिरय यथावस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिक नान्यदिति  
ज्ञापनार्थम् । अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना  
यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात् । इतरथान्धगजन्यायन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात् ॥

अतएव भेद, अमेद और अनुमय तीनों पक्षोंके सदोष होनेसे कुतीर्थिक बौद्ध  
मतावलम्बियोंको आपके कहे हुए भेदाभेद रूप स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ता है। जिस प्रकार  
किमी पक्षीका बच्चा अथाह और विशाल समुद्रके बीचमें पहुँच जानेपर अपनी मूर्खताके  
कारण जहाजके मस्तूल परसे उड़ कर समुद्रके किनारेपर वापिस आनेकी इच्छा करता है,  
परन्तु वह चारों तरफ जल ही जल देखता है और कहीं भी किनारेका कोई निशान न  
पा कर उपायान्तर न होनेसे फिरसे मस्तूलपर वापिस लौट जाता है, इसी प्रकार कुतीर्थिक  
बौद्ध लोगोंका सिद्धांत पूर्वोक्त तीनों पक्षोंसे सिद्ध न होनेपर बौद्ध लोगोंको भेदाभेद नामक  
चौथे पक्षको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी अतमें आपके ही मतका अवलम्बन  
लेना पड़ता है। अपने पक्षकी निर्बलता देख कर बलवान् स्वामीका आश्रय लेनेसे नीतिज्ञ  
पुरषोंका दोष नहीं समझा जाता। सम्पूर्ण वादी पद पदपर अनेकात वादका आश्रय लेकर ही  
पदार्थोंका प्रतिपादन कर सकते हैं, यह बतानेके लिये श्लोकमें 'उदुक्तानि' पद दिया गया है।  
क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त स्वभाव हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप स्याद्वादके विना  
किसी भी वस्तुका ठीक ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अन्यथा जिस प्रकार जन्मके  
अधे मनुष्य हाथीका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथीके भिन्न भिन्न अवयवोंको टटोल कर  
हाथीके केवल कान, सूँड, पैर आदिमें ही हाथी समझ बैठते हैं, उसी प्रकार एकान्ती लोग  
वस्तुके केवल एक अंशको जान कर उस वस्तुके एक अंश रूप जानको ही वस्तुका  
संज्ञात्मक ज्ञान समझने लग जाते हैं।

श्रय तीति वर्तमानान्त षचित्पठन्नि, तत्राप्यदापः । अत्र च समुद्रस्थानीय\*  
ससारः, पोतसमान त्वञ्जासनम्, कृपस्तम्भसनिभः स्याद्वाद\* । पक्षिपातापमा वादिनः ।  
ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोद्भयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तस्माद्  
इष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्त्य स्याद्वाद्भरूपरूपस्तम्भाद्भ्रुकृततामनीनशासनप्रज्ञाणां-  
पसर्पणमत्र यन्ति शरणीकुर्वन्ते, तदा तेषा भवार्णवाद् यद्विनिष्क्रमणमनारथ\* सफलता  
फलयति नापरया ॥ इति काव्यार्थ ॥ १९ ॥

कुछ लोग 'श्रयन्तु' के स्थानपर 'श्रयन्ति' पढ़ते हैं। परन्तु दोनों पाठ ठीक हैं।  
समुद्रके मस्तूलपरसे उड़नेवाले पक्षीकी तरह वादी लोग अपने सिद्धांतको पुष्ट करके मोक्ष

प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वे लोग अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि न होते देख वापिस आ कर स्याद्वादसे शोभित आपके शासनका आश्रय लेते हैं। क्योंकि स्याद्वाद का सहारा लेकर ही वादी लोग ससार-समुद्रसे छुटकारा पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह श्लोकका अर्थ है।

**भावार्थ**—इस श्लोकमें बौद्धोंकी 'वासना' पर विचार किया गया है।  
**बौद्ध**—प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होता है, कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहते हुए भी लोके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेके कारण यह वही लौ है, यह जान होता है, वैसे ही पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेसे पदार्थोंकी एकताका ज्ञान होता है। पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें नष्ट होते हुए भा परस्पर भिन्न क्षणोंको जोड़नेवाली शक्तिको वासना, अथवा सतान कहते हैं। यह नाना क्षणोंकी परम्परा ही वासना है। इसी वासनाकी उत्तरोत्तर अनेक क्षण परंपराक कार्य-कारण सन्धसे कर्ता, भोक्ता आदिका व्यवहार होता है, वास्तवमें कर्ता और भोक्ता कोई नित्य पदार्थ नहीं है।  
**जैन**—वासना और क्षणसतति परस्पर अभिन्न हैं, भिन्न हैं, अथवा अनुभय ? (क) यदि वासना और क्षणसतति अभिन्न हैं, तो दोनोंसे एकको ही मानना चाहिये। (ख) यदि वासना और क्षणसततिको भिन्न मानो, तो दोनोंमें कोई सन्ध नहीं बन सकता। (ग) भिन्न और अभिन्न दोनों विकल्प स्वीकार न करके यदि वासना और क्षणसतति भिन्न-अभिन्नके अभाव रूप मानो, तो अनेकात मतको छोड़ कर दूसरे वादियोंके मतमें भेद और अमेदसे विलक्षण कोई तीसरा पक्ष नहीं बन सकता।

**विज्ञानवादी बौद्ध**—हम लोग आल्यविज्ञानको वासना कहते हैं। अहंकार-संयुक्त चेतनाको आल्यविज्ञान कहते हैं। आल्यविज्ञानमें प्रवृत्ति विज्ञान रूप सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उत्पन्न होते हैं, इस आल्यविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त उत्तर क्षण उत्पन्न होता है। इसी आल्यविज्ञान (वासना) से परस्पर भिन्न पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सन्ध होता है।  
**जैन**—क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें स्वयं आल्यविज्ञान भी नित्य नहीं कहा जा सकता। अतएव क्षणिक आल्यविज्ञान परस्पर असंबद्ध पूर्व और उत्तर क्षणोंको नहीं जोड़ सकता। इस लिये आल्यविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव बौद्धोंको पदार्थोंको सर्वथा अनित्य न मान कर कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमें नयी नयी उत्पन्न होनेकी अपेक्षा अनित्य है। तथा वस्तुकी क्षण क्षणमें परलनेवाली भूत, भविष्य और वर्तमान पर्याय किसी नित्य द्रव्य (वासना) से परस्पर संबद्ध होती हैं, इस लिये प्रत्येक वस्तु अनित्य है।



एव क्रियावादिना प्रायदुःकानां कतिपयकुग्रहनिग्रह विधाय सांप्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मत सर्वाधमत्त्वादान्ते उपन्यस्यन् तन्मतप्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

इस प्रकार क्रियावादियों (आत्मवादी) के सिद्धांतोंका खंडन करके, अक्रियावादी (अनात्मवादी) चार्वाक लोगोके मतका खंडन करते हुए, अनुमा आदि प्रमाणोंके बिना प्रत्यक्ष प्रमाणकी असिद्धि बता कर चार्वाक लोगोके ज्ञानकी मन्दता दिखाते हैं—

**विनानुमानेन पराभिसन्धिमसविदानस्य तु नास्तिकस्य**

**न साम्प्रतं वस्तुमपि क चेष्टा क दृष्टमात्र च हहा प्रमादः ॥ २० ॥**

श्लोकार्थ—अनुमानके बिना चार्वाक लोग दूसरेका अभिप्राय नहीं समझ सकते । अतएव चार्वाक लोगोको बोलनेकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिये । क्योंकि चेष्टा और प्रत्यक्ष दोनों में बहुत अन्तर है ।

प्रत्यक्षमप्यैः प्रमाणमिति मन्यत चार्वाकः । तत्र सन्नयते । अनु पश्चाद् लिङ्गसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरम् मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविमृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषण इत्यनुमान । प्रस्तावात् स्वार्थानुमानम् । तेनानुमानेन लिङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसन्धि पराभिप्रायम्, असविदानस्य सम्यग् अजानानस्य । तु शब्द पूर्ववादिभ्यो भेदत्रातनार्थ\* । पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षाट कृत\* । नास्तिकस्य तु वस्तुमपि नीचिती इत एव तेन सह क्षोद इति तु शब्दार्थः । नास्तिक परलोक पुण्यम् पापम् इति या मतिरस्य । “ नास्तिकनास्तिकदृष्टिकर्म” इति निपातनात् नास्तिक\* । तस्य नास्तिकस्य लौकायतिकस्य । वस्तुमपि न साम्प्रत वचनमप्युच्चारयितु नीचितम् । ततस्तूष्णीभावा एवास्य श्रयान् । दूरे प्रामाणिकपरिपदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोप्त्री ॥

व्याख्यानार्थ—चार्वाक—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । इस लिये पाच इन्द्रियोंके विषयके बाह्य कोई वस्तु नहीं है । जैन—जिसके द्वारा अविनाभाव समर्थके स्मरणपूर्वक देश, काल और स्वभाव सबही दूर पदार्थोंका ज्ञान हो, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं ( अनु पश्चात् मीयते

\* क्रियावादिनां नाम येषामात्मनाऽस्तित्वं प्रत्यक्षप्रतिपत्ति । यत्क्रियावादिनास्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वं वा शरीरेण सहैतत्त्वात्पत्त्यामयत यत्रामिच्छन्ति । उत्तराध्ययनसूत्रे २३, शीलाकटीकाया १२ लोकानि निर्विचारं सामान्यजानास्तद्द्राचरन्ति स्मति लोकायतका लोकायतिका इत्यपि । बृहस्पतिप्रणयतमत्वेन बार्हस्पत्याच्चेति । पद्दर्शनसमुच्चयपरि गुणरत्नटीकायां पृ १०२ । ३ अनुमान त्रिविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविधानं स्वार्थम् । पद्यहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् । प्रमाणनयनचालोनालङ्कारे २-१०, १३ । ४ हेमचन्द्रे ६-४-६६ ।

परिच्छिद्यते)। स्वार्थानुमान परोपदेशके विना होता है, और परार्थानुमानमें दूसरोको समझानेके लिये पक्ष और हेतुका प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रमाणके विना दूसरोका अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता। अब तकके श्लोकोंमें आस्तिक मतका खडन किया गया है। परलोक, पुण्य और पापको न माननेवाले नास्तिक चार्वाक लोग वचनोंका उच्चारण भी नहीं कर सकने, अतएव नास्तिकोंके लिये प्रामाणिक पुरुषोंकी समासे दूर रह कर मौन रहना ही श्रेयस्कर है। “नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्” इस निपात सूत्रसे नास्तिक शब्द बनता है।

वचन हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते । परण चाप्रतिपित्सत्तमर्थं प्रतिपादयन् नासौ सतामवधेयवचना भवति, उन्मत्तवत् । ननु ऋथमिव तूष्णींमृतवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय मृरुमेयानेन वचनोच्चारणम् इत्याशङ्क्याह । क चेष्टा क दृष्टमात्र च इति । केति बृहदन्तरे । चष्टा इङ्गितम् । पराभिप्रायस्यानुमयस्य लिङ्गम् । क च दृष्टमात्रम् । दर्शनं दृष्ट । भावे क्त । दृष्टमव दृष्टमात्रम् प्रत्यक्षमात्रम् । तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमेतयो । न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रिया. परचेतोदृत्तय परिज्ञातु शक्या., तस्यैन्द्रियकृत्वात् । मुखप्रसादादिचष्टया तु ङिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चय अनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य यलादापतितम् । तथाहि । मद्रचनश्रवणाभिप्रायवानय पुरुष, तादृग् मुखप्रसादादिचेष्टान्यथानुपपत्तेरिति । अतश्च दृष्टा प्रमाद\* । दृष्टा इति खेदे । अहो तस्य प्रमाद\* प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमान प्रत्यक्षमात्राद्गीर्णरेणापहुतं ॥

दूसरोको समझानेके लिये ही वचनोंका प्रयोग किया जाता है। दूसरेके अभिप्रायको न समझ कर अन्य अर्थको प्रतिपादन करनेवाले उन्मत्तकी तरह नास्तिकोंके वचन आदरणीय नहीं हो सकते। शक्या—हम लोग अनुमान प्रमाणको माने विना ही दूसरोकी चेष्टासे दूसरोके अभिप्रायको समझ लेते हैं, इस लिये हमारे मतमें प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। समाधान—यह बात नहीं। क्योंकि दूसरेके अभिप्रायको बतानेवाली चेष्टामें और प्रत्यक्षसे किसी पदार्थको जाननेमें बहुत अन्तर है। क्योंकि चेष्टा दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें लिंग है, और प्रत्यक्ष लिंगके विना ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाध दूसरेके मनका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षसे केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही उत्पन्न होता है। अतएव मुख आदिकी चेष्टासे दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणकी अवश्य मानना चाहिये। कारण कि ‘यह पुरुष भरे वचनोंको सुनना चाहता है, क्योंकि इसके मुखपर अमुक प्रकारकी चेष्टा है,’ इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं होता। खेद है, कि चार्वाक लोग इस प्रकार अनुमान प्रमाणका अनुभव करते हुए भी अनुमानको उदा कर केवल प्रत्यक्षको ही स्वीकार करना चाहते हैं।

अत्र सपूर्वस्य वेत्तरकर्मकृत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्मास्ति तत्कथमत्रानम् । अत्रोच्यते । अत्र सरोदितु शक्तं सविदान इति कार्यम् । “ वयः शक्तिशील ” इति शक्तीं शानाविधानात् । ततश्चायमर्थः । अनुमानेन विना पराभिसहितं सम्यग् वेदितुमशक्तम्येति । एव परबुद्धिज्ञानान्यथानुपपत्त्यायमनुमानं दृष्टाद् अङ्गीकारितः ॥

शंका—स विद् धातु अकर्मक होनेपर आत्मनेपदमें ही प्रयुक्त होती है, इस लिये यहाँ ‘पराभिसन्धिम्’ कर्मके होते हुए स विद् धातुमें ‘आनर्’ प्रत्यय हो कर ‘सविदानस्य’ शब्द नहीं बन सकता । समाधान—जो जाननेके लिये समर्थ हो, उसे ‘सविदान’ कहते हैं । “वयः शक्तिशीले” सूत्रमें सामर्थ्यके अर्थमें ‘ज्ञान’ प्रत्यय होनेसे ‘सविदान’ शब्द बना है । इस लिये यहाँ यह अर्थ होता है, कि नास्तिक लोग दूसरे लोगोंके अभिप्रायको समझनेमें असमर्थ (असविदानस्य) हैं, अतएव दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये ।

तथा प्रमाणांतरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः । तथाहि । चार्वाकः शक्तिज्ञानव्यक्तीं सत्त्वादित्वेनाव्यभिचारिणीरूपलभ्य, अन्याश्च तिसत्त्वादित्वेन व्यभिचारिणीः । पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणतैतरते व्यवस्थापयेत् । न च सनिहितार्थबलेनात्यचमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते । न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं शक्यते । तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणैदानान्तिनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत । परलोकान्तिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम् । सनिहितमात्रविषयत्वात् तस्य । परलोकान्तिरूपं चाप्रतिपिध्यं नायं मुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति हिम्बहेवाकं ॥

( क ) ज्ञानको सत्य होनेके कारण प्रमाण, और असत्य होनेके कारण अप्रमाण मान कर चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्षके द्वारा कालान्तरमें सत्य और असत्य ज्ञानोंके प्रमाण और अप्रमाणका निश्चय नहीं कर सकते । क्योंकि प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, वह पूर्व और उत्तर अवस्थाओंका विचार नहीं कर सकता, अतएव प्रत्यक्षसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले चानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय नहीं हो सकता । ( ख ) चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्षसे दूसरोंके प्रति ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं ठहरा सकते । अतएव पूर्व कालमें जाने हुए चानकी समानता देख कर वर्तमान कालके ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण ठहराने के लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण अवश्य मानना चाहिये ।

प्रत्यक्षके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अनुमान ही हो सकता है। (ग) प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष पासके पदार्थोंको ही जान सकता है। परलोकका अभाव माने बिना चार्वाक लोगोंको ज्ञाति नहीं मिलती, और माय ही वे लोग प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण न मानने की मी हठ करते हैं, यह कैसी बाल चेष्टा है।

किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यम् । अयमितरथा स्नानपानावगाहनापर्यक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञान न प्रामाण्यम् । तच्च अर्थप्रतिपत्तौ लङ्गान्द्वारा समुन्मज्जतारनुमानागमयोरप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेप्यते । व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनाद् अप्रामाण्यमिति चत्, प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिद्रापाद निर्गतिर्निनायद्युगलाप्रलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वनाप्रामाण्यमसङ्ग' । प्रत्यक्षा भास तदिति चत्, इतरत्रापि तुल्यमेतत् अन्यत्र पक्षपातात् । एव च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थापुपपत्ते । तन्मूला जीवपुण्यापुण्यपरलोकनिषेधादिनादा अप्रमाणमत्र ॥

तथा, प्रत्यक्षकी सत्यता अनुमान प्रमाणसे ही जानी जाती है। क्योंकि मृगतृष्णामें जलका प्रयत्न होनेपर भी उस जलसे स्नान, पान आदि क्रियायें नहीं हो सकतीं, अतएव मृगतृष्णाका ज्ञान प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इसमें माझस होता है, कि पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेके कारण ही प्रयत्न प्रमाण कहा जाता है। अतएव यदि प्रत्यक्षसे देखा हुआ जल स्नान, पान आदि अर्थक्रियाओंको कर सके, तभी प्रत्यक्षको प्रमाण कह सकते हैं। यदि मृगतृष्णाकी तरह प्रत्यक्षसे देखा हुआ जल अर्थक्रिया नहीं कर सकता, तो उस प्रयत्नको प्रमाण नहीं कह सकते। अतएव यदि पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेके कारण चार्वाक लोग प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, तो प्रत्यक्षकी तरह उन्हें पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेवाले अनुमान और आगमको भी प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि अनुमान और आगम ज्ञानमें भी प्रत्यक्षकी तरह पदार्थोंका निश्चित ज्ञान होना है। यदि कहो, कि अनुमान और आगम सदा निर्दोष नहीं होते, इस लिये उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता, तो इस प्रकार प्रत्यक्षमें भी नेत्र रोगके कारण एक चन्द्रमाका दो चन्द्रमा रूप ज्ञान होता है, इस लिये प्रत्यक्षको भी प्रमाण नहीं मानना चाहिये। यदि कहो, कि नेत्र रोगके कारण एक चन्द्रमाके स्थानपर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, इस लिये एक चन्द्रमामें दो चन्द्रका ज्ञान प्रत्यक्षमाम है, तो इसी तरह हम सद्दोष अनुमानको अनुमानामास, और सद्दोष आगमको आगमामास कहते हैं। अतएव केवळ प्रत्यक्ष प्रमाणसे पदार्थोंका निश्चित स्वरूप नहीं जाना सकता, इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका अवच्छेदन लेकर जीव, पुण्य, पाप, परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता।

एव नास्तिनाभिमतता भूतचिदान्तेऽपि निराकार्ये । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ चपयोगवर्णने—“न चाप्य भूतधर्म सत्त्वकृत्स्नित्वादिबद्ध मन्त्राङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्ति-

उद् वा प्रत्यक्रमनुपलम्भात् । अनभिव्यक्तात्मात्मसिद्धिः । कायाकारपरिणतेभ्यस्तभ्यः  
स उत्पद्यत इति चत्, कायपरिणामाऽपि तन्मात्रभागी न कदाचित्कः । अन्यस्वा-  
त्सैव म्यात् । अहेतुत्वं न देशादिनियमः । मृतादपि च स्यात् । शाणिताद्युपाधिः  
सुप्तादावप्यस्ति । न च सतस्तस्योत्पत्तिः । भूयोभूयः प्रसङ्गात् । अलम्भात्मन्य  
प्रसिद्धमर्थत्रियाकारित्वं विरध्यत । असतः सकलशक्तिविकलस्य कथमुत्पत्तौ  
ऋतुत्वं । अन्यस्यापि प्रसङ्गात् । तन्न भूतकार्यमुपयागः ॥

नास्तिक लोगाका भौतिकवात् भी नहीं बनता है । द्रव्यालकारके कर्ता उपयोगका  
वर्णन करते समय कहते हैं, “ पृथिवी आदिके अस्तित्व और कठिनत्व आदि धर्मोंकी तरह  
चेतन्य पाच मूर्ता ( पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ) का विकार नहीं है । यदि  
चेतन्य पचमूर्ताका विकार होता, तो जिस प्रकार मादक शक्ति प्रत्येक मादक पदार्थमें  
पायी जाती है, उसी प्रकार चेतन शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये गा ।  
अतएव आत्मा कोई अलग पदार्थ है । चार्वाक—जिस समय पृथिवी आदि शरीर रूपमें  
परिणत होते हैं, उम समय उनमें चेतन्य उत्पन्न हो जाता है । जैन—यह ठीक नहीं ।  
क्योंकि यदि आप लोग पृथिवी आदिके मिलनेमे ही शरीरका परिणमन मानते हैं, तो वह  
सदा रहना चाहिये, और यदि पृथिवी आदिके अतिरिक्त चेतन्य कोई भिन्न वस्तु है, तो  
उसे आत्मा कहना चाहिये । यदि कहो, कि शरीर रूपमें परिणमन होनेमे पृथिवी  
आदिमें चेतन्यकी उत्पत्ति होती है, तो मृतक पुरुषमें भी चेतन्य पाया जाता चाहिये, क्योंकि  
वहा भी पृथिवी आदिका काय रूप परिणमन मौजूद है, इस लिये मृतक पुरुषमें भी जान  
होना चाहिये । यदि कहो, मृतक पुरुषमें रक्तका संचार नहीं होता, अतएव मुर्देमें चेतन  
शक्तिका अभाव है, तो सोते हुए मनुष्यमें रक्तका संचार होनेपर भी उसे ज्ञान क्यों नहीं  
होना? तथा, आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होती, अतएव यदि आप लोग पचमूर्तासे आत्माकी  
उत्पत्ति मानें तो, आत्माके अस्तित्व होते हुए भी आत्माकी बारम्बार उत्पत्ति होनी चाहिये,  
क्योंकि जस्तित्वके रहते हुए उत्पत्तिका कोई विरोध नहीं है । यदि कहो, कि पहले आत्माका  
अस्तित्व नहीं था, पचमूर्ताके संयोगसे ही आत्माकी उत्पत्ति होती है, तो यह ठीक नहीं ।  
क्योंकि जिस पदार्थका सर्वथा अभाव है, और जो सर्व शक्तिसे रहित है, वह उत्पन्न नहीं हो  
सकता, अतएव चेतन्यको भौतिक नहीं माना चाहिये ।

कुतस्तर्हि मुप्तोत्थितस्य तदुदयः । असत्तदन चेतन्यस्याभावात् । न ।  
जाग्रत्बस्मानुभूतस्य स्मरणात् । असत्तदन तु निद्रापघातात् । कथं तर्हि कायवि-  
कर्ता चेतन्यविरहितः । नैकान्तः । स्थितादिना कश्मलरूपुपाऽपि बुद्धिशुद्धे । अविकार  
च भावनाविनाशपत प्रीयादिभट्टदर्शनात् । ज्ञानादिना बुद्धिविहृता कायविकारा  
दर्शनाच्च । परिणामिना विना च न कायोत्पत्तिः । न च भूतान्येव तथा परिण-

मति । विजातीयत्वात् । काठिन्यादरनुपलम्भात् । अणव एवन्द्रियग्राह्यत्वरूपा स्थूलता प्रतिपद्यन्त तज्जात्यादि चोपलभ्यते । तन्न भूताना धर्म फल या उपयाग । तथा भवाश्च यदाक्षिपति तदस्य लक्षणम् । स चात्मा स्वसमिदित । भूताना तथाभावे वहिर्मुख स्यात् । गौरोऽहमित्यादि तु नान्तर्मुख । बाह्यकरणजन्यत्वात् । अनभ्युपगता-  
नुमानप्रामाण्यस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः ।

धर्म फल च भूतानाम् उपयोगो भवेद् यदि ।

प्रत्येकमुपलम्भ स्यादुत्पादो वा मित्तणात् ॥”

इति कान्यार्य ॥ २० ॥

शक्रा—यदि पृथिवी आदि पाच भूतोसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती, तो सो कर उठनेवाले पुरुषमें चेतन शक्ति कहासे आती है, क्योंकि सोनेके समय पूर्व चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है । समाधान—सो कर उठनेके पश्चात् हमें जाग्रत अवस्थामें अनुभूत पदार्थोंका ही स्मरण होता है । सोते समय चेतन शक्ति नष्ट नहीं होती, किंतु उम शक्तिका निद्राके उदयेसे आच्छादन हो जाता है । शक्रा—यदि शरीर और चैतन्यका कोई सबध नहीं है, तो शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे चेतनामें विकार क्यों होता है ? समाधान—यह एकात नियम नहीं है । क्योंकि बहुतसे कोणी पुरुष भी बुद्धिमान होते हैं, और शरीरमें किसी प्रकारका विकार न होनेपर भी बुद्धिमें राग, द्वेष आदिका विकार पाया जाता है, इसी तरह शोक आदिसे बुद्धिमें विकार होनेपर भी शरीरमें विकार नहीं देखा जाता । अतएव बुद्धिमें परिणमन करनेवाला कोई परिणामी अवश्य मानना चाहिये । तथा, पृथिवी आदि पचभूतोंका चैतन्य रूप परिणमन मानना ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं, कारण कि पृथिवी आदिकी तरह चैतन्यमें काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते । परमाणु इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होनेपर स्थूल पर्यायको धारण करते हैं, अतएव स्थूल पर्यायको प्राप्त करनेपर भी परमाणुओंकी जातिमें कोई अन्तर नहीं पत्ता । अतएव चैतन्य पृथिवी आदि पाच भूतोंका धर्म अथवा फल नहीं कहा जा सकता । तथा, आप लोग जिमके ऊपर आक्षेप करते हैं, हम उसे ही आत्मा कहते हैं । आत्मा अनुभवका विषय है । यदि आत्मा भूतोसे उत्पन्न हो, तो ‘मैं गोरा हूँ’ यह अतर्मुख ज्ञान न हो कर ‘यह गोरा है’ इस प्रकारका वहिर्मुख ज्ञान होना चाहिये । तथा, विना अनुमानके आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता । अतएव यदि चैतन्य ( उपयोग ) पृथिवी आदि भूतोंका धर्म या कार्य हो, तो प्रत्येक पदार्थमें चैतन्यका अनुभव होना चाहिये, और विजातीय पदार्थोंसे सजातीय पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिये ॥” यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—चार्वक (१) प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । अतएव पाच इन्द्रियोंके बाह्य कोई वस्तु नहीं है । इस लिये स्वर्ग, नरक और मोक्षका सद्भाव नहीं मानना चाहिये ।

वान्प्रमं कष्टक आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको नरक कहते हैं, प्रजाके नियन्ता राजाको ईश्वर कहते हैं, और देवको छोड़नेको मोक्ष कहते हैं। अतएव मनुष्य जीवनको रूप आनन्दसे मिताना चाहिये, कारण कि मरनेके बाद फिर ससारेमें जन्म नहीं होता। जैन—अनुमान प्रमाणके बिना दूसरेके मनका अभिप्राय माझ नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्षसे इन्द्रियादि बाह्य दृश्योंका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। 'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुनना चाहता है, क्योंकि इमने मुँहपर अमुक प्रसारकी चेष्टा दिखाई देती है' इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके बिना नहीं हो सकता। तथा, बिना अनुमान प्रमाणके ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका भी निश्चय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्षकी सत्यता भी अनुमानमे ही जानी जाती है। इस लिये अनुमान अत्रय्य मानना चाहिये।

चारिण—(२) जिस प्रकार मादक पदार्थोंसे मद शक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि भूतोंमें चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। पाच भूतोंके नाश होनेमें चैतन्यका भी नाश हो जाना है, इस लिये आत्मा कोई वस्तु नहीं है। आत्माके अभाव होनेसे धर्म, अधर्म, और पुण्य, पाप भी कोई वस्तु नहीं उद्भूत। जैन—यदि मादक शक्तिकी तरह चैतन्यकी पाच भूतोंका विकार माना जाय, तो जिस तरह मद शक्ति प्रत्येक मादक पदार्थमें पायी जाती है, वैसे ही चैतन्य शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये। तथा, यदि पृथिवी आदिसे चैतन्य शक्ति उत्पन्न होती हो, तो मृतक पुरुषोंमें भी चैतना माननी चाहिये। इसके अतिरिक्त, पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं, क्योंकि चैतन्यमें पृथिवीके काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। अतएव चैतना शक्तिको भौतिक विकार नहीं मान कर आत्माको स्वयं पदार्थ मानना चाहिये।

पञ्चमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षपमारयाय साम्प्रतमनाद्यत्रिशावासनाश्रुवासि-  
तसन्मतय प्रत्यक्षापलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवाद येऽप्रमन्वन्त तेषामुन्मत्ततापा-  
विर्भावयन्नाह—

इस प्रकार एकान्तवादका सङ्गन करके, अनादि विद्याकी वासनासे मलिन बुद्धिवाले जो लोग अनेकान्तको प्रत्यक्षसे देखते हुए भी उसकी अवमानना करते हैं, उनकी उन्मत्तताका प्रदर्शन करते हैं—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।

जिन त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

श्लाघार्थ—हे नाथ, प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न और नाश होनेवाले पदार्थोंको प्रत्यक्षसे स्थिर देख कर भी, वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह मूर्ख लोग आपकी आज्ञाकी अवहेलना करते हैं।

प्रतिक्षण प्रतिसमयम् । उत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकार-  
परिहारलक्षणेन युज्यत इत्येवशील प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् । स्थिरैक  
कर्मतापन्न । स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेक द्रव्य स्थिरैकम् ।  
एकान्दोऽत्र साधारणत्वाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम् अन्वयिद्रव्यत्वात् ।  
यथा चैत्रमत्रघोरेना जननी साधारणेत्यर्थः । इत्यमेव हि तयोरेनाधिकरणता । पर्या-  
याणा कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एव त्रयात्मक वस्तु अध्यक्षमपी-  
क्षमाण । प्रत्यक्षमत्रलोऽयन् अपि । हे जिन रागादिजैत्र । त्वदाज्ञाम् आ सामस्त्ये-  
नानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्धयन्ते जीवाजीवादयः । पदार्था यया सा आज्ञा  
आगमः शासन, तत्राज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां भवत्प्रणोतस्याद्वादमुद्राम् । यः कश्चिद-  
विवेकी अवमन्यतेऽवजानाति । जात्यपक्षमेऽवचनमज्ञया वा । स पुरपपशुर्वातकी  
पिशाचकी वा । वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातनी वातनीय वातकी वातूल  
इत्यर्थः । एव पिशाचकीव पिशाचकी भूताविष्ट इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तर पर्यायोक्ते होनेमे उत्पन्न (उत्पाद) और  
पूर्व पर्यायोक्ते नाश होनेसे नष्ट (व्यय) हो कर भी स्थिर रहता है । जिस प्रकार चैत्र और  
मैत्र दोनों भाईयोका अधिकरण एक माता है, उसी तरह उत्पाद और विनाश दोनोंका  
अधिकरण एक ही द्रव्य है, इस लिये उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी द्रव्य सदा स्थिर  
रहता है । क्योंकि उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोक्ते कथंचित् अनेक होनेपर भी द्रव्य कथंचित्  
एक माना गया है । इस प्रकार उत्पाद, व्यय और भ्रोज्य रूप पदार्थोंको प्रत्यक्षसे देख कर  
भी वान रोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह मूर्ख लोग आपकी अनेकान्त रूप  
आज्ञाका उल्लंघन करते हैं ।

अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः उपमानार्थो वा । स पुरपापसदो वातत्रिपिशाच-  
किभ्यामाधिरोहति तुलामित्यर्थः । “ वातातीसारपिशाचात्केशान्तः ” इत्यनेन मत्त-  
र्यायः कथान्तः । एव पिशाचकीत्यपि । यथा किल वातेन पिशाचन वाक्रान्तप्रवृत्त-  
तच्च साक्षात्कृत्वैवपि तदवैशवशात् अन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मारप-  
रवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम् । रागादिजेतृत्वाद् हि जिनः । ततश्च यः  
किल विगलितद्रोपफालुप्यतयावधयत्रचनस्यापि तत्रमत्रत शासनमवमन्यते तस्य कथ  
नोन्मत्ततेति भावः । नाथ हे स्वामिन् । अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादौर्लम्भकतया लब्धस्य  
च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वापपत्तेर्नाथः ।  
तस्यामन्त्रणम् ॥

१ हेमचन्द्रे ७ २ ६१ । २ अपरमर्थेते पूर्ववृत्त निस्मर्यतऽनेन । रोगविशेषः ।

तम प्रवेशो वरम्भो दोषाद्रेकहतस्मृते ।

अपस्मार इति शेषो गदो घोररचनुर्विच ॥

शब्दकल्पदुमे ।



यहा ' वा ' शब्द समुच्चय अथवा उपमान अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस लिये यह अर्थ होता है, कि आपकी आज्ञाको उल्लंघन करनेवाले अधम पुरुष वातकी ( वात रोगसे ग्रस्त ) अथवा पिशाचकी ( पिशाचसे ग्रस्त ) की तरह हैं। यहा " वातातीसारपिशाचात्क-  
थ्वान्त " सूत्रसे वात और पिशाच शब्दसे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय हो कर अन्तमें ' क ' लग जाता है। जिस प्रकार वात और पिशाचसे ग्रस्त पुरुष पदार्थोंको देखते हुए भी उन्हें वात और पिशाचके आवेशमें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है, वैसे ही एकान्तवाद रूपी अपस्मार ( मृगी ) से पीडित मनुष्य प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद, व्यय और ध्राव्य अवस्थाएँ देस कर भी उन्हें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है। श्लोकमें ' जिन ' शब्दका प्रयोग विशेष अर्थ बतानेके लिये किया गया है। जिनमे राग, द्वेष आदि दोषोंको जीत लिया है, उसे जिन कहते हैं। अतएव आपके वचनोंके निर्दोष होनेपर भी जो लोग उनकी अवना करने हैं, उन्हें उन्मत्त ही कहना चाहिये। हे स्वामिन्, आप सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेवाले और उसे निरतिचार पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेके कारण सुख और शातिके दाता हैं, इस लिये आप नाथ हैं।

वस्तुतत्त्व चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथाहि । सर्व वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा । परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनन व्यभिचार इति न वाच्यम् । प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वय' प्रमाणिरूढ' । सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् ।

“ सर्वव्यक्तिषु नियत क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।

सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ” ॥

इति वचनात् ॥

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षासे कोई वस्तु न उत्पन्न होती है, और न नाश होती है। कारण कि द्रव्यमें भिन्न भिन्न पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेपर भी द्रव्य एकसा दिखाई देता है। शका—नख आदि काटे जानेपर फिरसे बट जानेसे पहिले जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तवमें बटे हुए नख पहले नरोंसे भिन्न हैं। इसी तरह सम्पूर्ण पर्याय नयी नयी उत्पन्न होती हैं। इस लिये पर्यायोंको द्रव्यकी अपेक्षा एक मानना ठीक नहीं है। समाधान—यह ठीक नहीं। कारण कि फिरसे पैदा हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं, इस लिये नख आदिके दृष्टांतमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। परन्तु उत्पाद और नाशके होते हुए द्रव्यका एकसा अवस्थित रहना प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे सिद्ध है। कहा भी है “ प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें बदलते रहते हैं, फिर भी उनमें सर्वथा भिन्नपना नहीं होता। पदार्थोंमें आकृति और जातिसे ही अनित्यपना और नित्यपना होता है। ”

तता द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः। पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तुत्वद्यते  
विपद्यते च। अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात्। न चैव शृङ्गे शब्दे पीतादिपर्यायानुभ-  
वेन व्यभिचार। तस्य स्वलद्रूपत्वात्। न खलु सोऽस्वलद्रूपो येन पूर्वाकारविना-  
शाजहन्धृतोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत्। न च जीवादी वस्तुनि हर्षामर्षौदासी-  
न्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्वलद्रूपः, कस्यचिद् बाधरुस्याभावात् ॥

अतएव द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु स्थिर है, केवल पर्यायकी दृष्टिसे पदार्थोंमें  
उत्पत्ति और नाश होता है। हमें पर्यायोंके उत्पाद और व्ययका अनुभव होता है -  
शक्ता—नेत्र रोगके कारण सफेद शख पीत वर्णका दिखाई पडता है, इस लिये यह  
नहीं कहा जा सकता, कि पर्यायोंके उत्पाद और नाशका अनुभव सच्चा है।  
समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सफेद शखमें पीलेपनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है,  
कारण कि नेत्र रोगके दूर होनेपर वह ज्ञान हमें असत्य मालूम होता है। शखमें पीलेपनका  
ज्ञान कभी कभी होता है, इस लिये इस ज्ञानको उत्पत्ति और विनाशका आधार नहीं  
कह सकते। जीव आदि पदार्थोंमें हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायोंकी परम्परा मिथ्या  
नहीं कही जा सकती, क्योंकि हमें उन पर्यायोंके मिथ्या होनेका अनुभव नहीं होता।

ननूत्पादादयः परस्पर भिद्यन्ते न चा ? यदि भिद्यन्ते, कथमक वस्तु त्रयात्मकम्।  
न भिद्यन्ते चेत् तथापि कथमेक त्रयात्मकम्। तथा च—

“ यत्तुत्पादादयो भिन्नाः कथमेक त्रयात्मकम्।

अथोत्पादादयोऽभिन्ना कथमेक त्रयात्मकम् ” ॥

इति चेत्। तदयुक्त। कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। तथाहि।  
उत्पादविनाशश्रौंग्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवदिति। न च  
भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। असत् आत्मलाभः सत् सत्ताविद्योग द्रव्यरूपतयानुवर्तन च  
खलुत्पादादीनां परस्परमसक्रीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव ॥

शक्ता—उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य परस्पर भिन्न हैं, या अभिन्न यदि उत्पाद आदि  
परस्पर भिन्न हैं, तो वस्तुका स्वरूप उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य रूप नहीं कहा जा  
सकता। यदि वे परस्पर अभिन्न हैं, तो उत्पाद आदिमेंसे किसी एकको ही स्वीकार करना  
चाहिये। कहा भी है, “ यदि उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य परस्पर भिन्न हैं, तो वे तीन रूप  
नहीं कहे जा सकते। यदि उत्पाद आदि अभिन्न हैं, तो उन्हें तीन रूप न मान कर एक  
ही मानना चाहिये ” समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और  
प्रौढ्यमें कथचित् भेद मानते हैं। अतएव उत्पाद, व्यय और प्रौढ्यका लक्षण भिन्न भिन्न  
है, इस लिये रूप आदिकी तरह उत्पाद आदि कथचित् भिन्न हैं। उत्पाद आदिका भिन्न

लक्षणपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि अमत्की उत्पत्तिको उत्पाद, सत्के विनाशको व्यय, तथा द्रव्यके एकसे रहनेको भ्रौव्य कइते हैं।

न चार्था भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षा, स्वपुष्पमदसत्त्वापत्तेः। तथाहि। उत्पादः केवल नास्ति। स्थितिभिगमरहितत्वात् कूर्मरोमयन्। तथा विनाशः केवलो नास्ति। स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वद्। एव स्थिति' केवल नास्ति। विनाशोत्पाद् शून्यत्वात् तद्वद्वय। इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्प्र प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तम्—

“घटमौलिमृवर्णार्थां नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।

शाकृप्रमोदमापस्य जनो याति सहेतुम् ॥ १ ॥

पयोत्रता न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिप्रत।

अगारसत्रतो नाभे तम्माद् वस्तु नयात्मम् ॥ २ ॥”

इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

उत्पाद आदि परस्पर भिन्न हो कर भी एक दूसरेसे निरपेक्ष नहीं हैं। यदि उत्पाद, व्यय और भ्रौव्यको एक दूसरेसे निरपेक्ष माना, तो उनका आकांग पुणकी तरह अभाव मानना पड़े। अतएव जैसे कट्टेकी पीठपर बालोके नाश और स्थितिके विना, बालोका केवल उत्पाद होना मभव नहीं है, उसी तरह व्यय और भ्रौव्यसे रहित केवल उत्पादका होना नहीं बन सकता। इसी प्रकार कट्टेके बालोकी तरह उत्पाद और भ्रौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी समभव नहीं है। अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और भ्रौव्य रूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिये। समतमत्र आचार्यने कहा भी है, “घडे, मुकुट और सोनेके चाहनेवाले पुरुष घडेके नाश, मुकुटके उत्पाद, और सोनेकी स्थितिमें क्रमसे शोक, हर्ष और मात्स्यस्थ भाव रमते हैं। तथा दूधका घन रखनेवाला पुरुष दही नहीं खाता, दहीका नियम लेनेवाला पुष्प दूध नहीं पीना, और गोरसका घन होनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता, इस लिये प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और भ्रौव्य रूप है।” यद्वा उत्पाद, व्यय और भ्रौव्यकी दृष्टातमे समझाया गया है। एक राजाके एक पुत्र और एक पुत्री थी। राजाकी पुत्रके पास एक सोनेका घड़ा था, राजाके पुत्रो उस घडेको टड़वा कर उसका मुकुट बनवा लिया। घडेके नष्ट होनेपर (व्यय) राजाकी पुत्रीको शोक हुआ, मुकुटकी उत्पत्ति होनेमें (उत्पाद) राजाके पुत्रको हर्ष हुआ, तथा राजा दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ था (भ्रौव्य), इस लिये राजाको शोक और हर्ष दोनों नहीं हुए। इससे मालूम होता है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और भ्रौव्य तीनों अग्रन्थायें मौजूद रहती हैं। इसी प्रकार दूधका घनी दही, और दहीका घती दूध, और गोरसका घती दही और दूध दोनों नहीं खाता है। इस लिये प्रत्येक वस्तु तीनों रूप है। यह श्लोकका अर्थ है।

**भाषार्थ**—जैन दर्शनके अनुसार उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य ही वस्तुका लक्षण है (उत्पाद-व्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्) । वेदान्ती लोगोंके अनुसार वस्तु तत्त्व सर्वथा नित्य, और बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु सर्वथा क्षणिक है । परन्तु जैन लोगोंका मत है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं, इस लिये पर्यायकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है, तथा उत्पत्ति और नाश होते हुए भी हमें वस्तुकी स्थिरताका मान होता है, अतएव द्वयकी अपेक्षा वस्तु नित्य है । अतएव जैन दर्शनमें प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् नित्य, और कथञ्चित् अनित्य स्वीकार की गई है । उत्पाद, व्यय और प्रौढ्य परस्पर कथञ्चित् भिन्न हो कर भी सापेक्ष हैं । जिस प्रकार नाश और स्थितिके बिना केवल उत्पाद संभव नहीं है, तथा उत्पाद और स्थितिके बिना नाश संभव नहीं है, उसी तरह उत्पाद और नाशके बिना स्थिति भी संभव नहीं । अतएव उत्पाद, व्यय और प्रौढ्यको ही वस्तुका लक्षण मानना चाहिये ।

अथान्ययामव्ययञ्छेदस्य प्रस्तुतत्वात् आस्ता तावत्साक्षाद् भवान्, भवदीय-  
प्रवचनानयना अपि परतीर्थिकृतिरस्कारवद्धकक्षा इत्यागयवान् स्तुतिकार स्याद्वादव्य-  
वस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

साक्षात् भगवानकी बात तो दूर रही, भगवानके उपदेशके कुछ अंश ही कुवादियोंको पराजित करनेमें समर्थ हैं, इस लिये स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्य स्याद्वादका प्रतिपादन करते हैं—

**अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।**

**इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसत्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥**

**श्रुगार्थ**—प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म मौजूद हैं, पदार्थोंमें अनन्त धर्म माने बिना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती । अतएव आपके प्रमाण वाक्य कुनादी रूप मृगोंको डरानेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं ।

तत्र परमार्थभूत वस्तु जीवाजीवलक्षणम् अनन्तधर्मात्मकमेव । अनन्तास्त्रिका-  
लविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्मा सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः । त एवात्मा  
स्वरूप यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकार. भ्रमरान्तरव्यवच्छेदार्थ । अत एवाह  
अतोऽन्यथा इत्यादि । अतोऽन्यथा उक्तमस्मिन्नैपरित्येन । सत्त्व वस्तुतत्त्वम् । असूपपाद  
सुखेनोपपात्रते घटनाकोटिसट्टङ्गमारोप्यते इति सूत्रपाद । न तथा असूपपाद दुर्घटमि-  
त्यर्थ । अनेन साधन दर्शितम् । तथाहि । तत्त्वमिति धर्मि । अनन्तधर्मात्मकत्व साध्यो  
धर्म । सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतु । अन्यथानुपपत्त्येफलक्षणत्वाद्देतो । अन्तर्व्याप्त्यैव

१ अन्त-पदमध्ये व्याप्ति साधनस्य साध्याजान्तत्वमन्तर्व्याप्ति । तथैव साध्यस्य गम्यस्य सिद्धिः  
प्रतीते । अथमथ । अत-वात साध्यसिद्धिश्चासौ साध्य-यात्तेवगन व-प्यमेव । साध्यसिद्धिप्रशङ्गौ  
वाक्य-यात्तेवगन-वर्धमेव ।

साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम् । यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्  
सदापि न भवति, यथा त्रियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । साधर्म्यदृष्टान्तानां  
पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् ॥

व्याख्यानार्थ—जीव और अजीव प्रत्येक वस्तुमें मूल, भविष्यत् और वर्तमानके अनंत  
धर्म मौजूद हैं । अनन्त धर्म रूप ही वस्तुका स्वरूप है । पदार्थमें अनन्त धर्म माने बिना  
पदार्थकी सिद्धि नहीं होती । अतएव ' वस्तु तव ( पशु ) अनन्त धर्मात्मक ( साध्य ) है,  
क्योंकि दूसरे प्रकारसे वस्तु तवकी सिद्धि नहीं होती ( हेतु ) ' । यहा अन्तर्व्याप्तिसे साध्य-  
की सिद्धि होती है, इस लिये उक्त हेतुमें दृष्टातकी आवश्यकता नहीं है । जहा दृष्टातके  
बिना साध्य और हेतुमें व्याप्तिका ज्ञान हो जाता है, उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं । जिस समय  
प्रतिवादीको व्याप्ति सन्धका ज्ञान करते समय व्याप्ति सन्धका स्मरण होता है, उस समय  
प्रतिवादीको हेतुके सर्वत्र साध्य युक्त होनेका ज्ञान होता है, और साथ ही अन्तर्व्याप्ति ज्ञानसे  
प्रतिवादीको यह भी ज्ञान होता है, कि प्रस्तुत पक्षमें वर्तमान हेतु भी साध्यसे युक्त है ।  
दृष्टातके बिना पक्षके भीतर ही हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, इस लिये यहा पक्षके बाहर  
दृष्टातके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । ' जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत्  
भी नहीं होता, जैसे आकाशका पूर' । आकाशके पूरमें अनन्त धर्म नहीं रहते, इस लिये  
वह सत् भी नहीं है । यह हेतु केवलव्यतिरेकी है । जहा जहा साध्य नहीं रहता, वहा वहा  
साधन नहीं रहता । क्योंकि ' जहा जहा सत् है, वहा वहा अनन्त धर्म पाये जाते हैं ' इस  
अन्वयव्याप्तिमें दिया जानेवाला प्रत्येक दृष्टात पक्षमें ही गर्भित हो जाता है । अतएव यहा  
अन्वयव्याप्ति न बता कर केवल व्यतिरेकव्याप्ति बताई गई है ।

अनन्तधर्मात्मकत्व च आत्मनि तावद् साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्व  
भोक्तृत्व प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्तत्वम् असंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्रयमित्यादयः ।

१ जीवो उव जोगमजा अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोक्ता ससारस्यो सिद्धो सो विस्सलोद्दगई ॥

छाया—जीव उपयागमय अमूर्ति कर्त्ता स्वदेहपरिमाण ।

भोक्ता ससारस्थ सिद्ध स विस्ससा ऊर्णगति ॥ द्रव्यसमग्र २

जीवसिद्धि स्वावोक प्रति, ज्ञानदशानुपयोगालक्षण नैयायिक प्रति, अमूर्तजीवस्थापन भट्टचावा  
कद्वय प्रति, कर्मकर्मव्यवस्थापन साध्य प्रति स्वदेहप्रभितिरस्थापन नैयायिकमीमांसकसाठपत्रय प्रति, कर्मभोक्तृत्व  
व्याख्यान वाद प्रति, ससारस्य व्याख्यान सदाशिव प्रति, सिद्धत्व-यावधान भट्टचावाकद्वय प्रति, ऊर्णगति  
स्वभावकथन माण्डलिकप्रयत्नार प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्य । द्रव्यसमग्रदृष्टौ ।

२ तत्र सर्वकाल जावाष्टमध्यमप्रदेशा निरवसादा स्वजीवाना स्थिता एव । केवलनिर्माणि  
अयोगिना सिद्धाना च सर्वे प्रदेशा स्थिता एव । श्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणताना जावाना यथोक्ताष्ट  
मध्यप्रदेशवर्जितां इतरे प्रदेशा अनस्थिता एव । बोधणां प्राणिना स्थिताश्चास्थिताश्चेति । तन्नाथ  
शास्त्रार्थके पृ १-२

सहभाविनो धर्माः । हर्षनिपादशोभसुखदुःखद्वन्द्वनरनारमतिर्यत्त्वादयस्तु क्रमभाविन ।  
 धर्मास्तिनायाद्विष्वपि असरयेयप्रदेशात्मकत्वम् गत्पापुप्रग्रहकारित्वम् मत्यादिज्ञान-  
 विषयत्वम् तत्तदवच्छिन्नभावच्छेद्यत्वम् अवस्थितत्वम् अरूपित्वम् एन्द्रव्यत्वम्  
 निष्क्रियत्वमित्यादयः । घट पुनरामत्वम् पाकजस्तादिमत्त्वम् पृथुनुध्नादरत्नम्  
 कम्बुग्रीवत्वम् जलादिधारणाहरणसामर्थ्यम् मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वम् नवत्वम् पुराण-  
 त्वमित्यादयः । एव सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शब्दानार्थोश्च पर्यायान्  
 प्रतीत्य वाच्यम् ॥

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आठ मध्य प्रदेशोंकी स्थिरता, अमूर्तत्व,  
 असंख्यात प्रदेशापना और जीवत्व ये आत्माके सहभावी धर्म हैं । जो धर्म सदा द्रव्यके  
 साथ रहते हैं, उन्हें सहभावी धर्म कहते हैं । सहभावी धर्म गुण भी कहे जाते हैं । ( १ )  
 व्यवहार नयकी अपेक्षा साकार ज्ञानोपयोग और निराकार दर्शनोपयोग जीवका लक्षण है ।  
 ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीवसे कभी अलग नहीं होते । चक्षु, अचक्षु, अवधि और  
 केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार, और मति, श्रुति अवधि, मनपर्यय, केवल, कुमति,  
 कुश्रुति, और कुश्रुति ज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है । निश्चय नयसे शुद्ध  
 अखंड केवलदर्शन और केवलज्ञान ही जीवका लक्षण है । नैयायिक लोग ज्ञान और  
 दर्शनको आत्माका स्वभाव न मान कर उन्हें आत्माके साथ समवाय सबधसे सबद्ध मानते  
 हैं, इस लिये जीवको उपयोग रूप बताया है । ( २ ) जीव कर्ता है । जीव साहस्योंके  
 पुरुषकी तरह कर्मोंसे निर्लिप्त हो कर केवल द्रष्टाकी तरह नहीं रहता, किन्तु ज्ञानावरण  
 आदि कर्मोंका स्वयं करनेवाला है । यहा साहस्य मतके निराकरणके लिये जीवको कर्ता  
 बताया गया है । ( ३ ) यह जीव सुख-दुःख रूप कर्मोंके फलका भोग करता है । क्षणिक वादी  
 बौद्धोंके मतमें जो कर्ता है, वह भोक्ता नहीं हो सकता, इस लिये जीवको भोक्ता कहा गया है ।  
 ( ४ ) जीवके आठ मध्य प्रदेश सदा एकमे अवस्थित रहते हैं । अयोगकेवली और  
 सिद्धोंके सम्पूर्ण प्रदेश स्थिर रहते हैं । व्यायाम, दुःख, परिताप आदिसे युक्त जीवोंके आठ  
 प्रदेशोंके अतिरिक्त बाकीके प्रदेश प्रशुति शील होते हैं । शेष जीवोंके प्रशुति और अप्रवृत्ति  
 दोनो रूप प्रदेश होते हैं । ( ५ ) यह जीव स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णसे रहित है, इस लिये  
 निश्चय नयसे अमूर्त है । ( ६ ) जीव लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है ।  
 काम्पनमें जैन दर्शनके अनुसार नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह जीवको प्रदेशोंकी  
 अपेक्षा व्यापक नहीं माना, किन्तु जैन दर्शनमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक

१ नित्यावस्थितान्यरूपाणि । आ आकाशादेकद्रयाणि । निष्क्रियाणि च । असरदेया प्रदेशा  
 धमाधमयो । गतिरिधन्पुगमहा धर्माधर्मयोरुपकार । तत्त्वायाविगममाप्ये पंचमाध्याये सूत्राणि ।

कहो है। (७) जीवमें जीवत्व जीवका पारिमाणिक (स्वामाविरु) भाव है। व्यवहार नयसे दस प्राण, और निश्चय नयसे चेतना जीवका जीवत्व है। हर्ष विषाद, शोक, सुख, दुख, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यच आदि अयम्या जीवके ऋमभावी अर्थात् ऋमसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले धर्म हैं। ऋमभावी धर्मोंका दूयग नाम पर्याय भी है। (१) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रत्येक द्रव्यमें असंख्यात प्रवेश (अविभाज्य अंश) होते हैं। (२) जिस प्रकार जल मछलीके चलानेमें सहायता करता है, और वृक्षकी छाया पथिकके ठहरानेमें निमित्त होती है, उसी तरह धर्म गतिशील पदार्थोंकी गतिमें, और अधर्म ठहरनेवाले पदार्थोंकी स्थितिमें निमित्त कारण होते हैं। (३) धर्म और अधर्म मनि श्रुति आदि ज्ञानसे निश्चित किये जाते हैं। (४) धर्म और अधर्म अपने स्वरूपको ठोड कर पर रूप नहीं होते, इस लिये परस्पर मिश्रण न होनेसे अवस्थित हैं। (५) धर्म और अधर्म सर्ग आदिसे रहित होनेसे अरूपी हैं, (६) एक व्यक्ति रूप होनेसे एक हैं, तथा (७) क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार घटेमें कच्चापन पकापन, मोटापना, चौड़ापन, कम्बु-मीवापन (शस्त्र जसी गर्दन) जल धारण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्त धर्म रहते हैं। अतएव नाना नयोंकी दृष्टिसे शब्द और अर्थकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं।

अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुद्यत्तिरूपमन्वयिद्रव्य धरितम् । ततश्च  
 “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” इति व्यग्रस्थितम् । एव तावदर्थेषु । शब्देष्वपि  
 उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसवृतधोपवदधोपताल्यप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायन  
 शक्त्यादयश्चावसेयाः । अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिरत्वादिक्वकोद्धारः स्वयम-  
 भ्यूह । इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तत्र प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नमाधनवाग्म्यान्यपि ।  
 आस्तां तावद् साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान् । यावदेतान्यापि कुवादिक्वङ्गस-  
 न्नासन्नमिहनादा कुवादिनः कुत्सितवादिनः । एकांशश्रावकनयानुयायिनोऽयती-  
 धिकास्त एव ससारवनगहनवसनव्यसनितया वुरङ्गा मृगास्तेषा सम्यक्ज्ञासने सिंह-  
 नादा इव सिंहनादा । यथा सिंहस्य नादमात्रमप्यारूप्य वुरङ्गास्त्रासमासूयन्ति, तथा  
 भवत्पर्णातैवभक्तारममाणवचनायपि श्रुत्या कुवादिनस्त्रुतामश्नुत प्रतिवचनप्रदान-  
 फातरता विभ्रतीति यावत् । एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययागव्यग्रच्छेदमित्यर्थः ॥

‘अनन्त धर्मात्मक’ शब्दमें आत्मा शब्दसे अनन्त पर्यायोंमें रहनेवाले नित्य द्रव्यका सूचन होता है। अतएव “उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही ‘सत्’ का लक्षण है।” पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, सवृत, धोप अधोप, अल्पप्राण, महाप्राण, आदि तथा पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं।

‘ तच्च अनतधर्मात्मक सत्त्वान्यथानुपपत्ते ’ इस अनुमानमें असिद्ध, विरद्ध आदि दोष नहीं आते हैं । हे भगवन्, आपकी बात तो दूर रही, आपके न्याय युक्त वचन ही कुवादी रूपी हरिणोंको सत्रस्त करनेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं । जिस प्रकार सिंहकी गर्जनाको सुन कर जगलके हरिण भयभीत होते हैं, उसी प्रकार आपके स्याद्वादका निरूपण करनेवाले वचनोंको सुन कर वस्तुके केवल अश मात्रको ग्रहण करनेवाले, ससार रूपी गहन वनमें फिरनेवाले कुवादी लोग सत्रस्त होते हैं ।

अत्र प्रमाणानि इति बहुवचनमेवजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम् । एतैरस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्रालुकानन्तगुणार्थत्वात् । तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात् । अथवा “ इत्यादिवहुवचनान्ता गणस्य समूचका भवन्ति ” इति न्यायाद् इतिशब्देन प्रमाणानाहुल्यसूचनात् पूर्वार्द्ध एरुस्मिन् अपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ २२ ॥

एक एक विषयको खटन करनेवाले बहुतसे प्रमाणोंका सूचन करनेके लिये श्लोकमें ‘ प्रमाणानि ’ बहु वचन दिया है । क्योंकि भगवानके प्रत्येक सूत्र सम्पूर्ण समुद्रोंके जलसे और सम्पूर्ण नदियोंकी बालुकासे भी अनत गुणे हैं । ये सम्पूर्ण सूत्र सर्वज्ञ भगवानके फटे हुए हैं, इस लिये प्रमाण हैं । अथवा “ इति, आदि बहु वचनवाले शब्द समूहके सूचक होते हैं ” इस न्यायसे ‘ इति ’ शब्दसे बहुतसे प्रमाणोंका सूचन होता है, अतएव श्लोकके पूर्वार्धमें एक प्रमाणका उल्लेख करनेपर भी बहु वचन समझना चाहिये । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको अनत धर्मवाली सिद्ध किया गया है । जैन सिद्धातके अनुसार यदि पदार्थोंमें अनत धर्म स्वीकार न किये जाय, तो वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतएव ‘ प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि वस्तुमें अनत धर्म माने बिना वस्तुमें वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता । जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता । जैसे आकाश, अतएव जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सम्पूर्ण द्रव्योंमें अनन्त धर्म स्वीकार करने चाहिये ।

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्व वस्तुनि साध्य मुबुलितमुक्तम् । तदेव सप्तभङ्गी-  
प्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवता निरतिशय वचनातिशय च स्तुवन्नाह—  
वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, इसीको सात भगोंसे कहते हैं—

अपर्यय वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।

आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्व बुधरूपवेद्यम् ॥ २३ ॥



श्लोकार्थ—यदि वस्तुका सामान्यसे कथन किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है। यदि वस्तुका विस्तारमें प्ररूपण किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है। इस प्रकार सकल और विकल आदेशके भेदसे विज्ञ पंडित लोगोंसे समझने योग्य आपने सात भगोंकी प्ररूपणा की है।

समस्यमान सक्षेपणोच्यमान वस्तु अपर्यायम् अत्रिन्नक्षितपर्यायम् । वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवनक्षण द्रव्यपदंरुम् । अयमभिप्राय । यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिक चेतनाचेतन सतामपि पर्यायाणाम-विवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वस्तुमिप्यते । तदा सक्षेपणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्याय-निकायत्वलक्षणनाभिधीयमानत्वात् अपर्यायमित्युपदिश्यते । केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः । यथात्माय घटोऽयमित्यादि । पर्यायाणां द्रव्यान्तरिकात् । अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसमग्रहादयो द्रव्यमात्रमवेच्छन्ति पर्यायाणां तद्विषयभूतत्वात् । पर्याय\* पर्याय. पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । अद्रव्यामित्यादि । च. पुनरर्थे । स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नत्वमथ । विविच्यमान चेति विवक्षेण पृथग्रूपतयोच्यमान । पुनरेतद् वस्तु अद्रव्य-मव । अत्रिन्नक्षितान्वयिद्रव्य केवलपर्यायरूपमित्यर्थ ॥

व्याच्यार्थ—यदि पर्यायोका कथन न करके वस्तुका सामान्य रूपसे कथन किया जाय, तो ससारके समस्त पदार्थोंका जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंमें विभाग किया जा सकता है ( कोई कोई श्रेताम्बर आचार्य काल द्रव्यको अलग नहीं मानते । उनके मतमें पाच ही द्रव्य हैं ) । अतएव शुद्ध समग्रहनयकी अपेक्षासे द्रव्यास्तिक नय समस्त पदार्थोंको केवल द्रव्य रूप जानता है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं, जैसे आत्मा, घट आदि । तथा यदि द्रव्यका कथन न करके वस्तुका विस्तारसे वर्णन किया जाय, तो वस्तु केवल पर्याय रूप है ।

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्याय विचार्यत, तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते, न पुनरात्मारय किमपि द्रव्यम् । एव घटोऽपि कुण्डलौष्ठ-पृथुवुधोदरपूर्वापरादिभागान्नवयवापेक्षया विविच्यमान. पर्याया एव, न पुनर्घटारय तन्तिरिक्त वस्तु । अतएव पर्यायास्तिकनयानुपातिन. पठन्ति—

१ क्पाचिदाचार्याणां मते पचारितिकाया एव । कालो द्रव्य पृथग् नास्ति । जीवादियस्त्वपि कदाचित् कालशब्देन उच्यते । तथा चागम । “ किमयं भते कालात्ति पबुचद, गोयमा, जीवा चेव अजीवा चेवति ” । अन्ये तु आचार्यां समित्ते । अस्ति धर्मास्तिनायादिद्रव्यपचनयतिरिक्तम् अद्रव्यतीयद्वीपसमु द्रान्वर्गानि षड् कालद्रव्य, यत्रिवधा एते ह्य “ व इत्यादय प्रत्यया शब्दाश्च प्रादुर्भवन्ति । आगमश्च । “ कदा भते, दना पण्णाता, गोयमा छ दना पण्णाता । तज्ज्ञा-धम्मत्थिक्याये अधम्मत्थिक्याए, आगाठ थिक्याए, पुगलत्थिक्याए जीवत्थिक्याए अद्दासमथे व ” हरिमद्रवृततपसमग्राहिण्या मलयगिरिनीनाया गा ३२

“ भागा एव हि भासन्ते सनिविष्टास्तथा ।

तद्वाञ्छेव पुनः कश्चिन्निर्भागः सप्रतीयते ” ॥

इति । ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयानर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता । अत एवाह वाचकमुख्य “ अर्पितानर्पितसिद्ध ” इति । एवविध द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान् । नान्य इति वाकावधारणावगतिः ॥

जित समय आत्माकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोकी मुख्यतासे आत्माका विचार किया जाता है, उस समय केवल ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोका ही ज्ञान होता है, आत्मा कोई भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता । इसी प्रकार जब हम घटके मोटेपन, गोलपन, पूरे भाग, अपर भाग आदि अथर्वोको देखते हैं, उस समय हमें घट द्रव्यका अलग ज्ञान न हो कर घटकी पर्यायोका ही ज्ञान होता है । अतएव पर्यायास्तिक नयको माननेवाले कहते हैं, “ सम्पूर्ण वस्तुओंमें भिन्न भिन्न अंश ही दृष्टिगोचर होते हैं, इन अंशोंके अतिरिक्त कोई निश्च द्रव्य दिखाई नहीं देता । ” अतएव प्रत्येक वस्तुके द्रव्य और पर्याय दोनों रूप होनपर भी द्रव्य नयकी मुख्यतासे और पर्याय नयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान द्रव्य रूप, पर्याय नयकी मुख्यता और द्रव्य नयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान पर्याय रूप, और द्रव्य और पर्याय दोनोंकी प्रधानतासे वस्तुका ज्ञान उभय रूप होता है । वाचकमुख्य उमास्वानिने कहा भी है, “ द्रव्य और पर्यायकी मुख्यता और गौणतासे वस्तुकी निश्चि होती है । ” वस्तुका यह द्रव्य और पर्याय रूप स्वरूप आपने ( जिन भगवान ) ही प्ररूपण किया है, दूसरे किसीने नहीं ।

नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्य द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तुमयात्मकम् इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति आदेशभेदेत्यादि । आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणन आदेशद्वयेन उदिता प्रतिपादिताः सप्त सरया भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनवन्धुना निर्विगपतया सर्वभ्य एवविध वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीया तत्र त्रिप्रतिपन्नत इत्याह बुधरूपवद्यम् इति । बुध्यन्ते यथावस्थित वस्तुतत्त्व सारेतरविषयनिर्भागाविचारणया इति बुधाः । मृष्टा बुधाः बुधरूपाः नैसर्गिकाधिगमिकान्यतरसम्पर्शनविशदीकृतज्ञानशालिन प्राणिनः । तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्य परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातनुद्धिभिरप्यन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादुपितमतिताया यथावस्थितवस्तुतत्त्वानवरोधन बुधरूपत्वाभावात् । तथा चागम —

“सदेसद्विसेसणात् भवद्देवजहिच्छिआवलभाउ ।

णाणफलाभावात् मिच्छादिद्विसस अण्णाण ” ॥

शका—द्रव्य और पर्याय दोनों शब्द अलग अलग हैं, इस लिये द्रव्य और पर्यायका ज्ञान भी भिन्न भिन्न होता है, अतएव एक वस्तुको द्रव्य और पर्याय दोनों रूप नहीं कह सकते । समाधान—हम लोग सकल और विकल आदेशके भेदसे द्रव्य और पर्याय रूप वस्तुको मानते हैं । इसी सकलदेश और विकलदेशके ऊपर सप्तमगी नय अवलम्बित है । शका—यदि तीनों लोकोंके बधु जिन भगवानने प्रत्येक वस्तुका सामान्य रूपसे सब लोगोंके लिये सप्तमगीद्वारा विवेचन किया है, तो अत्र वादी लोग सप्तमगीके सिद्धातको क्यों नहीं मानते । समाधान—सप्तमगी नयके सूक्ष्म तत्वको निसर्गन और अधिगमज सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध उद्दृष्ट विद्वान् ही समझ सकते हैं । केवल अपने अपने शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे कुण्ठित बुद्धिवाले पुरुष इस गहन तत्वको नहीं समझ सकते, क्योंकि इन लोगोंकी बुद्धि अनादि कालकी अविद्या वासनसे दूषित रहती है, इस लिये ये लोग पदार्थोंका ठीक ठीक ज्ञान नहीं कर सकते । आगममें कहा भी है, “सत् और असत्का विवेक न होनेसे, कर्मोंके सद्भावसे और ज्ञानके फलका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टिके अज्ञान उत्पन्न होता है ।”

अत एव तत्परिगृहीत द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति । तेषामुपपत्ति-  
निरपेक्ष यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसरम्भात् । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत तु मिथ्याश्रुतमपि  
सम्यक्श्रुततया परिणमति सम्यग्दर्शां । सर्वत्रिदुपदशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याशु-  
तोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितप्रिधिनिषेधविषयतयोन्यनात् । तथाहि क्लि वेदे  
“अर्जैर्यष्ट्यम्” इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽनशब्द पशुवाचकतया व्याचक्षते,  
सम्यग्दर्शास्तु जन्मापयोग्य त्रिवापिक यत्रीहादि पञ्चवापिक तिलमसूरादि सप्त-  
वापिक धङ्गसर्पपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति । अत एव च भगवता श्रीव  
र्धमानस्नापिना “विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न  
प्रेत्य सञ्जास्ति” इत्यादिक्रच. श्रीमादिन्द्रभूत्यादीनां द्रव्यगणधरदेवानां जीवादिनिषेध-

१ छाया—सदसदविशेषणत भवद्देवयारिथितोपलम्भात् । शाण्डलामावािमिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ विशेषा  
वचनके ११५ । २ बृहदारण्यके २-४-१२ । ३ इन्द्रभूतिरग्निभूतिवायुभूति सहोद्भवा । व्यक्त  
सुपमा मण्डितमौल्यपुत्री सहोदरी ॥ अकम्पितोऽचलप्राता मेतायैश्च प्रभासक । इत्येकादश गणधरा ।  
४ विज्ञानमेव धनानन्दादिरूपत्वान् विज्ञानघन स एव एतेभ्योऽप्यश्नत परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्य  
पृथिव्यादिरक्षणेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तायेवानुविनश्यति तायेव भूताणि अनुसृत्य विनश्यति  
तथैवाप्यचक्षतया शरीरानो भवतीति भाव । न प्रत्य सञ्जास्ति मृत्वा पुनजम प्रेत्येत्युच्यते तत्सञ्जास्ति न पर  
शोकसशस्तीति भाव ।

कृतया प्रतिभासमाना अपि तद्व्यवस्थापरकृतया व्याख्याताः । तथा स्मार्ता अपि—

“ न मासभक्षणे दोषो न मये न च मैथुने ।

मृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ” ॥

इति श्लोको पठन्ति । अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानोऽसम्बद्धमलाप एव । यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः, कथमिव महाफला भविष्यति । इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिमसङ्गात् । तस्माद् अन्यद् ऐदम्पर्यमस्य श्लोकरस्य । तथाहि । न मासभक्षणे कृतेऽदोष अपि तु दोष एव । एव मत्रमैथुनयोरपि । कथं नादोष इत्याह । यत मृत्तिरेषा भूतानाम् । प्रवर्तत उत्पद्यन्तेऽस्यामिति मृत्तिरेत्यतिस्थानम् । भूतानां जीवानाम् तत्तज्जीवससक्तिर्हेतुरित्यर्थः ॥

अतएव मिथ्यादृष्टि चारह अगोको पद कर मी उन्हे मिथ्या श्रुत समझता है, क्योंकि वह शास्त्रोको समझे बिना उनका अगनी इच्छाके अनुमार अर्थ करता है । परंतु सम्यग्दृष्टि मिथ्या शास्त्रोको पद कर उन्हे सम्यक् श्रुत समझता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ भगवानके उपदेशके अनुमार चलता है, इस लिये वह मिथ्या आगमोका भी यथोचित विधि निषेध रूप अर्थ करता है । ( क ) उदाहरणके लिये “ अजैर्यष्ट्यम् ” इस वेद वाक्यमें मिथ्यादृष्टि लोग ‘ अज ’ शब्दका अर्थ पशु, और सम्यग्दृष्टि लोग उत्पन्न ा होने योग्य तीन बरसके पुराने जौ, धान आदि, पाच बरसके पुराने तिल, मसूर आदि, तथा सात बरसके पुराने कागनी, सरसो आदि धान्य अर्थ करते हैं । ( ख ) इसी तरह “ यद् विज्ञान मय चैनन्य भूतोमे उत्पन्न होकर भूतोमे विहीन हो जाता है, अतएव परलोक नहीं है ” ( विज्ञानघन पथैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्जास्ति ) आदि उपनिषद्के वाक्योंसे महावीर स्वामीके गणधर वननेसे पढ़ले इन्द्रभूति आदि वैदिक विद्वान जीव तत्त्वका निषेध करते थे, परन्तु महावीर भगवानने “ चान पाच भूतोके निमित्तसे कथंचित् उत्पन्न होता है, और पाच भूतोमें परिवर्तन होनेसे जानमें परिवर्तन होता है, अतएव जानकी पूर्व सजा नहीं रहती ” इस वाक्यका यह अर्थ करके जीव तत्त्वकी पुष्टि की है । ( ग ) स्मार्त लोगोका कहना है “ न मास खानेमें दोष है, न मद्य और मैथुन सेवन करनेमें पाप है, क्योंकि यह मणियोंका स्वभाव है ।

१ ननुच्छेदाभिधानमेतत् ‘ एतेभ्या भूतेभ्या समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्जास्ति ’ ( बृह० १-४-१२ ) इति, कथमेतदमेदाभिधानम् । नैव दोष । विशेषाविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विना ज्ञाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम् । ‘ अत्रेव मा भगवाननुमुद्रन् प्रत्य सञ्जास्ति ’ इति पर्यनुपुं च स्वयमेव श्रुत्यायान्तरस्य दर्शितत्वात्— ‘ न वा अरेऽह मोहं प्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमारमातुच्छित्तिधमा मात्रा सद्योऽस्त्वस्य भवति ’ इति । एतदुक्तं भवति । कृत्स्नतिल एवाय विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेद प्रसङ्गोऽस्ति । मानाभिलस्य भूतेन्द्रिय-अङ्गाभिरविद्याकृताभिरसर्गा विप्रया भवति । सद्योगात्वे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावात् प्रत्य सञ्जास्तीत्युक्तमिति । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये १-४-२२ । अत्र हेमचन्द्रकृतत्रिपिटिशालाकापुत्रचरितम् ( १०-५-७७, ७८ ) हरिमद्रीयाश्वकृष्टसिद्ध विलोकनीया ।

२ मनुस्मृतौ ५-५६ ।

हा, यदि मास आदिसे निवृत्ति हो सके, तो इससे महान फल होना है" (न मासभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ), परन्तु ये वाक्य केवल प्रलय मात्र हैं । कारण कि यदि मास आदिके भक्षणमें दोष नहीं है, तो उनसे निवृत्त होना महान फल नहीं कहा जा सकता । यदि मास आदिके सेवन करनेपर भी दोष न मान कर उनसे निवृत्त होनेको महान फल माना जाय, तो पूजा, अग्नयन, दान आदिके अनुष्ठानसे निवृत्त होनेको भी महान फल कहना चाहिये । अतएव "मासके भक्षण करनेमें पुण्य (अदोष) नहीं है (न मासभक्षणेऽदोषो), तथा मद्य और मैथुन सेवन करनेमें भी दोष है, क्योंकि मास, मद्य और मैथुन जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं (प्रवृत्ति—उत्पत्तिस्थान एषा भूतानाम्) । अतएव इनसे निवृत्त होना चाहिये" यह श्लोकका अर्थ करना चाहिये ।

प्रसिद्ध च मांसमद्यमैथुनाना जीवससक्तिसमूलकारणत्वंमांसम—

“आमासु य पक्रासु य विपश्चमाणासु मसपेसीसु ।  
आयतिअमुववाओं भणिओं उ णिगोअजीवाण ॥ १ ॥  
मजे महम्मि मसम्मि णवणीयम्मि चउत्त्यए ।  
उप्पज्जति अणता तव्वण्णा तत्य जतूणो ॥ २ ॥  
महुणसण्णारूढो णवलस्ख हणेइ मुहुमजीवाण ।  
क्खल्लिणा पण्णत्ता सहहिअव्वा सया काल ॥ ३ ॥”

तथाहि—

“इत्थीजाणीए सभवति वेइदिया उ जे जीया ।  
इहा व दों व तिणिण व लख्वपुहुत्त उ उक्कास ॥ ४ ॥  
पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उदवण ।  
वणुगदिद्वतण तत्तायसलामणाएण ॥ ५ ॥”

ससक्ताया योनीं द्वीन्द्रिया एते । शुकशाणितसभरास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे ।

“पाचिन्धिया मणुस्मा एगणरशुत्तणारिगम्भम्मि ।  
उक्कोस णवलक्खा जायति एगवलाए ॥ ६ ॥

१ कलाखरखरिहृतसम्बाधसप्तिकाया ६६, ६५, ६३ ।

२ छाया—आमासु च पक्रासु च विपश्यमानासु मासपेसीसु । आयत्तिकमुपवायो भणितस्तु निपादजातानाम् ॥ मये मणुनि मासे नपनीने चतुर्थके । उत्तयतेऽनता तद्वशास्तत्र तत्र ॥

मैथुनसशाला नवल्लह हन्ति सूक्ष्मजीवानाम् । केवल्लिना प्रकृता श्रद्धातया सदाकालम् ॥

खीयौनो सम्भनन्ति द्वीन्द्रियास्तु ये जीया । एके वा द्वौ वा त्रया वा लक्ष्युत्तत्र चोत्कृष्टम् ॥

पुण्येण सह गताया देया जीवाना भवति उद्दरणम् । वणुक्कदृष्टान्तेन ततायसशलाकाशतेन ॥

पञ्चेन्द्रिया मनुष्या एकरमुत्तनापीगर्भे । उत्कृष्ट नवल्लहा जायते एकवलयाम् ॥

नवल्लघाणां मये जायते एकस्य द्वयोर्मां समाप्ति । देया पुनरेवमेव च विलय प्रकृति तत्रैव ॥

णवलनराण मञ्जरे जायइ इक्स्स दोण्ह व समत्ती ।

सेसा पुण एमेव य विल्लय वच्चति तत्थेव ॥ ७ ॥ ”

तदेव जीवोपमर्दहेतुत्वाद् न मासभक्षणादिक्रमदृष्टमिति प्रयागः ॥

आगममें भी मास, मद्य और मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया है—“कच्चे, पके और अग्निमें पकाये हुए मासकी प्रत्येक अग्रम्यार्जमें अनन्त निगोल् जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। मद्य, मधु, मास और मक्खनमें मद्य, मधु, मास और मक्खनके रगके अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है। केरली भगवानने मैथुनके सेवन करनेमें नौ लाख जीवोंका घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिये।” तथा “स्त्रियोंकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन जीवोंकी संख्या एक, दो, तीनसे षट्का कर लाखों तक पहुच जाती है। जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ समोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सराईको बासकी नर्गमें डालनेसे नलीमें रखते हुए तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके सयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है।” अब रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज पचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या कहते हैं—“पुरुष और स्त्रीके एक बार सयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते हैं, बाकी सब जीव नष्ट हो जाते हैं।” इस प्रकार मास, मैथुन आदिके सेवन करनेसे अनन्त जीवोंका नाश होना है, अतएव इनका सेवन करना दोष पूर्ण है।

अथवा भूतानां पिशाचमायाणामेषा प्रवृत्ति । त एवात्र मासभक्षणादौ प्रवर्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः । तदेव मासभक्षणादेर्दुष्टता स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह । “निवृत्तिस्तु महाफला” । तुरैवकारार्थं । “तुः स्याद् भद्रऽप्यधारणं” इति वचनात् । तत्रैतेभ्यो मासभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरत्र महाफला स्वर्गापवर्गफलमदा । न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । अत एव स्थानान्तरे पठितम्—

“वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन या यजेत शतं समाः ।

मांसानि च न खादेद् यस्तथास्तुल्यं भवेत् फलम् ॥ १ ॥

एकरात्रोपितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।

न सा नृसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिरः” ॥ २ ॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादे । तस्य सर्वविर्गाहितत्वात् । तानेव प्रकरानर्थान् कथमिदं शुभाभासास्तीर्थिका वैदितुमर्हन्तीति वृत्तं प्रसङ्गेन ॥

अथवा, मास-भक्षण आदिमें भूत, पिशाचोंकी ही प्रवृत्ति होती है। भूत, पिशाच ही मास खानेमें प्रवृत्त होते हैं, विवेकी लोग नहीं। अतएव मास आदिसे निवृत्त होना ही महान

फल है। “तु” शब्दका प्रयोग निश्चय अर्थमें होता है”। इस लिये मास आदिके त्याग करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है। कहा भी है “प्रत्येक वर्ष सौ बार यज्ञ करनेवाले और मास भक्षण न करनेवाले दोनों पुरुषोंको बराबर फल मिलना है। हे युधिष्ठिर, एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होती।” भक्षणके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सब जगह लोकमें निन्दनीय है। इस प्रकारके अर्थोंकी अपनेको पंडित समझनेवाले दुवादी लोग नहीं समझ सकते।

अथ केऽर्था सप्तभङ्गा, कश्चायमात्रेणभेद इति । उच्यते । एतन्न जीवादी वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्रवशाद् अत्रिराधेन प्रत्यक्षादिनाथापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्यान्ऽऽब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणं सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यास सप्तभङ्गाति गीयते । तथा । १. स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिरूपनया प्रथमो भङ्गः । २. स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधरूपनया द्वितीय । ३. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधरूपनया तृतीय । ४. स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधरूपनया चतुर्थः । ५. स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिरूपनया युगपद्विधिनिषेधरूपनया च पञ्चमः । ६. स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधरूपनया युगपद्विधिनिषेधरूपनया च षष्ठः । ७. स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधरूपनया युगपद्विधिनिषेधरूपनया च सप्तमः ॥

सप्तभङ्गी—जीव आदि पदार्थोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंके विषयमें प्रश्न उठनेपर, विशेष रहित प्रत्यक्ष आदिसे अतिरिक्त, अलग अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक ‘स्यात्’ शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचन रचनाको सप्तभङ्गी कहते हैं। १ प्रत्येक वस्तु विधि धर्मसे कथञ्चित् अस्तित्व रूप ही है (स्यादस्ति), २ प्रत्येक वस्तु निषेध धर्मसे कथञ्चित् नास्तित्व रूप ही है (स्यानास्ति), ३ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध दोनों धर्मोंसे कथञ्चित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति), ४ प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि, निषेध दोनों धर्मोंसे कथञ्चित् अवक्तव्य ही है (स्यादवक्तव्य), ५ प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि निषेध धर्मोंसे कथञ्चित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्ति अवक्तव्य), ६ प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि निषेध धर्मोंसे कथञ्चित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यानास्ति अवक्तव्य), ७ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध तथा एक साथ विधि निषेध धर्मोंसे कथञ्चित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है।

तत्र स्यात्कथञ्चित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाररूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः पद्द्रव्यक्षेत्रकालभाररूपेण । तथाहि । कुम्भा द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति । नाप्यादिरूप-

त्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन । न कान्यकुब्जादित्वेन । कान्तः शैशिरत्वेन । न वासन्तिकदित्वेन । भावत इयामत्वेन । न रक्तादित्वेन । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिमसङ्ग इति । अवधारण चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यापृच्यर्थमुपात्तम् इतर-यानभिहिततुल्यतैरास्य वाक्यस्य प्रसज्येत । प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तम्—

“ वाक्येऽवधारण तादृग्निष्ठार्थनिवृत्तये ।

कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् ” ॥

तथाप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाग्रस्तित्वेनापि सर्व-प्रकारिणास्तित्वमात्र प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये स्याद् इति शब्द प्रयुज्यते । स्यात् कथंचिद् स्पष्टव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्रापि चासौ न प्रयु-ज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैरनारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्—

“ सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वार्थात्मनीयते ।

यथैवकारोऽप्योगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ” ॥

इति प्रथमो भङ्गः ॥

( १ ) प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तित्व रूप ही है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तित्व रूप ही है । जैसे, घड़ा द्रव्यकी अपेक्षा पाणिव रूपसे विद्यमान है, जल रूपसे नहीं, क्षेत्र ( स्थान ) की अपेक्षा पटना नगरकी अपेक्षा मौजूद है, कन्नौजकी अपेक्षासे नहीं, काल ( समय ) की अपेक्षा शीत ऋतुकी दृष्टिसे है, अमन्त ऋतुकी दृष्टिसे नहीं, तथा भाव ( स्वभाव ) की अपेक्षा काले रूपसे मौजूद है, लाल रूपसे नहीं । यदि पदार्थोंका अस्तित्व स्व चतुष्टय ( द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ) की अपेक्षाके विना ही स्वीकार किया जाय, तो पदार्थोंका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि जब तक वस्तुके एक स्वरूपकी दूसरे स्वरूपसे व्यावृत्ति न की जाय, उस समय तक वस्तुका स्वरूप नहीं बन सकता । इसी लिये यहाँ अनिष्ट पदार्थोंका निराकरण करनेके लिये ‘ एव ’ ( अवधारण ) का प्रयोग किया है । यदि ‘ एव ’ का प्रयोग न किया जाय, तो अनिच्छित वस्तुका प्रसंग मानना पड़े । कहा भी है “ किमी वाक्यमें ‘ एव ’ का प्रयोग अनिष्ट अभिप्रायके निराकरण करनेके लिये किया जाता है, अन्यथा अविवक्षित अर्थ स्वीकार करना पड़े । ” शका— ‘ घट अस्तित्व रूप ही है ’ ( अस्त्येव कुम्भ ) यह कहनेसे प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, फिर ‘ स्यात् ’ शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है । समाधान — ‘ घट अस्तित्व रूप ही है ’ यह कहनेसे घटके सर्वथा अस्तित्वका ज्ञान होता है । किन्तु ‘ स्यात् ’ शब्दके लगानेसे मालूम होता



है, कि घट पर रूप स्तम्भ आदिकी अपेक्षासे सर्वथा अस्तित्व रूप न हो कर केवल अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह सदा नास्ति रूप ही है। अतएव प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टयकी अपेक्षा ही कथञ्चित् अस्ति रूप है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये 'स्यात्' (कथञ्चित्) शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' अथवा 'कथञ्चित्' शब्दके न रहनेपर भी बुद्धिमान लोग उसका अभिप्राय जान लेते हैं। कहा भी है, "जिस प्रकार अयोगव्यञ्छेदक 'एव' शब्दके प्रयोग किये बिना बुद्धिमान प्रकरणसे अर्थ समझ लेते हैं, उसी तरह 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके बिना भी बुद्धिमान अभिप्राय जान लेते हैं।" यह प्रथम भग है।

स्यात्कथञ्चिद् नास्त्येव कुम्भादिः स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात्। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमासिद्धमिति वक्तव्यम्। कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वाद् साधनवत्। न हि कञ्चिद् अनित्यत्वादी साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्व विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्। तस्य साधनत्वाभासप्रसङ्गात्। तस्माद् वस्तुनोऽस्तित्व नास्तित्वेनाविनाभूतम्, नास्तित्व च तेनेति। विज्ञावशाच्चानयोः प्रधानोपसर्जन भावः। एवमुत्तरभङ्गेऽपि ज्ञेयम्। "अपितानर्पितसिद्धे," इति वाचक्यचनात्। इति द्वितीय ॥

( २ ) घट आदि प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् नास्ति रूप ही है। यदि पदार्थको स्व चतुष्टयकी तरह पर चतुष्टयसे भी अस्ति रूप माना जाय, तो पदार्थका कोई भी निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो सनता, अतएव एक वस्तुके दूसरे रूप हो जानेसे, वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नहीं कहा जा सकेगा। सर्वथा अस्तित्ववाद माननेवाले भी वस्तुमें नास्तित्व धर्मका प्रतिषेध नहीं करते। क्योंकि जिस प्रकार एक ही साधनमें किसी अपेक्षासे अस्तित्व और किसी अपेक्षासे नास्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार अस्ति रूप वस्तुमें कथञ्चित् नास्ति रूप भी युक्तिसे सिद्ध होता है। अनित्यत्व सिद्ध करनेके लिये सत्व साधनना अस्तित्व विपक्षमें नास्तित्व सिद्ध किये बिना (जहा अनित्य नहीं कहा सत्व नहीं) नहीं सिद्ध किया जा सकता। अथवा सत्व साधन अनित्यत्व साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। क्योंकि जब तक विपक्षमें हेतुका अभाव सिद्ध न किया जाय, उस समय तक हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंको सापेक्ष मानने चाहिये, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व एक दूसरेके बिना नहीं रहते। जिस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता हो, उस समय वस्तुको अस्ति, और जब नास्ति धर्मकी प्रधानता हो, उस समय वस्तुको नास्ति कहना चाहिये। यही प्रधान और

गौणका भेद अन्य भर्गोमें भी समझना चाहिये । उमास्वाति वाचकने कहा भी है “ प्रधान और गौणकी अपेक्षासे पदार्थोंकी विवेचना होती है । ” यह दूसरा भग है ।

तृतीय. स्पष्ट एव । द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्या युगपत्प्रधानतयापिप्ताभ्याम् एकस्य वस्तुनोऽभिधित्साया तादृशस्य शब्दस्यासम्भवाद् अवक्तव्य जीवादिवस्तु । तथाहि । सदसत्त्वगुणद्वय युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम् । तस्यासत्त्वमतिपादना-समर्थत्वात् । तथाऽसदित्यनेनापि । तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याभावात् । न च पुष्पदन्ता-दिवत् साङ्केतिकमेक पद तद्वक्तु समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्या-पपत्तः । शतृशानयोः सञ्जेतितसञ्जशब्दवत् । अतएव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्तयोर्भावस्य च न तद्वाचनत्वम् । इति सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्य वस्तु युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्या प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्त व्यवतिष्ठते । न च सर्वथाऽवक्तव्यम् । अवक्तव्यशब्दे-नाप्यनभिधेयत्वमसङ्गात् । इति चतुर्थ. । शपाह्वय. सुगमाभिमाया ॥

( ३-७ ) जन हम क्रमसे वस्तुको स्वल्पकी अपेक्षा अस्ति, और पर रूपकी अपेक्षासे नास्ति कहते हैं, उस समय वस्तुका अस्तित्नास्तिरूपसे ज्ञान होना है । यह स्याद-स्तित्नास्ति नामका तीसरा भग है । ( ४ ) हम वस्तुके अस्ति और नास्ति धर्मको एक साथ नहीं कह सकते । जिस समय जीवको सत् कहते हैं, उस समय असत्, और जिस समय असत् कहते हैं, उस समय सत् नहीं कह सकते । क्योंकि अग्नि और नास्ति दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । शम्भु—जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य दोनों वस्तुओंका ज्ञान ‘ पुष्पदन्त ’ शब्दसे हो जाता है, उसी तरह अस्ति और नास्ति दोनोंका एक साथ ज्ञान किसी एक सापेक्षिक शब्दसे मानना चाहिये । समाधान—पहले तो कोई ऐसा शब्द नहीं, जिससे अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान किया जा सके । यदि दोनों धर्मोंको कहनेवाला कोई एक शब्द मान भी लिया जाय, तो अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंका क्रमसे ही ज्ञान हो सकता है । व्याकरणमें ‘ सत् ’ शब्दसे शतृ और शान दोनोंका क्रम पूर्वक ज्ञान होता है, एक साथ नहीं । अतएव द्वन्द्व, कर्मधारय अथवा किसी एक वाक्यसे सत्व और असत्व दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता । इस लिये परस्पर विरुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका ज्ञान किसी एक शब्दसे नहीं होता, अतएव प्रत्येक वस्तु एक साथ अस्ति और नास्ति भावकी प्रधानता होनेसे कथञ्चित् अवक्तव्य है । यदि हम पदार्थको सर्वथा अवक्तव्य मानें, तो हम पदार्थको अवक्तव्य शब्दसे भी नहीं कह सकते, अतएव प्रत्येक पदार्थको कथञ्चित् अवक्तव्य ही मानना चाहिये । यह स्यादवक्तव्य नामका चौथा भग है । ( ५ ) जब हम वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा सत् कह कर उसकी एक साथ अस्ति नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य नामसे कही

जाती है। ( ६ ) जन हम वस्तुकी नास्तिव धर्मकी विवक्षासे एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य कही जाती है। ( ७ ) प्रत्येक वस्तु क्रमसे स्व और पर रूपकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति होनेपर भी एक साथ अस्ति नास्ति रूप अवक्तव्य होनेके कारण स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य रूप है।

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिधिध्यानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्त भङ्गीप्रसङ्गाद् असद्गतैव सप्तभङ्गीति। विधिनिषेधप्रकारापक्षया प्रतिपर्याय वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सभवात्। यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एव सामान्य-विशेषाभ्यामपि सप्तभङ्गैव स्यात्। तथाहि। स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादु-भयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषावक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यमिति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्। सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा प्रतिपक्षश-ब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशयस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एव सर्वत्र याज्यम्। अतः सुप्द्रुक्त अनन्ता अपि सप्तभङ्गैव एव सभवेयुरिति। प्रतिपर्याय प्रतिपा-द्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव सभवात्। तेषामपि सप्तत्व सप्तविधितज्जिज्ञासानियमात्। तस्या अपि सप्तविधत्व सप्तैव तत्सदेहसमुत्पादात्। तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति ॥

शरा—यदि आप लोग प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म मानते हैं, तो अनन्त भगोकी कल्पना न करके वस्तुमें केवल सात ही भगोंकी कल्पना क्यों करते हैं। समाधान—प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म होनेके कारण वस्तुमें अनन्त भग होने हैं। परन्तु ये अनन्त भग विधि और निषेधकी अपेक्षासे सात ही हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार सत् और असत्की दृष्टिसे सात भग होते हैं, उसी तरह सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे भी स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् उभय, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् सामान्य अवक्तव्य, स्यात् विशेष अवक्तव्य, और स्यात् सामान्य विशेष अवक्तव्य ये सात भग होते हैं।

शका—आपने ऊपर विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचन रचनाको सप्तभगी कहा था। यह विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना सामान्य विशेषकी सप्तभगीमें कैसे बन सकती है। समाधान—सामान्य विशेषकी सप्तभगीमें भी विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है। क्योंकि सामान्य विधि रूप है, और विशेष व्यवच्छेदक होनेसे निषेध रूप है। अथवा, सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव जब सामान्यकी प्रधानता होती है, उस समय सामान्यके विधि रूप होनेसे विशेष निषेध रूप कहा जाता है, और जब विशेषकी प्रधानता होती है, उस समय विशेषके

विधि रूप होनेसे सामान्य निषेध रूप कहा जाता है । इस अपेक्षासे सामान्य और विशेषमें विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है । इसी प्रकार अन्य धर्मोंमें भी सात भग वन सकते हैं । अतएव अनत भगोंमें सात भगोंकी ही कल्पना सिद्ध होती है । प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारके ही प्रश्न किये जा सकते हैं, अतएव सात ही भग होते हैं । प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारकी ही जिनासा उत्पन्न होती है, इस लिये सात प्रकारके ही प्रश्न होते हैं । सदेहके सात ही प्रकार हो सकते हैं, इस लिये सात ही प्रकारकी जिनासा हो सकती है । तथा प्रत्येक वस्तुमें सात ही धर्मोंका होना समव है, अतएव सदेह भी सात प्रकारके ही होते हैं ।

इय च सप्तभङ्गा प्रतिभङ्ग सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च । तत्र सकलादेशः प्रमाणान्यम् । तद्वृत्तव्यं चेदम् । प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मनस्तुन कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद् वा योगपद्यन प्रतिपादक वच सकलादेश । अस्यार्थः कालादिभिरष्टाभि कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्य तस्मात् कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद् वा समकालमभिधायक धान्य सकलादेश । तद्विपरीतस्तु विकलादेशा नयवाक्यमित्यर्थः । अयमाशयः । योगपत्रेनाशपधर्मात्मन वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः । तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते । तस्य नयात्मकत्वात् ॥

यह सप्तभगी प्रत्येक भगमें सकल और विकल आदेश रूप होती है । प्रमाण वाक्यको सकल आदेश कहते हैं । प्रमाणसे जानी हुई अनन्त धर्म स्वभाववाली वस्तुको काल, आत्म रूप, अर्थ, सबन, उपकार, गुणिदेश, समर्ग और शब्दकी अपेक्षासे अमेद वृत्ति अथवा अभेदोपचारकी प्रधानतासे सम्पूर्ण धर्मोंको एक साथ प्रतिपादन करनेवाले वाक्यको सकलादेश कहते हैं । प्रत्येक वस्तुमें अनत धर्म मौजूद हैं । इन धर्मोंका एक साथ और क्रम क्रमसे शब्दोंद्वारा प्रतिपादन किया जाता है । निम्न समय वस्तुमें काल आदिकी अपेक्षा अभिन्न रूपसे रहनेवाले सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंमें अभेद भावकी प्रधानता रख कर, अथवा काल आदिसे भिन्न धर्म और धर्मोंमें अभेदका उपचार मान कर सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंका एक साथ कथन किया जाता है, उस समय सकलादेश होता है । सकलादेशसे काल आदिकी अमेद दृष्टि अथवा अभेदोपचारकी अपेक्षा वस्तुके सम्पूर्ण धर्मोंका एक साथ ज्ञान होता है । जैसे अनेक गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, इस लिये गुणोंको छोड़ कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । अतएव द्रव्यका निरूपण गुण वाचक शब्दके बिना नहीं हो सकता । अतएव अस्तित्व आदि अनेक गुणोंके समुदाय रूप एक जीविका निरश रूप समस्तपनेसे अमेदवृत्ति ( द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं ) और अभेदोपचार ( पर्यायार्थिक नयसे समस्त धर्मोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी-



( १ ) काल—‘जीव आदि पदार्थ कथञ्चित् अस्ति रूप ही हैं’ यह कहनेपर जिस समय जीवमें अस्तित्व आदि धर्म मौजूद रहते हैं, उस समय जीवमें और भी अनन्त धर्म पाये जाते हैं, अतएव कालकी अपेक्षा अभिन्न आदि धर्म एक हैं । ( २ ) आत्मरूप ( स्वभाव )—जिस प्रकार जीवका अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार और धर्म भी जीवके स्वभाव हैं । इस लिये स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व आदि अभिन्न हैं । ( ३ ) अर्थ ( आधार )—जिस प्रकार द्रव्य अस्तित्वका आधार है, वैसे ही और धर्म भी द्रव्यके आधार हैं । अतएव आधारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं । ( ४ ) सवध—जिस प्रकार कथञ्चित् तादात्म्य सवध अस्तित्वमें रहता है, उसी तरह उक्त सवध अन्य धर्मोंमें भी रहता है, इस लिये सवधकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं । ( ५ ) उपकार—जो उपकार अस्तित्वके द्वारा अपने स्वरूपमें अनुराग उत्पन्न करता है, वही उपकार अन्य धर्मोंके द्वारा भी अनुरागको पैदा करता है, अतएव उपकारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद है । ( ६ ) गुणिदेश ( द्रव्यका आधार )—जो क्षेत्र द्रव्यसे सवध रखनेवाले अस्तित्वका है वही क्षेत्र अन्य धर्मोंका है, अतएव अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद भाव है । ( ७ ) ससर्ग—एक वस्तुकी अपेक्षासे जो ससर्ग अस्तित्वका है, वही ससर्ग अन्य धर्मोंका भी है, इस लिये ससर्गकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद है । सवधमें अभेदकी प्रधानता और भेदकी गौणता, तथा ससर्गमें भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होनी है । ( ८ ) शब्द—जिस ‘ अस्ति ’ शब्दसे अस्तित्व धर्मका ज्ञान होता है, उसी ‘ अस्ति ’ शब्दमें अर्थ धर्म भी जाने जाते हैं, अतएव शब्दकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म परस्पर अभिन्न हैं । जिस समय पर्यायार्थिक नयकी गौणता और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होती है, उस समय पदार्थोंके धर्मोंमें अभेद भावका ज्ञान होनेसे अभेदवृत्ति होनी है ।

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति । समकालमकर नानागुणानामसम्भवात् । सम्भवे वा तदाश्रयस्य तादृश भेदप्रसङ्गात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात् आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात् । स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वाद्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात् । सम्यक्स्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनाद् नानासम्बन्धिभिरेकसम्यग्धाघटनात् । ते क्रियमाणस्यापकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् अनेकैरपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य प्रतिगुण भेदात् तदभेद भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात् । ससर्गस्य च प्रतिससर्गिभेदात् तदभेद ससर्गिभेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषय नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरैकस्यापत्तेः ॥

( ४ ) स्यादवक्तव्य जीव — जीव कथञ्चित् अवक्तव्य ही है । इस भगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अप्रधानता है । ऊपर कहा चुका है, कि जिस समय वस्तुका स्वरूप एक नयकी अपेक्षा कहा जाता है, उस समय दूसरा नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं रहता । किन्तु जिस नयकी जहा विवक्षा होती है, वह नय वही प्रधान होता है, और जिस नयकी जहा विवक्षा नहीं होती, वह नय वहा गौण होता है । प्रथम भगमें जीवके अस्तित्वकी मुख्यता है, दूसरे भगमें नास्तित्व धर्मकी मुख्यता है । अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी मुख्यतासे जीवका एक साथ कथन करना समभव नहीं है, क्योंकि एक शब्दसे अनेक गुणोंका निरूपण नहीं हो सकता । इस लिये एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी अपेक्षासे जीव कथञ्चित् अवक्तव्य ही है । ( ५ ) स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः— जीव कथञ्चित् अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप है । इस नयमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिककी अप्रधानता है । किञ्चित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेषके आश्रयसे जीव अस्ति स्वरूप है, तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य अथवा द्रव्य विशेष और पर्यायविशेषकी एक साथ अभिन्न विवक्षासे जीव अवक्तव्य स्वरूप है । जैसे जीवत्व अथवा मनुष्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तित्व स्वरूप है, तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्यकी अपेक्षा वस्तुके भाव और अवस्तुके अभावके एक साथ अमेदकी अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है । ( ६ ) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीवः— जीव कथञ्चित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है । इस भगमें पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी अप्रधानता है । जीव पर्यायकी अपेक्षासे नास्ति रूप है, तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी एक साथ अमेद विवक्षासे अवक्तव्य स्वरूप है । ( ७ ) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव — जीव कथञ्चित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है । जीव द्रव्यकी अपेक्षा अस्ति, पर्यायकी अपेक्षा नास्ति और द्रव्य पर्याय दोनोंकी एक साथ अपेक्षासे अवक्तव्य रूप है । इस भगम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी प्रधानता और अप्रधानता है ।

अनन्तर भगवदर्थितस्यानेकान्तात्मना वस्तुना बुधरूपवेत्यत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्व च सप्तभङ्गमिरूपणेन सुरात्रेय स्यादिति सापि निरूपिता । तस्यां च विरुद्धधर्माभ्यासित वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्गापयन्ति तेषां प्रमाणमार्गात् च्यवनमाह—

जिन भगवानके प्रतिपादित किय हुए अनेकान्तवादको विज्ञ पडित लोग ही समझ सकने हैं, यह कहा चुका है । यह अनेकान्तवाद सप्तभगी रूप है । परन्तु एकान्तवादी सप्तभगीवादमें अस्ति, नास्ति विरुद्ध धर्मोंको देख कर दोष दिखाते हैं । ये एकान्तवादी सन्मागसे च्युत होते हैं—

उपाधिभेदोपहित विरुद्ध नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यते च ।

इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप परस्पर विरुद्ध धर्मोंको किसी अपेक्षा ( उपाधि ) से ही प्रतिपादित किया गया है । विरोधसे भयभीत हुए एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धांतको न समझ कर न्याय मार्गसे च्युत होते हैं ।

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनपु, असत्त्व नास्तित्व न विरुद्ध न विरोधावरुद्धम् । अस्तित्वेन सह विरोध नानुभवतीत्यर्थ । न केवलमसत्त्व न विरुद्धम् किंतु सदवाच्यते च । सत्त्वावाच्य च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते । अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थ । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि । अस्तित्व नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्यान्य न विरुध्यते । अथवा अवक्तव्यत्व वक्तव्यत्वेन साक न विरोधमुद्ग्रहति । अनेन च नास्तित्वास्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गप्रयेण सकल-सप्तभङ्गा निर्विरोधता उपलक्षिता । अमीपापेय त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च सयोगजत्वेनार्थाप्येवान्तर्भावादिति ॥

व्याख्यानार्थ—जिस तरह चेतन और अचेतन पदार्थोंमें अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर कोई विरोध नहीं, उसी तरह विधि और निषेध रूप अवक्तव्यका भी अस्तित्व और नास्तित्वसे विरोध नहीं है । अथवा, अवक्तव्यका वक्तव्यके साथ कोई विरोध नहीं, इस लिये अवक्तव्यका अस्तित्व और नास्तित्वसे भी विरोध नहीं है । अतएव अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य इन तीन मूल धर्मोंमें परस्पर विरोध न होनेसे सम्पूर्ण सप्तधर्मोंमें भी कोई विरोध नहीं आता । क्योंकि आदिके तीन भग ही मुख्य भग हैं, शेष भग इन्हीं तीनोंके सयोगसे बनते हैं, अतएव उनका इन्हींमें अंतर्भाव हो जाता है ।

नन्वेते धर्माः परस्पर विरुद्धाः तत्त्वधर्मैश्च वस्तुन्येपा समावशं सभवति इति विशेपणद्वारेण इतुमाह उपाधिभेदोपहितम् इति । उपाधयोऽवच्छेदका अक्षर-काराः तया भेदा नानात्वम्, तेनापहितमपितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधि-भेदापहितं सत्त्वेष्वसत्त्व न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेद कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ॥

शङ्का—अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव ये किसी वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते । समाधान—वास्तवमें अस्तित्व आदिमें विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व आदि किसी अपेक्षासे स्वीकार किये गये हैं । पदार्थोंमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं । जिस समय हम पदार्थोंमें अस्तित्व धर्म सिद्ध करते हैं, उस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और अन्य धर्मोंकी गौणता रहती है । अतएव अस्तित्व और



नास्तित्त्व धर्ममें परस्पर विरोध नहीं है। इसी तरह अमिन्त्व और अवक्तव्य भी अपेक्षाके भेदसे माने गये हैं। इस लिये इनमें विरोध नहीं आता।

अयमभिप्रायः। परस्परपरिहारण य वर्तते तत्रो शीतोष्णवत् सहानवस्थान-  
लक्षणो विरोधः। न चात्रमम्। सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात्। न  
हि यद्यदा सत्त्वमसत्त्व परिहृत्य वर्तते। पररूपेणापि सत्त्वमसद्भावात्। तथा च तद्वृत्ति  
रिक्तार्थान्तराणा नैरर्थभ्यम्। तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणा सिद्धः। न चासत्त्व  
सत्त्व परिहृत्य वर्तते। स्वरूपेणाप्यसत्त्वमाप्तेः। तथा च निरुपायत्वात् सर्वशून्य-  
तेति। तथा हि विरोधः स्याद् यत्रोपाधिक सत्त्वमसत्त्व च स्यात्। न चैवम्।  
यतो न हि येनैवाद्येन सत्त्व तत्रैवासत्त्वमपि। किं त्वन्यापाधिक सत्त्वम्, अन्योपाधिक  
पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण हि सत्त्व पररूपेण चासत्त्वम् ॥

जिस प्रकार शीत और उष्ण एक दूसरेके विरोधी होनेसे एक साथ नहीं रहते, उस प्रकार सत्त्व और अमन्त्व में परस्पर विरोध नहीं देखा जाता। सत्त्व और असत्त्व एक साथ अभेद भावसे रहते हैं। घट आदि पदार्थोंमें सत्त्व अमत्त्वको हटा कर नहीं रहता। यदि सत्त्व असत्त्वको हटा कर रहे, तो घटकी अपेक्षा भी घटको घट मानना चाहिये। अतएव घटके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंको स्वीकार करना निरुक्त निरर्थक होगा, क्योंकि एक घटको तानों लोकोंके संपूर्ण पदार्थ स्वरूप मान कर उमीसे सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाया करेगा। इसी तरह असत्त्व भी सबको छोड़ कर नहीं रह सकता। यदि सत्त्वके बिना असत्त्व रहे, तो अमत्त्व भी अपने स्वरूपसे सत्त्व नहीं कहा जा सकता। अतएव सम्पूर्ण वस्तुओंके स्वभाव नष्ट होनेमें सत्त्व पदार्थोंको शून्य मानना पड़ेगा। तथा यदि हम लोग जिस अपेक्षासे सत्त्व मानते हैं, उमी अपेक्षासे अमत्त्व मान, तो सप्तमगीवाणमें विरोध आ सकता है। परन्तु हम लोग जिस अपेक्षासे सत्त्व मानते हैं, उसी अपेक्षासे अमत्त्व नहीं मानते। किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत्त्व, और पर रूपकी अपेक्षा अमत्त्व है।

दृष्टं क्षेत्रस्मिन्नेव चित्रपटावपिनि अन्योपाधिक तु नीलत्वम्, अन्योपाधिका  
श्वेतरे वर्णा। नीलत्व हि नीलीरागायुपाधिम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्भेदजनद्रव्योपा  
धिमानि। एव मेघरुत्नेऽपि तत्तद्दर्शणपुद्गलोपाधिक वैचित्र्यमयसेयम्। न चैभिर्दृ  
ष्टै सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वमाप्तिः। चित्रपटाग्रपविन एकत्वात्। तथापि भिन्न  
देशत्वासिद्धे। कथंचित्तत्त्वस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः।  
एवमप्यपरिनापश्चेद् आयुष्मतः, तर्ह्यस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्वपुत्रत्वमाहु-  
लत्त्वभागिनैत्यत्त्वपितृत्वयत्नभ्रातृव्यत्वादिघर्माणा परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात्  
किं वाच्यम्। एवमवक्तव्यत्वाद्योऽपि वाच्या इति ॥

इसी प्रकार एक चित्रपट ( अनेक रंगोंसे रंगा हुआ वस्त्र ) में जो नीला रंग दीस पड़ता है, वह दूसरी वस्तुके समझसे होता है, और दूसरे रंग अपनी जुदी जुदी सामग्रियोंसे होते हैं । मेचक रत्नों में भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न वर्णोंके पुट्टलोंकी अपेक्षा विचित्रता पायी जाती है । यदि कहो, कि चित्रपट और मेचकके दृष्टांतमें सत्त्व और असत्त्वका भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहना सिद्ध होता है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि चित्रपट और मेचक रत्न अनेक रंगोंके आश्रित हो कर भी स्वयं अखंड हैं, अतएव भिन्न भिन्न रंगोंका एक ही आधार माना जाता है । अतएव जिस प्रकार स्याद्वादियोंके मतमें भिन्न भिन्न रंग ओर उनके आधार भूत वस्त्र परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं, उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्वके आश्रित पदार्थ भी परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न हैं । अतएव निम्न प्रकार एक ही पुरुषमें भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे पिता, पुत्र, मामा, भानजा, चाचा, मतीना आदि परस्पर विरुद्ध धर्म मौजूद रहते हैं, उसी तरह एक ही वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवस्तव्य धर्म विद्यमान हैं ।

उक्तमन्त्राण्युपाधिभेदेन वास्तव विरोधाभासमनुष्यैवाज्ञात्त्वं । एवकारोऽवधारणे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लगतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । ततस्त विरोधाभासा सच्चासच्चादिधर्माणा बहिर्मुखैश्चैवमुप्या सभावितो वा विराध सहानवस्थानादिः, तस्माद् भातास्त्वस्तमानसा' । अत एव जडा ताच्चिन्मभयहोरोरभावोऽपि तत्राविधपशुवद् भीरुत्वान्मूर्खा परवादिन । तदन्तन्तहता तेषा सच्चादिधर्माणा य एनात इतरधर्मनिषेधेन स्याभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हता पतन्ति स्खलन्ति पतिनाश्च सन्तन्ते न्यायमार्गात्प्रमण न समर्था, न्यायमार्गात्तनीनाना च सर्वेषामप्यात्प्रमणीयतां यान्तीति भाव । यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतच्यवन्त । लोका हि समार्गाच्युत पतित इति परिभाष्यते । अथवा यथा वज्रादिप्रहारं हत पतितो मूर्च्छामृतच्छामासाय निरुद्धात्प्रसरी भवति, एव तेषां वादिन स्वाभिप्रेतान्तवादेन युक्तिसरणीमननुसरता वज्राशनिप्रायेण निहता सन्त स्याद्वाङ्मिना पुरतोऽभिश्चित्करा वाह्मात्रमपि नोच्चारयित्तुर्माशत इति ॥

इस प्रकार सप्तमगीवादमें नाना अपेक्षादृष्ट विरोधाभावको न समझ कर, अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे मयभीत हो कर, अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका निषेध करके अपने मतको स्थापित करनेके लिये एकांत पक्षका अनुभवन लेनेवाले युक्ति मार्गका अनुसरण करनेमें असमर्थ मूर्ख एकान्तवादी एकान्तवादके वज्रप्रहारसे स्याद्वादियोंके समझ निस्तेज हो कर न्याय मार्गसे च्युत हो कर अवाक् हो जाते हैं ।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम् अनवस्था सकरः व्यतिकरः सशय अप्रतिपत्तिः त्रिपयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परांद्वाविता दोषा अभ्यूहाः । तथाहि । सामान्यविशेषात्मक वस्तु इत्युपन्यस्तं परं उपालब्धारो भवन्ति । यथा सामान्य-विशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकनाभिन्नं वस्तुनि असभवात् भीतोष्णवदिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एक-रूपतापत्तं, ततो वैयधिकरण्यमपि भवति । अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं यत्र च विशेषस्य तावत्प्राप्त्यानां एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावा-भ्याम् ? एनैव चेत् तत्र पूर्ववद् विराधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेष-पारय स्वभावद्वयमधिकरोति तदानवस्था, तावपि स्वभावान्तराभ्याम् तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदापः । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यामिति व्यतिकरः । ततश्च यस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चतुमशक्ते सशयः । ततश्चाप्रतिपत्तिः । ततश्च प्रमाण त्रिपयव्यवस्थाहानिरिति ॥

श्रमा—सप्तमर्गावादर्म विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, सकर, व्यतिकर, सशय, अप्रतिपत्ति और त्रिपयव्यवस्थाहानि ये आठ दोष आते हैं । ( १ ) जिस प्रकार शीत और उष्णमें विरोध है, उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर विरोध है । इस लिये जहा पदार्थका अस्तित्व गुण है, वहा उस पदार्थका नास्तित्व गुण नहीं रह सकता, और जहा पदार्थका नास्तित्व है, वहा उसका अस्तित्व नहीं रह सकता । अतएव अस्तित्व और नास्तित्वको एक ही पदार्थमें स्वीकार करनेमें सप्तमर्गमें विरोध आता है । ( २ ) अस्तित्व और नास्तित्वके परस्पर विरुद्ध होनेसे अस्तित्वका अधिकरण नास्तित्वना, और नास्तित्वका अधिकरण अस्तित्वका अधिकरण नहीं कहा जा सकता । अतएव अस्तित्व और नास्तित्वका अलग अलग अधिकरण होनेसे सप्तमर्गमें वैयधिकरण्य दोष आता है । ( ३ ) जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म रहते हैं, उसी तरह 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व' में भी अस्तित्व और नास्तित्व मानने चाहिये । इस लिये अस्तित्व और नास्तित्वमें अनेक अस्तित्व और नास्तित्व माननेसे सप्तमर्गमें अनवस्था दोष आता है । ( ४ ) स्याद्वादियोंके मतमें अस्तित्व और

१ विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वम् । २ अप्रामाणिकपदाधरभ्यरापरिकल्पनाविधानान्यभावरचानवस्था ।

३ येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वंस्यापि प्रथमं । येन रूपेण चासत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वंस्यापि प्रथमं इति सकरः । " सर्वेषां युगपत्प्राप्तिस्सकरः " इत्यभिधानात् । ४ येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वंमेव स्यात् इति सत्त्वं । येन रूपेण चासत्त्वं तेन सत्त्वंमेव स्यात्सत्त्वं इति व्यतिकरः । " परस्परविषयगमनं व्यतिकरः " इति वचनात् । सप्तमगीतरनिष्ठा पृ ८२ ।

नास्तित्व एक जगह रहते हैं। इस लिये अस्तित्वके अधिकरणमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे, और नास्तित्वके अधिकरणमें नास्तित्व और अस्तित्वके रहनेसे स्याद्वादमें सकर दोष आता है। ( ५ ) अस्तित्व और नास्तित्वके एक साथ रहनेसे अस्तित्व रूपसे नास्तित्व, और नास्तित्व रूपसे अस्तित्व माननेसे स्याद्वादमें व्यतिकर दोष आता है। ( ६ ) वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें किमी धर्मका ठीक निश्चय न होनेसे म्याद्वादमें सशय दोष आता है। जिस प्रकार एक वस्तुमें सीप और चादीका निश्चय रूप जान न होनेसे सशय उत्पन्न होता है, उसी तरह म्याद्वादमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि निरोधी धर्मोंका निश्चय न होनेसे सशय उत्पन्न होता है। ( ७ ) सशय होनेसे वस्तुका ठीक ठीक जान नहीं हो सकता, अतएव स्याद्वादमें अप्रतिपत्ति दोष आता है। ( ८ ) तथा वस्तुका अर्थ जान न होनेसे वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती, अतएव स्याद्वादमें विषयव्यवस्थाहानि (अभाव) दोष आता है।

एते च दोषा स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाद् निरवकाशा एव । अत स्याद्वादम-  
र्मवेदिभिस्सद्दर्शीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति । स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरैव सामान्यविशेष-  
योर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात् । अथवा विराधशब्दोऽत्र दोषवाची । यथा  
विरुद्धमाचरतीति दुष्टमित्यर्थः । ततश्च विरोधेभ्यो विरोधव्यधिकरण्यादिदोषेभ्यो  
भीता इति व्याख्येयम् । एव च सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः सगृहीता  
भवन्ति ॥ इति काव्यार्थः ॥ २४ ॥

समाधान—(१) म्याद्वादियोंके मतमें एक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वका कथन अपेक्षा विशेषके ले कर किया गया है, इस लिये शीत और उष्ण स्पर्शकी तरह अस्तित्व और नास्तित्वमें विरोध नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक पदार्थमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अस्तित्व, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व माना गया है, अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी एक जगह एक ही समयमें नहीं माननेसे म्याद्वादमें विरोध नामक दोष नहीं आ सकता। बध्यघातक, सहानवस्थान और प्रतिबन्ध प्रतिबन्धकके भेदसे विरोध तीन प्रकारका होता है। सर्प और नरुलमें, जल और अग्निमें बध्यघातक विरोध है, क्योंकि यह विरोध एक कालमें बध्य और घातक दो पदार्थोंके संयोगसे होता है। भिन्न भिन्न समयमें होनेवाले दो पदार्थोंमें सहानवस्थान विरोध होता है। जैसे आमके हरेपन और पीलेपनमें सहानवस्थान विरोध है, क्योंकि आमका हरापन और पीलापन भिन्न भिन्न समयमें होता है। जिस समय आममें हरापन रहता है, उस समय पीलापन, और जिस समय पीलापन रहता है उस समय हरापन नहीं रहता है। चन्द्रकान्त मणि और दाहमें परस्पर प्रतिबन्ध प्रतिबन्धक विरोध है। क्योंकि दाहके प्रतिबन्ध करनेवाले चन्द्रकान्त मणिके रहते हुए अग्निसे दाह उत्पन्न नहीं होती। म्याद्वादियोंके मतमें ये तीनों विरोध नहीं आते। स्याद्वादी लोग अस्तित्व और नास्तित्वकी एक समयके लिये भी एक पदार्थमें स्थिति स्वीकार नहीं करते,

इस लिये स्याद्वादमें शीत और उष्णकी तरह वय्यघातक विरोध नहीं कहा जा सकता। आमके हरेपन और पीलेपनकी तरह अस्तित्व और नास्तित्व पूर्व और उत्तर कालमें नहीं रहते, इस लिये यहा सहानवस्थान विरोधका लक्षण भी नहीं घटता। तथा दाह और चन्द्रकान्त मणिकी तरह अस्तित्व और नास्तित्वमें प्रतिवच्य प्रतिवचक विरोध भी नहीं है। क्योंकि निम समय जीवमें अस्तित्व धर्म है, उसी समय जीवमें पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी मौजूद है। इसी तरह जिस समय जीवमें पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म है, उसी समय द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म मौजूद है। अतएव स्याद्वादमें विरोध नहीं आ सकता। इस लिये जैसे एक वृक्षमें चञ्चलता और स्थिरता, एक घटमें लाल और कालापन आदि विरोधी धर्मोंके रहते हुए भी विरोध नहीं कहा जाता, उसी तरह एक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे विरोध नहीं कह सकते। ( २ ) अस्तित्व और नास्तित्वमें विरोध न रहनेसे अस्तित्व और नास्तित्वका अधिकरण भी जुदा जुदा नहीं रहता, इस लिये स्याद्वादमें वैयधिकरण्य दोष भी नहीं आता। ( २ ) प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म प्रमाणसे सिद्ध होते हैं। जैसे माता पिताकी परम्परा प्रमाणसे सिद्ध है, उसी तरह सप्तभग भी प्रमाणसे सिद्ध हैं। अतएव केवल कल्पनाके अनन्त होनेसे स्याद्वादमें अनवस्था दोष नहीं आ सकता। तथा जिस प्रकार घटत्व धर्ममें घटत्वत्व धर्मकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह अस्तित्व आदिमें भी दूसरे अस्तित्व आदिकी कल्पना नहीं कर सकते। ( ४-५ ) अस्तित्व और नास्तित्वके अविरोधी सिद्ध होनेपर अस्ति रूपको नास्ति नहीं कह सकते, इस लिये सक्कर, तथा अस्तिको नास्ति, और नास्तिको अस्ति नहीं कह सकते, इस लिये व्यतिकर दोष नहीं आते। क्योंकि वस्तु स्व चतुष्टयसे अस्ति रूप, और पर चतुष्टयसे नास्ति रूप है। ( ६ ) अनेक धर्मोंके अनिश्चित ज्ञानको सशय कहते हैं। यह अस्ति है, या नास्ति, यह सशय है। परन्तु वस्तुमें अपेक्षा भेदसे अस्तित्व और नास्तित्वके प्रतिपादन करनेमें सशय नहीं कहा जा सकता। स्याद्वादमें वस्तु अस्ति है, और नास्ति भी है, इस लिये स्याद्वादमें दोनो धर्मोंका निश्चय होता है। ( ७-८ ) सशय नहीं होनेसे निश्चित ज्ञानका अभाव न होनेके कारण अप्रतिपत्ति, और अप्रतिपत्ति (निश्चित ज्ञानका अभाव) न होनेसे स्याद्वादात्ममें वस्तु व्यवस्थाका अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अतएव 'साधर्म्यकी तरह अस्तित्व धर्मका नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभाव सवध है, विशेषण होनेसे।' जैसे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है, वैसे ही अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है। इसी तरह 'वैधर्म्यकी तरह नास्तित्व धर्म अस्तित्वके विना नहीं रह सकता'। अतएव अस्तित्व और नास्तित्वके अविनाभावी होनेसे स्याद्वादियोंके मतमें उक्त विरोध आदि दोष नहीं आ सकते। जो एकान्तवादी लोग अस्तित्व, नास्तित्व और सामान्य, विशेषको परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, उन्हींके मतमें ये दूषण दिये जा सकते हैं। श्लोकमें 'विरोध' शब्दका अर्थ दोष करना चाहिये। इस लिये 'विरोध' शब्दसे वैयधिकरण्य, अनवस्था आदि सम्पूर्ण दोषोंका ग्रहण हो जाता है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुमें अनत धर्म मौजूद हैं । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् रूप, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् रूप है । वस्तुके अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका एक साथ कथन नहीं किया जा सकता, इस लिये प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे अस्तित्व भी है । किसी वस्तुमें अविरोध भावसे अस्तित्व और नास्तित्वकी कल्पना करनेको सप्तमगी कहते हैं ( प्रक्षवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तमगी ) । वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी कल्पना किसी अपेक्षाको ले कर ही की जाती है । अनएव स्व द्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथञ्चित् अस्ति है, और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथञ्चित् नास्ति है । इसीलिये सप्तमगीनाममें विरोध, वैयधिकरण्य, अनरसा, सकर, व्यतिकर, सशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोषोंके लिये कोई अवकाश नहीं है । विरोध आदि दोषोंके निराकरण करनेसे शाकरभाष्य और सर्वदर्शन सप्तममें शकर और माधव आचार्योंद्वारा प्रतिपादित विरोध, सशय आदि दोषोंका भी परिहार हो जाता है । क्योंकि वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षाओंको ले कर ही माने गये हैं । कारण कि जिस अपेक्षासे वस्तु अस्ति है, उसी अपेक्षासे स्याद्वादियोंने वस्तुको नास्ति स्वीकार नहीं किया है ।

अध्यानेनान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्या-  
भिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादसोहित्यमुपवर्णयन्नाह—

अनेकान्तवाद सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें रहता है, परन्तु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् वाच्य, स्यात् अवाच्य, स्यात् सत्, स्यात् असत्के भेदसे अनेकातके चार भेद बताये गये हैं—

स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव ।

विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वमुधोऽतुद्वारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—हे विद्वानों के शिरोमणि, आपने अनेकान्त रूपी अमृतको पीकर प्रत्येक वस्तुको कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् सामान्य, कथञ्चित् विशेष, कथञ्चित् वाच्य, कथञ्चित् अवाच्य, कथञ्चित् सत् और कथञ्चित् असत् प्रतिपादन किया है ।

स्यादित्यव्ययमनेनान्तत्रोतममष्टास्वपि पदेषु योज्यम् । तदेव अत्रिहृतमेवेव वस्तु स्यात् कथञ्चिद् नाशि विनश्यनशीलमनित्यमित्यर्थः । स्यान्नित्यम् अविनाशिधर्मात्यर्थ । एतावता नित्यानित्यलक्षणमरु विधानम् । तथा स्यात् सदृशमनुचित्हेतुसामान्यरूपम् । स्याद् विरूप विविधरूपम् त्रिसदृशपरिणामात्मक व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थ । अनन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद् वाच्य वक्तव्यम् । स्याद् न

वान्यमरक्तव्यमित्यर्थः । अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्याद्रौ  
रूढमित्यसम्भ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसपस्त चकार स्तुतिकारः । एतेनाभिलाष्या-  
नभिलाष्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः । तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः । स्याद्  
असत् तद्विलक्षणमिति । अनन सदसदारया चतुर्थी विधा ॥

व्याख्यानार्थ—‘स्यात्’ शब्द अनेकातका सूचक है । उसे नित्य, अनित्य आदि आठों  
वचनोंके साथ लगाना चाहिये । ( १ ) प्रत्येक वस्तु विनाशी होनेके कारण कथञ्चित् अनित्य,  
और अविनाशी होनेके कारण कथञ्चित् नित्य है । ( २ ) प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप होनेसे  
कथञ्चित् सामान्य, और विशेष रूप होनेसे कथञ्चित् विशेष है । ( ३ ) प्रत्येक पदार्थ वक्तव्य  
होनेसे कथञ्चित् वाच्य, और अवक्तव्य होनेसे कथञ्चित् अवाच्य है । लोकमें अवाच्य शब्द  
योनि आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है, अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने श्लोकमें  
‘अवाच्य’ शब्द न कह कर ‘न वाच्य’ पद प्रयोग किया है । ( ४ ) तथा प्रत्येक पदार्थ  
अस्ति रूप है, इस लिये कथञ्चित् ‘सत्’, और नास्ति रूप है, इस लिये कथञ्चित्  
असत् है ।

हे विपश्चितां नाथ सग्यात्रतां सुरय इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वमुधोद्धार-  
परम्परा । तवति प्रकरणात् सामर्व्याद्वा गम्यते । तच्च यथास्थितवस्तुस्वरूपपरि-  
च्छेदः तदेव जरामरणापहारित्वाद् विबुधोपभोग्यत्वाद् मिव्यात्वविषोर्भिनिराक-  
रिष्णुत्वाद् आन्तराहादनारित्वाच्च मुधा पीयूष तत्रमुधा । नितरामनन्यसामान्यतया  
पीता आस्वादिता या तत्त्वमुधा तस्या उद्वता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्धारपरम्परा  
उद्धारश्रेणिरिवेत्यर्थः । यथा हि कश्चिदाश्नन् पीपुपरसमापीव तदनुविधायिनीमुद्धार-  
परम्परा मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृत स्वैरमास्वाय तद्रसानु  
विधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्धारपरम्परा देशनामुग्धेनाद्गीर्णवा-  
नित्याशयः ॥

हे विद्वानोंके शिरोमणि, जिस प्रकार कोई मनुष्य अमृतका रस अधिक पान करके  
पीठे से बार बार डकार लेता है, उसी प्रकार आपने जन्म और मरणके नाश करनेवाली,  
विद्वानोंके उपभोग्य, मिथ्यात्व विषको निर्विष करनेवाली, और आल्लाह उत्सन्न करोगाली  
तत्व-मुधाको असाधारण रूपसे पान करके अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्धार  
परम्पराको उपदेशके द्वारा प्रगट किया है ।

अथवा येरान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षित तेपा तत्तद्वचन  
रूपा उद्धारप्रकारा प्राग्प्रदर्शिताः । यैस्तु पंचलिमप्राचीनपुण्यमागभारानुग्रहीतैर्जगद्गुर-  
वदन दुनि स्यन्ति तत्त्वामृत मनोहत्प पीतम्, तेषां विपश्चितां यथार्थज्ञादचिदुपां हे  
नाथ इय पूर्वदलदर्शितोल्लखशेखरा उद्धारपरम्परति च्यायेयम् । एते च चत्वारोऽपि

वादास्तेषु तेषु स्यानेषु प्रागेव चर्चिता । तथाहि । 'आग्नीपमाव्योम समस्वभावम्' इति वृत्ते नित्यानित्यवाद' प्रदर्शितः । 'अनेकमेकाल्पकमेव वाच्यम्' इति काव्ये सामान्यविशेषवाद. समुचित । सप्तभङ्गधामभिलाष्यानभिलाष्यवाद सदसद्वादश्च चर्चितः । इति न भूय' प्रयास ॥ इति काव्यार्थ ॥ २५ ॥

अथवा, तिन एकान्तवादिगोंने मिथ्यात्व रूपी विष भोजनको खूब तृप्त हो कर भक्षण किया है, उनके वचन रूपी उद्गारोंका वर्णन कर चुके हैं । जिन पुण्यात्मा लोगोंने ससारके स्वामी आपके मुख बन्दसे झरते हुए अमृतका पान किया है, उन यथार्थवक्ता विद्वानोंके मुखसे अनेकातवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गार-परम्परा प्रगट हुई है । इन चार वादोंमें 'आग्नीपमाव्योम समस्वभाव' श्लोकमें नित्यानित्यवाद, 'अनेकमेकाल्पकमेव वाच्यम्' श्लोकमें सामान्य विशेषवाद, तथा सप्तभङ्गवादानें वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादका वर्णन किया गया है । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—स्याद्वादियोंके मनमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य अनित्य, किसी अपेक्षासे वाच्य-अवाच्य, और किसी अपेक्षासे सत्-असत् है । इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है । अतएव प्रत्येक पदार्थको द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत्, तथा पर्यायाधिक नयसे अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् मानना ही न्याय सगत है । वस्तुमें एकान्त रूपसे नित्य, अनित्य आदि धर्मोंके माननेसे विरोध आता है । अतएव प्रत्येक वस्तुको अनेकानाल्पक मानना चाहिये ।

इदानीं नित्यानित्यपक्षया. परस्परदूषणमसासनसद्बलक्षतया वैरायमाणयारित-  
रैतरोदीरितत्रिविधहेतुहेतिसनिपातसजातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य स-  
वार्त्कार्पमाह—

एकान्त नित्य और एकात अनित्यवादके माननेवाले एक दूसरेके दोष दिखा कर परस्पर लड़ते हैं, और एक दूसरेके सिद्धांतोंको खंडन करनेके लिये नाना प्रकारके हेतु रूपी शब्दोंके प्रहारसे गिर पड़ते हैं, अतएव प्रयत्नके बिना ही भगवानके शासनकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है—

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परस्परध्वसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्य जिनशासन ते ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार वस्तुको सर्वथा नित्य माननेमें दोष आते हैं, वैसे ही वस्तुको सर्वथा अनित्य माननेमें भी दोष आते हैं । जैसे एक कण्टक दृमरे कण्टकको नाश करता है, वैसे ही नित्यवादी और अनित्यवादी परस्पर दूषणोंको दिखा कर एक दूसरेका निराकरण करते हैं, अतएव जिनेन्द्र भगवानका शासन विना परिश्रमके ही विजयी होता है ।



किलेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादि-  
भि प्रसञ्जिताः क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्त्यादयः, त एव त्रिनाशवादेऽपि  
क्षणिकैकान्तवादऽपि समा तुल्याः, नित्यैकान्तवादिभि प्रसज्यमाना अन्युनाधिका ॥

व्यापार्यर्थ—यदा ' किल ' शब्द निश्चय अर्थमें है । ' नित्यवादियोंके मतमें  
क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती ' इस प्रकार जो अनित्यवादियोंने एकान्त  
नित्य पक्षमें दूषण दिये थे, वे सब दोष अनित्यवादियोंके पक्षमें भी आते हैं ।

तथाहि । नित्यवादी प्रमाणयति । सर्वं नित्य सत्त्वात् । क्षणिके सदसत्कालयो-  
र्थक्रियाविराधात् तद्वक्षण सच्च नावस्थां वप्राप्तीति ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया  
नित्यत्वेऽतिष्ठते । तथाहि । क्षणिकोऽर्थ सन्वा कार्यं कुर्याद् असन्वा, गत्यन्तराभावात् ।  
न तावदाद्य' पक्ष, समसमयवतिनि व्यापारायोगात् । सरूढभावानां परस्पर कार्य-  
कारणभावप्राप्त्यातिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीय' पक्षः शोद क्षमत् । असत्' कार्यकारण-  
शक्तिरिच्छत्वात् । अन्यथा शशविपाणाट्टयाऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाभा-  
वात् इति ॥

नित्यवादी—' सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं, सत् होनेसे । ' क्षणिक पदार्थोंकी  
विद्यमान अथवा अविद्यमान अवस्थामें कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि  
पदार्थोंमें क्षणिक माननेमें उनमें स्थिरता नहीं रह सकती । अतएव क्षणिक पदार्थोंका  
अस्तित्व नहीं बन सकता । हम पूछते हैं, कि क्षणिक पदार्थ विद्यमान अवस्थामें अर्थक्रिया  
करते हैं, अथवा अविद्यमान अवस्थामें अर्थक्रिया करते हैं ? क्षणिक पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया  
नहीं हो सकती । क्योंकि क्षणिक पदार्थ अपने समकालीन क्षणोंको उत्पन्न नहीं कर  
सकता । कारण कि समकालीन पदार्थोंमें कार्य कारण संबन्ध नहीं रह सकता । क्षणिक पदार्थोंके  
अविद्यमान होनेपर भी उसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि असत् पदार्थोंमें कार्य-कारण संबन्ध  
नहीं हो सकता, अन्यथा शशविपाण ( खरगोशके सींग ) आदि असत् पदार्थोंसे भी कार्यकी  
उत्पत्ति होनी चाहिये । अतएव पदार्थोंको क्षणिक न मान कर नित्य ही स्वीकार  
करना चाहिये ।

अनित्यवादी नित्यवादिन प्रति पुनरेव प्रमाणयति । सर्वं क्षणिक सत्त्वात् ।  
अक्षणिने नमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविराधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षण-  
त्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्राडीकृता सत्ता व्यावर्त्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः ।  
न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते । पूर्वार्थक्रियाकरणस्यभावोमपद-  
द्वारेणात्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः । अन्यथा पूर्वक्रियाकरणविरामप्रसङ्गात् । तत्त्व-  
भावप्रच्यव च नित्यता प्रयाति । अतादवस्थस्यानित्यतालक्षणत्वात् । अथ नित्योऽ

पि क्रमवर्तिन सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्था-  
प्रसङ्गात् । नापि योगपथेन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुन्ते अभ्यक्षविरोधात् । न ह्येककाल  
सकला क्रिया प्रारम्भमाण वद्विचदुपलभ्यते । करोतु वा । तथाप्याद्यक्षण एव सक-  
लक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेषु अदुवार्णस्यानित्यता बलाद् आढीकृते । करणारु-  
रणयोरैकस्मिन् विरोधाद् इति ॥

अनित्यवादी—‘सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे ।’ अर्थक्रियाकारित्व  
( प्रयोजनभूतता ) ही सत्का लक्षण है । पदार्थोंको नित्य माननेमें उनमें क्रमसे अथवा  
एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अतएव नित्य पदार्थोंमें अर्थक्रिया न होनेमें उन्हें सत्  
नहीं कह सकते । हम पूछते हैं, कि नित्य पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया होती है, अथवा  
एक साथ ? नित्यपदार्थ क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकते । क्योंकि एक स्वभाव जोड़ कर दूसरे  
स्वभावको प्राप्त करनेवाले पदार्थोंमें ही कोई क्रिया हो सकती है । परन्तु नित्य पदार्थ  
अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते, क्योंकि अपने स्वभावका नहीं छोड़ना ही नित्यत्व है,  
अतएव नित्य पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती । यदि कहो, वास्तवमें पदार्थ  
नित्य ही हैं । जब नित्य पदार्थोंको क्रमसे होनेवाले सहकारी कारण मिल जाते हैं, उस समय  
नित्य पदार्थ क्रमसे कार्योंको करने लगते हैं, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि सहकारी कारणोंके  
मिलनेपर भी नित्य पदार्थोंमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, अतएव सहकारी कारण  
अकिञ्चित्कर हैं । यदि कहो, कि एक सहकारी कारणको दूसरे सहकारी कारणकी सहायता  
मिलनेपर नित्य पदार्थोंमें परिवर्तन होता है, तो इस तरह एक सहकारी कारणमें दूसरे, तीसरे  
आदि अनेक सहकारी माननेसे अनवस्था दोष मानना पड़ेगा । नित्य पदार्थ एक साथ (सुगपन्)  
भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि यह माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है । कारण कि  
अर्थक्रिया सदा क्रमसे होती है । इस लिये सम्पूर्ण अर्थक्रिया कभी एक समयमें होती हुई  
नहीं देखी जाती । यदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका एक क्षणमें होना स्वीकार करो, तो  
सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रथम क्षणमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें करनेको कुछ भी काम  
बाकी न रहेगा, इस लिये पदार्थोंके निष्क्रिय हो जानेसे अनित्यता ही माननी पड़ेगी ।  
क्योंकि एक पदार्थमें क्रिया और अक्रिया दोनों नहीं रह सकती । इस लिये पदार्थोंको  
क्षणिक ही मानना चाहिये ।

तदेवमेतान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्यात् विन्द न व्यभिचरन्तीत्य-  
विचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ये चोत्पान्यन्नाति विन्द्या व्यभिचारिणोऽ

नैकान्तिका इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षमतिक्षेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्यैकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतुपसृगन्तीति परिभाषनीयम् ॥

उक्त दोनों पक्षोंमें नित्य और अनित्यवादको सिद्ध करनेके लिये जो 'सत्त्व' हेतु दिया गया है, वह विरुद्ध हेतु है । इस प्रकारके हेतु, जब तक विचार नहीं किया जाता, तभी तक सुन्दर मालूम होते हैं, इस लिये ये हेतु भोले लोगोंकी बुद्धिमें जड़ता पैदा करनेवाले होनेसे अनैकान्तिक हेतु हैं । यहा नित्य और अनित्य पक्षका ही खण्डन किया गया है । सामान्य विशेष, वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वाणी भी परस्पर एकसे दोष देते हैं, इस लिये इन एकान्तवादोंको भी विरुद्ध समझना चाहिये ।

अथोच्यते व्याख्यायते । परस्परत्यादि । एव च कण्टकोषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवशीला मुन्दोपमुन्द वदिति परस्परध्वंसिनः । तेषु हे जिन ते तव शासन स्याद्वादप्ररूपणनिषुण द्वादशाङ्गी रूप प्रवचन पराभिभाषुक्ताना कण्टकाना स्वयमुच्छिन्नवेर्नवाभावाद् अधृष्यमपराभ र्नीयम् । " शक्ताहं कृत्याश्च " इति कृत्यविधानाद् धपितुमशक्यम् धपितुमनहं वा । जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा कश्चिन्महाराज पीररपुण्यपरीपारु परस्पर विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विपत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्व समृद्ध राज्यमुपभुञ्जान सर्वोत्कृष्टो भवति एव त्वच्छासनमपि ॥ इति काव्यार्थ ॥ २६ ॥

एक दूसरेका नाश करनेवाले मुन्द और उपमुन्द नामके दो राक्षस भाईयोंके समान क्षुद्र शत्रु एकान्तवादी रूप कण्टकोका परस्पर नाश ही जानेपर स्याद्वात्का प्ररूपण करनेवाला आपका द्वादशाग प्रवचन किसीके द्वारा भी परामृत नहीं किया जा सकता । मुन्द और उपमुन्द नामके दो राक्षस भाई थे । उनको ब्रह्माका वरदान था, कि उनकी मृत्यु एक दूसरेके द्वारा होगी । इस वरदानसे मन्त हो कर दोनों भाईयोंने प्रनाको पीडा देना आरम्भ कर लिया । यह देण कर देवोंने स्वर्गसे तिलोत्तमाको भेजा । तिलोत्तमाको देख कर दोनों भाई अपनी मुघ भूल कर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगे । दोनोंमें परस्पर लड़ाई हुई, और अन्तमें दोनों भाई एक दूसरेके हाथसे मारे गये । यहा " शक्ताहं कृत्याश्च " सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होनेपर ' अधृष्य ' का अर्थ होता है, कि जिसका किसीसे परामव न किया जा सके । जिस प्रकार कोई पुण्यशाली महाराजा अपने शत्रुओंके परस्पर लड़ कर मर

१ मुदोपमुदनामानो राक्षसो द्वौ भ्रातरौ ब्रह्मण सकाशात् वर लभ्यन्तौ यत् आजयोमृत्यु परस्परदसु मान्यस्मात् । तथेत्युक्ते ब्रह्मणा मत्तौ तौ त्रिलोकी पीडयामासतु । अथ देवप्रेथिता तिलात्तमा मुपलभ्य तदर्थं मिथा सुध्वमानावप्रियताम् । एवमेकात्तवादिना स्वतत्त्वसिद्धयर्थं परस्पर विरुदमाना विन दधति । ततश्चानैकान्तवादा जयति । २ हैमयुजे ५ ४ ३५ ।

जानेपर बिना प्रयत्नके ही निष्कटक राज्यका उपभोग करता है, उसी प्रकार आपका शासन एकान्तवादियोंके परस्पर लड कर नष्ट हो जानेपर विनयी होता है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुण्यशाली राजा अपने शत्रुओंके आपसमें लड कर नष्ट हो जानेपर अखण्ड राज्यका उपभोग करता है, उसी तरह एकान्तवादी लोग एक दूसरेके सिद्धांतोंमें दोष देकर एक दूसरेके मतोंका खण्डन कर देते हैं, इस लिये मिथ्यादर्शन रूप समस्त एकान्तवादोका समबय करने वाला जैन शासन ही सर्वमान्य हो सकता है।

अनन्तरभाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कति-  
पयतद्विशेषान् नामग्राह दर्शयस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयादृत्ततथाविधरिपुजन-  
जनितोपद्रवमिव परिजातुर्धरिनीपतस्त्रिजगत्पते' पुरतो भुवनत्रय प्रत्युपकारकारितामा-  
विष्करोति—

ऊपरके श्लोकोंमें सामान्य रूपमें नित्य, अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोष दिखाये गये हैं। अब एकान्तवादियोंके कुछ विशेष दोषोंका दिग्दर्शन करते हैं। जिस प्रकार प्रजाको पीड़ित करनेवाले शत्रुओंसे प्रजाकी रक्षा करनेवाला राजा महान उपकारक कहा जाता है, उसी प्रकार एकान्तवादियोंके उपद्रवसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले जिनेन्द्र भगवान ससारके महान उपकारक हैं—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च घन्धमोक्षौ ।  
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैव परैर्विलुप्त जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

श्रामार्थ—एकान्तवादमें सुख-दुःखका उपभोग, पुण्य-पाप, और घन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव एकान्तवादी लोग दुर्नयवादमें आसक्ति रूप खड्गसे सम्पूर्ण जगतका नाश करते हैं।

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते । न च पुण्यपापे घटेते । न च घन्धमोक्षौ घटेते । पुन पुनर्नञ्च' प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्श-  
नार्थ । तथाहि । एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्षणम् अमच्युतानुत्पन्नस्थिरैरूपत्वम् । ततो यदा आत्मा सुखमनुभूय स्वकारण कलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदाद् अनित्यत्वापत्त्या स्थिरैरूप-  
ताहानिमसङ्ग' । एव दुःखमनुभूय सुखमुपभुङ्गानस्यापि वक्तव्यम् । अथ अवस्थाभे-  
दाद् अथ व्यवहार । न चावस्थाम्भिद्यमानास्वपि तद्गतो भेद । सर्पस्येव कुण्डला-  
र्जराद्यनस्थामु इति चेत् । न । तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ? व्यतिरेके,

तास्तस्येति सन्न्याभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु, तद्दानेवेति तदवस्थितेव  
भिर्यैररूपतादानि । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽप्रस्थाभेदोऽपि भवेदिति ॥

व्याख्यानार्थ—(१) वस्तुको एकान्त नित्य माननेसे आत्मामें सुख और दुखकी  
उत्पत्ति नष्ट हो सकती । अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूपको नित्य कहते हैं । अतएव  
यदि आत्मा अपनी कारण सामग्रीसे सुखको भोग कर दुखका उपभोग करने लगे, अथवा  
दुखका उपभोग करके सुखको भोगने लगे, तो अपने निय और एक स्वभावको  
छोड़नेके कारण आत्मामें स्वभाव भेद होनेसे आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा ।  
शक्ता-वास्तवमें आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होता है, स्वयं आत्मामें भेद नहीं होता । जिस  
प्रकार सर्पकी सरल अथवा कुण्डलाकार अवस्थाओंमें भेद होनेमें सर्पमें भेद होना कहा जाता  
है, उसी प्रकार सुख और दुःख रूप आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होनेसे यह भेद आत्माका कहा  
जाता है । समाधान—यह ठीक नहीं । आप लोग आत्माकी अवस्थाओंको आत्मासे भिन्न  
मानते हैं, या अभिन्न ? यदि सुख दुःख अवस्थामें आत्मासे भिन्न हैं, तो इन अवस्थाओं  
और आत्मामें कोई संबंध नहीं हो सकता । यदि इन अवस्थाओंको आत्मासे अभिन्न मानो,  
तो सुख दुःख अवस्थाओंको ही आत्मा मानना चाहिये । अतएव सुख-दुःखका भोग करते  
समय अपने निय स्वभावको छोड़नेके कारण आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा । अतएव  
एकान्तत्वमें आत्माना अवस्था भेद भी नहीं बन सकता ।

किंच, सुखदुःखभागौ पुण्यपापनिर्वृत्या, तन्निर्वर्तन चार्थक्रिया, सा च कृत्स्थ  
नित्यस्य क्रमण अक्रमेण वा नोपपन्नत इत्युक्तप्रायम् । अत एवाक्तं न पुण्यपाप इति ।  
पुण्य दानादिक्रियोपार्जनिय शुभ कर्म, पाप हिंसादित्रियासाध्यमशुभ कर्म ते अपि  
न घटेते । प्रागुक्तनीते ॥

(२) पुण्य पापसे होनेवाले सुख-दुःख भां नित्य एकान्तवादमें नहीं बन सकते ।  
क्योंकि सुख-दुःखका अनुभूत पुण्य-पापसे ही होता है । यह पुण्य पापसे होनेवाली क्रिया  
कृत्स्थ नित्य आत्मामें नहीं हो सकती । पदार्थोंके नित्य माननेमें उनमें क्रम क्रमसे अथवा  
एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती, यह पहले कहा जा चुका है । इसीलिये कहा है,  
कि दान आदि होनेवाले शुभ कर्म रूप पुण्य, और हिंसा आदिसे होनेवाले अशुभ कर्म रूप  
पाप दोनों एकान्त नित्य पथमें नहीं बन सकते ।

तथा न वन्धमोक्षौ । वन्ध कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो बह्वय्य पिण्डवद्  
अयोऽयसश्चेत्प । मास कृत्स्नकर्मक्षय । तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम् । उन्धा हि  
सयागविशेष । स च “अमाप्ताना प्राप्ति” इति लक्षण । प्राकालभाविनी अप्राप्ति  
रयावस्था, उत्तरकालभाविनी प्राप्तिस्थान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेदोपा दुस्तर ।  
कथं चैकरूपत्वे सति तस्यास्मिन्को वन्धनसयोग, । वन्धनसयोगाच्च प्राक् किं नाय

मुक्तोऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा ? अनुभवति चत्, चर्मादिवदनित्य । नानुभवति चेत्, निर्विकारत्वे सता असता या तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति उन्धर्वैफल्याद् नित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति—

“वर्षातपाभ्या ऋ व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयो\* फल्म् ।

चर्मोपमयेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः” ॥

बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वाद् मुक्तिशब्दस्येति ॥

( ३ ) अग्नि और लोहेकी तरह आत्माके प्रदेशोके कर्म पुद्गलोके साथ परस्पर सम्मिश्रण हो जानेको बध, और सम्पूर्ण कर्मोके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं । यह बध और मोक्षकी व्यवस्था भी एकान्त नित्यवादमें नहीं बन सकती । क्योंकि “अप्राप्त पदार्थोकी प्राप्तिको” संयोग कहते हैं । यह संयोग एक अग्रस्याको छोड़ कर दूसरी अग्रस्याको प्राप्त करनेमें ही संभव हो सकता है । अतएव नित्य आत्मामें अग्रस्या भेद होनेसे बध और मोक्ष नहीं बन सकते । तथा, आत्माको एकान्त नित्य माननेपर विना कारण आत्माके साथ बध नहीं हो सकता । अतएव बधनेके पहले आत्माको मुक्त मानना चाहिये । तथा बध होनेसे आत्मामें कोई विकार होता है, या नहीं ? यदि बध होनेसे आत्मामें कोई विकार होता है, तो आत्माको चमडेकी तरह अनित्य मानना चाहिये । यदि बध होनेपर भी आत्मा अविच्छिन्न रहती है, तो निर्विकार आकाशकी तरह बधके होने अथवा न होनेसे आत्मामें कोई भी विकार नहीं आ सकता, अतएव बधके निष्फल होनेके कारण आत्माको सदा मुक्त मानना चाहिये । अतएव सवथा एकान्तवादमें बध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती । कहा भी है “वर्षा और गरमीके कारण चमडेमें ही परिवर्तन होता है, आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता । अतएव यदि आत्मा चमडेके समान है, तो उसे अनित्य मानना चाहिये, यदि आत्मा आकाशकी तरह है, तो उसमें बध नहीं मानना चाहिये ।” आत्माके बध न होनेसे आत्माके मोक्ष भी नहीं हो सकता । क्योंकि बधनेके नष्ट होनेको ही मोक्ष कहते हैं ।

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाग्रनुपपत्ति । अनित्य हि अत्यन्ताच्छेदधर्मम् । तथाभूत चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वय विनष्टत्वात् कस्य नाम तत् फलभूतसुखानुभव । एव पापोपादानक्रियानारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंबेदनमस्तु । एव चान्यः क्रियानारी अन्यथ तत्फलभोक्ता इति असमञ्जसमापद्यते ।

अथ—

“यस्मिन्नेव हि सन्ताने आदिता कर्मवासना ।

फल तत्रैव सन्धच र्पासे रक्तता यथा” ॥

इति वचनाद् नासमञ्जसमित्यपि वाद्मानम् । सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोडितत्वात् ॥

(१) एकान्त अनित्यवाद माननेसे भी सुख दुख नहीं बन सकते । सर्वथा रूपसे नष्ट होनेको अनित्य कहते हैं । अनित्य आत्मामें पुण्योपार्जन क्रिया करनेवालेका निरन्वय नाश होनेसे फल रूप सुखका अनुभव, तथा पापोपार्जन क्रिया करनेवालेका निरन्वय विनाश होनेसे दुखका अनुभव नहीं हो सकता । तथा पदार्थोंका निरन्वय विनाश माननेसे एकको कर्ता और दूसरेको भोक्ता मानना पडेगा । शक्रा—“ जिस प्रकार कपासके बीजमें लाल रंग लगानेसे बीजका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस सतानमें कर्म वासना रहती है, उसी सतानमें कर्म वासनाका फल रहता है, ” अतएव सतानके प्रवाह माननेसे काम चल जाता है, इस तरह आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती । समाधान—यह ठीक नहीं । सन्तान और वासना अवास्तविक हैं, यह हम १८ वें श्लोककी व्याख्यामें प्रतिपादन कर चुके हैं ।

तथा पुण्यपापे अपि न घटते । तयोर्हि अर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः, तदनुपपत्तिश्चान्तरमेवोक्ता । तताऽर्थक्रियामारित्वाभावात् तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्य क्षणमात्रस्थापी, तस्मिन्क्षणे उत्पत्तिमानव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् । द्वितीयादिक्षणेपु चावस्थातुमेव न लभते । पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपाप कुतः निर्मूलत्वात् । तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोगः । आस्ता वा कथंचिदेतत् । तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोच्चरक्षणेन भवितव्यम् । उपादानानुरूपत्वाद् उपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितात् उच्चरक्षण, कथं मुखित उत्पद्येत । कथं च मुखितात् ततः स दुःखित स्यात्, विसदृशभागतापत्तेः । एव पुण्यपापादावपि । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ॥

( २ ) एकान्त अनित्यवादमें पुण्य-पाप भी नहीं बन सकते । सुख और दुखके भोगनेको क्रमसे पुण्य और पाप कहते हैं । यह पुण्य-पापकी अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पथमें नहीं बन सकती, यह हम पहले कह आये हैं । अतएव क्षणिकवादमें अर्थक्रियाके अभावमें पुण्य-पाप भी सिद्ध नहीं होते । तथा, क्षणिकवादियोंके मतमें प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षणके लिये टहरता है । इस क्षणमें पदार्थ अपनी उत्पत्तिमें लगे रहते हैं, इस लिये पुण्य और पापको उपार्जन नहीं कर सकते । यदि दूसरे, तीसरे, आदि क्षणमें पुण्य और पापका उपार्जन स्वीकार करो, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें प्रथम क्षणके बाद पदार्थोंका स्थित रहना ही समय नहीं अतएव, पुण्य और पापके उपार्जन करनेकी क्रियाके अभावमें पुण्य-पाप भी नहीं हो सकते । पुण्य और पापके न होनेपर सुख-दुःख भी नहीं हो सकते । यदि किसी प्रकार क्षणिकवादियोंके मतमें सुख-दुःखका

सद्भाव मान भी लिया जाय, तो उपादान उपादेयके अनुरूप होता है, इस लिये आत्माके पूर्व क्षणको आत्माके उत्तर क्षणके अनुरूप ही मानना चाहिये । अतएव पूर्व क्षणमें दुःखी आत्माको उत्तर क्षणमें भी दुःखी, और पूर्व क्षणमें सुखी आत्माको उत्तर क्षणमें भी सुखी होना चाहिये । क्योंकि सदृश क्षणोंमें विमदृश क्षणोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अतएव कर्मी पुण्यात्माको पापका सचय, और पापात्माको पुण्यका सचय नहीं करना चाहिये ।

एव न्यमोक्षयोरप्यसम्भवः । लोकेऽपि हि य एव उद्भूतः स एव मुच्यते । निरन्वयनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात् सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः सभावनामानमपि ॥

( ३ ) क्षणिकवादमें बध और मोक्ष भी नहीं बन सकते । क्योंकि लोकमें भी जो पुरुष बधता है, वही मुक्त होता हुआ देखा जाता है । अतएव निरन्वय विनाश स्वीकार करनेपर बद्ध और मुक्त जीवका एक आश्रय नहीं कहा जा सकता । सन्तानसे भी बद्ध और मुक्त जीवका सन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि सन्तान कोई वस्तु नहीं है ।

परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्वाधमुपपद्यते ।

“ परिणामाऽवस्थान्तरगमन न च सर्वथा धवस्थानम् ।

न च सर्वथा विनाश परिणामस्तद्विदामिष्ट ॥ ”

इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकाराऽप्याह—“ अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरात्पत्ति परिणाम ” इति । एव सामान्यविनाशसदसदभिलाष्यानभिलाष्यैरान्तवाद्रूपमपि सुखदुःखाद्यभाव स्वयमभियुक्तैरभ्यूह ॥

अतएव आत्माको परिणामी मानना चाहिये । आत्माको परिणामी माननेसे कोई भी बाधा नष्ट आती । कहा भी है “ एक अनस्थाको छोड़ कर दूसरी अवस्था प्राप्त करनेको परिणाम कहते हैं । कोई द्रव्य न सर्वथा नित्य है, और न सर्वथा विनाशी है । इस लिये विद्वान् लोग प्रत्येक पदार्थका परिणाम ही स्वीकार करते हैं । ” पातञ्जल टीकाकार व्यासने भी कहा है “ अवस्थित द्रव्यमें पहले धर्मके नाश होनेपर दूसरे धर्मकी उत्पत्तिको परिणाम कहते हैं । ” इसी प्रकार एकान्त सामान्य विरोध, एकान्त सत्-असत्, और एकान्त वाच्य-अवाच्य वादोंमें भी सुख-दुःखका अमान आदि दोष स्वयं जान लेने चाहिये ।

अथात्तरार्द्धव्याख्या । एवमनुपपत्त्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यहारे परं परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः । परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति । दुर्नीतिवाद-व्यसनासिना । नीयते एतदेवविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिप्रपयमाभिरिति नीतयो नयाः । दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः । तेषां वदन परेभ्यः प्रतिपादन दुर्नीतिवादः । तत्र



यद् व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्रोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वाद् असिखिव अस्ति कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनम् नामि । तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणद्वेयाकरुण्डेन । परमित्यनुभवसिद्ध प्रकारमाह । अपिशब्दस्य भिन्नप्रमत्वाद् अशेषमपि जगद् निखिलमपि त्रैलोक्यम् । “ तात्त्व्यात् तद्वचपदेशः ” इति त्रैलोक्यगतमनुजातम् । त्रिभुक्त सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरापणेन व्यापादितम् । तत् नायस्व इत्याशय । सम्यग्ज्ञानो दयो हि भावप्राणा. प्रावचनिर्गर्गीयन्ते । अत एव सिद्धेऽपि जीवव्यपदेश । अन्यथा हि जीवधातु प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राणधारणाभावाद् अजीवत्वमस्ति । सा च निरुद्धा । तस्मात् ससारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाद् जीवा सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणाद् इति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूप चोत्तरकाव्य व्याख्यास्याम ॥ इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥

इस प्रकार एकान्तवादियोंके मतमें सुख, दुखके भोग आदिका व्यवहार सिद्ध न होनेपर भी परवाची शत्रुओंने दुर्नयवादमें आमक्ति रूप खड्गमे सम्यग्दर्श, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप भाव प्राणोंका विच्छेद करके सम्पूर्ण जातका नाश कर रक्खा है । जिस प्रकार शत्रु लोग खड्गके द्वारा समस्त ससारका सहार करते हैं, उसी प्रकार परवादियोंने दुर्नयवादका प्ररूपण करके सत् जातका नाश कर दिया है । इस लिये हे भगवन्, आप परवाची-शत्रुओंसे ससारकी रक्षा करो । वस्तुके एकदेश जाननेको नय, और रोते नयोंको दुर्नय कहते हैं । श्लोकमें ‘ अपि ’ शब्दको ‘ अशेष ’ के साथ लगाना चाहिये । जिस प्रकार ‘ मच रोते हैं ’ ( मचा क्रोशन्ति ) इस वाक्यका अर्थ होता है, कि मचपर बैठे हुए पुरुष रोते हैं, उसी तरह यहा ‘ सम्पूर्ण लोक ’ ( अशेषमपि त्रैलोक्यम् ) का अर्थ सम्पूर्ण लोकके प्राणी समझना चाहिये । पूर्व आचार्यानि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको भाव प्राण कहा है । अतएव सिद्धोंमें भी जीवका व्यपदेश होता है । जीव धातु प्राण धारण करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है । यदि दस द्रव्य प्राणोंको धारण करना ही जीवका लक्षण किया जाय, तो सिद्धोंको अजीव कहना चाहिये, क्योंकि सिद्धोंके द्रव्य प्राण नहीं होते । अतएव ससारी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपेक्षासे, और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं । दुर्नयका स्वरूप आगेके श्लोकमें कहा जायगा । यह श्लोकका अर्थ है ।

**भावार्थ**—पदार्थोंको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य माननेसे एकान्तवादियोंके मतमें सुख-दुख, पुण्य पाप और बन्ध मोक्ष आदिकी नहीं व्यवस्था नहीं बन सकती ।

१ सम्यग्ज्ञानसम्बन्धदर्शनसम्यक्चारित्र्यादयो ये जीवस्य गुणास्ते भावप्राणा । इदं प्रहायनाख्ये प्रथमपदे । २ जाव् प्राणधारणे हेमचानुपारायण भ्वादिगण धा ४६५ । ३ पञ्चेन्द्रियाणि श्वाचीच्छ्वाश आनुपयमनोबलवचनबलशरीरबलानीति दस द्रव्यप्राणा ।

अतएव प्रत्येक वस्तुको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है। भास-अमात्र, द्वैत अद्वैत, नित्य अनित्य आदि एकान्तवादमें दोनोंका दिग्दर्शन समतम करने अपने आसमीमासा नामक ग्रन्थमें विस्तारसे किया है।

साम्प्रत दुर्नयनयप्रमाणप्ररूपणद्वारेण “ प्रमाणनयैरेधिगमः ” इति वचनाद् जीवार्जावादितत्त्राधिगमनिग्रन्थनानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुं स्वाभिनः स्याद्वाद विरोधिदुर्नयमार्गानिराकरणिष्णुमनन्यसामान्य वचनातिशयः स्तुवन्नाह—

अब दुर्नय, नय और प्रमाणका लक्षण कहते हुए “ प्रमाणनयैरेधिगमः ” सूत्रमें जीव अजीव आदि तत्वोंको जाननेमें कारण प्रमाण और नयका प्रतिपादन करनेवाले और स्याद्वादके विरोधी दुर्नयोंका निराकरण करनेवाले भगवानके वचनोंकी असाधारणता बताते हैं—

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।

यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथ त्वमास्थः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—पदार्थ ‘ सर्वथा सत् है, ’ ‘ सत् है, ’ और ‘ कथंचित् सत् है ’ इस प्रकार क्रमसे दुर्नय, नय और प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। यथार्थ मार्गको देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाण मार्गके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है।

अर्थते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः । त्रिधा त्रिभिः प्रसरैः । मीयेत परिच्छिद्येत । विधौ सप्तमी । क्वचित् त्रिभिः प्रसरैः इत्याह दुर्नीतिनयप्रमाणे । नीयेत परिच्छिद्येत एरुदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतया नयाः । दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः । नया नैगमादयः । मीयेत परिच्छिद्येतोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम् स्याद्वादात्मक प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम् । दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीतिनयप्रमाणानि त ॥

व्याख्यानार्थ—जिसका निश्चय किया जाय, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थोंका दुर्नय, नय और प्रमाणसे निश्चय किया जाता है। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अशका ज्ञान हो, उसे नय कहते हैं। नैगम, सप्रद, व्यवहार, ऋजुमूल, शब्द, समभिरूढ और पवमूल ये नयके सात भेद हैं। खोटे नयोंको दुर्नय कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तुमें अनेक धर्मोंका ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण स्याद्वाद रूप होता है। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

येनोच्छिखेन मीयेत इत्याह सदेव सत् स्यात्सदिति । सदिति अव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् यथा किं तस्या गर्भे जातमिति । सदेवेति दुर्नयः । सति नयः ।

स्यात्सदिति प्रमाणम् । तथाहि । दुर्नयस्तावत्सदेव इति ब्रवीति । 'अस्त्येव घटः' इति । अयं वस्तुनि एकान्तास्तिरयमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारणं स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यग्रस्थापयति । दुर्नयत्व चास्य मिथ्यारूपत्वात् । मिथ्यारूपत्व च तत्र धर्मान्तराणां सतापि निवृत्तात् । तथा सदिति उल्लेखनात् नयः । स हि 'अस्ति घट' इति घटं स्वाभिमतमस्तिरयमर्थं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमित्तिकामालम्बते । न चास्य दुर्नयत्व । धर्मान्तरातिरस्कागन् । न च प्रमाणत्व । स्याच्छब्देन अलच्छित्तत्वात् । स्यात्सदिति 'स्यात्कथञ्चित् सद्वस्तु' इति प्रमाणम् । प्रमाणत्व चास्य दृष्ट्या-  
 धितत्वाद् विपक्षे साधकसद्भावाच्च । सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चासद् इति असकृदुक्तम् । सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम् । अनया दिशा असत्तनित्यत्वानित्यत्वरक्तव्यत्वावक्तव्यत्वसामान्यविशेषादि अपि बोद्धव्यम् ॥

यहा 'सत्' शब्द अत्यन्त है, इस लिये वह नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है । जिस प्रकार गर्भम्ब बच्चेके लिंगका ठीक नान न होनेसे 'किं तम्बा गर्भं जातम्' इस वाक्यमें नपुंसक लिंगका प्रयोग हुआ है, उसी तरह 'सत्' शब्द भी नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है । ( १ ) किमी वस्तुमें अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे यह घट ही है ( अस्त्येव घट ) । वस्तुमें अभीष्ट धर्मकी प्रधानतासे अन्य धर्मोंका निषेध करनेके कारण दुर्नयको मिथ्या कहा गया है । ( २ ) किमी वस्तुमें अपने इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन हो कर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते हैं । जैसे यह घट है ( अस्ति घट ) । नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अनिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इस लिये नयको दुर्नय नहीं कहा जा सकता । तथा नयमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न होनेसे इसे प्रमाण भी नहीं कह सकते । ( ३ ) वस्तुके नाना दृष्टियोंकी अपेक्षा कथञ्चित् सत् रूप विवेचन करनेका प्रमाण कहते हैं, जैसे घट कथञ्चिन् सत् है ( स्यात्कथञ्चित् घट ) । प्रत्यक्ष और अनुमानमं अबाधित होनेसे और विपक्षका बाधक होनेसे इसे प्रमाण कहते हैं । प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे सत्, और दूसरे स्वभावसे असत् है, यह पहले कई बार कहा चुका है । यहा वस्तुके एक 'सत्' धर्मको कहा गया है, इसी प्रकार असत्, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य, सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्म समझने चाहिये ।

इत्य वस्तुस्वरूपमार्याय स्तुतिमाह यथार्थदर्शा इत्यादि । दुर्नीतिपथं दुर्नय मार्गम् । तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् त्वमेव आस्थ । त्वमन निराकृतज्ञान । न तीर्थान्तरद्वैतानि । केन कृत्वा । नयप्रमाणपथेन । नयप्रमाणे उक्तस्वरूपे । तयोर्मागिण प्रचारण । यतस्त्व यथार्थदर्शा । यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्यनशीला यथार्थदर्शी । विमलरूपव्योतिषा यथारम्यितयस्तुदर्शी । तीर्थान्तरशास्तरस्तु रागादिदोषकालुष्यकल-

द्विजितत्वेन तथापि ज्ञानाभावाद् न यथार्थदर्शिनः । तत कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः । न हि स्वयमनयप्रवृत्त परेषामनय निपद्मुद्गुरता धत्ते । इदमुक्तं भवति । यथा ऋषित् सन्मार्गगदी परोपकारदुर्लभित् पुष्पध्वारश्वापदम्प्ट-कात्राकर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदापोभयविकल दोषास्पृष्ट गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति, एव जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नयप्रमाणमार्गं प्रल्पयतीति । आस्थः इति अस्पृतेरत्यन्तर्था " शास्त्र्यसूचक्तिरयातेरद् ' इत्यदि " स्वयस्यसूचपत श्वास्थवोचपत्तम् " इति अस्थादेशे " स्वरादेस्तासु " इति वृद्धौ रूपम् ॥

श्लोकमें ' तु ' शब्द निश्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ' तु ' शब्दका ' त् ' के साथ सबध लगाना चाहिये । इस लिये केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको यथाथ रीतिसं जानने वाले आपने ही नय और प्रमाणके द्वारा दुर्नयनादका निराकरण किया है । अन्य तैधिक लोग राग, द्वेष आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थदर्शी नहीं हैं, इस लिये दुर्नयोंका निराकरण नहीं कर सकते । क्योंकि जो लोग स्वयं अनीतिके मार्गमें पड़े हुए हैं, वे दूसरोंको अनीतिसे नहीं निकाल सकते । अतएव जिस प्रकार यथार्थ मार्गका जाननेवाला कोई परोपकारी पुष्ट पथिकोंको कुमार्गसे बचानेकी इच्छासे चोर, व्याघ्र, कण्टक आदिके मार्गसे छुड़ा कर उन्हें निर्दोष ठीक ठीक मार्गका प्रदर्शन करता है, इसी प्रकार त्रिलोकके स्वामी अरहत भगवान भी मन्व्योंके लिये नय और प्रमाणका उपदेश देते हैं । श्लोकमें ' आस्थ ' पद निराकरण करनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । अस् धातुसे अघतन ( लृट् लकार ) में " शास्त्र्यसूचक्तिरयातेरद् " सूत्रसे अङ् प्रत्यय हो कर " श्वयस्यसूचपत श्वास्थवोचपत्तम् " सूत्रसे अम्के स्थानमें अम्थ आदेश हो कर " स्वरादेस्तासु " सूत्रसे अ के स्थानमें वृद्धि होकर ' आस्थ ' रूप बनता है ।

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम् । यत्र अत्र नयानां प्रमाणतुल्यरुक्षता रयापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम् । चत्वारि हि प्रवचनानुयोगमहानगरस्य द्वाराणि उपक्रमं निक्षेपं अनुगमं नयन्तीति । एतथा च स्वरूपमात्र इयक् भोऽप्यादतिरूपणीयम् । इह तु नोच्यत ग्रन्थगौरवभयात् । अत्र चैकत्र कृतसमाप्तान्त पथिनशब्दः । अन्यत्र चाप्युत्पन्नं पथशब्दाऽन्त इति पथशब्दस्य द्वि प्रयोगो न दुप्यति ॥

वास्तवमें केवल प्रमाणको ही सत्य कहा जा सकता है । नयोसे वस्तुके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान नहीं होता, इस लिये नयको सत्य नहीं कह सकते । ' अनुयोगद्वार ' से

१ हैमवृत्ते ३४६० । २ हैमवृत्ते ४३१०३ । ३ हैमवृत्ते ४४३१ । ४ अनुयोगद्वाराइ महापुरस्वेव तस्य चत्वारि । ५ विशेषावश्यकभाये ९११, ९१२, ९१३, ९४, ९५५ त परम् ।

‘प्रज्ञापना’ तक पहुँचनेके लिये नय अनुयोगके द्वार हैं, इस लिये नयोंको प्रमाणके समान कहा गया है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग महानगरमें पहुँचनेके दरवाजे हैं। इनका स्वरूप विनोपावश्यकभाष्य ( गाथा ९११-४, १५०५ के आगे ) आदि ग्रन्थोंमें जानना चाहिये। यहा ग्रन्थके बढ जानेके भयसे सबका स्वरूप नहीं लिखा जाता। एक जगह श्लोकमें ‘पथिन्’ शब्द समासान्त है, और दूसरी जगह अन्वयुत्पन्न अकारात् है, इस लिये ‘पथ’ शब्दका दो बार प्रयोग करनेमें दोष नहीं है।

अथ दुर्नयनयप्रमाणस्वरूप किञ्चिन्निरूप्यते। तत्रापि प्रथम नयस्वरूप। तदनधिगमे दुर्नयस्वरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात्। अत्र च आचार्येण प्रथम दुर्नयनिर्देशो यथोत्तर प्राधान्यावबोधनार्थं कृतः। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैर्नदेशपरामर्शो नयः। अनन्तधर्मायासित वस्तु स्वाभिप्रेतैरुधर्मविशिष्ट नयति प्रापयति सवेदनकोटिमारोहयति इति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। नयाश्चानन्ताः। अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः तदेधर्मपर्यवसिताना वस्तुरभिप्रायाणा च नयत्वात्। तथा च वृद्धा—“ जावइआ वयणपहा तावइआ चत्र हुति नयवाया ” इति। तथापि चिरन्त नाचोय सर्वसग्राहिसमाभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिता। तद्यथा। नैगमसग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूता इति। कथंमेषां सर्वसग्राहकत्वमिति चत्। उच्यते। अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यत्राभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणाः प्रमाणाभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आत्रे नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। य च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयनये इति ॥

पहले नयका स्वरूप कहा जाता है। क्योंकि नयको बिना जाने दुर्नयका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाणमें निश्चित किये हुए पदार्थोंके एक अज्ञान करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इन अनन्त धर्मोंमें अपने दृष्ट धर्मको जाननेको नय कहते हैं। वस्तुका प्रमाणद्वारा निश्चय होनेपर उसका नयसे ज्ञान होता है। वस्तुओंमें अनन्त धर्म होते हैं, अतएव नय भी अनन्त होते हैं। वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे वक्तृके अभिप्रायके अनुसार एक धर्मके कथन करनेको नय कहते हैं। वृद्ध आचार्योंने कहा भी है “ जितने जिनने प्रकारसे वचन बोले जा सकते हैं, उतने ही नय होते हैं। ” फिर भी पूर्व आचार्योंने सनका समग्र करनेवाले सात वचनोंकी कल्पना करके नैगम, समग्र, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत इन सात नयोंका ही प्रतिपादन किया है। अर्थ अथवा शब्दसे अपने अभिप्राय प्रगट किये जा सकते हैं। नैगम, समग्र, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थका निरूपण करते हैं, इस लिये अर्थनय कहे जाते हैं,

तथा शब्द, समभिरुद्ध और एवमूत नय शब्दका प्ररूपण करते हैं, इस लिये शब्दनय कहे जाते हैं, अतएव ये सान नय सर्वमग्रादक हैं ।

तत्र नैगम सात्ताक्षण महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्व-  
रूपत्वार्दीनि, तथाप्यान् विरोपान् सकलासाधारणरूपलभणान्, अवान्तरविशेषा-  
श्रापेभया पररूपव्यावर्चनक्षमान् सामान्यान् अत्यन्तविनिर्दिष्टतस्वरूपानभिर्भेति । इद  
च स्वतन्त्रसामान्यविरोपवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः । प्रयचनमसिद्धनिलयनमस्यं  
दृष्टान्तद्रव्यगम्यश्चायम् । सग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्व-  
मुपादत्ते । एतच्च सामान्यमान्तरादे प्राक् प्रपञ्चितम् ॥

( १ ) नैगम नय सत्ता रूप सामान्यको, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप  
अवान्तर सामान्यको, असाधारण रूप विशेषको, तथा पर रूपसे व्यावृत्त और सामा-  
न्यसे भिन्न अवान्तर विशेषको जानता है । यह नय सामान्य विशेषको ग्रहण करता है ।  
नैगम नयका स्वरूप चौदहवें श्लोकमें सामान्य विशेषका निरूपण करते समय बताया  
गया है, अतएव यदां अलग नहीं लिखा जाता । निलयन और प्रस्थ ये नैगम नयके  
दृष्टात शाब्दोंमें प्रसिद्ध हैं । निलयन शब्दका अर्थ निवास स्थान होता है । जैसे किमीने  
किसीमें पूजा, ' आप कहा रहते हैं, ' उसने जवाब दिया, कि मैं लोकमें रहता हू ।  
लोकमें भी जम्बूद्वीप—भरतक्षेत्र—मध्यराण्ड—अमुक देश—अमुक नगर—अमुक घरमें रहता हू ।  
नैगम नय इन सन विक्रमोंको जानता है । दूसरा दृष्टात प्रस्थका है । धान्यको मापनेके  
पाच सेरेके परिमाणको प्रस्थ कहते हैं । किसीने किसी आदमीको कुठार ले कर जगलमें जाते  
हुए देख कर पूजा, ' आप कहा जाते हैं, ' उस आत्मीने जवाब दिया, कि मैं प्रस्थ लेने  
जाता हू । ये दोनों नैगम नयके उदाहरण हैं । ( २ ) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको  
सामान्यसे जाननेको सग्रह नय कहते हैं । इसका निरूपण चौथे, पाचवे श्लोकमें सामान्य  
एकातका प्ररूपण करते समय किया जा चुका है ।

व्यवहारस्त्वेवमाह । यथा लान्ग्राहमेव वस्तु अस्तु, किमनया अहृष्टाव्ययान्दि-  
यमाणस्तुपरिकल्पनमृष्टपिष्टिकया । यदेव च लोभ्यव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहक  
प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेरु सग्रहाभिमत प्रमाणभूमिः,  
तथानुभवाभावात् । सर्वस्य सर्वदशित्यमसद्भाच्च । नापि त्रिशपाः परमाणुलक्षणा. क्षणक्ष

१ तत्र निलयन वसनभिलयनयान्तरम् । तद्दृष्टान्तो यथा-न भित् केनचित् पृष्ठ क वसति भवान् ? स प्राह  
श्लोके । तथापि जम्बूद्वीपे, तथापि भरतक्षेत्रे, तथापि मध्यराण्डे, तथाप्येकस्मिन् जनपदे नगरे यदे इत्यादीन्  
सर्वानपि विकल्पान् नैगम इच्छति ॥ प्रस्थको धान्यमानविशेष । तद्दृष्टान्तो यथा-सयोग्य काष्ठ वृक्षावरया  
यामपि तदनुकीर्तिक रूचे कृत मृद्मानीतमित्यादिसर्वास्त्वप्यवस्थासु नैगम प्रस्थकमिच्छति । हरिभद्रीया  
चन्यकाटिप्यगे नयाधिकार ।

विणः प्रमाणगाचराः, तथा प्रवृत्तरभायान् । तस्माद् इदमेव निखिललोमानाधित  
प्रमाणप्रसिद्ध क्रियत्कालभाविस्मृततामानिभ्राणमुद्रकाप्रादरणापर्यक्रियानिर्वर्तनक्षम  
घटादिक वस्तुरूप पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितपर्यायपर्यायालक्षणा पुनरज्यायसी ।  
तत्र प्रमाणप्रसाराभावात् । प्रमाणमन्तरेण विचारस्य मर्तुमशक्यत्वात् । अवस्तुत्वाच्च  
तेषां किं नद्वोचरपर्यायालक्षणेन । तथाहि । पूर्वोत्तरकालभाविना द्रव्यविवर्ता, क्षणक्षयि  
परमाणुलक्षणा वा विशया न कथंचन लाभ्यव्यवहारमुपरचयति । तत्र ते वस्तुरूपा ।  
लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात् । अत एव पन्था गच्छति, कुण्टिका भ्रवति,  
गिरिर्लक्षते, मञ्चा, क्रोशन्ति इत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम् । तथा च शंभुमुच्यते-  
“ लौकिकसम उपचारमाया विस्तृताया व्यवहारः ” इति ॥

( ३ ) जितनी वस्तु लोकमें प्रसिद्ध हैं, अथवा लोक व्यवहारमें आती हैं, उन्हीं-  
को मानना, और अदृष्ट और अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना न करनेको व्यवहार नय  
कहते हैं । समग्र नयमें जाना हुआ अनादि निधन रूप सामान्य व्यवहार नयका विषय नहीं  
हो सकता, क्योंकि इस सामान्यका सर्व साधारणको अनुभव नहीं होता । यदि इस सामान्यका  
सब लोगोंको अनुभव होने लगे, तो सब लोग सर्वत्र हो जाय । इसी प्रकार क्षण क्षणमें बदलने-  
वाले परमाणु रूप विशेष भी व्यवहार नयके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म  
पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके बाह्य होनेसे हमारी प्रवृत्तिके विषय नहीं हैं । अतएव व्यवहार  
नयकी अपेक्षा कुछ समयके तक रहनेवाली स्थूल पर्यायको धारण करनेवाला और जल धारण  
आदि क्रियाओंके करनेमें समर्थ घट आदि वस्तु ही पारमार्थिक और प्रमाणसे सिद्ध हैं, क्योंकि  
इनके माननेमें कोई लोक विरोध नहीं आता । इस लिये पटका जान करते समय घटकी  
पूर्व और उत्तर कालकी पर्यायोंका विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय प्रमाणसे नहीं  
जानी जाती, अतएव ये पूर्वोत्तर पर्याय अवस्तु हैं । पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाली  
द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षण क्षणमें नाश होनेवाले विषय रूप परमाणु लोक व्यवहारमें उपयोगी  
न होनेसे अवस्तु हैं । क्योंकि जो लोक व्यवहारमें उपयोगी होता है, उसे ही वस्तु कहते हैं ।  
अतएव ‘ रास्ता जाता है, मुड बहता है, पहाड जलता है, मच रोते हैं ’ आदि व्यवहार  
भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हैं । बाचकमुच्यते कहा भी है “ लोक व्यवहारके अनुसार  
उपचरित अर्थको चलानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते हैं । ”

ऋजुमूत्र, पुनरिद मन्यत । वर्तमानक्षणविवर्त्यं वस्तुरूपम् । नार्तातमनागत च ।  
अतीतस्य विनष्टत्वाद् अनागतस्यालम्बात्मलाभत्वात् खरत्रिपाणादिभ्याऽविशिष्य  
माणतया सकलशक्तिविरहत्वात् नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्प्रम तदभावाच्च न वस्तुत्व ।  
“ यद्वार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ” इति वचनात् । वर्तमानक्षणालिङ्गित पुनर्व-

स्वरूप समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम् । तदपि च निरगमभ्यु-  
पगतव्यम् । अशब्दात्पुंक्तिरिक्तत्वात् । एरुस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्या-  
यवव्यापनायोगात् । अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत् । न । विरोधव्याघ्राघ्रातत्वात् ।  
तथाहि । यदि एक' स्वभाव' कथमनेक' अनेकश्चेत्कथमेक' एकानक्यो' परस्परपरि-  
हारेणावस्थानात् । तस्मात् स्वरूपनिमग्ना, परमाणव एव परस्परपसर्पणद्वारेण कथचि-  
न्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षण न स्थूलतां  
धारयत् पारमार्थिकमिति । एवमस्याभिप्रायण यदव स्वकीय तदेव वस्तु न  
परकीयम्, अनुपयोगित्वादिति ॥

( ४ ) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायोको छोड कर वर्तमान क्षणकी पर्यायोको  
जानना ऋजुसूत्र नयका विषय है । वस्तुकी अतीत पर्याय नष्ट हो जाती है, ओर अनागत  
पर्याय उत्पन्न नहीं होती, इस लिये अतीत और अनागत पर्याय खरविपाणकी तरह सम्पूर्ण  
सामर्थ्यसे रहित हो कर कोई अर्थक्रिया नहीं कर सकती, इस लिये अवस्तु है । क्योंकि  
“ अर्थक्रिया करनेवाला ही वास्तवमें सत् कहा जाता है ” । वर्तमान क्षणमें विद्यमान वस्तुसे ही  
समस्त अर्थक्रिया हो सकती है, इस लिये यथार्थमें वही सत् है । अतएव वस्तुका स्वरूप  
निरश मानना चाहिये, क्योंकि वस्तुको अश सहित मानना युक्तिसे सिद्ध नहीं होता ।  
शका—एक वस्तुके अनेक स्वभाव माने बिना वह अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकती,  
इस लिये वस्तुमें अनेक स्वभाव मानने चाहिये । समाधान—यह ठीक नहीं । क्योंकि यह  
माननेमें विरोध आता है । कारण कि एक और अनेकमें परस्पर विरोध होनेसे एक स्वभाव-  
वाली वस्तुमें अनेक स्वभाव, और अनेक स्वभाववाली वस्तुमें एक स्वभाव नहीं बन सकते ।  
अतएव अपने स्वरूपमें स्थित परमाणु ही परस्परके सयोगसे कथचित् समूह रूप हो कर सम्पूर्ण  
कार्यमें प्रवृत्त होते हैं । इस लिये ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा स्थूल रूपको धारण न करनेवाले  
स्वरूपमें स्थित परमाणु ही यथार्थमें सत् कहे जा सकते हैं । अतएव ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा  
निज स्वरूप ही वस्तु है, पर स्वरूपको अनुपयोगी होनेके कारण वस्तु नहीं कह सकते ।

शब्दस्तु रूढितो यावन्तो भवनय कस्मिंश्चिदथ प्रवर्तन्ते, यथा इन्द्रशक्र-  
पुरन्दरादय सुरपतौ तेषां सर्वपामप्यक्रमर्थमभिप्रति किल, प्रतीतिप्रशाद् । यथा  
शब्दाव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैवत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम् । न च  
इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थगवितया ऋदाचन प्रतीयन्ते । तेभ्य  
सर्वदा एकाकारपरामर्शात्पत्तेश्चलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात् । तस्माद् एरु  
एव पर्यायशब्दानामर्थ इति । शब्दयते आहूयतेऽननाभिप्रायेणार्थ इति निरुक्तात्  
एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायधरनीना प्रयोगात् । यथा चाय पर्यायशब्दानामे-



कमर्थमभिप्रेति तथा तटस्तटी तटम् इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसम्बन्धाद् वस्तुनो भेद चाभिधत्ते । न हि विरुद्धधर्मकृत भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः । एव सह्यथाकालकाररूपरूपादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः । तत्र सह्यथा एकत्वादि कालोऽतीतादि, कारक कर्त्रादि पुरूप प्रथमपुरुषादिः ॥

( ५ ) रूढिसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्द नय कहते हैं । जैसे शक्र, पुरन्दर आदि सब शब्द एक अर्थके द्योतक हैं । जैसे शब्द अर्थसे अभिन्न है, वैसे ही उसे एक और अनेक भी मानना चाहिये । इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि उनसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है । अतएव इन्द्र आदि पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है । जिस अभिप्रायसे अर्थ कहा जाय, उसे शब्द कहते हैं । अतएव सम्पूर्ण पर्यायवाची शब्दोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है । जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर परस्पर पर्यायवाची शब्द एक अर्थको द्योतित करते हैं, वैसे ही ' तट, तटी, तटम् ' परस्पर विरुद्ध लिंगवाले शब्दोंसे पदार्थोंके भेदका ज्ञान होता है । इसी प्रकार सल्या-एकल आदि, काल-अतीत आदि, कारक-कर्ता आदि, और पुरूप-प्रथम पुरुष आदिके भेदमें शब्द और अर्थमें भेद समझना चाहिये ।

समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां भविभक्तमवार्थमभिमन्यते । तत्रया इन्द्रनात् इन्द्रः । परमेश्वर्यम् इन्द्रशब्दवाच्य परमार्थतस्तद्व्युत्थं । अतद्व्युत्थ पुनरुपचारतो वर्तते । न चा फथित् तद्गान् । सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यासिद्धे । एव शकनात् शक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्व सर्वशब्दानां दर्शयति । प्रमाणयति च । पर्यायशब्दा अपि भिन्नार्थाः । भविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तत्वात् । इह ये ये प्रतिभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थकाः, यथा इन्द्रपथु-पुरूपशब्दा । विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि । अतो भिन्नार्था इति ॥

( ६ ) समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्दोंमें भिन्न अर्थको द्योतित करता है । जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी इन्द्रसे परम ऐश्वर्यज्ञान ( इन्द्रनात् इन्द्र ), शक्रमे सामर्थ्यज्ञान ( शकनात् शक्र ) और पुरन्दरसे नगरोंको विदारण करनेवाले ( पूर्दारणात् पुरन्दर ) भिन्न भिन्न अर्थोंका ज्ञान होता है । वास्तवमें इन्द्र शब्दके कहनेसे इन्द्र शब्दका वाच्य परम ऐश्वर्यपना इन्द्र ( परम ऐश्वर्यवाले ) में ही मिल सकता है । जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है, उसे केवल उपचारसे ही इन्द्र कहा जा सकता है । इस लिये वास्तवमें जो परम ऐश्वर्यसे रहित है, उसे इन्द्र नहीं कह सकते । अतएव परस्पर भिन्न अर्थको प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंमें आश्रय और आश्रयी सबध नहीं बन सकता । इसी तरह शक्र और पुरन्दर शब्द भी भिन्न अर्थको द्योतित करते हैं । अतएव भिन्न व्युत्पत्ति होनेसे पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक हैं । जिन शब्दोंकी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न होती है, वे

शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक होते हैं, जैसे इन्द्र, पशु और पुरुष शब्द । पर्यायवाची शब्द भी भिन्न व्युत्पत्ति होनेके कारण भिन्न अर्थको सूचित करते हैं ।

एवभूतः पुनरेव भाषते । यस्मिन् अर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव त शब्द प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन । यथा उदकाग्राहरणवे-  
लार्या यापिदादिमस्तकारुढो विशिष्टचेष्टान् एव घटोऽभिधीयते न क्षेपः । घट-  
शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात्, पत्रादिवद् इति । अतीता भाविनी वा चेष्टामङ्गीकृत्य  
सामान्यनैरान्यत इति चेत् । न । तयोर्विनष्टानुत्पन्नतया शशविपाणरूपत्वात् । तथापि  
तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यः, विशेषाभावात् । किंच यदि अतीतवत्स्य-  
चेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्स्यपि प्रयुज्यते तदा रूपालम्बित्पिण्डादावपि तत्प्रवर्तन  
दुर्निवार म्याद्, विशेषाभावात् । तस्माद् यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकूलमस्ति  
तस्मिन् एव सोऽर्थस्तच्छब्दान्य इति ॥

( ७ ) अर्थमें शब्दकी व्युत्पत्ति होती है । निम्न समय व्युत्पत्तिके निमित्त रूप अर्थका  
व्यवहार होता है, उसी समय अर्थमें शब्दका व्यवहार होता है । जैसे जल लानेके समय लियोंके  
सिम्पर रखते हुए घडेको ही 'घट' कह सकते हैं, दूसरी अवस्थामें घडेको 'घट' नहीं  
कहा जा सकता । क्योंकि जिस तरह पटको घट नहीं कहा जा सकता, उसी तरह घडेको  
भी जल लाने आदिकी क्रिया रहित अवस्थामें घट नहीं कहा जा सकता । शशविपाणकी  
अतीत और अनागत अवस्थाओंकी तरह नष्ट और अनुत्पन्न होनेके कारण अतीत और  
अनागत अवस्थाओंको ले कर सामान्यसे शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता । यदि  
अतीत और अनागत पर्यायोंकी अपेक्षा शब्दके वाच्य रूप पर्यायका अभाव होनेपर भी  
घडेको घट कहा जाय, तो कपाल और मिट्टीके पिंडमें भी घट शब्दका व्यवहार होना  
चाहिये । अतएव जिस क्षणम किमी शब्दकी व्युत्पत्तिकी निमित्त कारण सम्पूर्णा रूपमें विद्यमान  
हो, उसी समय उस शब्दका प्रयोग करना उचित है । यह एवभूत नय है ।

अत्र सग्रहश्रुत्या —

“ अन्यदत्र हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम् ।  
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः ॥ १ ॥  
सद्रूपतानतिरान्त स्वस्वभावमिदं जगत् ।  
सत्तारूपतया सर्वं सगृह्यन् सग्रहो मतः ॥ २ ॥ ”  
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् ।  
तथैव हृदयमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ॥ ३ ॥  
तत्रर्तुमूत्रनीति स्याद् शुद्धपर्यायसञ्चिता ।  
नश्वरम्यैव भावस्य भावात् स्थितिप्रयोगतः ॥४॥

विराधलिङ्गसंयादिभेदाद् भिन्नस्वभावनाम् ।  
 तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्ययतिष्ठत ॥ ५ ॥  
 तथाविधस्य तस्यापि वस्तुन क्षणवत्तिनः ।  
 ब्रूते समभिरुद्धमस्तु सज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ६ ॥  
 एतस्यापि धर्मेर्वान्य सदा तक्षोपपद्यते ।  
 क्रियाभेदेन भिन्नताद् एवभूतोऽभिमान्यत ॥ ७ ॥

एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मनिरस्कारेण भव  
 तेषामाना दुर्नयसज्ञामश्नुते । तद्वत्प्रभावितसत्ताका हि स्वल्पेते परमज्ञादा । तथाहि ।  
 नैगमनयदर्शनानुसारिणां नैयायिकैश्चोपिर्ना । सग्रहाभिप्रायमवृत्ता सवऽप्यद्वैतज्ञादा  
 साग्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुपातिप्रायश्चार्वाकदर्शनम् । ऋजुसूत्राद्वैतमवृत्तमुद्धय  
 स्ताथागता । शब्दादिनयान्त्वमिन्नो वैयाकरणाय ।

“ ( १ ) नैगम नयके अनुमात्र अभिन्न ज्ञान का कारण सामान्य धर्म विशेष धर्मसे भिन्न  
 है । ( २ ) अस्तित्व धर्मको न छोड़ कर सम्पूर्ण पदार्थ अपनी अपने स्वभावमें अवस्थित हैं । इस  
 लिये सम्पूर्ण पदार्थोंके सामान्य रूपसे जान करनेको समग्र नय कहते हैं । ( ३ ) समग्र नयसे  
 जानी हुई सत्ताको प्रत्येक पदार्थमें भिन्न भिन्न रूपसे मान कर व्यवहार करनेको व्यवहार नय  
 कहते हैं । ( ४ ) शुद्ध पयायके आश्रयसे प्रत्येक पदार्थ स्थितिके नाश होनेमें नष्ट होता है, इस लिये  
 प्रत्येक वस्तुको नश्वर मानना ऋजुसूत्र नय है । ( ५ ) परस्पर विरोधी रिंग, सत्या आदिके  
 भेदसे वस्तुमें भेद माननेको शब्द नय कहते हैं । ( ६ ) क्षणव्याधी वस्तुको भिन्न भिन्न  
 सज्ञाओंके भेदसे भिन्न मानना समभिरुद्ध नय है । ( ७ ) वस्तु अमुक क्रिया करनेके समय  
 ही अमुक नामसे कही जा सकती है, वह सदा एक शब्दका वाच्य नहीं हो सकती, इसे  
 एवमृत नय कहते हैं । ” जिस समय ये नय अथ धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक  
 अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं । एकान्तवादी लोग  
 वस्तुके एक धर्मको सत्य मान कर अन्य धर्मोंका निषेध करते हैं, इस लिये वे लोग दुर्नयवादी  
 कहे जाते हैं । याय वैशेषिक लोग नैगम नयका अनुकरण करते हैं, वेदान्ती और साय्य  
 समग्र नयको मानते हैं । चार्वाक लोग व्यवहार नयवादी हैं, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्र  
 नयको मानते हैं, तथा वैयाकरणी लोग शब्द आदि नयका ही अनुकरण करते हैं ।

उक्तं च सादाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं श्रीद्वयगुरिपादं । तथा च तद्ग्रन्थ —  
 “ नीयते येन श्रुतारयप्रमाणत्रिपयीकृतस्य अर्थस्य अज्ञस्तदितराशांदासान्यतः  
 स प्रतिपन्नुरभिप्रायविशेषां नय इति । स्नाभिमतद् अज्ञाद् इतराशापन्त्यां पुनर्न-

याभास । स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकार । व्यासतोऽनेकविकल्प । समासतस्तु द्विभेदो  
द्रव्यार्थिकः, पर्यायाधिकश्च । आयो नैगमसग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा । धर्मयोर्धर्मिणो  
धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैगमो नैगम । सत् चैतन्य-  
मात्मनीति धर्मयोः । वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः । क्षणमेकं सुखी विषया-  
सक्तजीव इति धर्मधर्मिणो । धर्मद्रव्यादीनामैकान्तिरूपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभास ।  
यथा आत्मनि सत्त्वं चैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादि<sup>१</sup> । सामान्यमात्रग्राही  
परामर्श सग्रह । अयमुभयविकल्प परोऽपरश्च । अशेषविशेषेषु औदासीन्य भज-  
मान शुद्धद्रव्य सन्मानमभिमन्यमान परसग्रह । विश्वमेव सद्विशेषादिति यथा ।  
सत्त्वाद्देव स्वीकुर्वाण सकलविशेषान् निराचक्षणस्तदाभास । यथा सत्त्वं तत्त्वम्  
तत् पृथग्भूतानां विशषाणामदर्शनात् । द्रव्यत्वादीनि अत्रानरसामान्यानि मन्वान-  
स्तद्गदपु गजनिर्मालिन्मवलम्बमान<sup>२</sup> पुनरपरसग्रह । धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीव-  
द्रव्याणामैक्य द्रव्यत्वाभेदात् इत्यादिर्यथा । तद्द्रव्यत्वादि<sup>३</sup> प्रतिजानानस्तद्विशेषा-  
न्निद्रुवानस्तदाभास । यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुप-  
लब्धिरित्यादि । सग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरण येनाभिसन्धिना  
नियते स व्यवहार । यथा यन् सत् तद् द्रव्य पर्यायो चेत्यादि । य<sup>४</sup> पुनरपारमार्थि-  
कद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभास । यथा चार्वाकदर्शनम् ॥

देवसूरि आचार्यने प्रमाणनयतत्कालोक्तकारमे नय और दुनयका स्वरूप  
उत्पाहरण सहित प्रतिपादित किया है—“ श्रुतनान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अश  
जान कर अन्य अर्थोंके प्रति उदासीन रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं ।  
अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास ( दुर्नय )  
कहते हैं । सक्षेप और विस्तारके भेदसे नय दो प्रकारका है । विस्तारसे नयके  
अनेक भेद हैं । सक्षेपसे द्रव्यार्थिक और पर्यायाधिक ये नयके दो भेद हैं । द्रव्यार्थिक  
नयके नैगम, सग्रह और व्यवहार तीन भेद हैं । ( १ ) दो धर्म अथवा दो धर्मा अथवा  
एक धर्म और एक धर्ममें प्रधान और गौणताकी विवक्षाको नैगम अथवा नैगम नय  
कहते हैं । ( २ ) जैसे सत् और चैतन्य दोनों आत्माके धर्म हैं । यहा सत् और चैतन्य  
दोनों धर्ममें चैतन्य विशेष्य होनेसे प्रधान धर्म है, और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है ।  
( ३ ) पर्यायवान द्रव्यको वस्तु कहते हैं । यहा द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोंमें द्रव्य मुख्य

१ अनन्ताशात्मके वस्तु-येकैकाशपवसायिनो यावन्त प्रतिपृच्छामभिप्रायास्तावन्तो नया । ते  
च नियतस्य यथा सत्त्वाद्देव स्वीकुर्वाण इति वास्तवो नयस्थानकप्रकारत्वमुक्तम् । २ द्रवनि द्रोष्यति अद्रुद्रवत्  
तास्तान् पश्यामिति द्रव्य सदेवार्थ । सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिक । पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नो  
तीति पर्याय स द्वावार्थ । सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिक ।

और वस्तु गौण है । अथवा पर्यायमान वस्तुको द्रव्य कहते हैं । यहा वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है । ( ग ) विषयासक्त जीव क्षणभरके लिये मुसी हो जाता है यहा विषयामक्त जीव रूप धर्मा मुख्य, और क्षणभरके लिये मुसी होना रूप धर्म गौण है । दो धर्म, दो धमा अथवा एक धर्म और धर्माँमें सर्वा मित्रता दिखानेको नैगमामास कहते हैं । जैसे ( क ) आत्माँमें सत् और चैतन्य परस्पर मित्र हैं ( ख ) पर्यायमान वस्तु और द्रव्य सर्वथा मित्र हैं । ( ग ) सुग्न और जीव परस्पर मित्र हैं । ( २ ) विशेष रहित सामान्य मात्र जाननेवालेको समग्र नय कहते हैं । पर और अपर सामान्यके भेदसे समग्रके दो भेद हैं । सम्पूर्ण विशेषोंमें उदासीन भाव रख कर शुद्ध सत् मात्रको जानना पर समग्र है । जैसे सामान्यसे एक विश्व ही सत् है । सत्ता द्वैतको मान कर सम्पूर्ण विशेषोंका निषेध करना समग्रभास है । जैसे सत्ता ही एक तत्त्व है, क्योंकि सत्तासे मित्र विशेष पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती । द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अवान्तर सामान्योंको मान कर उनके भेदोंमें मध्यस्थ भाव रखना अपर समग्र नय है । जैसे द्रव्यवकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव एक हैं । ( इसी प्रकार पर्यायत्वकी अपेक्षा चैतन्य और अचेतन पर्याय एक हैं ) । धर्म, अधर्म आदिको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोंके निषेध करनेको अपर समग्रभास कहते हैं । जैसे द्रव्यत्व ही तत्त्व है, क्योंकि द्रव्यत्वसे मित्र द्रव्योंका ज्ञान नहीं होता । ( ३ ) समग्र नयसे जाने हुए पदार्थोंमें योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जो सत् है, वह द्रव्य या पर्याय है । ( यद्यपि समग्र नयकी अपेक्षा द्रव्य और पर्याय सत्से अभिन्न हैं, परन्तु व्यन्तर नयकी दृष्टिसे द्रव्य और पर्यायको सत्से मित्र माना गया है ) । द्रव्य और पर्यायके एकात्म भेद प्रतिपादन करनेको व्यवहागभास कहते हैं । जैसे चार्वाकदर्शन । चार्वाक लोग जीव द्रव्यके पर्याय आदि न मान कर केवल मृत चतुष्टयको मानते हैं, अतएव उनको व्यवहारभास कहा गया है ।

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्र. शब्द समभिरुद्ध एवभूतश्च । ऋजु वर्तमानस्य  
णस्थायि पर्यायमात्र प्राधान्यतः सूत्रयन्त्रभिभाष्य ऋजुसूत्रम् । यथा सुखविवर्त-  
सम्पत्ति अस्तीत्यादिः । सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः । यथा तथागतमतम् । काला  
दिभेदेन ध्वनेरर्थभेद मतिपत्रमानः शब्द । यथा वभूव भवति भविष्यति सुमेरुरि-  
त्यादिः । तद्वेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा उभूव भवति भविष्यति  
सुमेरुरित्यादया भिन्नकाला गन्ता भिन्नमेव अर्थमभिधायति भिन्नकालशब्दत्वात्  
तादृशसिद्धान्तशब्दवद् इत्यादिः । पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थ समभिरोहन्  
समभिरुद्ध । इन्द्रनाद् इन्द्र शम्नाच्छत्र पृथ्वीरणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ।  
पर्यायध्वनीनामभिधेयानात्त्वमेव कर्षीकुर्षीणस्तदाभासः । यथेन्द्रः शक्र पुरन्दर  
इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया पत्र भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गपुरङ्गशब्दवद् इत्यादिः ।

शब्दानां स्वमवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन् एवभूत' । यथेन्द्रनमनुभवन् इन्द्र शक्रनक्रियापरिणत शक्र' पूर्वार्णमवृत्त. पुरन्दर इत्युच्यते । क्रियानाविष्ट वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभासः । यथा विशिष्टचेष्टाशून्य घटारयं वस्तु न घटशब्दवाच्यम् घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादि' ॥

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये चार पर्यायार्थिक नयके भेद हैं । ( १ ) वर्तमान क्षणकी पर्याय मात्रकी प्रधानतासे वस्तुका कथन करना ऋजुसूत्र है । जैसे इम समय मैं सुरकी पर्याय भोगता हूँ । द्रव्यके सर्वथा निषेध करनेको ऋजुसूत्र नयाभास कहते हैं, जैसे बौद्ध लोग । बौद्ध लोग क्षण क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायोंको ही वास्तविक मान कर पर्यायोंके आश्रित द्रव्यका निषेध करते हैं, इस लिये उनका मत ऋजुसूत्र नयामास है । ( २ ) काल, कारक, लिंग, सख्या, वचन और उपसर्गके भेदसे शब्दके अर्थमें भेद माननेको शब्द नय कहते हैं । जैसे बभूव, भवति, भविष्यति ( काल ), करोति, क्रियते ( कारक ), तट., तटी, तट, ( लिंग ), दारा, कलत्रम् ( सरया ), एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता ( पुरुष ), सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते ( उपसर्ग ) । काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दाभास कहते हैं । जैसे सुमेर था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, आदि भिन्न भिन्न कालके शब्द भिन्न कालके शब्द होनेसे भिन्न भिन्न अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं, जैसे अन्य भिन्न कालके शब्द । ( ३ ) पर्याय शब्दोंमें निश्चितिके भेदसे भिन्न अर्थको कहना समभिरूढ नय है । जैसे ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोका नाश करनेवाला होनेसे पुरन्दर कहना । पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ नयाभास है । जैसे करि ( हार्थी ) कुरग ( हरिण ) और तुरग शब्द परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना । ( ४ ) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय उस क्रियाके अनुरूप शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवभूत नय कहते हैं । जैसे परम ऐश्वर्यका अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होनेके समय शक्र, और नगरोका नाश करनेके समय पुरन्दर कहना । पदार्थमें अमुक क्रिया होनेके समयको छोड़ कर दूसरे समय उस पदार्थको उसी शब्दसे नहीं कहना, एवभूत नयाभास है । जैसे, जिस प्रकार जल लाने आदिकी क्रियाका अभाव होनेसे पटको घट नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जल लाने आदि क्रियांक अतिरिक्त समय घडेको घट नहीं कहना ।

एतेषु चत्वार' प्रथमेऽर्थनिरूपणमवणत्वाद् अर्थनया । शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनया । पूर्व' पूर्वो नय' प्रचुरगोचर पर. परस्तु परिमितविषय । सन्मानगोचरात् सग्रहात् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः । सद्विशे-

पमकाशकाद् व्यवहारत समग्र समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् ऋजुविषयः । वर्तमान-  
विषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिजालविषयाजलम्बित्वाद् अनल्पाथ<sup>१</sup> । कालादिभेदेन  
भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाहजुसूत्रस्तद्विपरीतवदकत्वाद् महार्थः । प्रतिपर्यायशब्दपर्यभेद-  
मभीप्सत समभिरूढात् शब्दस्तद्विपर्यायानुपायित्वात् प्रभूतविषय । प्रतिनिय विभि-  
न्नपर्य प्रतिजानानाद् एवभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापनत्वाद् महागोचरः । नय-  
वाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमान विधिप्रतिपेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुजति । ” इति । विशेषे  
पार्ष्णिना नयानां नामान्वर्थविनोपलक्षणाक्षेपपरिहारादित्यर्थस्तु भाष्यमहादधिगन्ध-  
स्तित्रीकान्यायाप्रतारदिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीय<sup>१</sup> ॥

सात नयोमें नैगम, समग्र, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थका प्रतिपादन  
करनेके कारण अथनय कहे जाते हैं । चाकीके शब्द, समभिरूढ और एवभूत नय शब्दका  
प्रतिपादन करनेसे शब्द नय कहे जाते हैं । इन नयोमें पहले पहले नय अधिक विषयवाले हैं,  
ओर आगे आगेके नय परिमित विषयवाले हैं । समग्र तय सत् मात्रको जानता है, और  
नैगम नय सामान्य और विशेष दोनोंको जानता है, इस लिये समग्र नयकी अपेक्षा नैगम  
नयका अधिक विषय है । व्यवहार तय समग्रसे जाने हुए पदार्थोंको विशेष रूपसे जानता है,  
और समग्र समस्त सामान्य पदार्थोंको जानता है, इस लिये समग्र नयका विषय व्यवहार  
नयसे अधिक है । व्यवहार नय तीनों कालोंके पदार्थोंको जानता है, और ऋजुसूत्रसे केवल  
वर्तमान पदार्थोंका जान होता है, अतएव व्यवहार नयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है ।  
शब्द नय काल आदिके भेदमें वर्तमान पर्यायको जानता है, ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई  
भेद नहीं, इस लिये शब्द नयसे ऋजुसूत्र नयका विषय अधिक है, समभिरूढ नय इन्द्र,  
शक्र आदि पर्यायवाची शब्दोंको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा मिल रूपसे जानता है, परन्तु शब्द  
नयमें यह सुश्रुता नहीं रहती, अतएव समभिरूढसे शब्द नयका विषय अधिक है ।  
समभिरूढमें जाने हुए पदार्थोंमें क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना एवभूत है, जैसे समभिरूढकी  
अपेक्षा पुरन्दर और गचीपतिमें भेद होनेपर भी नगरोंका नाश करनेकी क्रिया न करनेके  
समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवभूतकी अपेक्षा नगरोंका  
नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है । अतएव एवभूतसे समभिरूढ  
नयका विषय अधिक है । प्रमाणके सात भगाकी तरह अपने विषयमें विधि और प्रतिपेधकी  
अपेक्षा नयके भी सात भग होते हैं । ” नयोका विशेष लक्षण और नयोके ऊपर होनेवाले  
आक्षेपोंके परिहार आदिकी चर्चा तत्त्वार्थाधिगमभाष्य बृहद्बृत्ति ( गणहस्ति टीका ), न्याया-  
वतार आदि ग्रंथोंसे जाननी चाहिये ।

<sup>१</sup> सिद्धसेनगणिविरचिततत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्ति । तदेव गणहस्तिटीका ।

प्रमाण तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षण सर्वनयात्मकम् । स्यात्तद्व्यञ्जिताना नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात् । तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्र.—

“ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसापविद्धा इव लाहधातव ।

भवन्त्यभिप्रतफला यतस्तता भवन्तमार्या, प्रणता हितैपिण ॥ ”

इति “ तच्च द्विविधम् प्रत्यक्ष परोक्ष च । तत्र प्रत्यक्ष द्विधा साव्यवहारिक पारमार्थिक च । साव्यवहारिक द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात् । तद् द्वितयम् अवग्रहहावायधारणाभेदाद् एतैश्चतुर्विधम् । अवग्रहादीना स्वरूपमुप्रतीतत्वाद् न प्रतन्यते । पारमार्थिक पुनरत्युक्तौ आत्ममात्रापक्षम् ” । तद्द्विविधम् । क्षायोपशमिक क्षायिक च । आत्मम् अवधिमान पर्यायभेदाद् द्विधा । क्षायिक तु केवलज्ञानमिति ॥

सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करनेको प्रमाण कहते हैं । प्रमाण सर्व नय रूप होता है । नय वाच्यमें स्यात् शब्द लगा कर बोलनेको प्रमाण कहते हैं । समन्तभद्र स्वामाने स्वधभूस्तोत्रमें विमलनाथका स्तवन करने हुए कहा है “ तिम प्रकार रमोंके सयोगसे लोहा अमीष्ट फरका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें ‘ स्यात् ’ शब्द लगानेमें भगवानके द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं, इमालिये अपना हित चाहने वाले लोग भगवानको नमस्कार करते हैं । ” “ यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है । साव्यवहारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद हैं । साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनमें पैदा होता है । इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले साव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अत्राय और धारणा चार चार भेद हैं । अवग्रह आदिका स्वरूप सरल होनेमें यदा नहीं लिग्या जाता । पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्माकी सहायता रहती है । ” यह क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है । अवधिमान और मनपर्याय ज्ञान क्षायोपशमिकके भेद हैं । केवलज्ञान क्षायिकका भेद है ।

परोक्ष च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोद्धानुमानागमभेदात् पञ्चप्रकारम् । “ तत्र सस्कारप्रवाधसम्भृतमनुभूतार्थविषय तदित्याकार वेदन स्मृति । तत् तीर्थकरविश्वमिति यथा । अनुभवस्मृतिहेतुर्न तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचर सकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञानम् । यथा तज्जातीय एवाय गोपिण्ड गोसदृशो गणय स एवाय जिनदत्त इत्यादि । उपलम्भानुपलम्भसम्भव त्रिकालीकलितसा यसाधनसम्भवायालम्बनमित् मास्मिन् सत्येव भवतीत्यायाकार सर्वेदनमूहस्तर्जापरपर्याय । यथा यावान कश्चिन् धूमः

१ बृहत्सयभुस्तोत्राख्या विमलनाथस्तव ६८ ।

२ प्रमाणनयतत्त्वालोकाङ्कारे २-१, ४, ५, ६ १८ । ३ क्षयेणाद्रयप्राप्तकमगो विनाशेन श्लेषशमे विष्कम्भिनोदयत्वं क्षयोपशम ।

४ प्रमाणनयतत्त्वालोकाङ्कारे १-३ २३



स सर्वो ब्रह्मा सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति अर्सा न भवत्यति वा । अनुमान द्विधा स्वार्थ परार्थ च । तत्रान्यथानुपपत्त्यैकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणस्मरणक साध्यविज्ञान स्वार्थम् । पक्षहेतुवचनात्मक परार्थमनुमानमुपचारात् ” । “ आप्तवचनाद् आतिर्भूतमर्थ-स्यद्वन्द्वभागमः । उपचाराद् आप्तवचन च ” इति । स्मृत्यादीना च विशेषमन्वह्य स्याद्वाद्दरत्नाकरात् साक्षपपरिहार ज्ञेयमिति । प्रमाणान्तराणा पुनरर्थापच्युपमानस-भवप्रतिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः । सन्निकर्षादीना तु जहत्वाद् एव न प्रामाण्यमिति । भेदेवविधेन नयप्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्रया खिळीकृतः ॥ इति काव्यार्थ ॥ २८ ॥

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहा, अनुमान और आगम परोक्षके पाच भेद हैं । “ सस्कारो उत्तरान् अनुभव किये हुए पदार्थमें ‘ वह है ’ इस प्रकारके स्मरण होनेको स्मृति कहते हैं, जैसे वह तैर्यकरका प्रतिबिम्ब है । वर्तमानमें किमी वस्तुके अनुभव करनेपर और मूल-कालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्थद् सामान्य ( वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमें रहनेवाला सामान्य ) और ऊर्ध्वता सामान्य ( एक ही पदार्थके क्रमवर्ता सम्पूर्ण पर्या-योंमें रहनेवाला सामान्य ) आदिको जाननेवाले जोड रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । जैसे यह गापिंड उसी जानिका है, यह गवय गौके समान है, यह बही जिनदत्त है, आदि । उपलभ और अनुपलभसे उत्पन्न तीन कालमें होनेवाले साध्य-साधनके सबध आदिसे होनेवाले, इसके होनेपर यह होता है, इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते हैं । जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नहीं होता । अनुमानके स्वार्थ और पदार्थ दो भेद हैं । अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु ग्रहण करनेके सबधके स्मरण पूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं । पक्ष और हेतु कह कर दूसरेको साध्यके ज्ञान करानेको परार्थानुमान कहते हैं । परार्थानुमानको उपचारासे अनुमान कहा गया है । आप्तके वचनसे पदार्थोंके ज्ञान करनेको आगम कहते हैं । आप्तके वचनोमे उपचारासे प्रमाण माना गया है । ” स्मृति आदिका विशेष स्वरूप स्याद्वाद्दरत्नाकर आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये । अर्थापत्ति, उपमान, समर, प्रातिभ, ऐतिह्य आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है । सन्निकर्ष आदिको जड़ होनेक कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार आपने नय और प्रमाण का उपदेश देकर दुर्नयमादेके मार्गका निराकरण किया है । यह श्लोक का अर्थ है ।

भावार्थ—( १ ) किसी वस्तुके सापेक्ष निरूपण करनेको नय कहते हैं । प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं । इन अनन्त धर्मोंमें किसी एक धर्मकी अपेक्षासे अन्य

१ प्रमाणनयतत्त्वान्मेकालमारे ४—१, २ । २ प्रत्यक्षजनक सबध । यथा चापुत्रप्रत्यक्षे चक्षुर्विषययो ससर्ग ।

धर्मोका निषेध न करके पदार्थोका ज्ञान करना नय है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंमें ही तयसे वस्तुके एक अशक ज्ञान होता है। शक्यता—नयमें पदार्थोका निश्चय होता है, इस लिये नयको प्रमाण ही कहना चाहिये, नय और प्रमाणको अलग अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं। समाधान—नयमें सम्पूर्ण वस्तुका नहीं, किन्तु वस्तुके एक देशका ज्ञान होता है। इस लिये निम्न प्रकार समुद्रकी एक बूदको सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि समुद्रकी एक बूदको समुद्र कहा जाय, तो तब समुद्रके पानीको अमसुद्र कहना चाहिये, अथवा समुद्रके पानीकी अन्य बूदोंको भी समुद्र कह कर बहुतसे समुद्र मानन चाहिये। तथा समुद्रकी एक बूदको अमसुद्र भी नहीं कहा जा सकता। यदि समुद्रकी एक बूदको अमसुद्र कहा जाय, तो समुद्रके शेष अणुको भी समुद्र नहीं कहा जा सकता। उभी प्रकार पदार्थोके एक अशक ज्ञान करनेको वस्तु नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके एक अणुके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोको अस्तु मानना चाहिये, अथवा वस्तुके प्रत्येक अणुको अवस्तु मानना चाहिये। तथा पदार्थोके एक अणुके ज्ञान करनेको अवस्तु भी नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके शेष अणुको भी अस्तु मानना पड़ेगा। अतएव निम्न प्रकार समुद्रकी एक बूदको समुद्र अथवा अमसुद्र नहीं कहा जा सकता, उभी तरह वस्तुके एक अशक ज्ञान-नेको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस लिये नयको प्रमाण और अप्रमाण दोनोंसे अलग मानना चाहिये।

( २ ) जिनने तरङ्गके वचन हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। इस लिये नयके उत्पष्ट भेद असंभ्यात हो सकते हैं। इस लिये विस्तारसे नयोका प्ररूपण नहीं किया जा सकता। एकसे ले कर नयोके असंभ्यात भेद किये गये हैं। ( फ ) सामान्यमें शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा नयका एक भेद है ( र ) सामान्य और विशेषकी अपेक्षा द्वयार्थिक ( द्वयार्थिक ) और पर्यायाधिक ( पर्यायास्तिक ) ये नयके दो भेद हैं। सामान्य और विशेषको छोड़ कर नयका कोई दूसरा विषय नहीं होना। अतएव सम्पूर्ण नैगम आदि नयोका

१ नार्थ वस्तु न चावस्तु वस्तुश्च कथ्यते सुधे ।

नासमुद्र समुद्रो वा समुद्राद्या यथैव हि ॥

तमात्रस्य समुद्रत्वे ऽप्यस्यस्यसमुद्रता ।

समुद्रबहुता वा स्यात् तत्त्वे चास्तु समुद्रवित् ॥

तत्त्वार्थश्लोकवर्तिक १-६-५, ६ ।

२ सामान्यदेशतस्तापेदक एव नय स्थित ।

स्याद्वादप्रविभक्त्यापविशेषपञ्जनात्मक ॥

तत्त्वार्थश्लोकवर्तिक १-३१-२ ।

यदि वा शुद्धवनयात्रान्युत्पादो व्यये-पि न प्रो यम् ।

गुणश्च पर्यय इति वा न स्याद्य केचन सन्ति ॥

राजमन्त्र पञ्चाध्यायी १-२१६ ।

इन्हीं दो नयोंमें अतर्भाव हो जाता है। ( ग ) सप्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र इन तीन अर्थ नयोंमें एक शब्द नयको मिला कर नयके चार भेद होते हैं ( घ ) नैगम, सप्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द नयके भेदमें नय पाच प्रकारके होते हैं। यहा भाष्यकारने साप्रत, समभिरूढ और एवभूतको शब्द नयके भेद स्वीकार किये हैं। ( च ) जिस समय नैगम नय सामान्यमें प्रिय करता है, उस समय वह सप्रह नयमें गर्भित होता है, और जिस समय विशेषको प्रिय करता है, उस समय व्यवहारमें गर्भित होता है। अतएव नैगम नयका सप्रह और व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके सिद्धसेन दियाकरने छह नयोंको माना है ( छ ) नैगम, सप्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवभूतके भेदमें नयके मान भेद होते हैं। यह मानना श्वेताम्बर आगम परंपरामें और दिगम्बर ग्रंथों में पायी जाती है। ( ज ) नैगम, सप्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा साप्रत, समभिरूढ और एवभूत ये शब्दके तीन विभाग करनेसे नयोंके आठ भेद होते हैं। ( झ ) नैगम, सप्रह आदि सात प्रसिद्ध नयोंमें द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नय मिला देनेसे नयोंकी संख्या नौ हो जाती है। इन नयोंके माननेवाले आचार्योंका म्वडन द्रव्यानुयोग तर्कणमें मिलता है। ( ङ ) नैगमके नौ भेद करके सप्रह आदि छह नयोंको मिलानेमें नयोंके १५ भेद होते हैं। ( ठ )

१ दत्ताहवा य पञ्चवज्जा य सेसा विषया सि ।

( द्रव्याधिकद्वय पयापनयद्वय शपा विकल्पास्तया ) सम्प्रतिर्त् १ ३ ।

परस्परविरिक्तसामान्यविशेषप्रियत्वात् द्रव्याधिकपयायाधिनायव नयो, न च तृताय प्रसाधनरमसि यद्विषयोऽन्यस्ताभ्या यतिरिक्तो नय स्यात् । जम्पद्वय टीका ।

सत्ताद् द्वौ विशेषण द्वयपयायगाचरो । तत्त्वापस्थास्वार्थिक १ ३३ ३ ।

२ नैगमनया त्रिविध सामान्यप्रादा विशेषप्रादी च । तत्र य सामान्यप्रादी स सप्रहन्तभूत, विशेषप्रादी तु व्यवहारे । तद्वय सप्रह व्यवहारकं तुयूत्रान्दादिनय चैक इति चत्वारो नया । समजायाम टाका ।

३ नैगमसप्रह व्यवहारऋजुसूत्रशब्दा नया । तत्त्वायाधिगम भाष्य १ ३४ ।

४ जा सामन्नप्रादी स नगमा सगह गओ अहवा ।

इयदा व्यवहारभिओ जो तेष समाननिहया ॥ विशेषावश्यक भाष्य ३९ ।

सिद्धसनीया पुन पडव नयानम्पुपगततन्त । नैगमस्य सप्रह व्यवहारयोर तभावविश्रणात् । विशेषावश्यक भाष्य ४५ ।

५ स सि त णए १ सत्तमूलणया णणए । त त्हा-नैगम सगह व्यवहारे उज्जुसुए सद् समभिरूढे एवमुए । अनुयोगद्वारसूत्र । तथा स्थानाग सू, ५५२, भगवती सू ४६९ ।

६ तत्त्वायाधिगम भाष्य १-३४, ३५ ।

७ यदि पयायद्रव्याधनयो भिन्नौ विशेषितौ ।

अर्धितानर्धिताभ्या तु स्पुनैकादश तर्कधम् ॥ द्रव्यानुपागततर्का ८-११ ।

८ तत्त्वापस्थास्वार्थिक १ ३३ ४८ ।

निश्चय नयके २८ और व्यवहार नयके ८ भेद मिला कर नयोंके ३६ भेद होने हैं । ( ढ ) प्रत्येक नयके सौ सौ भेद करनेपर नैगम, समग्र, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाच नयोंके माननेसे नयोंके पाच सौ, और सात नय माननेसे नयोंके सात सौ भेद होते हैं । ( ढ ) जितने प्रकारके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं । इस लिये नयके अन्त्यात भेद है ।

( २ )—( १ ) ( क ) सामान्य ओर विशेष पदार्थोंको ग्रहण करना नैगम नय है । यह लक्षण मङ्गिषेण, सिद्धार्थि, निनमद्रगणि क्षमाश्रमण अमयदेव आदि श्रेताम्बर आचार्योंके ग्रंथोंमें मिलता है । ( ख ) दो धर्म, अथवा दो धर्मा अथवा एक धर्म और एक धर्मा प्रधान जार गौणताकी निरक्षा करनेको नैगम कहते हैं । नैगम नयका यह लक्षण देवमुरि, विद्यानन्दि, यशोविनय आदिके ग्रंथोंमें पाया जाता है । ( ग ) जिमके द्वारा लौकिक अर्थका पान हो, उसे नैगम कहते हैं । यह लक्षण निनमद्रगणि, सिद्धसेनगणि, आदि आचार्योंके ग्रंथोंमें मिलता है । ( घ ) सकल्प मात्रके ग्रहण करनेको नैगम कहते हैं । जैसे किसी पुरपको प्रस्थ ( पाच सेरका परिणाम ) बनानेके लिये जगलमें एकडी लेने जाते हुए देख कर किसीने पूजा, तुम कहा जा रहे हो : उस जादमीने उत्तर दिया, कि वत् प्रस्थ लेने का रहा है । पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्दि आदि दिग्गम्बर आचार्योंको यही लक्षण मान्य है । ( प्रस्थका उदाहरण नैगम नयके वर्णनोंमें हरिभद्रके आवश्यकटिप्पण में भी दिया गया है ) । नैगमके नौ भेद हैं । पहले पर्याय नैगम, द्वय नैगम, द्वय पर्याय नैगम ये नैगमके तीन भेद हैं । इनमें अर्थ पर्याय नैगम, व्यचन पर्याय नैगम और अथ व्यचन पर्याय नैगम ये पर्याय नैगमके तीन भेद हैं । शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम ये द्वय नैगमके दो भेद हैं । तथा शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्य व्यचन पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्य व्यचन पर्याय नैगम ये चार द्रव्य पर्याय नैगमके भेद हैं । इन सबको मिलानेसे नैगमके नौ भेद होते हैं । याय बशेषिकोंका नैगमामासमें अतर्भाव होता है । ( २ ) विशेषकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्य रूपमें जाननेको समग्र नय कहते हैं । जैसे जीन कहनेसे तस, स्थावर आदि सब प्रकारके जीवोंका ज्ञान होता है । समग्र नय पर समग्र और अपर

१ देवसनमुरि—नयचक्रसमग्र १८६, १८७ १८८ ।

२ इतिहासो य सयविहो सत्तनवसवा इवति एमेर ।

अतो विय आप्तो पचेवसवा नयाण तु ॥ विशेषान यक भाष्य २ ६४ ।

३ ये परस्परनिश्चलितौ सामान्यविशेषानिच्छन्ति तत् समुदायरूपो नैगम । सिद्धार्थि यायावतार टीका ।

४ यद्वा नैक गमो याऽन सत्ता नैगमो मत ।

धर्मवोधार्थिणो वापि विनक्षा धमधर्मिणो ॥ तत्वाथश्याकार्तिक १-३३-२१ ।

५ निगम्यते पतिच्छिन्नते इति लौकिका अपा तेषु निगमेषु भवो या-व्यवसाय शानात्स त नैगम । सिद्धरोनगणी तत्राम टीका ।

६ अयसकल्पमानग्राही नैगम । पूज्यपाद—सवायशिद्धि ४ ७८ ।

सम्राहके भेदसे दो प्रकारका है। सत्तद्वैतको मान कर सम्पूर्ण विशेषोंके निषेध करनेको सम्राहमास कहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों और सारयोंका सम्राहमासमें अन्तर्भाव होता है। (३) सम्राह नयसे जाने हुए पदार्थोंके योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं। जैसे जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है। इसके सामान्य भेदक और विशेष भेदकके भेदसे दो भेद हैं। द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेदको मानना व्यवहारमास है। इसमें चार्वाक दर्शन गभित होता है। (४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायको छोड़ कर वर्तमान क्षणकी पर्यायको जानना ऋजुसूत्र नय है। जैसे इस समय में मुखकी पर्याय भोग रहा हू। सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्रके भेदसे ऋजुसूत्रके दो भेद हैं। केवल क्षण क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायको मान कर पर्यायके आश्रित द्रव्यका सर्वथा निषेध करना ऋजुसूत्र नयमास है। बौद्ध दर्शन इसीमें गभित होता है। (५) पर्यायवाची शब्दोंमें भी काल, कारक, लिंग सरया, पुरुष और उपसर्गके भेदसे अर्थ भेद मानना शब्द नय है। जैसे 'आप्' जलका पर्यायवाची होनेपर भी जलकी एक बूदके लिये 'आप्'का प्रयोग नहीं करना, 'विरमते' और 'विरमति' पर्यायवाची होनेपर भी दूसरेके लिये विरमति परमैपदका प्रयोग, और अपने लिये विरमते आत्मनेपदका प्रयोग करना। काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा भिन्न मानना शब्दमास है (६) पर्यायवाची शब्दोंमें व्युत्पत्तिके भेदसे अर्थ भेद मानना समभिरुद्ध नय है, जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी ऐश्वर्यवानको इन्द्र, सामर्थ्यवानको शक्र, और नगरोंके नाश करनेवालेको पुरन्दर कहना। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरुद्धमास है (७) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय क्रियाके अनुकूल शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवमभूत नय कहते हैं। जैसे पूजा करते समय पुजारी, और पढते समय विद्यार्थी कहना। जिस समय पदार्थमें जो क्रिया होती है, उस समयको छोड़ कर दूसरे समय उस पदार्थको उस नामसे नहीं कहना एवमभूत नयमास है। जैसे जल लानेके समय ही घड़ेको घट कहना, दूसरे समय नहीं। (४) (क) सात नयोंकी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। नैगम, सम्राह और व्यवहार नय ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं,

१ तार्किकाणा त्रयो भेदा आत्मा द्रव्यार्थिना मया ।

सैदानिकानां चत्वार पद्यापार्थगता परे ॥

यथोपविजय-नयोपदेश १८ ।

यह जैन शास्त्रोंमें दो परम्परायें दृष्टिगोचर होती हैं। पहली परम्पराके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि चार और पद्यावास्तिकके शब्द आदि तीन भेद हैं। इस सैदानिक परम्पराके अनुयायी जिनमद्राणि, दिनयविजय, देवसन आदि आचार्य हैं। दूसरी परम्परा तार्किक विद्वानोंकी है। इसके अनुयायी द्रव्यास्तिकके नैगम आदि तीन, और पद्यावास्तिकके ऋजुसूत्र आदि चार भेद हैं। इसके अनुयायी सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, वादिदेवसुरि, विद्यानन्दि, प्रमाचन्द्र यथोपविजय आदि विद्वान हैं।

क्योंकि ये द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुका प्रतिपादन करते हैं । तथा ऋजुसुत्र, शब्द, समभिरूढ और एवमूत ये चार नय पर्यायार्थिक हैं, क्योंकि ये वस्तुमें पर्यायकी प्रधानताका ज्ञान करते हैं । ( ख ) नैगम, सप्रह, व्यवहार, ऋजुसुत्र चार अर्थनय हैं । इनमें शब्दके लिंग आदि बदल जानेपर भी अर्थमें अन्तर नहीं पडता, इस लिये अर्थकी प्रधानता होनेसे ये अर्थनय कहे जाते हैं । गब्द, समभिरूढ और एवमूत नयोंमें शब्दोंके लिंग आदि बदलनेपर अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है, इस लिये शब्दकी प्रधानतासे ये शब्दनय कहे जाते हैं । ( ग ) नय व्यवहार और निश्चय नयों में विभक्त हो सकते हैं । एवमूतका विषय सम नयोंकी अपेक्षा सूक्ष्म है, इस लिये एवमूतको निश्चय, और वाकीके छह नयोंको व्यवहार नय कहते हैं । ( घ ) सात नयोंके ज्ञाननय और क्रियानय विभाग भी हो सकते हैं । ये नय सत्यका विचार करते हैं, इस लिये ज्ञान दृष्टिकी प्रधानता होनेके कारण ज्ञाननय, और क्रिया दृष्टिकी प्रधानता होनेसे क्रियानय कहे जाते हैं । नैगम आदि नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म विषयको जानते हैं ।

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो लोका इति वावदूमाना तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वाना सभवात् । परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीत जीवानन्त्यवाद निर्दोषतयाभिप्युवचाह—

सात द्वीप और सात समुद्र मात्रको लोक माननेवाले वादियोंके मतमें जीवोंकी सख्या भी परिमित ही हो सकती है । अतएव जीवोंकी परिमित सख्या माननेवाले वादियोंके मतको सद्दोष सिद्ध करके जिन भगवानद्वारा प्रतिपादित जीवोंकी अनन्तताको निर्दोष सिद्ध करते हैं—

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवम् भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।

पद्मजीवकाय त्वमनन्तसख्यमास्यस्तथा नाथ यथा न दोषः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—जो लोग जीवोंको अनन्त नहीं मान कर जीवोंकी सख्या परिमित मानते हैं, उनके मतमें मुक्त जीवोंको फिरसे सत्सारे जन्म लेना चाहिये, अथवा यह सत्सार किसी दिन

१ वेदिकमते जम्बुद्वीपमा मलिङ्गप्रोचशाकपुष्कर इति सप्तद्वीपा, लवणेशुसुरासर्पिद्विदुग्ग जलगावा इति सप्तसमुद्राश्च, बौद्धमते जम्बुपूर्वविदेहावरगोशानीयोत्तरखरव इति चतुर्द्वीपा सप्त धीताश्च, जैनमत असख्याता द्वीपसमुद्रा इति ।

जीवोसे खाली हो जाना चाहिये । हे भगवन्, आपने उह कायके जीवोंको अनन्त माना है, उस लिये आपके मतमें उक्त दोष नहीं आते ।

मितात्मनादे सत्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते । तत्ररूपेण दर्शयति । मुक्तोऽपि राभ्यंतु भवमिति । मुक्ता निर्द्वृतिमाप्त । सोऽपि वा । अपिर्विस्मय । राशब्द उत्तरदोषापेभ्या समुच्चयार्थः । यथा देवा वा दानयो वेति । भवमभ्यंतु ससारमभ्यागच्छतु । इत्येता दापमसङ्गः । भवा वा भवस्थशून्याऽस्तु । भव ससार स वा भवस्थशून्यः ससारिजीवैरिरहितोऽस्तु भवतु । इति द्वितीयो दापमसङ्गः ॥

व्याख्यानार्थ—जीवोंको सत्यात माननेमें मुक्त जीवोंको ससारमें फिरसे लोट कर जाना चाहिये, अथवा यह ससार किसी दिन ससारी जीवोसे शून्य हो जाना चाहिये । श्लोकमें 'अपि' शब्द विस्मय अर्थमें है, जोर 'वा' शब्द आगेके दोषोका समुच्चय करता है ।

इदमत्र आहृतम् । यदि परिमिता एव आत्मानो मन्यन्त तदा तत्रज्ञानाभ्या समप्रतीदिनमणापवर्ग गच्छन्तु तेषु सभाव्यते खलु स कश्चित्काला यत्र तेषा सत्या निर्द्वृति । कालस्यानादिनिधनत्वाद् आत्मना च परिमितत्वात् ससारस्य रिक्तता भवन्ती क्वन वार्यताम् । समुच्चीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरित सरसि पवनतपनानपनजनोदध्वनादिना कालान्तर रिक्तता । न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचिद् प्रसिद्धः । ससारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । तत्स्वरूप हि एतद् यत्र रूपप्रशर्तितं प्राणिन समरन्ति समासापुं ससारिष्यन्ति चेति । सर्वपा च निर्द्वृत्तत्वे ससारस्य वा रिक्तत्व दृढादभ्युपगन्तव्यम् । मुक्तैर्वा पुनर्भव जागन्तव्यम् ॥

यदि जीवोंको परिमित माना जाय, तो तन्वज्ञानके अभ्यासकी प्रवृत्ता होनेपर किसी समय सम्पूर्ण जीवोंको मोक्ष मिल जाना चाहिये । अतएव जिस प्रकार जलमें परिपूर्ण तालाव वायु और सूर्यकी गरमीमें जलसे शुष्क हो जाना है, उसी तरह कालके अनादि निधन होनेसे आर जीवोंके सब्ध्यात होनेसे किसी समय यह ससार जायोसे शून्य हो जाना चाहिये । समारका जीवोसे शून्य होना किसी भी प्रामाणिक पुराणे नहीं माना है, क्योंकि उससे ससार नष्ट हो जाता है । जहा जीव कर्मोंके बन्ध हो कर परिभ्रमण करते हैं, अथवा परिभ्रमण करके, उसे समार कहते हैं । अतएव सम्पूर्ण ससारी जीवोंका मोक्ष माननेमें ससारको प्राणियोंमें शून्य मानना चाहिये, अथवा मुक्त जीवोंको फिरसे ससारमें जम लेना चाहिये ।

न च क्षीणवर्षणा भवाधिहारः ।

“ दग्धं बीजं यथात्यत प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।

वर्षराजे तथा दग्धं न रोहति भनाङ्कुरः ॥”

इति वचनात् । आद्य च पतञ्जलि — “ सति मूले तद्विपाको जाल्वायुभागा ” इति । एतद्विपाका च — “ सत्सु क्लेशेषु र्माशिया विपाकारम्भी भवति नाच्छिन्न-क्लेशमूल । यथा तुपावनडा शालितण्डुला अदग्धशीजभावा प्रसाहममर्था भवन्ति नापनीततुपा दग्धवीजभावा वा । तथा क्लेशवनद्ध र्माशियो विपाकप्रसारी भवति । नापनीतक्लेशो न प्रसंग्यानदग्धरुशरीजभावा वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जाति रायुर्भोग ” इति । अज्ञपादोऽप्याह — “ न प्रवृत्ति प्रतिसन्धानाय हीनरुग्णस्य ” इति ॥

जिन जीवोंके कर्म नष्ट हो गये हैं, वे फिरसे समारंभ नहीं आते । कहा भी है “ जिस प्रकार रीजके जल जानेपर बीजसे अतुर नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह कर्म-बीजके जल जानेपर ससार रूपी अतुर उत्पन्न नहीं हो सकता । ” पतञ्जलिने कहा है “ मूल-के रहनेपर ही जाति, आयु आर भोग होते हैं । ” टीकाकार व्यासने कहा है “ क्लेशके होनेपर ही कर्मोंकी शक्ति फल दे सकती है, क्लेशके उच्छेद होनेपर कर्म फल नहीं देते । जिस प्रकार छिल्लेसे युक्त चाबूनेमें अतुर पैदा हो सकते हैं, छिल्ला उतार देनेसे चाबूनेमें पैदा होनेकी शक्ति नहीं रहती, उर्मा प्रकार क्लेशोंमें युक्त कर्म शक्ति फल देती है, क्लेशोंके नष्ट हो जानेपर कर्म शक्तिमें विपाक नहीं होता । यह विपाक जाति, आयु और भोगके भेदसे तीन प्रकारका है ” अक्षपात् रूपिने भी कहा है “ निम्के क्लेशोंका क्षय हो गया है, उसको प्रवृत्ति वधका कारण नहीं होती । ”

एव विभङ्गज्ञानिशिवराजपिमतानुसारिणो दूपायित्वा उत्तराढ्यन भगवदुपव मपरिमितात्मवाद निर्दोषतया स्तौति । पद्मजीवित्यादि । त्व तु हे नाथ तथा तेन प्रकारेण अनन्तसरयमनन्तायसर्गाविशेषयुक्त पद्मजीवनायम् । अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चति जीवा इन्द्रियान्द्रिानाद्रिव्यभावप्राणधारणयुक्ता । तेषा “ सद्देवै रानुर्व्वे ” इति चिनातर्षणि आदेश कृत्वे माय समूह जीवनाय पृथिव्यादि । पण्णा जीवकायानां समाहार पद्मजीवकायम् । पात्राद्विदर्शनाद् नपुंसकत्वम् । अथवा पण्णा जीवाना माय प्रत्येक सहजात पद्मजीवनायस्त पद्मजीवकायम् । पृथिव्यपुत्रेजीवायु-वनस्पतिरसलक्षणपद्मजीवनिनायम् । तथा तत्र प्रसारण । आरय मर्यादया प्ररूपितवान् । यथा येन प्रकारेण न दोषो दूषणमिति । जात्यपेक्षमरुवचनम् । प्रागुक्तदोषद्वयजा-तीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादु ष्यन्ति तथा त्व जीवानन्त्यमुपदिष्टानित्यर्थ । आरय इति आहूर्पूर्वस्य रयातेरहि सिद्धि । त्वमित्येववचन चेद् ज्ञापयति यद् जगद्गुरोरेव एकस्येदम्भरूपणसामर्थ्ये, न तीर्थान्तरगास्तणामिति ॥

इस प्रकार विभगनानी शिवराज महर्षिके अनुयायियोंकी मान्यता सद्योप सिद्ध करके जिन भगवानके कहे हुए अनन्त जीवात्माके निर्दोष मिद्ध करते हैं । जो मूलमूलमें जाति थे, वर्तमानमें चिते हैं, ओर भविष्यमें जीवगे, उन्हें जीव कहते हैं । ये जीव इन्द्रिय



आदि दस प्राणोंको और चान आदि भाव प्राणोंको धारण करते हैं। जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं। यहा “ सपे वानूर्ध्वे ” सूत्रमें ‘ चि ’ धातुमें ‘ घञ् ’ प्रत्यय होनेपर ‘ च ’ के स्थानमें ‘ क ’ हो जानेसे ‘ काय ’ शब्द बनता है। पृथिवी, अपू, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकारके जीवोंको ‘ पद्काय जीव ’ कहा है। यहा ‘ पात्र ’ आदि शब्दोंमें पद्जीवकाय शब्दको मान कर समासमें ‘ पद्जीवकाय ’ नपुसक लिंग बनाया है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके ‘ छह प्रकारके जीवोंका सघात ’ अर्थ करके ‘ पद्काय-जीव ’ पुल्लिगान्त समास बनाना चाहिये। अतएव जिन भगवानने ही निर्दोष रीतिमें जीवोंको अनन्त स्वीकार किया है, दूसरे वाच्योंने नहीं। आह् पूर्वक ‘ रया ’ धातुमें अह् प्रत्यय लगानेपर ‘ आख्य ’ क्रियापद बनता है।

पृथिव्यादीना पुनर्जास्त्वमित्थ साधनीयम्। यथा सात्त्विका विद्रुमशिलादि-  
रूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानाद्, अशोऽङ्कुरवत्। भौममम्भोऽपि सात्मरुम्,  
क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात्, ग्राह्यवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मरुम्,  
अभ्रादिविकारे स्वत सम्भूय पातात्, मत्स्यादिवत्। तेजोऽपि सात्मरुम्, आहारो-  
पादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भान्, पुरुपाङ्गवत्। वायुरपि सात्मरुः, अपर-  
प्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद् गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मरुः, छेदादिभिर्म्भिर्न्यादिदर्श-  
नात्, पुरुपाङ्गवत्। केषाञ्चित् म्यापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च। अपकर्षतश्चेतन्याद्  
वा सर्वेषा सात्मरुत्वसिद्धिः। आप्तवचनाच्च। तस्येपु च कृमिपिपीलिकाभ्रपरमनुप्या-  
दिषु न केषाञ्चित् सात्मरुत्वे विगानमिति ॥

( १ ) मृगा पापाण आदि रूप पृथिवी सजीव है, क्योंकि ढामके अकुरकी तरह पृथिवीके काटनेपर वह फिरसे उग आती है। ( २ ) पृथिवीका जल सजीव है, क्योंकि मेंडककी तरह जलका स्वभाव रोदी हुई पृथिवीके समान है। आकाशका जल भी सजीव है, क्योंकि मछलीकी तरह गदरके विकार होनेपर वह स्वत ही उत्पन्न होता है। ( ३ ) अग्नि भी सजीव है, क्योंकि पुरुषके अगोंकी तरह आहार आदिके ग्रहण करनेसे उसमें वृद्धि होती है। ( ४ ) वायुमें भी जीव है, क्योंकि गौकी तरह वह दूसरेसे प्रेरित हो कर

१ ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमताना भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा ‘ मृदन्नवीत् ’ ‘ आपोऽ-  
नुवन् ’ ( श प ब्रा ६-१-३-२-४ ) इति, ‘ तत्तेन ऐक्षत ’ ‘ ता आप ऐक्षन्त ’ ( छा ६-२-३, ४ )  
इति चेतनत्वाद्वा भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। ब्रह्मसूत्रशास्त्रमाध्व २-१-४। वनस्पत्यादीनां चेतनत्व  
महाभारते ( शांति० मो० अ० १८२ श्लोक ६-१८ ) मनुस्मृती ( अ १ श्लो ४६-४९ ) च समर्थितम्।

२ तथा मत्तकामिनीसन्पुरुसुवृत्तमास्तरणताडनादशोकतरो पल्लवसुमोद्रेद। तथा युवत्वलिंग  
नात् पनद्यत्। तथा सुरभिमुत्पाण्डूपसेकाङ्कस्य। तथा सुरभिनिर्मलजल्लेकसम्पकस्य। तथा कटाश-  
वीक्षणात्पिलकस्य। तथा पचमस्वरोद्गाराच्छिरीपस्य विरहकस्य पुष्पाविकिरणम्।

गमन करती है । ( ५ ) वनस्पतिमें भी जीव है, क्योंकि पुष्पके अगोंकी तरह छेदनेसे उसमें मलिनता देखी जाती है । कुछ वनस्पतियोंमें खियोंके पादाघात आदिमें विचार होता है, इस लिये भी वनस्पतिमें जीव है । अथवा जिन जीवोंमें चेतना घटती हुई देखी जाती है, वे सब सजीव हैं । सर्वत्र भगवानने पृथिवी आदिको जीव कहा है । ( ६ ) वृमि, पिपीलिका, अमर, मनुष्य आदि व्रस जीवोंमें सभी लोगोंने जीव माना है ।

यथा च भगवदुपक्रमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिद्दमात्र भाव्यते । भगवन्मते हि पण्णा जीवनिकायानामतद् अल्पवहुत्वम् । सर्वस्तोऽसखसकायिका । तेभ्यः सरयातगुणा तजस्कायिका । तेभ्यो विशेषाधिका पृथिवीकायिका । तभ्यो विशेषाधिका अप्फायिका । तेभ्योऽपि विशेषाधिका वायुकायिका । तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः । ते च व्यावहारिका अव्यावहारिकाश्च ।

“ गोला य असखिज्जा असखणिग्गोअ गोलओ भणिओ ।  
इक्किस्मि णिगाए अनन्तजीवा मुणेअव्वा ॥ १ ॥  
सिज्जन्ति जत्तिया खलु इह सववहारजीवरासीओ ।  
एति अणाइवणम्मसइ रासीओ तत्तिया तम्मि ॥ २ ॥”

इति वचनाद् । यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोद्वनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति । न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोदजीवानन्त्यस्याक्षयत्वात् । निगोदस्वरूपं च समयसागराद् अवगन्तव्यम् । अनाग्रनन्तेऽपि काले कचिन्निरृताः निर्वाणन्ति निर्वास्यन्ति च त निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्तन्ते

१ द्विविधा जीवा साव्यवहारिका असाव्यवहारिकाश्चेति । तत्र ये निगोदावस्थात उद्भूत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृश्यमानाः सन्त पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते । ते च यत्रैः भूयाऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते साव्यवहारिका एव साव्यवहारे पतितत्वात् । ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवानतिष्ठन्ते ते अव्यवहारातीतत्वाद्साव्यवहारिका । प्रश्नापनांशकाया सू. २३४ ।

२ छाया—गोलाश्च असख्यया असख्यनिगोदो गोलको भणित ।  
एक्केस्मिन् निगादे अनन्तजासा ज्ञातया ॥ १ ॥  
सिध्यति यानन्त खलु इह सव्यवहारजीवराशिल ।  
आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ॥ २ ॥

३ एषनिगोदसरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा ।  
सिद्धेहि अणतगुणा सव्येण वितादरालेण ॥

छाया—एकनिगोदसरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा ।  
सिद्धैरनन्तगुणा सर्वेण यतीतकालेन ॥

नावर्तिपन न वत्स्यन्ति । ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनमङ्गलं, कथं च समारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति । अभिमेत चतद् अन्ययुव्यानामपि । यथा चोक्तं वार्तिककारण-

“अत एव च त्रिद्वस्तु मुन्यमानपु सन्तनम् ।

ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥ १ ॥

अत्यन्यूनातिरिक्तैर्युज्यत परिमाणम् ।

वस्तुन्यपरिमेय तु नूनं तेषामम्भयः ॥ २ ॥”

इति काव्यार्थ ॥ २९ ॥

जिन मतमें उह निकायके जीवोंमें सचमे कम तस जीव है । नम जीवोंमे सस्मात् गुणे अधिकायिक, अगिकायसे विशेष अधिक पृथिवीकायिक, पृथिवीकायमे अन्नायिक जलकायसे वायुकायिक ओर वायुकायसे अनतगुणे वाय्मतिकायिक जीव हैं । व्यावहारिक और अत्यावहारिकके भेदसे वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं । “गोल असस्यान होते हैं, एक गोलमें असस्यात निगोद रहते हैं और एक निगोदमें अनन्त जीव रहने हैं । जिनने जीव व्यवहार राशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि वनस्पति राशिसे निकल कर व्यवहार राशिमें आ जाते हैं ।” इस लिये जिनने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने प्राणी अनादि निगोद वाय्मति राशिमेंसे आ जाते हैं । अतएव निगोद राशिमेंसे जीवोंके निकलने रहनेके कारण समारी जीवोंका कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता । निगोदका स्वरूप ‘समयसागर’ से जानना चाहिये । जितने जीव जन्म तक मोक्ष गये हैं, और आगे जानेवाले हैं, वे निगोद जीवोंके अनन्त भाग भी हैं, न हुए हैं और न होंगे । अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव ससारमें लोट कर आते हैं, और न यह समार जीवोंसे क्षय होता है । इसको दूसरे वादियोंने भी माना है । वार्तिककारने भी कहा है “इस ब्रह्माण्डमें अनन्त जीव हैं, इस लिये समारसे ज्ञानी जीवकी मुक्ति होते हुए यह समार जीवोंसे खाली नहीं होता । जिस वस्तुका परिमाण होता है, उमीका अन्त होता है, वही घटती, और समाप्त होती है । अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न वह घटती, और न समाप्त होती है ।” यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—( १ ) यदि समारी जीवोंकी बराबर मोक्ष मित्रा रहे, ( जैन शास्त्रोंके अनुसार उह महीने और आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं ) तो कभी यह ससार जीवोंसे खाली हो जाना चाहिये, यह प्रश्न भारतीय दर्शनकारोंके सामने बहुतसे विवाद प्रस्त प्रश्नमेंसे एक था । आधुनिक मतके अनुयायी मन्वेरी ( गोडाल ) आदिका मत था, कि मुक्त जीव फिरसे ससारमें जन्म लेते हैं । अश्रमित्रने भी इस प्रश्नको ले कर जैन सभमें

१ कर्मोन्नयनसात् समारमामगमोऽस्तीति मन्वेरिदशन । गोमन्वेरार जीवका ६० टीका । तथा, ‘शान्तिो धर्मतीक्ष्ण’ आदि, देखा पीछे स्यादाशमन्त्री पृ ४ ।

वाद मडा किया था। स्वामी दयानन्दके अनुसार जीव महाकल्प काल पयत मुक्तिके सुप्तको भोग कर फिरसे ससारमें उत्पन्न होते हैं। इस कथनकी पुष्टिके लिये दयानन्द स्वामीने ऋग्वेद तथा मुण्डक उपनिषद्के प्रमाण उद्धृत किये<sup>१</sup> हैं।

जैन विद्वानोंने मायता है, कि जिस प्रकार बीनके जल जानेपर अफुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मान्ना सर्वाथा क्षय होनेपर जीव फिरसे ससारमें जन्म नहीं लेते। पतजलि, व्यास, अश्वपाद आदि ऋषियोंकी भी यही मायता है। जैन सिद्धातमें द्वीप और समुद्रोंका असग्यात परिमाण स्वीकार किया गया है। इन द्वीप समुद्रोंमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं। सन्ने कम त्रम जीव हैं, त्रम जीवोंमें सरयात गुणे अग्निकायिक, अग्निकायिक जीवोंमें अधिक पृथिवीकायिक, पृथ्वीसे जलकायिक, जलमे वायुकायिक और वायुकायिकमे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं। वनस्पतिकायिक जीव व्यापहारिक और अयावहारिकके भेदमे दो प्रकारके होने हैं। जो जीव निगोत्से निकल कर पृथिवीकाय आदि अस्थानको प्राप्त करके फिरसे निगोत् अस्थानको प्राप्त करते हैं, वे जीव यावहारिक कहे जाते हैं। तथा जो जीव जनादि कालसे निगोत् अस्थानमें ही पडे हुए हैं, उन्हें अयावहारिक कहते हैं। जैन सिद्धातके अनुसार असग्यात गोल होते हैं, प्रत्येक गोलमें असग्यात निगोत् रहते हैं, आर एक निगोत्में अनन्त जीव रहते हैं। जितने जीव यवहार राशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही वनस्पति राशिमे व्याहार राशिमें जा जाते हैं, अतएव यह ससार जीवोंमे कमी खाली नहीं हो सकता। मोक्ष जाते रहते हुए भी ससार रानी नहीं होगा, इसका दूसरी प्रकारसे समर्थन करते हुए जैन विद्वानोंने जीवोंको भय्य और अभय्य दो विभागोंमें विभक्त किया है। जो मोक्षगामी जीव हैं, वे भय्य हैं, तथा जो अनत काल बीननेर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकने, वे अभय्य हैं। अतएव भय्य जीवोंके मोक्ष जाते रहते हुए भी यह ससार जीवोंसे शून्य नहीं हो सकता। सिद्धमेन दिवाकरने आगमके हेतुवाद और अहेतुवाद दो विभाग करते हुए भय्यअभय्यके विभागने अहेतुवादमें गर्भित किये है।

( २ ) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे जीव छह प्रकारके होने हैं। महाद्वारम आदि वैदिक ऋषियोंने, महाभारत और मनुस्मृतिनार तथा गोर्गाल प्रभु

१ १ २४ १ २। २ ते ब्रह्मल्लोके ह परान्तकाल परामुत्तमत् परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक उ ३ २ ६।

२ दया सत्याप्रकाश स १९८२ पृ १७७। ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामन मयिप्यतीति भय्य। वेद्विपरीताऽभय्य। तत्त्वाभ्यराजवार्तिक २७ ७, ८ देखो भयाभयविभाग-याख्याप्रशति। शौद्रोंके महाकाल सप्रदायमें भयाभयका विभाग नहीं माना गया है। ५ योऽनतेनापि कालेन न सेत्स्यति असौ अभय्य। त राजवार्तिक २७ ९। ६ समतितर्क ३ ४२। ७ देखो एतरेय ब्राह्मण और एतरेय आरण्यक। ८ महीदास, गोदान और महावीरकी प्राणिशास्त्र सवधी मिलता जुलती मायताओंके लिय दखो प्रो बरआकी Pre Buddhist Indian Philosophy' नामक पुस्तकका २१ वा अध्याय।

तिने भी पृथिवी, जल आदिमें जीव स्वीकार किया है। आधुनिक साइसके अनुसार वनस्पतिके सचेतन होनेमें अब कोई विवाद नहीं है। अब भारतीय वैज्ञानिक सर जे सी बोसने दिन, 'शीशा, प्लैटिनम आदि धातुओंमें भी प्रतिक्रिया ( Response ) सिद्ध की है।

अधुना परदर्शनाना परस्परविहृद्दार्थसमर्थतया मत्सरित् प्रकाशयन् सर्वज्ञापज्ञसिद्धान्तस्यान्योन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावात्प्रिभायति—

परस्पर विहृद्द अर्थको प्रतिपादन करनेवाले अन्य दर्शन एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप होनेसे सर्वत्र भगवानका सिद्धांत ही ईर्ष्या रहित हो सकता है—

**अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादा ॥**

**नयानुपानुपिणोपमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥**

श्लोकार्थ—अथवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, परन्तु सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखनेवाले आपके शालोमें पक्षपात नहीं है।

प्ररूपण उग्रते प्रतिपात्रते स्वाभ्युपगतोऽथा यैरिति प्रवादाः । यथा येन प्रकाशेण । परे भवच्छासनाद् अन्ये । प्रवादा दर्शनानि । मत्सरिणः अतिशौचन मत्वर्थी यत्रिधानात् सातिशयासहनताशालिनः काधरूपायत्रुपिताः त. करुणा मन्तः पक्षपातिनः, इतरपक्षतिरस्कारेण स्पर्शकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवृत्ता वर्तन्ते । कस्माद् हेतोर्मत्सरिणः इत्याह । अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् । पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवेशिष्टेन हेत्वादिभिरिति पक्षः । कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः । तस्य प्रतिपक्ष पक्षः प्रतिपक्षः । पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्ष प्रतिपक्ष । तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः । अन्याऽन्य परस्पर य पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात् ॥

१ तत्र पृथिवीमायिकजातिनामानकविषम् । तथा । शुद्धपृथिवीशर्करावायुकोपलशिलात्वणायस्रयुताम्रवीरकम्प्यसुरणमद्भरतालदिद्गुलकमन शिलास्यस्रान्चनप्रवालम्राभपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि ।

तत्राद्यादिगम भाष्य पृ १५८ ।

२ It will thus be seen that as in the case of animal tissues and of plants, so also in metals, the electrical responses are exalted by the action of stimulants, lowered by depressants and completely abolished by certain other reagents देहो जे श्री बोसकी ' Response in the Living and Non living ' पृ १४१ तथा पृ ८० १९१ ।

३ भूमनिन्द्राप्रवणानु नित्ययोगे-विशयो । सर्वे-स्तिविवक्षाया भवन्ति मनुष्यादयः ।

व्यार्यार्थ—जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादन किया जाय, उसे प्रवाद कहते हैं। आपके शासनके अतिरिक्त अय दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्षका दुराग्रह रखनेके कारण एक दूसरेके पक्षका तिरस्कार करके अपने सिद्धातको स्थापित करते हैं, अतएव वे लोग अत्यन्त अमहन्शील होनेके कारण क्रोध कषायमे युक्त हो कर अपने दर्शनोंमें पक्षपात करते हैं। 'मत्सरो' शब्दमें मत्वर्थमें इन् प्रत्यय सातिशय अर्थको द्योतन करनेके लिये किया गया है। जो साध्यसे युक्त हो कर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाय, उसे पक्ष कहते हैं। जो पक्षके विरुद्ध हो, उसे प्रतिपक्ष कहते हैं।

तथाहि । य एव मीमासकानां नित्य शब्द इति पक्ष' स एव सोगताना प्रतिपक्ष । तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनित्य' शब्द इति पक्ष. स एव मीमासकाना प्रतिपक्ष' । एव सर्वप्रयोगषु योज्यम् । तथा तेन प्रकारेण । त तव । सम्यग् एति गच्छति गद्गोऽर्थमनेन इति " पुनान्नि घ । " समय सकत । यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्त ज्ञायन्ते जीवार्जीवादयोऽर्था अनेन इति समय. सिद्धान्त । अथवा सम्यग् अयन्त गच्छन्ति जीवादय पदार्था स्वस्मिन् स्वरूप प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगम. । न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी । पक्षपातित्वस्य हि कारण मत्सरित्त्व परप्रवादिषु उक्तम् । त्वत्समयस्य च मत्सरित्त्वाभावाद् न पक्षपातित्वम् । पक्षपातित्व हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्, व्यापन च निवर्तमान व्याप्यमपि निवर्तयति इति मत्सरित्वे निवर्तमान पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भाव । तव समय इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे पृष्ठी । सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृरुत्वेऽपि समयस्य अर्थापेक्षया भगवत्कर्तृत्वाद् वाच्यवाचकभावो न विरयत । " अत्य भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा णिउण " इति वचनात् । अथवा उत्पादव्ययग्रीव्यप्रपञ्च समय । तपां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात् । तथा चार्पम्—“ उष्ण्णे वा विगम या बुवेति या ” इत्यदोष ॥

जैसे मीमासकोंके मतमें ' शब्द नित्य है, ' यह पक्ष बौद्धोंका प्रतिपक्ष है, क्योंकि बौद्धोंके मतमें शब्द अनित्य है। इसी तरह ' शब्द अनित्य है ' यह बौद्धोंका पक्ष मीमासकोंका प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। परन्तु आपके समयमें किसी एक पक्षके प्रति अनुराग नहीं देखा जाता। अन्य वादोंमें इर्ष्या करना ही पक्षपातका कारण है। आपके समयमें इर्ष्याका अभाव होनेसे पक्षपात नहीं है। व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं होना, अतएव आपके समयमें इर्ष्या न होनेसे पक्षपातका भी अभाव है। यहा समय शब्दका चार प्रकारसे अर्थ किया गया है। ( १ ) निममे शब्दका अर्थ ठीक ठीक

१ हेमचन्द्रे ५-५-१३० । २ छाया-अर्थे भाषणे-ईन् स्य प्रप्रन्ति गणधर निपुणम् । विशेषा वरयकमाप्ये १११५ ।

मालम हो-सकेत । यहा सम् इ धातुसे " पुत्राप्ति घ " सूत्रसे समय शब्द वनता है, ( २ ) जियमे जीव, अनीव आत्ति पदार्थाका भले प्रकारसे ज्ञान हो-सिद्धात, ( ३ ) जियमें जीव आदि पदार्थाका ठीक प्रकारमे वर्णन हो-आगम, ( ४ ) तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सिद्धान्तको समय करते है । उत्पाद आदिको जिन भगवानने ' अष्ट प्रवचनमाता ' कहा है । आप्तानय भी है " उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है, और स्थिर भी रहता है । " यद्यपि आगमोके सूत्र गणधरोके बनये हुए होते हैं, परन्तु " अर्हत अर्थका व्याख्यान करते हैं, और गणधर उसे सूत्रमें उपनिबद्ध करते हैं " इस वचनसे अर्थकी अपेक्षामे भगवान ही समयके रचयिता हैं । अतएव आपके साथ आगमका वाच्य-वाचक भाव बा सकता है ।

मत्सरित्वाभासमेव त्रिशेषणद्वारेण समर्थयति । नयानशेषानत्रिशपमिच्छन् इति । अशेषान् समस्तान् नयान् नैगमादीन्, अविशेष नित्रिशेष यथा भवति एवम् इच्छन् आत्माइक्षन् सर्वनयात्मस्त्राटनेकान्तवादस्य । यथा त्रिशकलिताना मुक्तामणीनामैस्सूत्रानुस्युताना हारव्यपदेश एव पृथगभिमन्त्रीना नयाना स्याद्वादलक्षणेकस्मन्प्रोताना श्रुतारयप्रमाणव्यपदेश इति । ननु प्रत्येक नयाना विरुद्धत्वं कथं समुद्रिदिताना निविराधिता । उच्यते । यथा हि समीचीन मन्थस्थ न्यायनिर्णेतारमासाग्र परस्पर विवदमाना अपि वादिनां विवादाद् विरमन्ति एव नया अन्योऽन्य वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयागोपशमितविप्रतिपत्तय सन्त' परस्परमत्यन्तं मुहूर्हयाप्रतिष्ठन्ते । एव च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविच्छेदमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम् ॥

आपना सिद्धात ईर्ष्यासे रहित है, क्योंकि आन नैगम आदि सम्पूर्ण नयानो एक समान देखते हैं । निम प्रकार विरते हुए मोतियोंको एक सूत्रमें पिरो देनेसे मोतियोंका सुन्दर हार बन कर तैय्यार हो जाता है, उसी तरह भिन्न भिन्न नयोंको स्याद्वाद रूपी सूत्रमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय ' श्रुत प्रमाण ' कहे जाते हैं । ज्ञान—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध है, तो उन नयोंके एकत्र मिलनेसे उनका निरोध किम प्रकार गष्ट होता है । समाधान—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मन्थस्थ न्यार्थाके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवानके शासनकी शरण ले कर ' स्यात् ' शब्दमें निरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते हैं । अतएव भगवानके शासनके सर्व नय स्वरूप होनेसे भगवानका शासन सम्पूर्ण दर्शनेसे अविरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है ।

न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तपु कथं नापलभ्यते इति । समुद्रस्य सर्वसंनिभमयत्वेऽपि विभक्त्यामु तामु अनुपलम्भात् । तथा च वस्तुवचनपारैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनटिवाकरपादा —

“ उद्रधावित्र सर्वसिन्धु ससुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टय ।

न च तासु भवान् प्रदृश्यन् प्रविभक्तासु सरित्स्त्रियोदधि ” ॥

अन्ये त्वेव व्याचक्षते । तथा अन्यान्यपक्षप्रतिपक्षभावात् परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तत्र समय सर्वनयान् मयम्यतयाङ्गीकुर्वाणा न मत्सरी । यतः पक्षभूत । पक्षपाती पक्षमेव पक्षभाभिनिवशम् पातयति तिग्मसरोतीति पक्षपाती । गगस्य जीवनाश नष्टत्वात् । अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदम् पूर्वस्मिन् पक्षपातीति विशेष । अत्र च क्रियाकृष्टव्याख्याने विधेयं विवर्तिभि म्य सारं ॥ इति शक्यार्थ ॥ ३० ॥

गङ्गा—यदि भगवानका शानन सप्त दर्शन स्वरूप है, तो यह शानन सप्त दर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता । समाधान—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता, उसी तरह भिन्न भिन्न दर्शनोंमें जैन दर्शन नहीं पाया जाता । बल्कि और उसके उचनोम अभेद मान कर मिद्धमेन विवाकरने कहा है “ हे नाथ, जिस प्रकार नदिया समुद्रमें जा कर मिलती हैं, वेम ही सम्पूर्ण दृष्टियो ( दर्शन ) का आपमें समावेश होता है । जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं रहता, उमी प्रकार भिन्न भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते । ” कुछ लोग इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं । अन्य दर्शन परम्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण ईर्ष्यालु हैं, परन्तु आप सम्पूर्ण नय रूप दर्शनोंको मयम्य भावसे देखते हैं, अतएव ईर्ष्यालु नहीं है । क्योंकि आप एक पक्षका आग्रह नरके दूसरे पक्षका तिग्मकार नहीं करते हैं । पक्षही व्याख्यामें ‘ पक्षपाती ’ विधेय पद था, और दूसरी व्याख्यामें ‘ मत्सरी ’ विधेय पद है । इन दोनों व्याख्याओंमें मरल और कठिन व्याख्याका विवेक बुद्धिमानोंको कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—जैन दर्शन सप्त दर्शनोंका समन्वय करनेवाला है । जितने वचनोंके प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नयवाद होते हैं । अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयवादम गर्भित हो जाते हैं । निम समय ये नयवाद एक दूसरेसे निरपेक्ष हो कर वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये नयवाद परसमय अर्थात् जैनतर दर्शन कहे जाते हैं । इस लिये अन्य धर्मोंका निषेध करनेवाले ब्रह्मचर्यको प्रतिपादन करनेवालेको अनैन दर्शन, और सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवालेको जैन दर्शन कहते हैं । उदाहरणके लिये नित्यत्व वादी साख्य और अनित्यत्व वादी बौद्ध परसमय है, क्योंकि ये दोनों दर्शन एक दूसरेसे निरपेक्ष हो कर वस्तु तत्वका प्रतिपादन करते हैं । जैन दर्शन इन दोनोंका समन्वय करता है, इस लिये जैन दर्शन मयसमय है । जिस समय परस्पर निरपेक्ष वचनोंके प्रकार नयवादोंमें ‘ स्यात् ’ शब्दका प्रयोग किया जाता है, उस समय ये नय सम्यक्त्व रूप होते हैं । जिस प्रकार धन, धान्य आदिके कारण परस्पर

१ द्वाविंशद्द्वान्त्रिकास्तोत्र ४-१५ । यथा नत्र स्पन्दमाना समुद्रेऽन गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वाजामरूपादिमुच परस्पर पुरुषमुपैति दियम् ॥ इति मुण्डक उ ३-८ । तथा—  
बहुधाप्यागमैर्मिता पयान सिद्धिहतव । त्वय्यव निपतन्त्योषा जाह्नवीया श्वार्गवे ॥ खुवश १०-१ ।



गिवात् करनेवाले लोग किसी निष्पक्ष आत्मीसे समझाये जानेपर शात हो कर परस्पर मिल जाते हैं, अथवा जिस प्रकार कोई मत्रवाणी विपके टुकड़ोंको विप रहित करके कोटके रोगीको अच्छा कर देता है, अथवा जिस प्रकार भिन्न भिन्न मणियोंमें एक सुन्दर रत्नोंकी माला तैय्यार हा जाती है, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष परसमर्थोंका जैन दर्शनमें ममत्व होता है। इसीलिये जैन विद्वानोंने कहा है, कि अनेकातवात्का मुख्य ध्येय सम्पूर्ण दर्शनोंको समान भावसे देख कर माध्यम्य भाव प्राप्त करनेका है। यही धर्मवाद है, और यही शास्त्रोंका मर्म है। अतएव जिस प्रकार पित्त अपने सम्पूर्ण पुत्रोंके ऊपर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकान्तवाद सम्पूर्ण नर्योंको समान भावसे देखता है। इस लिये जिस प्रकार सम्पूर्ण नदिया एक समुद्रमें जाकर मिलती हैं, उसी तरह सम्पूर्ण दर्शनोंका अनेकात दर्शनमें समावेश होता है। अतएव जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करता है।

इत्थद्धार कतिपयपदार्थविवेचनद्वारण भ्वाभिनां यथार्थवादाख्य गुणमभिप्लुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्पासामर्थ्यं दृष्टात्पूर्वकमुपदर्शयन् आदृत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तर्गतरोहित स्वाभिधान च प्रकाशयन् निगमनमाह—

इस प्रकार कुछ पदार्थोंके विवेचनसे भगवानके यथार्थवाद गुणकी स्तुति करनेके पश्चात् भगवानके सम्पूर्ण वचनातिशयोंका वर्णन करनेमें अपनी अममर्थता बतला कर प्रकारान्तरसे अपने औद्धत्यके दूर करनेके लिये अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हैं—

वाग्वैभव ते निखिल विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुस्य ।

लङ्घेम जङ्घालतया समुद्र वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—हे पूज्य शिरोमणि, आपके सम्पूर्ण गुणोंकी विवेचना करना वेगसे समुद्रका लापने, अथवा चन्द्रमाकी चादनीका पान करनेकी तृष्णाके समान है।

१ परस्परविरुद्धा अपि सर्वे नवा समुदिता सम्यक्त्व मर्जात । एकस्य जिनसाधोऽवर्तितात् यथा नानाभिप्रायभूत्यवगतत् । यथा घनघान्यभूम्यादर्थे परस्पर विवदमाना बहुोऽपि सम्यग्भावता केना प्युदासीनेन सुक्तिभिर्विवादकारणात्पनीय मील्यन्ते । तथेह परस्परविरोधिनाऽपि नयान् जैनसाधुर्विरोध भक्त्या एकत्र मील्यति । तथा प्रचुरोपपन्ना अपि प्रौढमत्रवादिना निर्दिष्टोद्धृत्य कृष्टादितो गिणे दत्ता अमृत रूपत्व प्रतिपद्यन्त एव । यशोविजय कृत नयप्रदीप । तथा विशेषावश्यक भाष्य २२६५-७२ ।

- २ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।  
तस्यानेकातवादस्य क न्यूनाधिकशेषुषी ॥  
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनितुल्यता ।  
मोक्षोद्देशाविशेषेण य पश्यति स शास्त्रवित् ॥

विभव एव वैभवं । प्रज्ञादित्वात् स्वाद्यञ्ण् । विभोर्भावि\* कर्म चेति वा वैभवम् ।  
 वाचा वैभव वाग्वैभवं वचनसपत्न्यकर्मम् । विभोर्भावि इति पक्षे तु सर्वतयव्यापकत्वम् ।  
 विभुशब्दस्य व्यापकपर्यायतया रुद्धत्वात् । ते तत्र सपत्न्येन निखिलं कृन्मन् विवेकतु  
 विचारयितुं चेद् यदि वयमाशास्महे इच्छाम । हे महर्नीयसुर्य महर्नीया पूज्या पञ्च  
 परमोष्ठिनस्तेषु सुर्य, प्रधानभूत\*, आद्यत्वात् तस्य सर्वोपधनम् ॥

व्यार्यार्थ—प्रजा आदिसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय हो कर विभवेसे वैभवं शब्द  
 बनता है । अथवा विभुके भाव और कर्मको वैभव कहते हैं । वचनके वैभवको ' वाग्वैभव '   
 अर्थात् वचनोक्ती उद्धृष्टता कहते हैं । विभु शब्दका व्यापक अर्थ करनपर ' वाग्वैभवं ' शब्दका  
 ' सम्पूर्ण नयोंमें व्यापक ' अर्थ करना चाहिये । पाचों परमोष्ठियोंमें अर्हत भगवान् मुख्य हैं,  
 अतएव भगवान्को पूज्य निरोमणि कह कर सर्वोपधन किया है ।

ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वाद् अर्हता कथं वागतिशयशालिनामपि तथा सुर्य  
 त्वम् । न च हीनगुणत्वमसिद्धम् । प्रज्ज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तथा नमस्कारकरणध्वजान् ।  
 " काङ्क्षेण नमुकार सिद्धाणमभिगमह तु सो गिण्ह " इति श्रुतत्वलिखचनात् ।  
 मैवम् । अर्हदुपदेशेनैव सिद्धानामपि परिज्ञानात् । तथा चार्पम्—“ अरहन्तुवपसण  
 सिद्धा णज्झति तेण अरहाइ ” इति । तत्र सिद्ध भगवत एव सुर्यत्वम् । यदि  
 तत्र वाग्वैभव निखिल विवेकतुपाशास्महे तत्र किमित्याह लक्ष्णेन इत्यादि । तत्र  
 इत्यभ्याहार्यम् । तत्रा जह्वालतया जाह्निकृतया वगवत्तया समुद्र लङ्घनं चित्तं समुद्रमित्र  
 अतिक्रमामः । तथा बहेम धारयेम । चन्द्रशुतीना चन्द्रमरीचीना पान च द्रष्टुतिपानम् ।  
 तत्र तृष्णा तर्पोऽभिलाष इति यावत् चन्द्रशुतिपानतृष्णा ताम् । उभयत्रापि सम्भावने  
 सप्तमी । यथा कश्चिच्चरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रादि अन्तरणापि समुद्र लङ्घि-  
 तुमीहते यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयी\* श्रुत्वा चुल्लुनादिना पातुमिच्छति, न चैतद्  
 द्वयमपि शक्यसाधनम् । तथा न्यक्षेण भवदीयवाग्वैभववर्णनात्साहसापि अशक्यारम्भ-  
 मवृत्तितुल्या । आस्ता तावत् तावत्कीनवचनविभवाना सामस्त्येन विवेचनविज्ञानम्,  
 तद्विषयानाह्वापि महत् साहसमिति भावार्थ\* ॥

शका—अर्हत भगवान्में सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण हैं, अर्हत दीप्ताके समय सिद्धोंकी  
 नमस्कार करते हैं । श्रुतकेवलियोंने कहा भी है “ अर्हत सिद्धोंकी नमस्कार करके दीप्ता  
 ग्रहण करते हैं । ” अतएव अर्हतोंको मुख्य नहीं कहना चाहिये । समाधान—अर्हत भग-  
 वान्के उपदेशसे ही सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हत ही मुख्य हैं । आगममें कहा

१ छाया-हृत्वा नमस्कार सिद्धेभ्योऽभिग्रह तु सो-प्रहीत् ।  
 २ छाया-अर्हदुपदेशेन सिद्धा जायते तेनाहदादि । विवेकवदव्यकामये ३२१३ ।

भी है ' अर्हंतके उपनेत्रमे सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हंत मुक्त्य हैं । " जिस प्रकार जटानके बिना ही पैदल चल कर समुद्रको लापना असभव है, अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी अमृत मय किर्णोंको केवल चुल्हसे पान करना असभव है, उसी तरह आपके वचनोंके वैभवसे श्रमकी इच्छा करना भी असभव है । अतएव आपके समस्त वचन-वैभवका वर्णन तो दूर रहा, उम वर्णन करनेकी इच्छा करना भी महान साहस है । श्लोकमें ' नृप ' शब्दका अध्याहार करना चाहिये ।

अथवा ' लघु ' गोपण ' इति धातोर्लघुम शोपयम समुद्र जघालतया अति-रहसा । अनित्रमणार्थलघुमस्तु प्रयोगे दुर्लभ परस्मैपदमित्य वा आत्मनेपदमिति । अत्र च औद्धत्यपरिहारसिद्धिकृतेऽपि यद् आशास्महे इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्य प्रयुक्तवास्तदिति सूचयति यद् मित्रन्ते जगति मादृशा मन्दमधसा भूयास स्तोतारः, इति बहुवचनमात्रेण न खट्टु अट्टङ्कार स्तोतारि प्रभां शङ्कनीयः । प्रत्युत निरभिमान-ताप्रासादोपरि पताकागोप एवावधारणीय ॥ इति काव्यार्थ ॥ ३१ ॥ एषु एरुत्रि-गति वृत्तपु उपजातिच्छन्द ॥

अथवा ' लघु ' धातुका अर्थ शोपण करके ' समुद्र जघालतया लघुम ' का अर्थ करना चाहिये, कि जो शीघ्रतासे समुद्रका शोपण करना चाहते हैं । अनित्रमण अर्थमें ' लघु ' धातु परस्मैपदी नहीं होती, अतएव यहा शोपण अर्थमें ' लघु ' धातुसे परस्मैपदमें लघुम रूप बनाना चाहिये । अथवा यदि आत्मनेपदको अनित्य माना जाय, तो अत्रित्रमण अर्थमें प्रयुक्त लघि धातुसे भी यह रूप बन सकता है । श्लोकमें ' आशास्महे ' बहुवचनके प्रयोगसे स्तुतिकारका अकार प्रगट नहीं होता । इस प्रयोगसे स्तुतिकारका यही अभिप्राय है, कि मसारमें मेरे समान और भी मन्द बुद्धिवाले स्तुति करने-वाले हैं । अतएव इससे आचार्यका निरभिमान ही सिद्ध होता है । यह श्लोकका अर्थ है । इन इकनीस श्लोकोंमें उपजाति छन्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—हेमचन्द्र आचार्य अपनी लघुता बनाते हुए कहते हैं, कि नियम प्रकार पैदल चल कर समुद्रको लापना अथवा चुल्हसे चन्द्रमाकी चादनीका पान करना असभव है, उसी तरह आपके समस्त गुणोंका वर्णन करना असभव है ।

एव मित्रतारै परनीधिर्बैर्व्यामाहमय तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽ-  
च्यभिचारिचनतासा येनान्ययागव्यञ्छेदन भगवत एव सामर्थ्य दर्शयन् तदुपा-  
स्तिविन्यस्तमानसानां पुरुपाणामौचितीचतुरता प्रतिपादयति—

वचन अन्य तेषांके लोकोके उपदेशमे यामोः रूप अधकारमे द्वे हुए जगतका उद्धार करके लिये दूसरे मतोंका व्यवच्छेद करनेवाले निद्रोष वचनोंकी आपमें ही सामर्थ्य है, अतएव आपकी उपासनामें लगे हुए मनुष्य ही चतुर हैं—

इदं तत्त्वात्स्वव्यतिकरकरालेऽन्धतसे  
जगन्मायाकारेरिव हतपरेर्हा विनिहितम् ।

तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसवादिबचन-

स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

इलाकार्य—इन्द्रालियोंकी तरह अधम अन्य दर्शनवानोंने इस जगतको तत्व और अतत्त्वके अज्ञानसे भयानक गान् अधकारमें डाल रक्खा है । अतएव आप ही इस जगतका उद्धार कर सकते हैं, क्योंकि आपके वचन विसवादिसे रहित । अतएव हे जगन्ने रमक, बुद्धिमान लोग आपकी सेवा करते हैं ।

इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगद् विश्वम् उपचाराद् जगद्गतीं जन । हतपरे हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे तैः । मायाकारेरिव एन्द्रजालिकेरिव शास्त्रीयमया गनिपुणैरिव इति यावत् । अधतमसे निद्रिदान्धकारे । हा इति खेटे । विनिहित विश-पेण निहित स्थापित पानितार्थमत्यर्थः । अन्य करोतीत्यन्ययति, अन्धयतीत्यन्ध नच तत्तमश्चेत्यन्धतमसम् । “ समवान्धात् तमसः ” इत्यत्ययः, तम्मिन् अन्यतमस । कथंभूतः अन्यतमसे इति द्रव्यान्तरव्यवच्छेदार्थमाह तत्त्वात्स्वव्यतिकरकराले । तत्र चातस्त्र च तत्त्वात्स्वे तयोर्व्यतिकरो व्यतिनीर्णता व्यापिश्रता स्वभावविनिमयस्त-त्त्वात्स्वव्यतिकरस्तेन कराले भयङ्करे । यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेश अतस्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवरूपा व्यतिकर सजायत इत्यर्थः । अनेन च विशेषणन परमा-र्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमव अन्यतमसम्, तस्यैव ईहभलक्षणत्वान् । तथा च ग्रन्था-न्तरे मस्तुतस्तुतिकारपादा —

“ अन्वे दग्दुद्धियां गुरुरीरगुरौ च या ।

अधम धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्व तद्विपर्ययात् ॥ ”

व्याख्यान—वेद है, कि इन्द्रालियोंके समान अधम अन्य तीर्थकाने प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले इस जगतको तत्व और अतत्त्वके अज्ञानसे भयानक गान् अधकारमें डाल रक्खा है । ‘ अधतमसे ’ में “ समवान्धात् तमस ” सूत्रसे अतु प्रत्यय होता है । यत्र मिथ्यात्व मोहनीयको अधतमस कहा गया है । हेमचन्द्र आचार्यने योगशास्त्रमें कहा है “ अदेवको देव, अगुरुको गुरु, और अधर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है । ”

ततोऽयमर्थ । यथा किल एन्द्रजालिकास्तथाविधमुशिसितपरव्यामोहनकला  
प्रपञ्चा. तथाविधमोपधीमन्त्रहस्तलाघवादिमाय किञ्चित्प्रयुज्य परिपज्जन मायामये  
तमसि मज्जयति तथा पशुतीर्थैकरपि तादृरूपभारदुरर्थातनुतर्कपुक्तीन्पदश्य जगदिद  
व्यामाहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति । तज्जगदुद्धर्तु मोहमहान्धकारोपप्लवात् श्रष्टुम्  
नियत निश्चितम् त्वमव नान्य शक्तः समर्थ । किमर्थमित्यमन्स्यैव भगवत साम-  
भ्यमुपपर्यत इति विगणपद्वारेण कागणमाह । अविस्वादिपुत्रः । कपन्तेदतापलभण-  
परीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्ता न विस्वयतीत्यवर्णालमविसवादि । तथाभूत वचनमुप-  
देशो यस्यासावविसवादिबचन । अव्यभिचारिवागित्यर्थः । यथा च पारमेश्वरी वाग्  
न विस्वादिमासादयति तथा तत्र तत्र म्याद्वादसाधने दर्शितम् ॥

अतएव जिस प्रकार दूसरोंको व्यामोहित करनेकी कलामें निपुण इन्द्रजाली लोग  
औषधि, मन्त्र, हाथकी सफाई आदिसे दर्शक लोगोंको माया मय अघकारमें डाल देते हैं, वैसे ही  
अन्य वादी लोग अपनी कुतर्क पूर्ण युक्तियोंसे इस ससारको भ्रममें डाल देते हैं । इसलिये मोह  
महा अन्धकारसे जगतको बचानेके लिये आप ही समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं । क्योंकि आपके  
वचनोंमें कोई विमवाद नहीं है । कारण कि आपके वचन कप, छेद और ताप रूप परीक्षा-  
ओंसे विशुद्ध हैं, अतएव फलकी प्राप्तिमें आपके वचनोंमें कोई विरोध न होनेसे आपके वचन  
निर्दोष हैं । आपके वचनोंमें विरोधका अभाव म्याद्वादकी सिद्धि करते समय प्रदर्शित  
किया जा चुका है ।

कपादिभ्यरूप चेथमाचक्षत प्रायचनिना —

“ पाणत्रहाईआण पावट्टाणाण जा उ पडिसेहा ।  
ज्ञाणज्झयणार्इण जा य विही एस धम्मरुसो ॥ १ ॥  
उज्झाणुट्टाणेण जेण ण बाहिज्जए तय णियमा ।  
सभयद य परिसुद्ध सो पुण धम्ममि छउत्ति ॥ २ ॥  
जीवाइभावयाआ उधाइपमाहगो इह तापो ।  
एएहि परिसुद्धा धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ ३ ॥ ”

- १ छाया-प्राणवधादीनां पापस्थानानां यस्तु प्रतिषेध ।  
ध्यानाध्ययनादीनां यत्र विधिरेव धमकप ॥ १ ॥  
बाह्यानुष्ठानेन येन न बाह्यत तन्नियमात् ।  
सभयति च परिसुद्ध स पुनर्धर्म छेद इति ॥ २ ॥  
जीवादिभावयादा वधादिप्रसाधक इह ताप ।  
एभि परिसुद्धो धर्मो धमन्त्वपैति ॥ ३ ॥

तीर्थान्तरीयाप्ता हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति त महामोहान्धतमस एव जगत् पातयितु समर्थाः, न पुनस्तदुद्धर्तुम् । अतः कारणात् । कुत कारणात् । कुमत वान्तार्णवात् पतितभ्रुवनाभ्युद्धारणासाधारणसामर्थ्यलक्षणात् । हे नातस्त्रिभुवनपरिमाणप्रतीण । त्वयि काकावधारणस्य गम्यमानत्वात् त्वग्येव विपये न देवाः तरे । कृत धियः । क्रोत्तिरत्र परिकर्मणि वर्तते यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति । कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेशलतत्तन्नाम्नाभ्यासप्रकर्षण सस्कृता धीर्बुद्धिर्यपां । ते कृतधियश्चिद्रूपाः पुरुषा । कृतसपर्या । प्रादिक विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात् । कृता कर्तुमागन्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्या । आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वग्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति ॥ इति शिखरिणीच्छन्तोऽलकृतकाव्यार्थ ॥ ३२ ॥

॥ समाप्ता चैयमन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका ॥

धमशास्त्रके पडितोंने कप आदिका स्वरूप निम्न प्रकारसे कहा है—“ प्राण बध आदि पापस्थानोंके त्याग, और ध्यान, अध्ययन आदि करनेको कप कहते हैं । जिन बाह्य क्रियाओंसे धर्ममें बाधा न आती हो, और जिनसे निर्मलताकी वृद्धि हो, उसे छेद कहते हैं । जीवसे सबद्ध दुःख और बधको सहन करना ताप है । कप आदिसे शुद्ध धर्म धर्म कहा जाता है । अन्य तैथिक लोग कप, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे शुद्ध बच्चनोंको नहीं बोलते, अतएव वे लोग ससारको महा मोहाधकारमें गिरानेवाले होते हैं, इस लिये दूसरे वादियोंसे ससारका उद्धार नहीं हो सकता । अतएव हे भगवन्, आपमें कुमत रूप समुद्रमें पडे हुए लोगोंका उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है, इस लिये आप तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । अतएव तत्वोपदेश और शास्त्राभ्याससे प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान लोग आपकी ही सेवा करते हैं, अन्य देवोंकी नहीं । जैसे हाथोंको कर ( हस्तौ कुरु ), पैरोंको कर ( पादौ कुरु ) यहा कृ घातु परिकर्म अर्थमें प्रयुक्त हुई है, वैसे ही ‘ कृतधिय ’ पदमें ‘ कृ ’ घातुका परिकर्म अर्थ है । ‘ प्र ’ आदि उपसर्गके विना भी ‘ कृ ’ घातुका अर्थ प्रारभ करना होता है, इस लिये ‘ कृतमपर्या ’ में कृतका प्रारभ करना अर्थ है । यह शिखरिणी छेद श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—वस्तुका सर्वथा एकान्त रूपसे प्रतिपादन करनेवाले एकान्त वादियोंने इस जगतको अज्ञान-अधकारमें डाल रक्खा है । अतएव सम्पूर्ण एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाले अनेकातवादसे ही इस जगतका उद्धार हो सकता है । इस लिये अनेकातवादका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवानमें ही जगत्के उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है ।

इति अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका टीका

## टीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

येषामुज्ज्वलदत्तुहेतिरचिरं प्रामाणिकाध्वस्पृशां  
 हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थं सत्त्वा ।  
 तेषां दुर्नयदस्युसम्भवभयास्पृष्टात्मना सम्भव-  
 त्यायासेन विना जिनागमपुरमाप्तिं शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥  
 चातुत्रियमहादर्भेभगवत श्रीहममूरंगिरा  
 गम्भीरार्थविलासनेन यद्वभयद् दृष्टिं प्रकृष्टा मम ।  
 द्वाघ्नीय समयदराग्रहपराभूतमभूतायम  
 तन्नूनं गुरपादरण्युक्तासिद्धाञ्जनम्योजितम् ॥ २ ॥  
 अन्यान्यशास्त्रतरसगतचित्तहारिपृष्णोपमयकतिचित्रितप्रमर्षः ।  
 हृष्या मयान्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमना माल्यामिसामलहृदा हृदयं बहन्तु ॥ ३ ॥  
 प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्चदापात् ।  
 मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ता प्रसादमाधाय विशोचयन्तु ॥ ४ ॥  
 उर्व्यामेष मुधाभुजा गुम्फरिति त्रैलोक्यविस्तारिणो  
 यत्रेय प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भने ।  
 किं चामी त्रिमुधा मुधेति वरनाहार यदीय मुदा  
 शसन्त प्रथयन्ति तामतितमा सवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥  
 नागन्द्रगच्छगारिन्दवक्षाञ्जकारकौस्तुभा ।  
 त विश्ववन्त्रा नन्त्रासुरदयप्रभमूरय ॥ ६ ॥ युग्मम् ॥  
 श्रीमहोपेणमूरिभिरकारि तत्पदगगनद्विनमणिभिः ।  
 वृत्तिरियं मनुंरियमितशास्त्रेण्दीपमहेसि शर्ना ॥ ७ ॥  
 श्रीजिनप्रभमुरीणा साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।  
 श्रुतावृत्तसत्तु सता वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥  
 विभ्राणे कलिनिर्जयाज्जिनतुला श्रीहपचन्द्रप्रभा  
 तद्दृष्टव्यस्तुतिवृत्तिनिमित्तिमिपाद् भक्तिर्मया विस्तृता ।  
 निर्णतु गुणदूपणे निजगिरा तन्नार्थय सज्जनान्  
 तस्यास्तच्चमहृत्रिम बहुमति' सास्त्यत्र सम्यग् यतः ॥ ९ ॥  
 इति टीकाकारस्य प्रशस्ति समाप्ता ॥

समाप्तम्

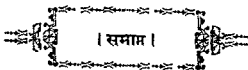
१ अह्वाना वामतो गति १२१८ मिते शाके । चतुर्दश मनस द्वादश आदित्या ।

२ दीपावल्याम् ।

## टीकाकारकी प्रशस्ति

प्रामाणिक मार्गको अनुकरण करनेवाले जिन लोगोंके उज्वल हेतु रूपी शस्त्रोंसे सुन्दर हेमचन्द्राचार्यकी स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ रूपी समर्थ मित्र विद्यमान है, वे लोग दुर्नय रूपी लुटेरोंसे नहीं डरते, और वे लोग बिना प्रयत्नके ही मोक्ष सुखके देनेवाले जिनागम रूपी नगरको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥ चारों विद्याओंके समुद्र भगवान श्री हेमचन्द्राचार्यकी वाणीके गर्भीर अर्थको अवलोकन करनेमें जो मेरी प्रकृष्ट बुद्धि हुई है, और सतत बहुत समयके आदरसे जो विघ्नोका नाश हुआ है, वह सब गुरु महाराजके चरणोंकी धूलि रूप सिद्धाजनका फल है ॥२॥ बहुतसे शास्त्र रूपी वृक्षोंके मनोहर पुष्पोंके समान कुछ प्रभेयोंको ले कर मैंने मालाकी तरह यह अन्तिम भगवानकी स्तुतिकी टीकाकी बनाया है। निर्मल हृदयवाले पुरुष इसे अपने मनमें धारण करें ॥ ३ ॥ यदा यदि मैंने बुद्धिके प्रमादसे कुछ सिद्धातके विरुद्ध कदा हो, तो सज्जन लोग वैर भावको छोड़ कर प्रसन्नता पूर्वक सशोधन कर लें ॥ ४ ॥ तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाली निसर्की प्रतिभाको देख कर लोगोंका अनुमान है, कि यह पृथ्वीपर देवताओंका गुरु जन्मा है, जिसके वचनोंको अमृत समझ कर प्रशंसा करते हुए पण्डित लोग जिसकी अविरुद्ध वाणीका विस्तार करते हैं, तथा विष्णुके वक्षम्यलमें कौस्तुभ मणिके समान नागेन्द्र गच्छको शोभित करनेवाले, ऐसे विश्वमें वन्दनीय उदयप्रभ सूरि महाराज समृद्धिको प्राप्त हों ॥ ५-६ ॥ उदयप्रभ सूरिके पद रूपी आकाशमें सूर्यके समान श्री मल्लिपेग सूरिने दीपमालिकाके दिन शनि वारको १२१४ शक सवत्में यह टीका समाप्त की ॥ ७ ॥ श्री जिनप्रभ सूरिकी सहायतासे सुगणित यह स्याद्वादमञ्जरी सज्जन पुरुषोंके कानाँके आमूषण रूप हो ॥ ८ ॥ कल्कालके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जिन भगवानके समान श्री हेमचन्द्र प्रभुकी बनायी हुई स्तुतिकी टीका बनानेके बढ़ाने मैंने हेमचन्द्र आचार्यके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। अनप्य अपनी वाणीके गुण और दोषोंका निर्णय करनेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि इस वाणीमें बहुतसे अकृत्रिम स्वत विचार उत्पन्न विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

॥ टीकाकारकी प्रशस्ति समाप्त ॥







# हेमचन्द्राचार्यविरचिता अयोगव्यवच्छेदिका

महावीर भगवानकी स्तुति—

अंगम्यमध्यात्मविदामवाच्य वचस्विनामक्षयता परोक्षम् ।  
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमह स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ॥

अर्थ—मैं हेमचन्द्र अध्यात्मवेत्ताओंके अंगम्य, पंडितोंके अनिर्वचनीय, इन्द्रिय ज्ञान-  
वालोंके परोक्ष, और परमात्म स्वरूप श्रीवर्धमान भगवानको अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूँ ।

भगवानके गुणोंके स्तन करनेकी असमर्थता—

स्तुतावशक्तिस्तव योगिना न किं गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।  
इद विनिश्चित्य तव स्तव वदन्न वालिशोऽप्येप जनोऽपराध्यति ॥२॥

अर्थ—हे भगवन्, आपकी स्तुति करनेमें योगी लोग भी समर्थ नहीं हैं । परन्तु  
असमर्थ होते हुए भी योगी लोगोंने आपके गुणोंमें अनुराग होनेके कारण आपकी स्तुति की  
है । इसी प्रकार मेरे मनमें भी आपके गुणोंमें हट अनुराग है, इसीलिये मेरे जैसा मूर्ख मनुष्य  
आपकी स्तुति करता हुआ अपराधका भागी नहीं कहा जा सकता ।

स्तुतिकार अपनी लघुता बताते हैं—

क सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क चेपा ।  
तथापि यूथाधिपते पथस्थः स्वलद्गतिस्तस्य गिशुर्न शोच्यः ॥३॥

अर्थ—कहा गभीर अर्थमाली सिद्धसेन दिवाकरकी स्तुतिया, और कहा अशिक्षित  
सभाषणकी मरी यह कला । फिर भी जिस प्रकार बड़े बड़े हाथियोंके मागपरसे जानेवाला

१ कविता महत्या भुवि बधमान स्वा वर्धमान स्तुतिगाचरतः ।

निनीपत्रः श्मो वयमय वीर विनीगदापादायपादावधम् ॥ युक्तयनुशासन १ ।

तथा सिद्धसेन—द्वा द्वात्रिंशिका १-१, २, ३ ।

२ गुणाम्बुधविशुभमप्यजस नाखण्डल स्तोत्रमल तवरे ।

प्रागेव महद्विमुनातिभक्तिर्मा बालमालापयतीदमित्यम् ॥ स्वयभूस्तान ३०, १५ ।

तथा भस्मावर ३-६, कल्याणमंदिर ३-१ द्वा द्वात्रिंशिका ५-३१ ।

हाथीका बच्चा मार्गभ्रष्ट होनेके कारण शोचनीय नहीं होता, उसी प्रकार यदि में भी सिद्ध-  
सेन जैसे महान आचार्योंका अनुकरण करते हुए नहीं स्वल्पिन हो जाऊ, तो शोचनीय  
नहीं ह ।

आपने निज दोषोंको नाश कर लिया है, उन्हीं दोषोंको परवादियोंके देवोंने  
आश्रय दिया है—

जिनेन्द्र यानेव विवाधसे स्म दुरतदोषान् विविधैरुपायैः ।

त एव चित्र त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनायै ॥ ४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, जिन कठिन दोषोंको आपने नाना उपायोंके द्वारा नाश कर  
दिया है, आश्चर्य है, कि उन्हीं दोषोंको दूसरे मतावलम्बियोंके गुणोंने आपकी ईर्ष्यासे ही  
अच्छे जान कर स्वीकार कर लिये हैं ।

भगवानकी यथार्थवाप्ति—

यथास्थित वस्तु दिग्गन्धीश न तादृश कौशलमाश्रितोऽसि ।

तुरगशृगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे स्वामिन्, आपने पत्नार्थाका जैसेका तैसा वर्णन किया है, इस लिये आपने  
परवादियोंके समान कोई कौशल नहीं दिखाया । अतएव घोड़ेके मीनके समान असभव  
पत्नार्थाको जन्म देनेवाले परवापियोंके नवीन पण्डितोंको हम नमस्कार करते हैं ।

भगवानमें यर्थकी दयालुताका अमान—

जगत्यनुभ्यानवलेन गश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसमं भवत्सु ।

किमाश्रितोऽन्यैः शरण त्वदन्यः स्वमासदानेन वृथा कृपालुः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे पुत्रोत्तम, अपने उपकारके द्वारा जगतको सदा वृत्तार्थ करनेवाले ऐसे  
आपको छोड़ कर अन्य वादियोंने अपने मासका दान करके व्यर्थ ही वृपालु कहे जाने  
वालेकी क्यो शरण ली है, यह समझमें नहीं आता । यह कटाक्ष बुद्धके ऊपर किया गया है<sup>१</sup> ।

१ को विस्मयोऽथ यदि नाम गुणैरोपैस्व सश्रितो निरयकाश्रतया मुनीना ।

दोषैषपात्तविधिधाश्रयजातगत्व सान्निहरेऽपि न कदाचिदपीपितोऽपि ॥ भक्तान्तर ७ ।

२ कृपा बहन्त कृपणेषु जन्तुषु रत्नमासदानेष्वपि मुक्तचेतस ।

त्वदीयमप्राप्त्य कृताथकीं गल स्वत कृपा सज्जनयन्मयेषस ॥ सा शास्त्रिका १-७ ।

३ देखा—निपत्य ददतो व्याप्रया स्वकाय कृमिमङ्गलम् ।

देवादेवविमूढस्य दया बुद्धस्य कीर्त्तनी ॥ हेमचन्द्र-याग्यान्त्र २-१ वृत्ति ।

अमन्वादिदोका लक्षण—

स्वयं कुमारं लपता नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।

सुमार्गं तद्विदमादिशन्तमस्रययान्धा अवमन्वते च ॥ ७ ॥

अर्थ—द्वयोंमें अन्य पुरुष स्वयं कुमारोंका उपदेश करते हुए दूसरोंको कुमारोंमें ले जाते हैं, तथा सुमार्गमें लगे हुआका, सुमार्गोंके जानकारोंका और सुमार्गोंके उपदेशियोंका अपमान करते हैं, यह महान खेद है ।

भगवानके शासनका अजेयपन—

प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।

स्वद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेय हरिमण्डलस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्रभु, वस्तुके अक्षमात्रको ग्रहण करनेवाले अन्य दर्शनोंके द्वारा आपके मतकी पगजय करना एक ठोरेसे जुगुनूके प्रकाशसे सूर्यमण्डलका पराभन करनेके समान है ।

भगवानके पवित्र शासनमें सन्देह अथवा विवाद करना योग्य नहीं—

शरण्य पुण्ये तव शासनेऽपि सदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।

स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये सदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥ ९ ॥

अर्थ—हे शरणगतको आश्रय देनेवाले, जो लोग आपके पवित्र शासनमें सदेह अथवा विवाद करते हैं, वे लोग, भ्रातृ, अनुकूल और पथ्य भोजनमें सदेह और विवाद करते हैं ।

अन्य आगमोंकी अप्रामाणिकता—

हिसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्ते ।

नृशसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च श्रमस्त्वदन्यागमप्रमाणम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे भगवन्, आपके आगमके अतिरिक्त अन्य आगमोंमें हिंसा आदि असत् कर्मोंका उपदेश किया गया है, वे आगम अमर्षजके कहे हुए हैं, तथा निर्दय और दुर्बुद्धि लोगोंके द्वारा धारण किये जाते हैं, इस लिये हम उन आगमोंको प्रमाण नहीं मानते ।

भगवानके आगमकी प्रामाणिकता—

हितोपदेशात्सकलज्ञकल्लभेर्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।

पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥ ११ ॥

१ तावद्विद्वत्करचनपदमिर्वचोभिर्नेषाविन कृतमिति स्मयमुद्रहन्ति ।

यावत् त तिन वच स्वभिचापलाभत सिद्धान्ते हरिणबालकवत् पनन्ति ॥

द्वा द्वार्थिशिका २-११ ।

२ युक्त्यनुशासन ६ । जातमीमासा ६ ।

अर्थ—हे भगवन्, आपका फल हुआ आगम हितका उपदेश करता है, सर्वत्र भगवानका प्रतिपादित किया हुआ है, मुमुक्षु और साधु पुरुषोंके द्वारा सेवन किया जाता है, और पूर्वापर विरोधसे रहित है, अतएव आपका आगम ही सत्पुरुषोंके द्वारा माननीय हो सकता है ।

भगवानके यथार्थवाद गुणकी महत्ता—

क्षिप्येत वान्येः सदृशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठन सुरेणितुः ।

इद यथावस्थितवस्तुदेशान परैः कथकारमपाकरिष्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—हे विनेश्वर, मछे ही अन्य वादी लोग आपके चरण कमलोंम इन्द्रके लोटनेकी बातको न मानें, अथवा अपने इष्ट देवताओंमें भी इन्द्रके लोटनेकी कल्पना करके आपकी बराबरी करें, परन्तु वे लोग आपके वस्तुके यथार्थ रूपसे प्रतिपादन करनेमें गुणका लोप नहीं कर सकते ।

भगवानके शासनकी उपेक्षाका कारण—

तद्दुःपमाकालखलायित वा पचेलिम कर्मभवानुकूलम् ।

उपेक्षते यत्तत्र शासनार्थमय जनो विप्रतिपद्यते वा ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भगवन्, जो लोग आपके शासनकी उपेक्षा करते हैं, अथवा उसमें विवाद करते हैं, वे लोग पचम कालके कारण ही पेमा करते हैं, अथवा इसमें उनके अशुभ कर्मोंका उदय समझना चाहिये ।

केवल तपसे मोक्ष नहीं मिलता—

परं.सहस्राः शरदस्तपांसि युगातर योगमुपासता वा ।

तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥१४॥

अर्थ—हे भगवन्, चाहे अथवा वादी लोग हजारों वर्ष तक तप करें, अथवा युगातरों तक योगका अभ्यास करें, परन्तु आपके मार्गका बिना अवलम्बन लिप्ते उन लोगोंको मोक्ष नहीं मिल सकता ।

१ आप्तमीमासा १ स ६ कारिका ।

२ का कलिमा नखुयागयो वा श्रीतुप्रप्रस्तुवचनशियो वा ।

स्वच्छासनेकाधिपतित्वंश्मीप्रभुत्वात्तैरपवादहेतु ॥ युक्त्यनुशासन ५ ।

३ तपोभिरैकान्तशरारीडनैव भानुवधे धृतसपशायि वा ।

रुदीयवान्यप्रतिबोधपेत्वेरवाप्ये नैव शिः निरादयि ॥ द्वा द्वाभिशिका १—२३ ।

स्वच्छ दृष्टे नैव स्वमावातुच्चैरनाचार्ययधोपम् ।

निर्गुण्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्रदृष्टिसाक्षा चत विभ्रमति ॥ युक्त्यनुशासन ३७ ।

परवादियोंके उपदेश भगवानके मार्गमें बाधा नहीं पहुँचा सकते—

**अनाप्तजाड्यादिविनिर्मित्वसभाप्रनासभविप्रलम्भा ।**

**परोपदेशा. परमाप्तकृत्प्रथोपदेशो किमु सरभन्ते ॥ १५ ॥**

अर्थ—हे देवाधिदेव, अनाप्तोंकी मद बुद्धि द्वारा रचे हुए निस्वाद रूप दूसरोंके उपदेश परम आप्तके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंमें क्या कुछ बाधा पहुँचा सकते हैं, अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भगवानके शासनकी निरपद्रवता—

**यंदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यै ।**

**न विप्लवोऽस्य तव शासनेऽभूद्दहो अघृष्या तं वासनश्री ॥१६॥**

अर्थ—अन्य मतावलम्बियोंके गुरुओंने जो कुछ सरल मार्गमें अयुक्त कथन किया था, उसे उनके शिष्य लोगोंने अन्यथा प्रकारसे प्रतिपादन किया । हे भगवन्, आश्चर्य कि आपके शासनमें इस प्रकारका विप्लव नहीं हो सका, अतएव आपका शासन अजेय है ।

परवादियोंके देवोंकी मान्यतामें परस्पर विरोध—

**देहाद्ययोगेन सदाशिवत्व शरीरयोगादुपदेशकर्म ।**

**परस्परस्पर्धि कथ घटेत परोपकृत्सेष्वधिदैवतेषु ॥ १७ ॥**

अर्थ—हे वीतराग, एक ही ईश्वर देहके अभावसे सदा आनन्द रूप है, और देहके सद्भावसे उपदेशका देनेवाला है, इस प्रकार परवादियोंके देवताओंमें परस्पर विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं ।

मोहका अभाव होनेसे भगवान अवतार नहीं लेते—

**प्रागेव देवातरसश्रितानि रागादिरूपाण्यवमातराणि ।**

**न मोहजन्या करुणामपीश समाधिमास्थाय युगाश्रितोऽसि (१) ॥१८॥**

अर्थ—नीच वृत्तिवाले राग आदि दोषोंने पहले ही अन्य देवोंका आश्रय लिया है । इस लिये हे ईश, आप समाधिको प्राप्त करके मोह जय करुणाके वश होकर भी युग युगमें अवतार धारण नहीं करते ।

१ स्वप्न एव प्रतिबद्धमत्सरा ययान्यशिष्या स्वध्विप्रलपिन ।

निश्चयस्य यथार्थवादिना न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विरमय ॥

द्वा द्वात्रिंशिका १-१० ५-२० ।

२ सच्छासन वे स्वमिवाप्रभृष्यम् । द्वा द्वात्रिंशिका ५-२६ ।

३ यहाँ 'युगाश्रितोऽसि' का अर्थ ठीक नहीं बैठता । श्लोकका यह अर्थ भीमद्विजयानन्द (आत्मारामजी) निरखित तत्त्वनिर्णयप्रासादके आधारसे लिखा गया है । मुनि चरणविजयजी द्वारा सम्पादित और आत्मानन्द जैन सभाद्वारा प्रकाशित (१९३४) अयोग्यवच्छेदिकामें 'समाधिमास्थाय' के स्थानपर 'समाधिमाध्यस्थ्य-' पाठ दिया गया है ।

आपने ही समारके धय करनेका यथार्थ उपदेश दिया है—

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।  
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु पर तपस्विनः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भगवन्, अन्य मतावलम्बियोंके इष्ट देवता लोग चाहे जगतकी प्रलय करें, अथवा जगत्का मर्जन करें, परन्तु वे लोग समारके नाश करनेका उपदेश देनेमें अलौकिक ऐम आपकी बराबरीमें कुछ भी नहीं है ।

चिन मुद्राकी सर्वाल्लृष्टता—

वपुश्च पर्यकगण्य श्लथ च दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।  
न शिक्षितेय परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्र मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, आपके अन्य गुणोंका धारण करना तो दूर रहा, अन्यवादी लोगोंके देवोंने पर्यक आसनसे युक्त शिथिल शरीर और नासिकोंके ऊपर दृष्टिवाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी ।

भगवानक शासनकी महत्ता—

यदीयसम्यक्त्वत्रलात् प्रतीमो भवादृशाना परमस्वभावम् ।  
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥ २१ ॥

अर्थ—हे वीतराग, जिसके सम्यग्ज्ञानके द्वारा हम लोग आप जैमोंके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कर सके हैं, ऐसे कुवासना रूपी बंधनके नाश करनेवाले आपके शासनके लिये नमस्कार हो ।

प्रकारान्तरसे भगवानके यथार्थगत गुणकी प्रशंसा—

अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वय द्वयस्याप्रतिम प्रतीमः ।  
यथास्थितार्थप्रथन तवैतदस्थाननिर्वर्धरस परेपा ॥ २२ ॥

१ निष्ठतु तावदतिवृक्षमगभीरवाधा समारसस्थितिभिद भुतवाक्यमुद्रा ।

पर्यामभेकमुपपत्तिचचेनस्य रागाक्षिप क्षमयितु तय रूपमेव ॥

द्वा द्वात्रिंशिका - १५ ।

२ स्यात्प्रपयोरधोभागे पादापरि कृते सति ।

पर्येको नाभिगात्तानदक्षिणात्तरपागिक ॥

‘ जानुप्रसारितवाहो क्षयन पर्येक ’ इति पातजला ।

योगशास्त्र ४-१२५ ।

३ निबन्धाभिनिवेश स्यात् । अभिधानविन्तामणि ६-१३६ ।

अर्थ—हे भगवन्, जब हम निष्पक्ष हो कर परीक्षा करते हैं, तो हमें एक तो आपका यथार्थ रूपसे बस्तुका प्रतिपादन करना, और दूसरे अन्य वादियोंकी पदार्थोंके अन्वया रूपसे कथन करनेमें आसक्तिका होना, ये दो बातें निरपम प्रतीत होती हैं ।

अज्ञानियोंके प्रतिबोध करनेकी अमामर्थ्य—

अनाद्यविद्योपनिपन्निपण्णैर्विगृह्यस्वल्श्चापलमाचरद्भिः ।

अमूढेलक्ष्योऽपि पराक्रिये यत्त्वत्किंकर. किं करवाणि देव ॥२३॥

अर्थ—हे देव, अनादि विद्यामें तत्पर, स्वच्छदाचारी और चपल अज्ञानी पुरषोंको लक्ष्यबद्ध करनेसे भी यदि वे नहीं समझते हैं, तो आपका यह तुच्छ सेवक क्या करे ।

देशना भूमिकी स्तुति—

विमुक्तवैरव्यसनानुवधाः श्रयति या शाश्वतवैरिणोऽपि ।

परैरगम्या तव योगिनाथ ता देशनाभूमिमुपाश्रयेऽह ॥ २४ ॥

अर्थ—हे योगियोंके नाथ, स्वभावके वैरी प्राणिगण भी वैर भाव छोड़ कर दूसरोंके अगम्य आपके जिस समवशरणका आश्रय लेते हैं, उस देशना भूमिका मैं भी आश्रय लेता हू ।

अन्य देवोंके साम्राज्यकी व्यर्थता—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च समदेन ।

पराजिताना प्रसभ सुराणा वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और रागमे पराजित अथ देवोंका साम्राज्य रोग विलकुल वृथा ही है ।

बुद्धिमान लोग राग मात्रसे भगवानके प्रति आकर्षित नहीं होते—

स्वकण्ठपीठे कठिन कुठार परे किरन्तः प्रलपन्तु किञ्चित् ।

मनीषिणां तु त्वयि वीतराग न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

अर्थ—वादी लोग अपने गलेमें तीक्ष्ण कुठारका प्रहार करते हुए कुछ भी बोलें, परन्तु हे वीतराग, बुद्धिमानोंका मन आपके प्रति केवल रागसे ही अनुरक्त नहीं है ।

१ 'अमूढेलक्ष्योऽपि' पाठान्तर ।

२ इस अर्थमें बहुत स्त्रीचातानी बरनी पड़ती है ।

३ अथे अगस्तकथिका विदग्धा सर्वश्रवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्या ।

यथार्थनामा तु तत्रैव वीर सर्वरुता सन्यसिद न राग ॥ द्वा द्वाविधिका ५-२३ ।



अपनेको माध्यस्थ समझनेवाले लोगोंमें मात्सर्यका सङ्काव—

सुनिश्चित मत्सरिणो जनस्य न नाथ मुद्रामतिशेरते ते ।

माध्यस्थमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च समानुबंधाः ॥ २७ ॥

अर्थ—हे नाथ, जो परीक्षक लोग माध्यस्थ वृत्ति धारण करके काच और मणिमें समान भाव रखते हैं, वे लोग भी मत्सरी लोगोंकी मुद्राका अतिक्रमण नहीं करते, यह सुनिश्चित है ।

स्तुतिकारकी घोषणा—

इमां समक्ष प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवधोषणा ब्रुवे ।

न वीतरागात्परमस्ति दैवत न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥२८॥

अर्थ—मैं ( हेमचन्द्र ) प्रतिपक्षी लोगोंके सामने यह उदार घोषणा करता हूँ, कि वीतराग भगवानको छोड़ कर दूसरा कोई देव, और अनेकांतवादको छोड़ कर वस्तुओंके प्ररूपण करनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

जिन भगवानके प्रति स्तुतिकारके आकर्षणका कारण—

नं श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।

यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥ २९ ॥

अर्थ—हे वीर, केवल श्रद्धाके कारण न आपके प्रति हमारा कोई पक्षपात है, और न द्वेषके कारण अन्य देवताओंमें अविश्वास है, किन्तु यथार्थ रीतिमें आपकी परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है ।

भगवानकी वाणीकी महत्ता—

तमःस्पृशामप्रतिभासभाज भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।

महेम चन्द्राशुदृशावदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः ॥ ३० ॥

१ न वाक्यशब्देन परस्परैर्भयंया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।

न कवल आदृतयैव नृपते गुणरूपू-यो-सि यतोऽयममदर ॥

द्वा द्वात्रिंशिका १-४ ।

न रागात् स्तोत्र भवति भवपाशच्छिदि मुनी ।

न पान्येषु द्वेषादपगुणकथान्यासत्त्वता ॥

किमु -यावान्वायाप्रकृतगुणदोषरुमनसा ।

दिवान्वेषोपापस्तव गुणकथासगगदित ॥ युक्तयनुशासन ६४ ।

बृहत्सयभू स्तो ५१, हरिभद्र-लोकतत्त्व निर्णय ३२, ३३ ।

२ सत्प्रोपपातनिरनुग्रहपञ्चखानि षक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीरसा ।

अज्ञारक जिन समस्तमलो विद्यन्ति येषां न भ्रान्ति तव वाग्भुवयो मनस्तु ॥

द्वा द्वात्रिंशिका २-१० ।

अर्थ—हे जगदीश, जो वाणी अज्ञान-अधकारमें फिरनेवाले पुरुषोंके अगोचर ऐसे आपको प्रगट करती है, उम चन्द्रमाकी किरणोंके समान त्वच्छ और तर्कसे पवित्र आपकी वाणीको हम पूजते हैं ।

भगवानके वीतराग गुणकी सर्वोत्कृष्टता—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽमि सोऽस्यभिधया यथा तथा ।  
वीतदोषकलुपः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे भगवन्, जिस किसी शास्त्रमें, जिस किसी रूपमें, और जिस किसी नामसे जिस वीतराग देवका वर्णन किया गया है, वह आप एक ही हैं, अतएव आपके लिये नमस्कार है ।

उपमहार—

इदं श्रद्धामात्र तदथ परनिन्दा मृदुधिषो  
विगाहन्तां हन्त प्रकृतिपरवादव्यसनिनः ।

अरक्तद्विष्टानां जिनवर परीक्षाक्षमधिया-

मय तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं विधृतवान् ॥ ३२ ॥

अर्थ—कोमल बुद्धिवाले पुष्प इस स्तोत्रको श्रद्धासे बनाया हुआ समझें, वादशील पुरुष इसे दूसरे देवोंकी निन्दा करनेके लिये रचा हुआ मानें, परन्तु हे जिनवर, परीक्षा करनेमें समर्थ राग-द्वेषसे रहित पुरुषोंको तत्त्वोंके प्रकाश करनेवाला यह स्तोत्र स्तुति रूप धर्मके चिंतनमें कारण है ।

। समाप्त ।



## जैन परिशिष्ट (क)

अन्तरणिका पृ २५ १९ दु पमार—

पंचम काल। जैन धर्मके अनुसार काल-चक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणाके दो विभागमें विभक्त है। उत्सर्पिणी कालमें जीवके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी वृद्धि होती है। तथा अवसर्पिणी कालमें जीवके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी हानि होती है। उत्सर्पिणीके छह भेद—१ दु पमदु पमा २ दु पमा ३ दु पमसुपमा ४ सुपमदु पमा ५ सुपमा ६ सुपमसुपमा। अवसर्पिणीके छह भेद—१ सुपमसुपमा २ सुपमा ३ सुपमदु पमा ४ दु पमसुपमा ५ दु पमा ६ दु पमदु पमा।

### उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालचक्र

अवसर्पिणी कालके छह भेद	स्थिति	जीवोंकी आयु	शरीरकी ऊँचाई	वृण	आहारका अंतर
१ सुपमसुपमा	४ कोडाकोडी सागर	३ पत्यसे २ पत्य	३ कोशसे २ कोश	सूयक समान	आठ बेला ( ३ दिन )
२ सुपमा	३ कोडाकोडी सागर	२ पत्यसे १ पत्य	२ काशसे १ कोण	चन्द्रमाके समान	छह बेला
३ सुपमदु पमा	२ कोडाकोडी सागर	१ पत्यसे कोटी पूव वष	१ कोशसे ५०० धनुष	प्रियगु	चार बेला
४ दु पमसुपमा	४२००० वष कम १ कोडा काडि सागर	कोटी पूव वषसे १२० वष	५०० धनुषसे ७ हाथ	पाचों वष	प्रतिदिन एक बार
५ दु पमा	२१००० वर्ष	१२० वषसे २० वर्ष	७ हाथसे २ हाथ	रुक्ष	बहुत बार
६ दु पमदु पमा	२१००० वष	२० वर्षसे १५ वर्ष	२ हाथसे १ हाथ	वषाम	बार बार

सुभमसुगमा आदि प्रथमके तीन कालोंमें भागभूमि रहती है। भोगभूमि की भूमि दपणके समान मणिमय, और चार अगुठ ऊँचे स्वादु और मुगधित कोमठ तृणोंसे युक्त हाती है। यहा दूध, इन्डु, जल, मधु और घृतसे परिपूर्ण माग्डी और तात्रय पने हुए हैं। भागभूमिमें खी आग पुरपके युगल पैदा होते हैं। ये युगणिये ४९ दिनमें पूर्ण यौवनको प्राप्त हाकर परस्पर निराह करते हैं। मरनेके पल्ले पुरपको उँरु आर खीको जभाई आती है। सुभमदु पमा नामके तीसरे कालमें पन्थका आठवा भाग समय बाकी रहनेपर क्षत्रिय ह्दामे चाँदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। चाँधे कालमें चाँराम तीपकर, वारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, ना प्रतिनारायण, और नौ बठभद ये तरमठ शलाका पुरप जम डेत है। दु पमा नामका पाचवा काल महार्गरका तीर्थकाल कहा जाता है। इस कालमें कन्की नामका राजा उत्पन्न हाता है। कन्की उमार्गगामी होकर जैनधर्मना नाश करता है। पचम कालके इकाम हजार वर्षके समयमें एक एक हजार वर्ष बाद इकीम कन्की पैदा होत है। अन्तिम जन्मथन नामक कन्की जनधर्मका समूठ नाश करनेवाडा हागा। धर्मका नाश हानेपर सम्पूर्ण ऋग धमसे विमुग हा जायेंगे। दु पमदु पमा नामके ठे कालमें सरर्तक नामकी वायु परंत, वृक्ष, पृथ्वी आणिको चूर्ण करेगी। इस वायुस समन्त जीव मूर्च्छित हाकर मरेंगे। इस समय पवन, अयत शीत, क्षाररम, त्रिप, कठोर अग्नि, धूल और धूरेकी ४९ दिन तक बया हागी, तथा त्रिप और अग्निनी बरसिमे पृथ्वी भस्म हो जायेगी। इस समय टयायान विचारर अथवा दय मनुष्य आदि जीवोंके युगलोंका निराध स्थानमें ले जाकर रप देंगे। उत्सर्पिणा कालके आनेपर फिरसे इन जीवोंसे सृष्टिकी परम्परा चलेगी।

ब्राह्मण भ्रामों सय ( कृत ), त्रेता, द्वापर, और कलि ये चार युग बताये गये हैं। इन युगोंका प्रमाण क्रमसे १७२८००० वर्ष, १२९६००० वर्ष, ८६४००० वर्ष और ४३२००० वर्ष हैं। कृतयुगमें ध्यान, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें दानकी श्रेयता होती है। इन युगामे क्रमसे ब्रह्मा, रवि, विष्णु, और रुद्रका आधिपत्य रहता है। सत्ययुगमें धमक चार पर हाते हैं। इसमें मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह ये चार अनतार हात हैं। इस युगमें मनुष्य अपने धममें तपर रहते हुए शाक, व्याधि, हिंसा, और दभमें रहित हाते हैं। यहा इकीस हाथ परिमाण मनुष्यकी देह और एक लाख वर्षकी उत्कृष्ट आयु हाती है। इस युगके निवासियोंकी इच्छा-मृत्यु होती है। इस युगमें लोग सानेके पात्र काममें लात है। त्रेतामें धर्म तीन परोंसे चलता है। इस समय वामन, परशुराम और रामचन्द्र ये तीन अनतार होत हैं। यहा चादह हाथ परिमाण मनुष्यकी देह और दस हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगमें चादीके पात्रोंसे काम चलता है। इस समय

लोगोंका कुछ क्लेश बढ़ जाता है। ब्राह्मण लोग वेद-वेदांगके पारगामी होते हैं। स्त्री पतिव्रता और पुत्र पिताकी सेवा करनेवाले होते हैं। द्वापरयुगमें धर्मके केवल दो पैर रह जाते हैं। इस युगमें कुछ लोग पुण्यात्मा और कुछ लोग पापामा होते हैं। कोई बहुत दुखी होता है आर कोई बहुत धनी होता है। इस युगमें कृष्ण और बुद्ध अवतार लते हैं। मनुष्याका देह सात हाथका और एक हजार बपकी उत्कृष्ट आयु हाती है। लोग ताबके पात्रोंमें भोजन करने हैं। कलियुगके आनेपर धर्म केवल एक पैरसे चलने लगता है। इस युगमें सब लोग पापी हा जाते हैं। ब्राह्मण अत्यन्त कामी और क्रूर हो जाते हैं। तथा क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अपने कर्त्तव्यमें प्युत होकर पाप करने लगते हैं। कलियुगमें कल्किका अवतार हाता है। मनुष्यका शरीर साढ़े तीन हाथका और उत्कृष्ट आयु एकसौ पच बपकी होती है।

बौद्ध लोगोंने अन्तरकल्प मरुत्कल्प, निरर्तकल्प, महाकल्प आदि कल्पोंक अनेक भेद माने हैं। आदिके कल्पमें मनुष्य देवोंक समान थे। धीरे धीरे मनुष्यामें लोभ आर आलस्यकी वृद्धि हाती है, लोग बनकी औषध और धान्य आदिका संग्रह करने लगते हैं। बादमें मनुष्योम हिंसा, चोरी आदि पापोंकी वृद्धि होती है, और मनुष्याकी आयु घटकर केवल दस बपकी रह जायी है। कल्पके अन्तमें सात दिन तक युद्ध, सात महीने तक राग, तथा सात वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़नेके बाद कल्पकी समाप्ति हा जाती है। इस समय अग्नि, जल और महावायुमें प्रवृत्त (सम्पत्ती) हाती है। प्रलयके समय देवता लोग पुण्यात्मा प्राणियोंको निर्नाम स्थानमें ले जाकर रख देते हैं।

ग्रीक आर रोमन लोगोंक यहा भी सुवर्ण, रजत, पीतल और लौह इस प्रकारसे चार युगोंकी कल्पना पायी जाती है।

श्रृ १ पृ ६ प २४ केवली—

चार धानिया कर्मोंके अत्यन्त क्षय होनेपर जो वैज्ञानिकोंके द्वारा इन्द्रिय, क्रम, और व्ययमान रहित तीनों लोकोंके सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको साक्षात् जानते हैं, उन्हें केवली कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें अनेक तरहक कवलयियोंका उल्लेख पाया जाता है—

१ तीर्थंकर—जो चतुर्विध सच अथवा प्रथम गणधरकी रचना करक जीवोंको समारम्भमुद्रमें पार उतारते हैं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर समारी जीवोंको उपदेश देकर उनका उपकार करते हैं। तीर्थंकर स्वयमुद्ग होते हैं। तीर्थंकर चौबीस माने गये हैं।

१ कूमपु अ २८ मत्स्यपु अ ११८, गरुडपु अ २२७।

२ अभिधर्मकोश ३-१७ के आग विपुद्दिमग अ १३ हार्डी (Hardy) की Manual of Buddhism अ १।

२ गणधर—तीर्थंकरके साक्षात् शिष्य, आर सधके मृत् नायक होते हैं। गणधर श्रुतकेरली होते हैं। ये अन्य केवलियोंके मृतपूर्व गुरु होते हैं, और अन्तमें स्वय भी केरली हो जाते हैं। महावीर भगवानके ग्यारह गणधर थे। इन ग्यारह गणधरोंमें अकम्पित और अचल, तथा भैतार्य और प्रभास नामक गणधरोंकी भिन्न भिन्न वाचना नहीं होनेसे भगवानके नौ गणधर कहे जाते हैं।

३ सामान्य केरली—तीर्थंकर और गणधरोंको छोड़कर बासी केरली सामान्य केरली कहे जाते हैं।

४ स्वयमुद्ध—जो बाह्य कारणोंके बिना स्वय ज्ञानी होते हैं, वे स्वयमुद्ध हैं। तीर्थंकर भी स्वयमुद्धोंमें गर्भित हैं। इनके अतिरिक्त भी स्वयमुद्ध होते हैं। ये सगमें रहत हैं और नहीं भी रहते। ये पूरमें श्रुतकेरली होते हैं, और नहीं भी होते। जिनको श्रुत नहीं होता, वे नियमसे सधसे बाहिर रहते हैं।

५ प्रत्येकमुद्ध—प्रत्येकमुद्ध परोपदेशके बिना अपनी शक्तिसे बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर ज्ञान प्राप्त करते हैं, और अकेले विहार करते हैं। प्रत्येकमुद्धको कमसे कम ग्यारह अंग आर अंगिकसे अंगिक कुछ कम दस पूर्वका ज्ञान होता है।

६ बोधितमुद्ध—गुरुके उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करने हैं। ये अनेक तरहके होते हैं।

७ गुण्डकेरली—ये मूक और अन्तःकृत केरलीके भेदसे दो प्रकारके हैं। मूक केरली अपना ही उद्धार कर सकते हैं, परन्तु किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश नहीं दे सकते, इस लिये मौन रहते हैं। ये केरली बाह्य अतिशयोक्तेसे रहित होते हैं, और किसी सिद्धातकी रचना नहीं कर सकते। अतःकृतकेरलीको मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही केरलज्ञानकी प्राप्ति होती है, इस लिये य भी सिद्धातकी रचना करनेमें असमर्थ होते हैं।

८ श्रुतकेरली—श्रुतकेरली शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता होते हैं। श्रुतकेरली और केरली (केरलज्ञानी) ज्ञानकी दृष्टिसे दोनों समान हैं। अतः इतना ही है, कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केरलज्ञान प्रत्यक्ष होता है। केरली (केरलज्ञानी) जितना जानते हैं, उसका अनन्त भाग वे कह सकते हैं। और जितना वे कहते हैं, उसका अनन्त भाग शास्त्रोंमें लिखा जाता है। इस लिये केरलज्ञानसे श्रुतज्ञान अनन्त भागका भी अनन्त भाग है। सामान्यतः श्रुतकेरली ठठे, सातमें गुणस्थानवर्ती और केरली तेरहमें गुणस्थानवर्ती होते हैं। श्रुतकेरलीको केरली पद पानेके लिये आठमें गुणस्थानसे बारहमें गुणस्थान तक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। श्रुतकेरली चौदह पूर्कि पाटी होते हैं।

१ महावीर भगवानके निवाणके बाद गौतम, मुधमा और जम्बूस्वामी ये तीन केरली हुए। जम्बूस्वामीके बाद दिग्म्बर परम्पराके अनुसार विष्णु मीद अपराजित गोवधन और भद्रबाहु वेपांच तथा श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार प्रम्वे, शक्यमव यशोमद्र सम्भूतविजय, भद्रबाहु और शक्यमद्र ये छह श्रुतकेरली माने जाते हैं। शक्यमद्रको श्रुतकेरलीयामें नहीं गिननेसे श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी पांच श्रुतकेरली माने गये हैं।

याग सहित केन्द्रियोंको सयोगकेन्द्री, और योग रहित कगलियोंको अयोगकेन्द्री कहते हैं। सयोगकेन्द्री तेरहवें और अयोग केन्द्री चौदहवें गुणरथानवर्ती होते हैं। सिद्धोंको भी केन्द्री कहा जाता है।

जैनेतर शास्त्रोंमें भी केन्द्रीकी कल्पना पायी जाती है। जिन्होंने बधनम मुक्त होकर केन्द्र्यका प्राप्त किया है, उन्हें योगमूर्तोंके भाष्यकार व्यासने केन्द्री कहा है। ऐसे केन्द्री अनेक हुए हैं। बुद्धि आदि गुणोंसे रहित ये निर्मल ज्योतिशाले केन्द्री आत्म स्वरूपमें स्थित रहते हैं। महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रंथोंमें भी जीवमुक्त पुरुषोंका उल्लेख आता है। ये शुद्ध, जनक प्रभृति जीवमुक्त ससारमें जलमें कमलकी नाद रहत हुए मुक्त जीवोंकी तरह निर्लेप जीवन यापन करते हैं, इसीलिये इन्हें जीवमुक्त कहा जाता है।

बौद्ध ग्रंथोंमें बुद्धके बर्त्सास महापुरुषके लक्षण, अस्ती अनुत्पन्न और दोसी सोलह मागल्य लक्षण उतारये गये हैं। बुद्ध भगवान् अपने दिव्य नेत्रोंसे प्रतिदिन समारको छह बार देखते हैं। वे दस बड़, ग्यारह बुद्ध धर्म, और चार वैशारद्य सहित होते हैं। वर्तमान बुद्ध चौबीस होते हैं। इन बुद्धोंके अलग अलग बोधि-वृक्ष रहते हैं। बुद्ध दो प्रकारके होते हैं—प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्सुबुद्ध। सम्यक्सुबुद्ध अपने पुरुषार्थके द्वारा बोधि प्राप्त करके उसका समारको उपदेश देते हैं। गौतम सम्यक्सुबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध भी अपने पुरुषार्थसे बोधि प्राप्त करते हैं, परन्तु वे ससारमें बोधिका उपदेश नहीं करते, और उन आदि किसी प्रकार स्थानर्म रहकर मुक्ति सुखका अनुभव करते हैं। प्रत्येकबुद्ध बुद्धसे हरेक बातमें उठे होते हैं, और वे बुद्धके समय नहीं रहते। जो पटिसभिदा, अभिज्ञा, प्रज्ञा आदिसे विभूषित होते हैं, उन्हें अर्हत् कहते हैं। अर्हत्को खीनामन (क्षीणात्मन) कहा जाता है। अर्हत् फिरसे ससारमें जन्म नहीं लते। गौतम स्वयं अर्हत् थे। बुद्ध स्वयं अपने पुरुषार्थसे निर्माण प्राप्त करते हैं, और अर्हत् बुद्धके पास शिक्षण ग्रहण करके निर्माण जाते हैं, यही दोनोंमें अन्तर है। जो अनेक जन्मके पुण्य-प्रतापसे आगे चलकर बुद्ध होनेवाले हैं, उन्हें बोधिसत्त्व कहते हैं। अर्हत् गीतराग होते हैं, और बोधिसत्त्वका हृदय करुणासे परिपूर्ण रहता है। बोधिसत्त्व प्रत्येक प्राणीके निर्माणके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, और जन्म तक सम्पूर्ण जीवोंको निर्माण नहीं मिल जाता, उस समय तक उनकी प्रवृत्ति जारी रहती है। बोधिसत्त्व जीवोंके प्रति करुणाका प्रदर्शन करनेके लिये पाप करनेमें भी नहीं हिचकते, और नरकमें जाकर नारकी जीवोंका उद्धार करते हैं।

१ गोमटद्वार जीव १० टोका। २ पातजल योगसूत्र १-२४ ५१ भाष्य। ३ मज्झिमनिकाय ब्रह्मसुवसुत्त। ४ दीपवर कोण्ड मंगल सुमनस, रवत सोमित, अनीमदस्मिन् पडुम, नारद, पडुमुत्तर, सुमेध, मुञ्जात, पियदस्सिन्, अत्यदस्सिन् घम्मदस्सिन् सिद्धत्थ, तिसस, पुत्स, विगस्सिन् सिचिन्, वेत्सभू, कडुसथ, कोणगमन और कल्प। ५ देखो कर्न ( Kern ) की Manual of Buddhism अ ३४ ६०, तथा सद्धर्मपुण्डरीक अ २४ बोधिचर्यावतार बोधिसत्त्वपरिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद।



श्लो १ पृ ८ प २ अतिशय—

सहज अतिशय, कर्मक्षयज अनिशय और देवकृत अतिशय भगवानके ये तीन मूल अतिशय माने गये हैं। इन तीन अतिशयोंके उत्तर भेद मिलाकर अतिशयोंके कुछ चौतीस भेद होते हैं। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार सहज अतिशयके चार, कर्मक्षयज अतिशयके ग्याह, और देवकृत अतिशयके उनीस भेद स्वीकार किये गये हैं—

सहज अतिशय	कर्मक्षयज अतिशय	देवकृत अतिशय
१ सुदर रूपवाला, सुगन्धित, नीरोग, पमीना और मल रहित शरीर।	१ यौनन मात्र समप्रशरणमें कोडाकोडि मनुष्य, देव और तिर्यचोंका समा जाना।	१ आकाशमें धर्मचक्रका होना।
२ कमलके समान सुगन्धित श्वासोच्छ्वास।	२ एक योजन तक फैलनेवाली भगवानकी अर्धमागधी वाणीका मनुष्य, तियच और देवताआँका अपनी अपनी भाषामें समझ लेना।	२ आकाशमें चमरोंका होना।
३ गोकुलके समान स्वच्छ आर द्रुगध रहित मांस आर रुधिर।	३ सूर्य प्रभामे तेज सिरके पीठे भागडलका होना।	३ आकाशमें पादपीठ सहित उबरल सिंहासन।
४ चर्म चक्षुओसे आहार और नीहारका न दिखना।	४ सौ योजन तक रागका न रहना।	४ आकाशमें तीन छत्र।
	५ बरका न रहना।	५ आकाशमें रत्नमय वमचक्र।
	६ इति अर्थात् धान्य आदिको नाश करनेवाले चूहों आदिका अभाव।	६ सुवर्णके कमलोंपर चलना।
	७ मरी प्रेग बर्गरहका न होना।	७ समप्रशरणम रत्न, सुवर्ण और चादीके तीन परकोट।
	८ अतिवृष्टि न होना।	८ चार मुखसे उपदेश।
	९ अनावृष्टि न होना।	९ चैत्य अशोक वृक्ष
	१० दुर्भिक्ष न पड़ना।	१० कण्टकोंका अधोमुख होना।
	११ स्वचक्र और परचक्रका भय न होना।	११ वृक्षोंका झुकना।
		१२ दुन्दुभि बजना।
		१३ अनुकूल गायु।
		१४ पक्षियोंका प्रदक्षिणा देना।
		१५ गवोदककी वृष्टि।
		१६ पाच वर्षोंके पुष्यकी वृष्टि।
		१७ नरा और केशोंका नहीं पडना।
		१८ कमसे कम एक करोड़ देवोंका पासमें रहना।
		१९ ऋतुओंका अनुकूल होना।

१ समवायोंग सूत्र और कुन्दक सूत्रके नियमसारमें चौतीस अतिशयोंके नाम आते हैं।

दिग्भ्रमर मान्यताके अनुमार दस सहज अतिशय, दस कर्मक्षयज अतिशय और चौदह देववृत्त अतिशय मान गये हैं। अतिशयाकी मान्यतामें दिग्भ्रमर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा-ओंरु अनुमार पाठ भेद पाया जाता है।

जैनेतर प्रथोमें भी इस प्रकारके विचार मिलते हैं। श्वेताश्वतेर उपनिषत्में लघुता, आरोग्य, स्थिरता, वर्णप्रसाद, स्वरकी सुन्दरता, शुभ गन्ध तथा मूत्र और मूत्रका अन्य मात्रामें होना, यह योगकी प्रथम अवस्था कही गई है। पतञ्जलिके योगसूत्र और व्यास माय्यमें भूत-भविष्यत् पदार्थोंको जानना, अदृश्य हो जाना, मोगी पुरुषकी निकटतामें दूर प्राणियाना वर भान छाड़ देना, हार्थीरु समान उल, सम्पूर्ण सुखनका ज्ञान, भूख और प्यासका अभान, एक शरीरका दूनरे शरीरमें प्रवेश, आकाशमें विहार, वज्रसहनन, अजरामरता आदि अनेक प्रकारकी विभूतियाँ उताई गई हैं।

बौद्ध प्रथोमें भी आनाशम पक्षीकी तरह उड़ना, सकल्प मात्रमे दूरकी वस्तुओंको पासमें ले आना, मनक वेगक समान गति होना, दिव्य नेत्र और दिव्य चक्षुओंमे सूक्ष्म और दूरवती पदार्थोंका जानना आदि ऋद्धियोंका वर्णन मिट्टैता है। जिस समय बोधिसत्व तुषित लारुसे च्युत होकर माताके गर्भमें आते हैं, उस समय जेन्मे महान प्रकाश होता ह, और दम माहली लोरुधातु कपित होती है। बोधिसत्वके माताके गर्भमें रहनेक समय चार देव पुत्र आकर चारों दिशाओंमें बोधिसत्व और बोधिसत्वकी माताकी रक्षा करते हैं। बोधिसत्वकी माताको गभाजस्याम कोर् राग नहीं रहता। माता बोधिसत्वको अग-प्रयग सहित देखती है, और बोधिसत्वको खड़े रहकर उत्पन्न करती है। जिस समय श्लेष्म, रधिर आदिस अटिष बोधिसत्व गर्भसे बाहर निकटते हैं, उम समय उन्ह पहेडे देव लग प्रहण करते हैं। बोधिसत्वक उत्पन्न होनेके समय आकाशमे गर्भ और शीतल जलकी धारायें गिरती हैं, निनस बोधिसत्व और उनकी माताका प्रश्लाउन क्रिया जाता है। उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा हाती है और मन्द, सुगन्ध वायु उहती है।

क्राट्टकक जन्मके समय भी सम्पूर्ण प्रकृतिका मन्थ होना, देवोंका आना आदि वर्णन बाइविग्नें आता ह।

श्लोक ५ पृ २५ प १६ एव व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकः—

जैनदर्शनके अनुमार जा वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस युक्त हा, उसे सत् अपना द्रव्य कहत हैं। इसीलिए जैन दर्शनकरोंन 'अप्रच्युत, अनुपपन्न और स्थिर स्य' नित्यका लक्षण स्वीकार न करके 'पदार्थके स्वरूप का नाश नहीं होना' ( तद्वाभाव्य नित्य ) नित्यका लक्षण

१ अथावतर उ० २१३। २ पतञ्जलि-योगसूत्र विभूतिपाद तथा देवो यथाविजय-योगमाहात्म्य द्वितीयोऽध्यायः। ३ अभिषेकप्रकाश ७-४ से आगे। ४ मज्झिमनिकाय-अच्छरियधम्मसुत्त पृ० ५१० राहुल साहज्यायन अथपोष-मुद्धर्चित्त सग १, तथा देसा निदानक्या ललितवित्तर आदि।

श्लो १ पृ ८ प २ अतिशय—

सहज अतिशय, कर्मक्षयज अतिशय और देवकृत अतिशय भगवानके ये तीन मूल अतिशय माने गये हैं। इन तीन अतिशयोंके उत्तर भेद मिलाकर अतिशयोंके धुल चौतीस भेद होते हैं। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार सहज अतिशयके चार, कर्मक्षयज अतिशयके ग्यारह, और देवकृत अतिशयके उनीस भेद स्वीकार किये गये हैं—

सहज अतिशय	कर्मक्षयज अतिशय	देवकृत अतिशय
१ सुन्दर रूपनाश, सुगन्धित, नीरोग, पत्तीना और मल रहित शरीर।	१ योजन मात्र समशरणमें कोडानोडि मनुष्य, देव और तियचोंका समा जाना।	१ आकाशमें धर्मचक्रका होना।
२ कमलके समान सुगन्धित श्वासोच्छ्वास।	२ एक योजन तक फैलनेवाली भगवानकी अर्धमागधी वाणीका मनुष्य, तिर्यच और देवताओंका अपनी अपनी भाषामें समझ लेना।	२ आकाशमें चमरोंका होना।
३ गौके दूधके समान स्वच्छ और दुग्ध रहित मास और रसिर।	३ सूर्य प्रभासे तेज सिरके पाठे भामडलका होना।	३ आकाशमें पादपीठ सहित उन्नत सिंहासन।
४ चम चक्षुओंसे आहार और नीहारका न दिग्ना।	४ सौ योजन तक रोगका न रहना।	४ आकाशमें तीन उत्र।
	५ वैरका न रहना।	५ आकाशमें रत्नमय धर्म रज।
	६ ईति अर्धात् धाय आदिको नाश करनेवाले चूहों आदिका अमार।	६ सुवर्णके कमलपर चलना।
	७ मरी प्लेग धरगरहका न होना।	७ समशरणमें रत्न, सुवर्ण और चाणके तीन परकोट।
	८ अतिवृष्टि न होना।	८ चार मुखमे उपदेश।
	९ अनावृष्टि न होना।	९ चैत्य अशोक वृक्ष
	१० दुर्मिक्ष न पड़ना।	१० कण्टकोका अग्रोमुख होना।
	११ स्वचक्र और परचक्रका भय न होना।	११ वृक्षोंका झुकना।
		१२ दुन्दुभि बजना।
		१३ अनुकूल वायु।
		१४ पक्षियोंका प्रदक्षिणा देना।
		१५ गवोदककी वृष्टि।
		१६ पाच वर्णोंके पुष्पोंकी वृष्टि।
		१७ नख और केशोंका नहीं घटना।
		१८ कमसे कम एक करोड़ देवोंका पासमें रहना।
		१९ ऋतुओंका अनुकूल होना।

१ समवायंग सूत्र और मुन्दमुन्दके नियमसारमें चौतीस अतिशयोंके नाम आते हैं।

दिगम्बर मान्यताके अनुसार दस सहज अतिशय, दस कर्मक्षयन अतिशय और चौदह देवकृत अतिशय मान गये हैं। अतिशयोंकी मान्यताम दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्परा-ओंके अनुसार पाठ भेद पाया जाता है।

जनेतर प्रथोमें भी इम प्रकारके विचार मिलते हैं। श्वेतामतेर उपनिषद्में लघुता, आरोग्य, स्थिरता, वर्णप्रसाद, स्वरकी सुन्दरता, शुभ गन्ध तथा मूत्र और मलका अन्य मात्रामें हाना, यह योगकी प्रथम अवस्था कही गई है। पतञ्जलिके योगमूत्र और व्यास भाष्यमें भूत-भविष्यत् पदार्थोंको जानना, अदृश्य हो जाना, योगी पुरुषकी निकटतामें कूर प्राणियोंका वैर भाव छोड़ देना, हार्थिक समान बल, सम्पूर्ण सुप्तनका ज्ञान, भूत और प्यामका अभाव, एक शरीरका दूसर शरीरमें प्रवेश, आकाशमें विहार, उन्नतसहनन, अजरामरता आदि अनक प्रकारकी विभूतियाँ बनाई गई हैं।

जौद्ध प्रथोमें भी आकाशमें पशुकी तरह उडना, सकल्प मात्रसे दूरकी वस्तुओंको पासमें ल आना, मनके वेगक समान गति होना, दिव्य नेत्र और दिव्य चक्षुओंसे सूक्ष्म और दूरदर्शी पदार्थोंका जानना आदि ऋद्वियोंका वर्णन मिलता है। जिस समय वापिसत्व तुपित लारुसे च्युत होकर माताके गर्भमें आते हैं, उस समय लोरमें महान प्रकाश होता है, और दम माहसी लारुधातु कपित होती है। बोपिसत्वके माताके गर्भमें रहनेक समय चार देव पुत्र आकर चारों दिशाओंमें बोपिसत्व और बोधिमन्त्रकी माताकी रक्षा करते हैं। बोपिसत्वकी माताको गर्भागस्थामें कोई राग नहीं रहता। माता बोधिमन्त्रका अग-भ्रयग सहित देखती है, और बोधिमन्त्रका खड़े रहकर उत्पन्न करती है। जिस समय शम्प, रभिर आदिस अल्पि बोधिसत्व गर्भसे बाहर निकलते हैं, उस समय उन्हें पहले देव लोग प्रहण करत हैं। वाधिसन्त्रक उपन्न होनेके समय आकाशमें गम और शीतल जलकी धारायें गिरती हैं, जिसस बोधिमन्त्र और उनकी माताका प्रक्षान्न किया जाता है। उस समय आकाशसे पुश्योंकी क्या हाती है आग मन्द, सुगन्ध गायु रहती है।

क्राइम्यक जन्मके समय भी सम्पूर्ण प्रकृतिका लम्ब होना, देवोंका आना आदि वर्णन वाइविन्में आता है।

श्लोक ५ पृ २५ प १६ एव व्यामापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकः—

जैनदर्शनके अनुसार जा वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौयसे युक्त हो, उमें सत अथवा द्रव्य कहते हैं। इमीतिण जैन दर्शनकरोंने 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर म्य' निम्नका लक्षण स्वीकार न करके 'पदार्थके स्वरूप का नाश नहीं हाना' ( तद्गानाच्यय निय ) नियका लक्षण

१ श्वेतामतेर उ० २ १३ । २ पतञ्जलि-योगसूत्र विभूतिपाद, तथा देखा यथाविशेष-व्यासमाहस्य्य द्विप्रतिष्ठ । ३ अभिषयधेन ५-४० से लये । ४ मज्झिमनिकाय-अच्छरियधम्मसुल ५० ५१० राहु ७ सांख्य्यायन अधपोष-नुदवरिन सग १ तथा देखा निदानक्या, ललितवित्तर आदि । -

माना है। इस लक्षणके अनुसार जैन आचार्योंके मतसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और प्राप्य पाये जाते हैं। आत्मा पूर्ण भवको छोड़कर उत्तर भव धारण करती है, और आत्मा दोनों अवस्थाओंमें समान रूपसे रहती है, इस लिए आत्मामें उत्पाद, व्यय और प्राप्य मिश्र हो जाते हैं। पुद्गल और काल द्रव्यमें भी उत्पाद, व्यय और प्राप्यका होना स्पष्ट है। परन्तु जीव, पुद्गल और कालकी तरह जैन सिद्धातके अनुसार धर्म, अर्ध और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्योंमें भी स्वप्रत्यय और परप्रत्ययसे उत्पाद और व्यय माना गया है। स्वप्रत्यय उत्पादको समझनेके पहले कुछ जैन पारिभाषिक शब्द जान लेने आवश्यकिय है।

१ प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण हैं। इन अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुणमें अनन्त अनन्त अविभागी गुणाश्च हैं। यदि द्रव्यमें गुणाश्च नहीं माने जाय, तो द्रव्यमें उटोटापन, बडापन आदि विभाग नहीं किया जा सकता। इन अविभागी गुणाशोंको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। २ द्रव्यमें जो अनन्त गुण पाये जाते हैं, इन अनन्त गुणोंमें अस्तित्व द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रवेश्यत्व, ये छह सामान्य गुण मुख्य हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप अथवा एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं बदलती, उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। ३ अविभागी प्रतिच्छेदोंके छह प्रकारसे कम होने और बढ़नेको छह गुणी हानि-वृद्धि कहते हैं। अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, और अनन्त गुणवृद्धि, तथा अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनन्त गुणहानि यह पदस्थान पतित हानि-वृद्धि कही जाती है।

जिस समय धर्म, अर्ध और आकाशमें अपने अपने अगुरुलघु गुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें उक्त छह प्रकारकी हानि-वृद्धिके द्वारा परिणमन होता है, उस समय धर्म, अर्ध और आकाशमें उत्पाद और व्यय होता है। जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें अगुरुलघु गुणकी पूर्ण अवस्थाका त्याग होता है, उस समय व्यय, और जिस समय उत्तर अवस्थाकी उत्पत्ति होती है, उस समय उत्पाद होता है। तथा द्रव्यकी अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश सदा निष्क्रिय और नित्य हैं, इस लिये इनमें प्राप्य रहता है। धर्म आदि द्रव्योंमें यह उत्पाद और व्यय अपने अपने अगुरुलघु गुणके परिणमनसे होता है, इस लिये इसे स्वप्रत्यय उत्पाद कहते हैं। जिस समय स्वयं अथवा किसी दूसरेके निमित्तसे जीव और पुद्गल धर्म,

१ पदस्थान पतित हानि-वृद्धिके स्पष्टीकरणके लिये गाम्मटसार जीववाच, प्रवचनसारीद्वारा गा ४३२ द्वा २९० प गोपात्रदासजी कृत जैनसिद्धांत द्वापण आदि ग्रन्थ देखने चाहिये।

२ क्रियानिमित्तोत्पादाभावोऽपि एवां धर्मादीनामन्वयोत्पाद कल्प्यते। तद्यथा द्विविध उत्पाद स्थितिभिः परप्रत्ययदत्त। स्वनिमित्तोत्पादत्त। अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रमाणान्यादभ्युपगम्यमानानां पदस्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेवामुपादो व्यवहृतः। स्वार्थसिद्धि पृ १५१।

अधर्म और आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ सन्नद्ध होते हैं, उस समय धम आदि द्रव्योंमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय कहा जाता है ।

सिद्धसेन दिवाकरने समतितर्कमें उत्पाद और व्ययके प्रयोगिक ( प्रयत्नजन्य ) और वैज्ञानिक ( स्वाभाविक ) दो भेद किये हैं । प्रयत्नजन्य उत्पादमें भिन्न भिन्न अणुओंके मिलनेसे पदार्थोंका समुदाय रूप उत्पाद होता है, इस लिये इस समुदायवाद कहते हैं । यह उत्पाद किमी एक द्रव्यके आश्रयसे नहीं होता, इस लिये यह अपरिशुद्ध नामसे भी कहा जाता है । सामुदायिक उत्पादकी तरह व्यय भी सामुदायिक होता है । सामुदायिक उत्पाद और व्यय मूर्त द्रव्याम ही होते हैं । वैज्ञानिक उत्पाद और व्ययके दो भेद हैं—सामुदायिक आर ऐकत्विक । बादल आदिमें जो विना प्रयत्नके उत्पत्ति आर नाश होता है, उसे वैज्ञानिक समुदायवृत्त उत्पाद-व्यय कहते हैं । तथा धम, अधर्म और आकाश अमूर्त द्रव्योंमें दूसरे द्रव्योंके साथ मिलकर स्वरूप धारण किये विना जो उत्पाद और व्यय होता है, उसे वैज्ञानिक ऐकत्विक उत्पाद-व्यय कहते हैं । धर्म, अधर्म और आकाशमें यह उत्पाद-व्यय अनेकतासे परनिमित्तक होना है ।

श्लोक ६ पृ ४२ प २५ अपुनर्बन्ध—

“ जो जीव मिथ्यात्वको छोड़नेके लिये तत्पर और सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये अभिमुख होता है, ” उसे अपुनर्बन्धक कहते हैं । अपुनर्बन्धकके वृषणता, लोभ, याच्ना, दीनता मान्सर्य, भय, माया और मूर्खता इन भवानन्दी दोषोंके नष्ट होनेपर शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणोंमें वृद्धि हाती जाती है । अपुनर्बन्धकके गुरु, देव, आदिका पूजन, सदाचार, तप और मुक्तिसे अद्वेष रूप ‘ पूर्वसेवा ’ मुख्य रूपसे होती है । अपुनर्बन्धक जीव शान्त चित्त और मोघ आदिसे रहित होते हैं, तथा जिस तरह भोगी पुरुष सदा अपनी रीति-चिन्तन करता रहता है, उसी तरह सतत ससारके स्वभावका विचार करते रहते हैं । इस जीवनक कुटुम्ब आदिमें प्रवृत्ति करते रहनेपर भी उसकी प्रवृत्तिया बधका कारण नहीं होती । अपुनर्बन्धक वितर्क प्रधान होता है, और इसके क्रमसे कर्म और ओमाका प्रियोग होकर श्मे माक्ष मित्रता है ।

श्लो० ९ पृ० ९५ प० २५ प्रदेश—

पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी हिस्सेको परमाणु कहते हैं । यह परमाणु कारण रूप

१ देखो समतितर्क ३-३२, ३३ द्रव्यानुयोगतर्कणा ९-२४ २५ शास्त्रवात्तासमुच्चय ७-१ यशो-विजय टीका सत्कार्य भाष्य ५ २९ टीका पृ ३८३ ५ । २ स्वर्गीकरणके लिय देखो हरिमद्र कृत योगविन्दु ११५ से आगे तथा यशोविजय—अपुनर्बन्ध द्वारिणिका । ३ अक्षरक आदि दिगम्बर विद्वाननि परमाणुको कथञ्चित्-काय रूप भी माना है । देखो त राजवार्तिक ५ २५ ५ ।

अन्यद्रव्य कहा जाता है। परमाणु नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, गन्ध, र्ण और दो स्पर्शोंमें सहित होता है। परमाणु आकाशके जितने प्रदेशको घेरता है, उसे जैन शास्त्रोंमें प्रदेश कहा गया है। प्रदेशके दूसरे अशोंकी कल्पना नहीं हो सकती। जैन सिद्धांतमें धर्म, अधर्म और जीव द्रव्योंमें अस्मयात्, कालमें अनन्त, पुद्गलमें सग्यात, अस्मयात्, अनन्त और कालमें एक प्रदेश माने गये हैं। पुद्गल द्रव्यके प्रदेश पुद्गल-स्वधसे अलग हो सकते हैं, इस लिये पुद्गलके सूक्ष्म अशोंको अनयन कहा जाता है। पुद्गल द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अश अपने अपने स्वधोंसे पृथक् नहीं हो सकते, इस लिये अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अशोंको प्रदेश नामसे कहा गया है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव सदा एक समान अवस्थित रहते हैं, इस लिये इनके प्रदेशोंमें अस्थिरता नहीं होती। पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्वध अस्थिर, तथा अन्तिम महास्वध स्थिर और अस्थिर गेना होते हैं।

यद्यपि जीव द्रव्य अखण्ड है, फिर भी वह अस्मयात् प्रदेशी है। जैन दर्शनकी मान्यता है, कि जिस प्रकार गुडके ऊपर ऋतुसि धूल आकर इकट्ठी हो जाती है, उसी प्रकार एक एक आत्माके प्रदेशके साथ अनन्तानन्त ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रदेशोंका सन्ध होता है। सप्तरी जीवोंके प्रदेश चलायमान रहते हैं। ये प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं। निग्रह गतिवाले जीवोंके प्रदेश सदा चल होते हैं, अयोग केनलीके प्रदेश सदा अचल होते हैं, और शेष जीवोंके आठ प्रदेश अचल और बाकी प्रदेश चल होते हैं। यदि जीवमें प्रदेशांकी कल्पना न की जाय, तो जिस तरह निरश परमाणुका किसी मूर्तमान द्रव्यके साथ सन्ध नहीं हो सकता, उसी तरह आत्माका भी मूर्तमान शरीरसे सन्ध नहीं हो सकता। अतएव जिस समय अमूर्त आत्मा लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होकर भी मूर्त कर्मोंके सन्धस कार्माण शरीरके निमित्तसे सूक्ष्म शरीरको धारण करता है, उस समय सूक्ष्मे चमडेकी तरह आत्माके प्रदेशोंमें सकोच होता है, और जिस समय यह आत्मा सूक्ष्म शरीरसे स्थूल शरीरको प्राप्त करता है, उस समय जलमें तेलकी तरह आत्माके प्रदेशोंमें विस्तार होता है। अतएव आत्मा अमूर्त होकर भी सकोच और विस्तार होनेकी अपेक्षा शरीरके परिमाण माना जाता है।

१ अतएव च भेद प्रदेशानामवयवाना च ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणापभ्यन्त ते प्रदेशा । ये तु विचकलिता परिवलितमूर्तय प्रज्ञानधमवयवन्ति तेऽवयवा इति । ५६ तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३२८ ।

२ शुक्लचर्मवत् प्रदेशानां सहर । तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलद्रविसपण् विद्यत । त ओक्वार्तिक ५१६ ।

३ गुलना करो—यथा धुर क्षुरधान हित स्याद्विभमरो वा विभमरकुलाय ।

एवमेवैव प्राज्ञ आत्मेद शरीरमनुप्रविष्ट आलोमेभ्य आनसेभ्य —

अर्थात् जिस प्रकार धुर अपने धुरेके चकलम और अग्नि चूल्हा अंगीठी आदि अपन स्थानमें ब्याप्त होकर रहते हैं, उसी तरह नखोंसे लगाकर बाल तक यह आत्मा शरीरमें ब्याप्त है। कौपीतकी उ० ४१९ ।

यदि आत्माको अचेतन द्रव्योक्त विकारसे रहित सन्या अमूर्त माना जाय, तो आत्मामें प्यान, प्येय आदिका व्यवहार नहीं हो सकता, तथा आत्माको मोक्ष भी नहीं मिल सकता । अतएव शक्तिकी अपेक्षा आत्माको अमूर्त मानकर भी व्यक्तिकी अपेक्षा आत्माको मूर्तीक ही मानना चाहिये । इस लिये निश्चय नयसे आत्मा लोकके बराबर असंश्रुत प्रदेशोंका धारक है, और व्यवहार नयकी अपेक्षा सकोच और निस्तारवाला है ।

इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए अन्य स्थलोंपर जैनशास्त्रोंमें आत्माको नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक न मानकर ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक माना गया है । इस सिद्धान्तकी रामानुजके मिद्धान्तमें तुलना की जा सकती है । रामानुज आचार्यके सिद्धान्तमें भी आत्माको ज्ञानकी अपेक्षा सकोच और विकामशील माना गया है । इस मनमें वाम्तरमें अणु-परिमण आत्मामें सकोच विकास नहीं होता, किन्तु आत्मामें कर्म-बन्धकी अस्थामें सकोच और विकास होता है । विकासकी उत्कृष्ट सीमा कर्म-बन्धसे रहित मोक्ष अस्थामें ही हो सकती है । न्यायसूत्रकार श्रीपर आचार्यने भी आत्माको सर्व व्यापक मानकर आत्मामें बुद्धि आदि गुणोंका शरीरम ही अस्तित्व माना है\* ।

श्लो ९ पृ १०३ पृ १५ केरली समुद्रात—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थितिसे आयु कमकी स्थिति कम रह जानेपर वेदनीय आदि और आयु कर्मकी स्थिति बराबर करनेके लिए समुद्रात क्रिया की जाती है । समुद्रात करनेसे अन्तमूर्त पहले शुभापयोग रूप 'आजर्जाकरण' नामकी एक दमरी क्रिया होती है । इस क्रियाको श्वेताम्बर साहित्यमें 'आयोजिका करण' और 'आजर्ज्य करण' नामसे भी कहा गया है । केरली समुद्रातके प्रथम समयमें आत्मामें प्रदेश अपनी देहके बराबर स्थूल दण्डके आकारके होते हैं । आम-प्रदेशोंका यह आकार लोकके ऊपरसे नीचे तक चौदह रज्जुके

१ शकत्या विमु स इह लोकनितप्रदेशो व्यवस्था तु कमदृतसौवशरारमान ।

यत्रैव यो भवति दृष्टगुण स तत्र दुष्मादिवद्विशदमित्यनुमानमत्र ॥

यशोविजय-न्यायसदस्याय ।

२ निश्चयनयतो लोकशरारप्रमितार्थव्येयप्रदेशप्रमाण । वा शब्देन तु स्वसवित्तिसमुत्पन्नकैव नज्ञानो रसिप्रस्तावे ज्ञानपेक्षया व्यवहारनयेन लोकलोचव्यापक न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसाह्यमतवत् ।  
ब्रह्मद्वय-द्रव्यसप्रवृत्ति गा० १० ।

३ स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञान सकोचविकाससहित्युपपादयिष्याम । अत क्षेत्रज्ञावस्थायो कर्मणा सवृ चितस्वरूपं सप्ततन्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते । श्रीभाष्य १११ । प्रो० ध्रुव-स्याद्वादमञ्जरी पृ० ११६ नोट्स ।

४ पीछे स्याद्वादमञ्जरी पृ० १४ ।

५ पृ सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ, पृ १५५ ।



परिमाण होता है। य आत्म प्रदेश दूसरे समयमें पूर्ण और पश्चिममें कपाट (क्रियाङ्) के आकारके हा जाते हैं। तीसरे समयमें इन प्रदेशोंका आकार फैलकर मथान (मथनी) के आकारका हो जाता है। और चौथे समयमें ये समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। इसके बाद पाचन, उठ, सातमें और आठमें समयमें आत्माके प्रदेश क्रमसे मथान, कपाट, दण्डके आकार होकर पूनत् अपने शरीरके बराबर हो जाते हैं। जिस समय मोक्ष प्राप्त करनेमें एक अतर्मु-हूर्तका समय बाकी रह जाता है, उस समय केनली समुद्रात करते हैं। रत्नशेखर सूरि आदि विद्वानोंक मतमें जिस जीवकी आपु छह महीनेसे अधिक ह, यदि उसे केनलज्ञान हो जाय, तो वह जीव निश्चयसे समुद्रात करता है। तथा अन्य केगलियोंक समुद्रात करनेके सक्थमें कोई नियम नहीं है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने इस मतका निरोध किया ह। समुद्रात करनेके पश्चात् केनली मन, वचन, कायका निरोध करके शैलेशी करण करता हुआ अपोगी होकर पाच हस्त्र अक्षरोंके उच्चारण करनेके समय मात्रम मोक्ष प्राप्त करते हैं।

हेमचंद्र, यशोत्रिजय आदि विद्वानोंने उपनिषद्, गीता आदि वैदिक ग्रथोंमें आम व्यापकताका अपने सिद्धांतसे समन्वय करके इस आत्माके गौरवका सूचक कहकर सम्मानित किया है।

कर्माका स्थितिका शीघ्र भोगनेके उद्ये जैनसिद्धातमें समुद्रात क्रियासे मित्रती जुलती पातजल्ले-योगदर्शनमें सोपक्रम आयुके रिपाकमें बहुकालनिर्माण क्रिया मानी गई है। यद्यपि सामान्य नियमके अनुसार विना भोगे हुए कम करोड़ों कल्पोंमें भी क्षय नहीं हो सकेते,

१ य षण्मासाप्रिकायुष्को उभते वेवलाह्रमम् ।

करोत्यसौ समुद्रातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुणस्थानकमाराहण ९४ ।

२ कम्मलहुयाए समओ भिप्रमुहुत्तावसेसओ कालो ॥

अग्ने जहप्रमय छम्मानुकासभिच्छात्ति ॥

त नाणतरसेलमिषयणओ ज च पाडिहेरण ।

पधणणमेव सुए इहरा महणपि होज्जाहि ॥

विशेषावश्यक भा ३०४८, ३०४९ ।

३ देखा योगशास्त्र तथा लोकपुराणश्रवणादेव हि परेवामात्मविमुल्यवाद समुद्रूत । तथा चार्थवाद — 'विश्वध्वस्त विश्वतो मुखो विश्वता बाहुल्ल विश्वत पात्' इत्यादि । तथा चासौ भवति समीकृतभवोप प्रादिकमा विरलीकृताः शाटिकादिज्ञातेन क्षिप्र तच्छोपोपपत्ते । शास्त्रवातात्ममुचय ९ २१ टीका ।

४ देखो प सुखलालजी-चौथा कमप्रत्य पृ १५६ ।

५ पाद ४ सू २२ तथा पाद ४ सू ४, ५ वा भाष्य और टीका प सुखलालजी-चौथा कमप्रत्य पृ १५६ । तथा तुलना करो-तत्त्वाधभाष्य २-१५ ।

६ तुलना करा यशोत्रिजय—हेराहानोपाय-द्वानिश्चिका तथा-समाधिसमृद्धिमाहात्म्या प्रारब्धकर्म व्यतिरिक्तमानाना कृत्त्वामेव कर्मणा विभिन्नविपाकसमयानामपि कायस्थूहेध्वेकदा भोगेन जीवात्ममहत्वं साधयता क्षयाभ्युपगमेनैव व्याकुप्यते यतो निरुक्ता भगवती धृति 'अचिन्त्यो हि समाधिप्रभाव' । प बालकृष्ण मिश्र प्रणीत न्यायामुद्राति पर विषमन्थल तादृश्यविहृति पृ २१ २२ ।

परन्तु निम्न प्रकार गीले वस्त्रका फैलाकर सुगन्धनेम वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है, अथवा जिस प्रकार मूख हुए घामम अग्नि डाटनेमे हवाके अनुकूल होनेपर घास बहुत जल्दी नलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निम्न समय योगी एक शरीरमे कमके फलको भोगनेम असमर्थ होता है, उस समय वह सरूपम मात्रम बहुतामे शरीरका निमाण करके ज्ञान-अग्निसे कर्मका नाश करता है, इर्माका यागशास्त्रम बहुकाय निर्माणद्वारा सोपक्रम आयुका विपाक कहा है। इन बहुतमे शरीरोंमें कभी योगी लग एक ही अन्त करणम प्रवृत्ति करते हैं। वायुपुराणमें भी निम्न प्रकार सूच अपनी किरणोंको आपिम र्वाच लेता है, उसी प्रकार एक शरीरस एक, दो, तान आदि अनेक शरीरोंका उपपन्न करके इन शरीरोंको पीठे र्वाचनेका उद्देश्य मित्रता है।

श्लो ९ प्र १०३ प १५ लोक—

जन धर्मर अनुमार ऊर्ध्व, मध्य और अगो त्रिक ये लोकके तीन विभाग किये गये हैं। यह त्रिक चान्द राजू ऊचा है। मूसे सात राजूका ऊचा तक अगो लोक, एक लाख चार्दम योचन सुमेर परतकी उर्चाईक समान ऊचा मध्य लोक, और सुमेर परतमे ऊपर एक त्रय चार्दस याजन कम सात राजू प्रमाण ऊपर लोक है। मरकी जडके नीचेसे अगो लोक आरम होता है। अगो लोकमें रत्नप्रभा, शकराप्रभा, वादकाप्रभा, पद्मप्रभा, धूमप्रभा, तनाप्रभा, महातमप्रभा नामके सात नरक है। इन नरकोंम नारकी जीव रहते हैं। इनमें ४९ पट्ट है। नरकमें छेदन, भेदन आदि महान भयकर कष्ट सहन पडते हैं। नरकम अनाठ मृयु नहीं होती। अगो लोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौडा और एक लाख चार्दस योचन ऊचा मध्य लोक है। मध्य लोकके बीचम एक अख योचनके निम्नारगत जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपको चारों आरसे बडे हुए लगण समुद्र, लगण समुद्रको धातकीवड, धातकीवडको कालोदरि समुद्र, आर कालोदरिको पेडे हुए पुष्करद्वीप है। इसी प्रकार आगे आगे एक दूसरेको बडे हुए दुने दुने निम्नारगडे असायात द्वीप और समुद्र हैं। अतमें स्वयभूरमण समुद्र है। जम्बूद्वीपमें भरत, हसगत, हरि, निदेह, रम्यक, हरण्यत और एरात ये सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रोंमें गगा, सिंधू आदि चौदह नदिया बहती हैं। मनुष्य

१ एकलु प्रमुदान्त्या वै बहुधा भरताथर ।

भूचा वस्मानु बहुधा मन्वथेक पुनलु स ॥

तस्मान्च मनसा भेदा जायन्ते चैत एव हि । वायुपु ६६-१४३ ।

एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुन ॥

यागभर शरीराणि करोति विकराति च ।

प्राणुयादिपमानैर्नल्केचिदुग्र तपयेत् ॥

सदरेच्च पुनन्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव । वायुपु ६६-१५२ ।

लोकमें पन्द्रह कमभूमि और तीस भोगभूमि हैं। ज्योतिष्क जैन भी मय लोकमें ही निवास करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये ज्योतिष्क देवोंके पांच भेद हैं। मेरुमें ऊपर लोकके अत तकके क्षेत्रको ऊर्ध्व लोक कहते हैं। उर्ध्वलोकमें ग्राह न्यग ( दिगम्बरोंकी प्रचलित मान्यताके अनुसार सोलह स्वर्ग ) होते हैं। इन स्वर्गोंके ऊपर नव प्रोथक, नव अनुदिश और विजय, प्रजयत, जयत, अपराजित आर सर्वावसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं। सर्वावसिद्धिके ऊपर लोकके अतमें एक रात्रू चाडी, सात रात्रू लम्बी, आठ योजन मोटी इषप्राग्भार नामक पृथ्वी है। इस पृथ्वीके नीचेमें पैतालीस लाख योजन चौड़ी, मयमें आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुयातत्रयम मुक्त जीव रहते हैं।

ब्राह्मण पुराणोंमें भू लोक, अतरीक्ष लोक और स्वर्ग लोक ये तीन सुख्य गण माने गये हैं। इनमें स्वर्ग लोकके महर्षिक, जन लोक, तपोलोक और सत्य लोक ये चार भेद मिलनेसे सात लोक होते हैं। अग्नि नामके नरकसे लगाकर मेरुके पृष्ठभाग तक भू लोक कहा जाता है। अग्नि नरकके ऊपर महाकाठ, अमरीष, रौरव, महारौरव, काल्मूस, अन्तामिस ये उह नरक हैं। इन नरकके ऊपर महातल, रसातल, तत्रतल, सुतल, नितल, तत्रतल, और पाताल ये सात पाताल हैं। इस आठवीं भूमिपर जम्बू, प्लव, शाल्मल, बुध, शश, गान्ध और पुंकर ये सात द्वीप हैं। ये सात द्वीप छरण, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध, आर स्वच्छ जल नामक सात समुद्रोंसे परिबेष्टित हैं। मरुके पृष्ठ भागसे लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे युक्त अतरीक्ष लोक है। इसके ऊपर पांच स्वर्ग लोक हैं। पहला माहेन्द्र स्वर्ग है। इस स्वर्गमें त्रिदश, अग्निवात, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित, वानरता ये उह प्रकारके देव रहते हैं, जो आँपपाणिक देहको धारण करते हैं। इसके ऊपर महर्षिक नामके दूसरे स्वर्गमें पांच प्रकारके देव रहते हैं, जो ध्यान मात्रसे तृप्त हो जाते हैं आर जिनकी हज्जर कल्पका आयु होती है। तीसरा स्वर्ग ब्राह्म स्वर्ग कहा जाता है। इस स्वर्गके जन लोक, तपोलोक और सत्य लोक तीन विभाग हैं। इन लोकमें चार प्रकारके, तपोलोकमें तीन प्रकारके, और सत्य लोकमें चार प्रकारके देव रहते हैं।

बौद्धोंके शास्त्रोंमें नरक लोक, प्रेत लोक, तिर्यक् लोक, मानुष लोक, असुर लोक और देव

१ तत्वाध्याय आदि प्रथम अनुदिशाया उच्ये नक्ष मिता ।

२ नरक विस्तृत वर्णने स्थि देखा माण्डव्ययु १२-३-२९ । माण्डव्यपुराणमें सात नरकके नाम निम्न प्रकारसे हैं- शैव महाशैव तम, निहृन्तन अप्रतिष्ठ, जसिपत्रवन और तप्तवृभ ।

३ पातालोंके वर्णनके स्थि देखा पद्मयु पातालखण्ड १ २ ३ विष्णुपुराण अ २ ५ । ४ धांपसमुद्रके विशाल वर्णनके स्थि देखा भागवत ५-१, १७, १८ तथा पद्मयु भूमिराष्ट्र भूगोत्र वर्णन अ १२८ ।

५ स्वर्ग वर्णनके स्थि दसो शंसिहय अ ३० पद्मयु स्वर्गखण्ड । कौशिकी उपनिषद्स बताया गया है कि जीव आत्मा लोक, वायु लोक, वरुण लोक आदित्य लोक इन्द्र लोक प्रजापति लोकम स ह्यार मद्रा गणमें जाता है । मद्रा लोक वर्णन ५ । १५ देखा १-२ से आता ।



ह ।” अतएव जन शास्त्राम गृहस्थको केवल मरुत्पसे होनेवाली हिमालो ओडनेका उपदेश दिया ह । इस लिये पाथिक श्रावकको अपनी श्रद्धाके अनुसार जिन मंदिर, जिन विहार, आदि बनानेका विधान ह । यद्यपि जिन मंदिर आदिके बनानेमें आरम्भत्रय हिंसा होती ह, परन्तु इममे महान पुण्यका बर हाता ह । जिस प्रकार कोर् पय रोगीकी चिकित्सा करते समय रोगीको होनेवाले दुखके कारण पापका उपाजन न करता हुआ पुण्यका ही भागी होता ह, इसी तरह जन मंदिर, जन मठ, जैन धर्मशाळा, जन ग्राहिकागृह आदि बनानेसे जीवोंका मृत्यु कन्याण होता ह, इस लिये जन मंदिर आदिके निर्माण करानेमें शास्त्रीय दृष्टिसे दाप नहीं ह ।

ध्म ११ पृ १२७ प २० आधाकर्म—

जन शास्त्रोंम मुनियोंके लिये निर्णय आहार ग्रहण करनेका विधान किया गया ह । साधारणत यह आहार उष्याशीत प्रकारके दापाने और आशकर्म (अध कर्म) से रहित होना चाहिए । आहार ग्रहण करनेके समय आधाकर्मको महान दोष कहा गया ह । आशकर्मम प्राणियोंका मिराजना होता ह, इस लिये अधोगतिका कारण होनेसे इमे आशकर्म कहा जाता ह । जयना मुनिके निमित्तसे बनाये हुए भोजनमें पाच सुनाआसे प्राणियोंकी हिंसा होती है, इस लिये इम आशकर्म कहत है । यह सामान्य नियम ह । परन्तु यदि कोई मुनि रोग आदिके कारण अपने समयका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो गया ह, तो ऐसे आपत्कालमें उस मुनिको शास्त्रमें उदित भोजन ग्रहण करनेकी भी आज्ञा दी गई ह । यदि आधानमको सर्था अधोगतिका कारण मानकर उसमें एका त रूपसे कर्मग्रह माना जाय, तो मुनिको भोजन न मिलनेके कारण मुनिना आतयानके द्वारा प्राणान्त होना समर ह । उदाहरणके लिये, जिन मुनिकी आप्त दुख रही ह, वह मुनि पुत्रीको रखकर न चल सकनेके कारण त्त जीवोंकी हिंसा नहीं बचा सकता । वैसे ही यदि रोगादिके कारण साधु उदित भोजनका त्याग नहीं कर सकता, ता वह आपका भागा नहीं ह । अति आपत्कालमें भी इस प्रकारका अपवाद नियम न बनाया

१ यद्यप्यारभतो हिंसा हिंसाया पापसम्भव ।

तथाप्यत्र वृत्तारभो महत्पुण्य समस्तुते ॥

निरालम्बनधमस्य स्थितियस्मात्तत् सताम् ।

मुक्तिप्रासादसोपानमात्रैरुक्तो चिन्ताय ॥ अशाधर-सागारधमामृत २-३५ टिप्पणा ।

२ अतएवाधोगतिनिमित्त कमाध कर्मैव कर्मोऽपि घटते । तदतदध कर्म गृहस्थाश्रितो निवृत्तव्यापार । अधवा सुनाभिरिन्द्रिहमन यत्रापद्यमाने भक्तादौ तदध कर्मैत्युच्यते । आशाधर-अनगरधमामृत ५ ३ वृत्ति ।

३ आदाकम्ममाण भुञ्जति अण्णमाणे सकम्मणा ।

उवल्लोत्ति जाणिज्जा शुवल्लोत्ति वा पुणो ॥ अग्निधानरात्रेन्द्र कोष भाग २ पृ २४२ ।

जाय, ता क्लेशित परिणामोंसे आतमानसे मरकर साधुको दुःखतिमें जाना पड़े, इसमें आर भी अधिक पापका उध हो। अतएव रोगादिक कारण असामान्य परिस्थितिक उपज होनपर साधुको आश्रम—उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करनेकी आज्ञा शास्त्राम् दीर्घेई है। इसा प्रकार सामान्यत शास्त्रामें मुनिके लिये नरकोटिसे विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा है, लेकिन यन्ि मुनि किसी आपत्तमें ग्रस्त हो जाय, ता उह केवल पाच कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करके अपना जीवन यापन कर सकता है।

श्लो २३ पृ २७२ प ७ द्रव्यपट्ट—

जन्म-मरणकारणोंसे जीव, पुद्गल, धर्म, अशर्म, आकाश और वायु ये उह द्रव्य स्वीकार किये हैं। इन उह द्रव्योंम काल द्रव्यको छोड़कर बाकीके पाच द्रव्योंको पञ्च अस्तिकायक नामसे कहा जाता है। कुछ श्वेताम्बर विद्वान काठ द्रव्यको द्रव्योंमें नहीं गिनत। वम लिये उनके मतमें पाच अस्तिकाय ही पाच द्रव्य माने गये हैं।

काल शब्द बहुत प्राचीन है। वैदिक विद्वान अथर्ववेदमें अग्नि-संहिता काठ शब्दका 'मरुत' के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। यहा काठको सृष्टिका संहार करनेवाग कहा गया है। अथर्ववेदमें कालको नित्य पदार्थ माना है, और इस निय पदार्थसे प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति स्फाकार की गई है। बृहदारण्यक, मैत्रायण आदि उपनिषद्में भी काल शब्दको विभिन्न अर्थोंम प्रयुक्त किया है। महाभारतमें कालका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यहा काल शब्दको शिष्ट, दण, हठ, भय भयित्य, मिहित, भागधेय आदि नाना अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है।

वैदिक और बाद दशनोंम काल सन्धी दो प्रकारकी मान्यतायें दृष्टिगोचर हाती हैं। (१) न्याय, जैनपिकोंम मत है, कि काल एक सर्वव्यापी अखण्ड द्रव्य है। यह केवल उपाधिसे भिन्न भिन्न क्षण, मुदत आदिके रूपमें प्रतीत हाता है। पुराणमासनोंम भा कालको व्यापक और निय स्वीकार किया है। इनके मतमें जिस प्रकार जण निय आर व्यापक होकर भी दीन, हरण आदिके रूपमें भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, उसी तरह काठ भी उपाधिक भेदसे भिन्न मात्राम दता है। सग्रास्तिवादी गौड भी भूत, भविष्य आर वर्तमान

१ विशयक लिये देखा अमिधानरात्रन्द काय भाग २ पृ २१९-२४२।

२ वैशयिक गणकिके एह पदार्थ—द्रव्य गुण कम सामान्य विशय और समवाय।

३ मगवती २५४ उत्तरायणन २८-७८ प्रणयना जादि श्वेताम्बर आगम ग्रथोंम काल शब्द सवधी दोनों पक्ष मिलते हैं।

४ १० १९०। ६ १९५३ ५४। ६ ४८ १६। ७ ६ १५। ८ देखा ग सिद्धधर शास्त्रीका काठक पृ ३९४८। काल सवधी वैदिक मान्यताओंके विस्तृत विवरणक लिये देखा प्रा ब्रह्मसूत्री Pre-Buddhist Philosophy भाग ३ अ १३। काठवादिकाके माके सम्बन्धक लिये माध्यमिककारिका, सन्मणि टाका आदि ग्रथ देखने चाहिये।

काष्ठा अम्लिय मानत है ( २ ) काल सन्धी दूमरी मान्यताको माननवाले साय, योग, उदान्त विनानवाद आर शन्यवाद मतेके अनुयायी हैं । इन लोगके अनुमार काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है । साय विद्वान विज्ञानभिक्षुका कथन है, कि नियन्त्राल प्रवृत्तिका गुण है, आर गण्डकाष्ठा आकाशकी उपाप्रियोसे उत्पन्न होता है । योगशास्त्रमें भी कहा है, कि काष्ठ काई नाम्निपिक पदार्थ नहा है, काल लौकिक व्यग्रहारक लिए दिन, रात आदिका विभाग किया जाता है । यहा केवल क्षणको काष्ठ नामने कहा गया है । यह क्षण उत्पन्न हात हा नाग हा जाता है, ओर फिर दूसरा क्षण उत्पन्न होता है । क्षणोंका समुदाय एक काष्ठा नहा हो सकता, इस लिये क्षणोंका क्रम रूप जो काल माना जाता है, वह केवल कल्पित है । शाकर वेदाती लाग केवल ब्रह्मको ही सय मानत है । इस लिये इनक मतम काष्ठ भा काल्पनिक रस्तु है । शाकरकी तरह रामानुज, निम्बार्क, मन आर गुरुभ सम्प्रदाय-वाग्ने भी कालको नाम्निपिक पदार्थ स्वीकार नहीं किया । शातरंक्षित आदि पाद आचार्य भी काल द्रव्यका पृथक् अम्लिय स्वाकार नहीं करते । पाश्चात्य विद्वान भी उक्त काल सन्धी दाना सिद्धाताका मानत है ।

जैन प्रथाम काल सन्धी उक्त दाना प्रकारकी मायताये उपलब्ध हाती है । ( १ ) एक पक्षका कहना है, कि काष्ठ काई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है । जीन और अजीन द्रव्योंकी पर्यायके परिणमनका ही उपचारमे काष्ठ कहा जाता है, इस लिये जीन, अजीन द्रव्योंमें ही काल द्रव्य गर्भित हो जाता है । ( २ ) जैन विद्वानोका दुमरा मत है, कि जीन आर अजीनकी तरह काष्ठा भा एक स्वतंत्र द्रव्य है । इस पक्षका कहना है, कि जिस प्रकार जीन और अजीन गति आर स्थितिना स्वभाव होनेपर भी धर्मात्मिकाय आर अजमात्मिकायको पृथक् द्रव्य माना जाता है, उसा प्रकार काष्ठा भी स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिये । यह मान्यता चनाम्नर तथा दिग्म्वर दाना प्रथामे मिलता है ।

१ तत्तमप्रह पृ २९ ।

२ अत्राहु कऽपि जीवादिपयाया वतनादय ।

काष्ठा इत्युच्यत तज्जे पृथक् स्व तु नात्म्यमौ ॥ लाकप्रसादा २८-५ ।

दिग्म्वर प्रथाम काष्ठ स्वकी स्वाकार न करनका पक्ष कही उपरुध नहीं हाता । परन्तु यह दान ध्यान देने योग्य है कि यगं व्यवहार कालको निश्चय कालका पयाय स्वाकार करके व्यग्रहार काष्ठा जाव और पुद्गलका परिणम माननेका उक्त मित्रता है—यस्तु निश्चयकाष्ठापयायका व्यवहारकाल स जीवपुद्गलपरिणामेना भिन्नम्यमानत्वाद्यदायत एवाभिगम्यत इति । अमरचन्द्र-पञ्चमिन्द्राय टारा गा २३ ।

३ रूप पयाका चार मान्यताआका उद्धरण प मुखगालनेने पुरातत्व क किसी अक्षमें किया है—

( क ) काष्ठ एक और अणु मात्र है ( ख ) काल एक है लकिन वह अणु मात्र न हाकर मनुष्य क्षत्र लोक वर्ती है ( ग ) काल एक और ऐक्यव्यापी है ( घ ) काष्ठा जसल्य है, और सब परमाणु मात्र हैं ।

जैन शास्त्राम काल मन्थी मान्यता

सामान्य रूपम जैन शास्त्रोंमें कालक दो भेद माने हैं—निश्चय काल ( द्रव्य रूप ) । आर व्याहार काल (पयाय रूप) । निम्न कारण द्रव्यमें बतना होती ह, उम निश्चय काउ रहते ह । जिम प्रकार वम और अर्म पदायोंकी गति और स्थितिमें सत्कारी कारण हैं, उसी प्रकार काउ भी स्वय प्रवर्तमान द्रव्योंकी वर्तनाम सहकारी कारण ह । जिसके कारण जीन और पुद्गल परिणाम, क्रिया, उठापन, उडापन आदि व्याहार हा, उसे व्याहार काउ रहते हैं । समय, आनडी, घडी, घटा आदि मय व्याहार काउका ही रूप हैं । व्याहार काउ निश्चय काउकी पयाय है, आर यह जीन आर पुद्गलक परिणाममे ही उत्पन होता ह, इम नियम व्याहार कालको जीन और पुद्गलक आश्रित माना गया ह ।

व्याहार काउ मनुष्य क्षेत्रमे ही होता है । निश्चय काल द्रव्य रूप होनस निय ह, आर व्याहार काउ क्षण क्षणमें नष्ट होनके कारण पर्याय रूप हानमे अनिय कहा जाता है । काउ द्रव्य अणु रूप हैं । पुद्गल द्रव्यकी तरह काउ द्रव्यके रूप नहीं हान । चित्तन छाका काशक प्रदेश हाते हैं, उतने ही कालाणु हाते हैं । य एक एक काउाणु गति रहित होनेसे लामाकाशक एक एक प्रदेशके उपर रत्नाकी रत्नकी तरह अस्थित हैं । काउ द्रव्यके अणु हानसे कालम एक ही प्रदेश रहता है, वम उिये काउ द्रव्यमे नियम प्रचय न हानसे कालको पाच अभिकार्योम नहीं गिनाया । आकाशक एक स्थानम मन्द गतिमे चलनेवाला परमाणु उोकाकाशक एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक चित्तन कालमें पहुचता ह, उस समय कहते हैं । यह समय बहुत सूक्ष्म होता है, आर प्रतिक्षण उत्पन और नष्ट होनेके कारण इसे पयाय कहते हैं । एक एक काउाणुमें अनन्त समय हात है । ये काउाणुक अनन्त समय व्याहार नय की अपेक्षा समझन चाहिये, बालनमे काल द्रव्य ( निश्चय काउ ) लोकाकाशक बराबर

१ प्रां ए चक्रवर्ति काल द्रव्यकी इस मान्यताकी आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतसे तुलना का है—

The author differentiates between relative time and absolute time. The distinction is quite identical with Newtonian distinction between relative and absolute time. The author not only admits the reality of time but also recognises its potency. In this respect one is reminded of the great French philosopher Bergson. Bergson has revealed to the world that time is a potent factor in the evolution of Cosmos. It is also worth noticing that modern realist led by the mathematical Philosophers admits the doctrine that time is real and is made up of instants or moments. *Pañchāstikāya sūtra* १०५, १०६, २२ ।



अमरैय प्रशौक्ता धारक ह, उसे आकाश आदिकी तरह एक और पुद्गलकी तरह अनंत नहीं मान सक्त । यह मत दिगम्बर प्र-पोंमें और हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें मिलता है ।

१ श्वताम्बर सम्प्रदायमें काण्णुके अस्तय प्रदेश नहीं माने गये हैं । कालाणुआक अमन्यात प्रदेशोंका संज्ञान युक्तिप्रयोग आदिमें किया गया है—

यसु कालाणुनामसायातव्य मताः पराथै प्रपन्न तदनुपपन्न । द्रव्यत्वव्याहृते । यद् यद् द्रव्य तदङ्गमनन्त वा । यदुक्तमुत्तरायणसूत्र—

धम्मा अहम्मो आगारं दव्व णङ्गमाहिय ।

अणताणि य द्वाणि काणे पाग्गज्जनुणा ॥

प्रत्याकाशप्रदेश तन्मत काण्णुस्वकार शेषद्रव्याणामिवैतदीयस्ति यक्प्रचयोऽपि स्यात् । स चानिष्ट । यना गाम्भटसारवृत्तौ सूत्र च—

द्व्यच्छत्रमकाल पचत्थिकायसण्णियं होइ ।

वाले परसए चउ जम्मा णत्थित्ति णिहि ॥ ६ ७ ॥

कालद्रव्ये प्रदेशप्रचयो नास्तौत्यथ । न च अप्रदेशत्वात् तियक्प्रचय इति वाच्य । पुनरप्यपि तद्भावप्रसंगान् । प्रदशामाप्रत अप्रदेशमिति तत्क्षणस्य तत्राप विद्यमानत्वान् । अथ पुद्गलस्यास्ति अप्रदेशत्वद्रव्यण पर पर्यायेण तु अनेकप्रदेशत्वमप्यस्ति । कास्य तु नैतदिति चेत् । न । अनेनापि प्रसगापराकरणान् । न हि निद्रमत्वेन पवतेऽग्निमन्त्र प्रसज्यमाने यत्किंचिद्गनाभाव तदभावा प्रतायते इति स्थित निर्यक्प्रचयप्रसंगन । न चैतत् समयद्रव्याणामानन्त्येऽपि तुल्य । तदानन्त्यस्य अतीतानागतपक्षथा स्वीकारान् । यदुक्तमुत्तरायण्यने— एमव सतइ पप्य इति । तदुत्तौ षाडिवैतापरनामथथा श्रीगातिसूरयाऽप्याहु — कालस्यान त्वमनी तानागतापेक्षथा ' इति । आभगवतीवृत्तौ श्रीअभयदेवसूरयाऽपि—एका धमास्तिवाशप्रदेशोऽद्वासमयै स्पृष्टवैमि यमादनन्तै अनादिस्वादाद्वासमयानाम् इति । मघविचयगणि—युक्तिप्रवाधगा २३ पृ १८९ ।

२ मघविचयगणि यागशास्त्रम बणन क्रिय हए काउ द्रव्यक सिद्धातसे श्वताम्बर मान्यताका समन्वय करते हैं—

एतेन योगशास्त्रावातरदण्णु— ' अवावाशप्रदेशस्था भिम्मा काण्णवत्सु य ।

भाशाना पारेवनाय मुत्थ्य का स उच्च्यते ।

ज्वाति शास्त्रे यस्य मानमुत्थने समयादिकम् ।

स व्यावहारिक काल कालवैदिभिरामत ॥

नवर्षाणादिभेदेन यदमा भुवनादरे ।

पदाया परिवत्तन्त तत्कालस्यैव चर्चितम् ॥

वतमाना अनोतरव भाविनो वतमानता ।

पदाया प्रतिपद्यन्त कालक्रीडाविश्रमिता ॥”

इत्यादिला फाल्गुणव परस्पर विवर्त्ता प्रतिपादितान् पर्यायस्या इत्युक्तं । न तु तेषां द्रव्यरूपत्व । अनंत समयस्वरूपत्वेन तद्विपणस्य सूत्रान् । आगमऽपि अनंतद्रव्यत्वेन कथनाथ । यद्यनंतसमया द्रव्यसमया इत्यथ तदा व्याहृति स्पष्टैव कालाणुना द्रव्यव तथामसंख्यतत्वान् । युक्तिप्रवाधगा २३ पृ १९७ द्रव्याणुयोगतकणा ११ १५ ।

**शका**—समय रूप ही निश्चय का है, शकको छोड़कर कायाणु द्रव्य रूप कोई निश्चय काल नहीं देखा जाता। **समाधान**—समय काठकी ही पर्याय है, क्योंकि यह उत्पन्न और नाश होनेवाला है। जो पर्याय होता है, वह द्रव्यके बिना नहीं होता। जिस प्रकार घट रूप पयायका कारण मित्र है, उसी तरह समय, मिनिट, घण्टा आदि पयायोंक कारण कायाणु रूप निश्चय काठको मानना चाहिये।

**शका**—समय, मिनिट आदि पयायोंक कारण द्रव्य नहीं है, किन्तु समयकी उत्पत्तिमें मन्दगतिमें जान गले पुद्गल-परमाणु ही समय आदिका कारण है। जिस प्रकार निमेष रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें आगोंके पल्लकोंका गुठना और गल्ल होना कारण है, इसी तरह दिन रूप पर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्य कारण है। **समाधान**—हमेंगा कारणक समान ही काय हुआ करता है। यदि आगोंका गुठना और गल्ल होना तथा सूर्य आदि निमेष तथा दिन आदिके उपादान कारण होत, तो जिस प्रकार मित्रके वन हुए घडेमें मित्रक रूप रस आदि गुण आ जाते हैं, उसी तरह आगोंका गुठना, गल्ल होना आदि पुद्गल परमाणुओंके गुण निमेष आदिमें आ जाने चाहिये। परन्तु निमेष आदिमें पुद्गलक गुण नहीं पाये जाते। इस लिये समय आदिका कारण निश्चय काठको मानना चाहिये।

**शका**—यदि आप कायाणु द्रव्योंका लोकाशाग व्यापी मानकर उन्हें लोकाशादेके बाहर अलंकाशादेमें व्याप्त नहीं मानत, तो आकाश द्रव्यमें किम प्रकार परिचित होना है। **समाधान**—लोकाशाद और अलोकाशाद दो अलग अलग द्रव्य नहीं हैं। शक्तियम आकाश एक अण्ड द्रव्य है, केवल उपचारम लोकाशाद और अलोकाशादका व्यवहार होता है। अतएव जिस प्रकार एक स्पर्शन इन्द्रियको विषयसुखका अनुभवं हानम यह अनुभवं सम्पूर्ण शरीरमें होता है, उसी तरह कालाणु द्रव्यके लोकाशागम एक स्थानपर रहकर सम्पूर्ण आकाशम परिणमन होता है, इस लिये काल द्रव्यम अलोकाशागमें भी परिणमन मित्र होता है।

**शका**—काल द्रव्य धम, अम आदि द्रव्योंकी तरह निरवयव अण्ड क्या नहीं। काठ द्रव्यका अणु रूप क्यों माना है। **समाधान**—काठ का प्रकारका है—व्यवहार और मुख्य। मुख्य काठ अनेक है, कारण कि आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें व्यवहार काठ भिन्न भिन्न रूपसे होता है। यदि व्यवहार कालको आकाशक प्रत्येक प्रदेशम भिन्न भिन्न न माना

१ द्रव्यतस्तु लोकाशादप्रदेशपरिमाणकोऽन्वयेव एव काण मुनिभि प्राञ्च न पुनरक एवाकाशादि वन् । नाशन्त पुद्गलान्द्रव्यवन् प्रति लोकाशादप्रदेश वदमानाना पदाधानाम् वनिहेतु वदिद । त इत्यत्रवालक ५-६० । तुम्हा करा—न च कालद्रव्यस्य समय इति पारंभाया न युक्ता, समवय्य पथायवादिनि वाच्य । श्वेताशाम्बद्रथनरेऽपि सामत्यान् । यदुक्त तत्त्वदापिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्री अमृतचम्पै—'अनुत्पन्न विध्वस्तो द्रव्यममय उत्पन्नप्रवृत्तौ पर्यायसमय । युक्तिप्रबोध गा २३ पृ १८९ ।

० विशेष विवेचनके लिये दत्ता द्रव्यसंग्रह १९, २२, २५ गाथाका वृत्ति द्रव्यानुयायनकथा १११४ म आगे युक्तिप्रबोध कालद्रव्य प्रकरण ।

जाय, तो कुरुक्षेत्र, लका आदिक आजाश प्रदर्शांम दिन आदिका व्यवहार नहीं हो सकता । इस ठिये व्यवहार कालके आकाशक प्रदेशोंम भित भित हानेसे निश्चय काल भी कालण रूपमे भित भित निश्च हाना ह । क्याकि निश्चय कालके विना व्यवहार काल नहीं होता ।

श्लो २३ पृ २७४ प १६ द्वादशाग—

शुद्धज्ञानके दो भेद हैं—अगप्रविष्ट आर अगग्राह । सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए प्रवचनक गणधरोंद्वारा शास्त्र रूपमे लिख जानको अगप्रविष्ट कहते हैं । इसके बारह भेद है । इस ही द्वादशाग कहते है । द्वादशागका गणपिटक भा कहा जाता है । जैन द्वादशागके मूत्र उपदेश कप्रभेदेन मान जाते हैं । द्वादशाग—आचाराग, सूत्रताग, स्थानाग, समवायाग, भगवता ( व्याख्याप्रज्ञप्ति ), ज्ञातममज्ञा, उपाममज्ञा, अतदृश्या, अनुत्तरा-पपादिकदशा, प्रश्नन्याकरण, विपाकमूत्र आर दृष्टिमाद । दिग्म्वरोंकी मान्यताके अनुसार यह साहित्य उम होगया ह । श्रताम्बर आम्नायमें दृष्टिमादको जेडकर ग्याह अग आज कल भी उपलब्ध हैं ।

आचाराग—मम मुनियके आचारका वणन ह । इसमे दो श्रुत स्कन्ध हैं । प्रथम श्रुतस्कन्धमे आठ आर द्वितीय श्रुतस्कन्धमे मोडह अधयन ह । द्वितीय श्रुतस्कन्धमें महाशरीरका जानन चरित्र ह । प्रा जकोनी आदि विद्वानोंका मत है, कि आचाराग मूत्र सम सुत्रोंसे प्राचीन ह । इस अगको प्रवचनका सार भी कहा जाता है । इसके ऊपर भद्रनाहूकी निर्युक्ति आर शीलानकी टीका ह ।

सूत्रकृताग—सूत्रकृतागमे साधुओंकी चर्या आर अहिंसा आदिका वणन ह । इसमें क्रिया वादी, अक्रियावादी, जैनयिक, अतानवादी अनेक मतोंकी समीक्षाके साथ ब्राह्मणोंके यज्ञ-याज्ञ आदिकी निन्दा की गई ह, इस लिए यह अग ऐतिहासिक महत्त्वना ह । इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं । प्रथम श्रुतस्कन्ध अज्ञानमे ह । इसमें सोलह अधयन हैं । द्वितीय श्रुतस्कन्ध गधमें ह । इसमें

१ प्रमथकमलमात्त परि ४ पृ १६९ ।

२ द्वादशागमे बारह उपाग दस प्रकीणक एह छेदमूत्र वा चूलिमसूत्र आर चार मूलसूत्रका भिगनेमे मूलसूत्रक श्रताम्बरके कुल ४५ आगम होत हैं । बारह उपाग—१ औपपातिक २ राजप्रदीय ३ जीवानी वाभिगम ४ प्रज्ञापना ५ सूत्रप्रपत्ति ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति ८ निर्यावली, ९ कल्यावतसिका १० पुण्डिका ११ पुण्डचूलिका १२ वृण्णदशा । दस प्रकीणक—१ चतु शरण २ आतुरप्रत्यारयान ३ भक्त परिणा ४ समार ५ तटुवनालिक ६ चशविज्ञय ७ देवेन्द्रस्तव ८ गणिविया ९ महाप्रन्वाहयान १ वरन्व । छह छेदमूत्र—१ निशाथ, २ महानिशाथ ३ व्यवहार ४ आचारदशा, ( दशाश्रुतस्कन्ध अथवा दशा ) ५ वृद्धकल्प ६ पचकल्प ( जातकल्प ) । चूलिवासूत्र—अनुयागद्वार, २ नदिमूत्र । चार मूत्रमूत्र—१ उत्तरा अधयन २ आचरयन ३ दशवैक्रानिक ४ विज्ञानयुक्ति ( आपभियुक्ति ) ।

सान अययन है । इमपर भद्रगहूकी नियुक्ति और शीअरुकी टीका है । दिगम्बराके अनुमार इममें ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना आदि व्याहार धर्मकी क्रियाओंका वर्णन है ।

**स्थानाग**—इममें त्रीश्रोंके अगुत्तरनिवासकी तरह एकमे लेकर दस तरु जीव आदिक स्थान बताये गये है । इसम द्रव्योंके स्वरूप आदिका विस्तृत वर्णन है । स्थानागम दम अयाय है । इमपर अभयदेव मूरिकी टीका है । दिगम्बरोंके अनुमार इस अगमे दसकी मयादा नहीं है ।

**समवायाग**—इममें एकसे उगाकर बाढानाडि रान तरुकी वस्तुओंका वर्णन है । यहा तारह अग आर चौदह पूर्वोंका वर्णन मिश्रता है । इस अगमें पत्रह प्रकारकी ब्राह्मी लिपी, उत्तराययनरु उचाम अययन तथा नन्दिमूरका उल्लेख किया गया है । विद्वानोंका अनुमान है, कि यह मूर आदशागरु सूत्रपद्ध होनेक बाद लिखा गया है । इसपर अभयदेव मूरिकी टीका है । दिगम्बरोंके अनुमार इमम द्रव्य, क्षेत्र, काठ और भाग्य अनुमार पदार्थोंके सादृश्यका ( समवाय ) रूपन है ।

**भगवती**—इस व्याख्याप्रज्ञप्ति भी कहते हैं । इम सूत्रम ४१ शतक है । इमम महानार आर गानम इन्द्रभूतिने बीचमें होनेवाडे छत्तास हजार प्रश्नाचरोंका वर्णन है । इम अगम महागीरका जीवन, उनकी प्रवृत्ति, उनका शिष्य, उनके अनिशय आदि विषयोंका विशद वर्णन पाया जाता है । भगवताम पार्वनाथ, जामाळि और गाशाळ मक्खलिपुत्तके शिष्योंका वर्णन है । इमपर अभयदेव मूरिकी टीका है । दिगम्बरोंके अनुसार इममें जीव है, या नहीं, यह अरुक्तव्य है, अत्रा रक्तव्य, आदि साठ हजार प्रश्नाके उत्तर हैं ।

**ज्ञातार्मकथा**—इम ससृत्तमें ज्ञातार्मकथा, नापार्मकथा, तथा प्राकृतम णाणम्म-कहा आर णाहम्मकहा भी कहते हैं । इसम उनीम अययन आर दो श्रुतम्कथ है । इसमें र्म-कथाओंका उदाहरण सहित वर्णन है । प्रथम श्रुतम्कथके सातमें अयायमें पत्रहमें तीर्थकर मल्लिकुमारकी और सोडहमें अयायम ट्रेपदीरी कथा है । इमपर अभयदेव मूरिने टीका लिखी है । दिगम्बरका अनुसार इममें तीर्थकरकी कथायें अत्रा आरयान-उपाग्यानोंका वर्णन है ।

**उपासकदशा**—इममें दम अययनोंमें इस उपासका ( थापकों ) की कथाका वर्णन है । ये दस कथायें सुगर्मा जम्बुस्वामीका कहते हैं । यहा सातमें अयायम गोशाळ मन्वलिपुत्तरु अनुयायी सल्लपुत्तकी कथा आती है । यह सदाउपुत्त पीठेमें महागीरका अनुयायी हो गया था । उपासकदशामें अत्रातशत्रु रात्राके नामका उल्लेख आता है । इसपर अभयदेवकी टीका है । दिगम्बर प्रथोमें इम उपासकाययन कहा गया है ।

**अन्तकृदशा**—इममें इस अयायोमें मोक्षगामी, साधु और साध्वियाका वर्णन है । इमपर अभयदेवने टीका लिखी है । दिगम्बर प्रथोम इस अगमें प्रत्येक तीर्थकरक तीर्थमें दारुण उपमार्ग मडकर माक्ष प्राप्त करनवाउ दम मुनियोंका वर्णन है ।

अनुचरीपपादिकदशा—इसमें अनुचर विमानोंको प्राप्त करनेवाले मुनियोंका वर्णन है। यहा कृष्णक्री कथा मिलती है। इसपर भा अभयदेवकी टीका है।

प्रश्नव्याकरण—इस प्रश्नव्याकरण दशा भी कहते हैं। इसमें १९ अव्याय है। यहाँ पाच आश्रय द्वार और पाच सरर द्वारका वर्णन किया गया है। टीकाकार अभयदेव सूरी है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें आक्षेप आर निक्षेपमे हेतु नयाप्रित प्रश्नाका म्पटीकरण है।

विपाकसूत्र—इसमें बीस अययन है। प्रकृतसे दुखी मनुष्याको देखकर इन्द्रभूति महावीरसे उन मनुष्योंके पूर्व भयाको पूछते हैं। महावीर मनुष्याके सुख-दुखके विपाकका वर्णन करते हैं। इसमें दस कथा पुण्य फलकी, और दस कथाये पाप फलकी पायी जाती हैं। इसपर अभयदेव सूरीका टीका है।

दृष्टिवाद—इसमें अय दर्शनोंके ३६३ मताका वर्णन था। यह सूत्र लभ हा गया है। चादह पूरे इसीके भीतर गर्भित हैं। इसके पाच भेद हैं—परिकम, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग आर चूलिका। श्वेताम्बरोंके अनुसार परिकर्मक सात भेद हैं—सिद्धसेणिआ, मणुम्स-सेणिआ, पडसणिआ, जोगाङ्गसेणिआ, उपमपज्जसेणिआ, शिष्यनहणसणिआ, पुआपुज सणिआ। इसमें पहल दोके चौदह चान्ह, और पीछेके पाचके ग्यारह ग्यारह अनातर भेद हानसे परिक्रमने कुठ ८३ भेद होते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें परिक्रमके पाच भन् किये गये हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपममुद्रप्रज्ञप्ति आर व्याग्याप्रज्ञप्ति। सूत्र बार्दस है। बार्दस सुत्रके चार चार भेद होनेस सब सुत्र अठासी हाते है। पूर्वगतके चादह भेद हैं—उत्पाद, अभायणीय, वीधप्रवाद, जम्भिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सयप्रवाद, आत्म-प्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रयाएयान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशा और लोक विदुसार। अनुयागके दो भेद हैं—सूत्र प्रथमानुयोग आर गण्डिकानुयाग। अनुयाग का विगतर, प्रथम प्रथमानुयोगके नामसे कहा है। चूलिका-रताम्बरोंके अनुसार चौदह पूर्वमें केरठ पहले चार पूर्वों ही चूलिका है। पहले पूर्वकी चार, दूसरे पूर्वकी चार, तीसरेकी आठ और चारै पूर्वकी दस चूलिकायें हैं। दिगम्बर ग्राम चूलिकाका पाच भेद मिलत हैं—जलगतता, स्थलगता, मायागतता, रूपगतता आर आकाशगतता।

अगमवाद—गणपतोंके पीछे होनेवाले आचार्य अन्य शक्तिकार शिष्योंके लिये अर्ग वाच्यकी ग्वा करता है। अगमवाद अनेक प्रकारका है। श्वेताम्बर प्रथम अगमवादके दो भेद किय गये हैं—आरक्ष्यक आर आरक्ष्यक व्यतिरिक्त। आरक्ष्यकके उह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तत्र, यदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सग और प्रत्यायान। आरक्ष्यक व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कालिक और उत्काटिक। उत्तराययन आदि छत्तीस ग्रन् कालिक, आर शशकाटिक

आदि उनतीस प्रय उक्ताधिक हैं । दिग्मन्त्र प्रथम अगनाक्षके चाँदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्दशतिमन्त्र, रुद्रना, प्रतिक्रमण, पैनयिक, वृत्तिक्रम, दशरैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, न्यायन्य, महाकल्प, पुटरीन, महापुडरीक और निषिद्धिका ।

द्युताम्वर परम्पराक अनुसार पहल पहल य आगम प्रथ ईमरी सन् पून ३०० म म्यूत्रभद्रक अभिपतित्वमें पाण्डिपुत्रमें शाननाडा परिपत्में मप्रह क्रिये गये थे। उसके बाद ईसाकी उठी शताब्दिके आरभम त्रिगणिते म्हुभामें इनको ससोत्रन करके उरिा । प्रो जेकोनी, प्रा विटरनीन आदि यूरोपीय विद्वानोंका मत है, कि ये सम्पूर्ण आगम प्रथ एक समयमें नहीं लिख गये हैं । किन्तु भिन्न भिन्न आगमका भिन्न भिन्न समय है । इम क्रिये आगमका प्राचीनतम भाग महारैकके निर्माण जानेके दो मों परम बाद अर्थात् इसाके पूर्व तीसरी शताब्दिके आरभम, तथा आगमका समय अर्वाचीन भाग इमारी उठा शताब्दिमें देवर्षिगणि नमाश्रमणके कात्तम लिखा गया ह ।

श्र २७ पृ ३०६ प ९ प्राण—

प्राण शब्द वैदिक शास्त्रोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है । वहीं प्राण शब्दका प्रयाग आमाके अर्थमें, कहीं इन्द्रके अर्थमें, कहीं सूर्यके अर्थमें, कहीं सामक अर्थमें इम तरह इम शब्दका प्रयोग नाना अर्थोंमें पाया जाता है । एक जगह उपनिषद्गमें प्राणको आमाका वाय कहा है, दूसरी जगह आमासे प्राणकी उत्पत्ति बताई गई है । कहीं प्राणको प्रना कहा गया है, और कहीं प्राण शब्दको मृत्युके पश्चात् जानेवाले सूक्ष्म शरीरका पवाय-वाची बताया गया है । वेदाती लोगाने प्राणको ब्रह्मका पर्यायवाची माना है ।

जैन सिद्धान्तमें 'प्राण' एक पारिभाषिक शब्द है । गोमटसार जीनकाण्डमें 'प्राण' अधिकार ही अलग है । तिसके द्वारा जीव जीता है, उसे प्राण कहा जाता है । प्राणके दो भेद हैं—द्रव्य प्राण आर भाव प्राण । आगाना रोलना, बद करना, खासोइनास लेना, काय-न्यापार आदि वाय द्रव्य इन्द्रियोंके व्यापारको द्रव्य प्राण कहते हैं । तथा इन्द्रियारणक क्षयापशममें होनेवाली चैतन्य रूप आमाकी प्रवृत्तिको भाव प्राणे कहते हैं । ये प्राण दस हात हैं—पाच इन्द्रिय, मन, वचन और कायबल, खासोइनास और आयु । एकेन्द्रिय जीवके चार, आर सड़ी पचन्द्रियके गणहोने गुणस्थान तरु दसा प्राण होते हैं । तेरहव गुणस्थानम वचन, खासाइनास, आयु और कायबल ये चार प्राण होते हैं । आगे चउकर इसी गुणस्थानमें वचनपडका अभाव होनेमे तीन, और खासोइनासका अभाव होनेसे दो प्राण रह जाते हैं । चादहन गुणस्थानमें कायबलका भी अभाव होनेसे केवळ एक आयु प्राण अशेष रह जाता है ।

सिद्ध जीवोंके मोक्षार्थस्वामें शरीर नहा रहता, अतएव सिद्धोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि भाग प्राण माने गये हैं। अतएव सप्तरी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपक्षा, आर सिद्ध जीव भाग प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं।

श्लो २८ पृ ३२१ प २४ ज्ञानके भेद—

ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान आर मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष आर परोक्ष। इन्द्रिय आदि सहायताके बिना केवल आत्माके अलम्बनसे पदार्थोंके स्पष्ट जाननेका प्रत्यक्ष, और इन्द्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंके अस्पष्ट जान करनेको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानके दो भेद हैं—सायनहारिक आर पारमार्थिक। वाय इन्द्रिय आदिकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको सायनहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। सायनहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—इन्द्रियासे होनेवाला आर मनसे होनेवाला। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष दोनोंके अवग्रह, इहा, अनाय और धारणा ये चार चार भेद हैं। इन्द्रिय आर मनके निमित्तसे दर्शनरूप ज्ञान होनेवाला जानका अवग्रह कहते हैं। अवग्रहके जाने हुए पदार्थमें विशेष इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे मंगुलाकी पक्ति आर पताकाको देखकर यह ज्ञान होना, कि यह पताका हानी चाहिये। ईहाके बाद

१ जैनेतर दर्शनकारोंने इन्द्रियचरित्तन जानका प्रत्यक्ष और आनिन्द्रिय ज्ञानका परोक्ष कहा है।

२ नदिस्मृतमें प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष य दो भेद किये गये हैं। यही पहले ती मतिज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अबधि आदि तानको आनिन्द्रिय प्रत्यक्षमें शामिल किया गया है और आगे चत्वर मतिज्ञानका ध्रुतज्ञानकी तरह पराक्ष कहा गया है। अनुयोगद्वारास्मृतमें प्रत्यक्षके दो भेद करके एक भागमें मतिज्ञानको और दूसरमें अवाध आदि तीनको समित किया गया है। दया प० सुखलालजीन्यायावतार भूमिका ( गुणरत्नी )। तथा तुम्हा कथा—अत्राह शाय — ' जायपराक्षम् इति मत्वायस्मृत मतिध्रुतद्रव्य पराक्ष मणित तिष्ठति कथ प्रत्यक्ष भवति। परिहारमाह—तत्तुल्यमायात्पानम्। इद पुनरपवादव्यात्पानम्। यदि तत्तुल्यगव्यात्पानम् न भवति तर्हि मतिज्ञान कथ तत्त्वार्थे परा न भणित तिष्ठति। तत्रशास्त्र साध्यावहारिक प्रत्यक्ष कथ जान। यथा अपवादव्यात्पानन मतिज्ञान पराक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्मारामिमुख भावध्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्यं न भवत्ये। अत्राह—द्रव्यमग्रहृति ५।

३ सायनहारिक प्रत्यक्ष वास्तवमें परोक्ष ही है—तद्दीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहारमायापारसपायचत्वर मायन परोक्षमेव धूमादीमिदानवद्ध्यवधानाविशेषात्। किं चासिद्धधनेरान्तिवविश्वद्वानुमानाभासतत्सदावधिपयथान्य वलायसमवासादनुमानवन्धेनस्मरणादिपूर्वनिश्चयमभवाच्च परमायन पराक्षमवैतत्। यद्योविचय—चैतन्यपरि भाषा पृ ११४ भावनगर।

४ यथा यद्योविचयज्ञाने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और आनिन्द्रिय प्रत्यक्षके मति और ध्रुत दो भेद करके मति ज्ञानके अवग्रह आदि चार और ध्रुतज्ञानके चौदह भेद किये हैं—तदेव सप्रभेद सायनहारिक मतिध्रुतज्ञान प्रत्यक्ष निरूपितम्। जैनतत्र परिभाषा।

५ उभास्वामि पूज्यदा अकण्ठ आदि आचार्योंने मतिज्ञानके इन्द्रियजन्य और आनिन्द्रियजन्य ज्ञान दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह इहा अवाय और धारणा ये चार भेद किये हैं।

विशेष चिह्नोंसे पताकाका ठीक ठीक निश्चित रूप ज्ञान हाना अज्ञान (अप्राप्य) है। तथा जाने हुए पदार्थोंको कालांतरमें नहीं भूटना, धारणा है। अनग्रहके दो भेद हैं—व्यनानग्रह और अर्थाग्रह। दर्शनक बाद अत्यक्त प्रवृत्तोंका व्यनानग्रह, आर यत्क ग्रहणका अधानग्रह कहते हैं। व्यनानग्रह चतु और मनमे नहीं हाता, इम लिय यह प्राकीकी चार इन्द्रियासे ही होता है। अर्थाग्रह पाच इन्द्रिय आर मनम होता है, इम लिये अधानग्रहके उह भेद, और व्यनानग्रहके चक्षु आर मनका निकाल ठेनेस चार भेद हात है। उह प्रकारके अर्थाग्रहका तरह इहा, अज्ञान आर धारणाक भी उह उह भेद है। एम प्रकार इन चावीस भेदमें चार प्रकारका व्यनानग्रह मित्रा ठेनेसे मतिज्ञानके अठारम भेद हाते हैं। यह अठारस प्रकारका मतिज्ञान गृह, एक, गृहविग्र, एकविध, क्षिप्र, अनिप्र, अनिसृत, निसृत, अनुक्त, उक्त, धुन, आर अधुनके भदस गारह गारह प्रकारका है। अतएव अठारमका गारहस गुणा करनेसे इन्द्रिय आर अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कुल ३३६ भेद होते हैं।

जो ज्ञान केवल आत्माकी सहायतामे हो, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्या धायोपगमिक ( निम्न ) और ध्यायिक ( सकल ) के भेदसे दो प्रकारका है। जो ज्ञान कर्मके क्षय और उपगमसे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ हो, उसे भ्रायापशमिक कहत है। यह ज्ञान जगति और मनपर्ययके भेदसे दो प्रकारका है। अनभिज्ञानारणके क्षयोपशम हानपर इन्द्रिय और मनकी सहायतामे विना सम्पूर्ण रूपा पदार्थोंको जाननमात्रको अनभिज्ञान कहत है। अनभिज्ञानका नियम तीन छोर है। इमके दो भेद हैं—मनप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अनुगामी, अननुगामी, वर्तमान, हीयमान, अनस्थित और अनस्थितक भेदसे अनभिज्ञानके उह भेद भी होते हैं। मनपर्ययवानारणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय आर मनके विना मातुप क्षेत्रगती जायोंके मनकी गत जाननेको मनपर्याय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है। इसके दो भेद हैं—ऋतुमति और विपुलमति। नाथिक जधम सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण कर्मके सर्वा क्षयमे उत्पन्न होता है। इमे वगडतान कहते हैं। केवलज्ञानके दो भेद हैं—भवय केवलज्ञान और मिदत्य केवलज्ञान। भवय केवलज्ञानके दो भेद हैं—सयोग आर अयोग। सिद्धत्य केवलज्ञानके दो भेद हैं—अनतरसिद्ध आर परपरासिद्ध।

इन्द्रिय और मनकी सहायतामे हानेमागे अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञानके पाच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम।

श्लो २९ पृ ३३१ प १६ निगोड—

जिन जीवोंके एक ही शरीरके आश्रय अनतानत नाम रहते हों, उसे निगोड



कहते हैं। निगोद जीवोंका आहार और श्चामोडूनास एक साथ ही होता है तथा एक निगोद तीनक मरनेपर अनन्त निगोद जीवोंका मरण और एक निगोद जीवके उत्पन्न होपेर अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती है। निगोद जीव एक श्चामोदे अठारह वार जन्म और मरण करते हैं और अति कठोर यातनाओं भोगते हैं। ये निगोद जीव पृथिवी, अप्, तन, मायु, टप, नायकी, आहारक और केवलियाके शरीरको छोड़कर समस्त अरुम भर हुए हैं। असग्य निगोद जीवोंका एक गोलक होता है। इस प्रकारके असग्य निगोद जीवोंका असग्य गोलकास ताना लोक व्याप्त है। ये मूक्ष निगोदिया तीन व्यावहारिक और अन्यावहारिक भण्डोंसे दो प्रकारके हैं। चिन जीवोंने अनादि निगोदसे एक वार भी निकलकर उस पयायको प्राप्त किया है, उन्हें व्यावहारिक निगोद जीव कहा गया है। तथा जो जीव कर्मा भी सक्षम निगोदसे जाहर निकल कर नहीं आये, उन्हें अव्यावहारिक निगोद कहते हैं। नितने जीव अत्र तरु मोक्ष गये हैं, अथवा भविष्यमें जायगे, वे सम्पूर्ण जीव निगोद जायके अनन्तमें भाग भी नहीं हैं। अतएव नितने जीव व्यवहारराशिसे निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतने जीव अनादि निगोदसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं। इस लिये यह समार कर्मा भव्य जीवोंमें गाली नहीं होता। जिस प्रकार निगोद राशि अक्षयानत है, उमी प्रकार भव्यजीव राशि भी अक्षयानत है।

‘सप्त जीवोंका एक एक करके मोक्ष जानेसे एक दिन समारका उच्छेद हो जाना चाहिये’ यह प्रश्न भाष्यकर व्यासके सामने भी था। भाष्यकारने इस प्रश्नको अनचनीय कोटिमें रक्खा है।

१ नि नियता सा भूमि क्षत्र विवास अनन्तानन्तजीवाना ददाति इति निगोद । गोम्मटसार पद्य १९१ टीका ।

गोम्मटसार जीव आदि दिगम्बर ग्रन्थाम इन भदकं इतर और नित्य निगोदके नामसे कहा गया है।

३ विशय जाननक लिये दूरा लोचनप्रकाश ४-१-१०१ प्रमाण १० पद मलयगिरि वृत्ति । तथा पृ २९ लोका व्याख्या और भाषाया ।

४ अथास्य समारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वतमानस्यान्त कमममासिन वेति । अवचनीयमेतत् । कथम् । आन्त प्रश्न एतान्तवचनीय सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति । ओं भा इति ।

अथ सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति । विभज्य वचनीयमतत् । प्रत्युदितक्ष्याति क्षीणतृण कुशाना न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजाति अथवा न वा प्रेयसात्येव परिपृष्टे विभज्य वचनीय प्र. पशुनधिहृत्य ध्येना देवानृषा गृह्णन्ते । अथ तु अवचनीय प्रश्न ससारोऽयमन्तवानयानन्त इति । पानत्रय यागमून भाष्य ४-३३ । तुलना करो-ननु अग्रममयाधिकपणामाभ्यतरे अयोत्तरशतजीवेषु कर्मक्षय कृत्वा सिद्धेषु मत्सु सिद्धराशेऽदिदर्शनान् सगारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्याऽनन्तगुणत्व एकशरीरनिगोदजीवाना सत्रावराशयनतगुणकालमयसम्पूय तयोम्यानतभाग गत सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशेऽप्युत्पद्य च सुषुप्तत्वात् इति चेत् । तत्र । केवलज्ञानप्रथा केवलिभिः श्रुतज्ञानप्रथा श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्य सगारिजीवराशयस्यत्पनिमृत्वात्प्राक्विषयत्वाभावात् । गोम्मटसार जीव सा १९६ पद्यवर्गी टीका ।

# बौद्ध परिशिष्ट ( ख )

( श्लोक १६ से १९ तक )

## बौद्ध दर्शन

“ बौद्ध दर्शनको सुगत दर्शन भी कहते हैं। गौद्ध लोगोंने विपस्वी, शिवी, विश्वभू, ऋकुञ्जन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यमिह्र ये सात सुगैत माने हैं। सुगतको तीथरर, बुद्ध अथवा धम्मपातु नामसे भी कहा जाता है। बुद्धाके कण्ठ तीन रखाओंसे चिह्नित होते हैं। अंतिम बुद्धन मगध देशमें कपिलवस्तु नामक ग्राममें जन्म लिया था। इनकी माताका नाम मायादेवी और पिताका नाम शुद्धोदन था। गौद्ध लोग बुद्ध भगवानको सर्जन कहते हैं। बुद्धने दुःख, समुद्रय ( दुःखका कारण ), मार्ग और निराग ( मोक्ष ) इन चार आर्यसत्त्वोंका उपदेश दिया है। बौद्ध मतमें पाच इन्द्रिया और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय, मन आर धर्मायतन ( शरीर ) ये सत्र भिन्नकर ग्राह्य आयतन माने गये हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दा प्रमाणोंसे मानते हैं। बौद्ध लोग आत्माका न मानकर ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं। उनके मतमें क्षण क्षणमें नाग हानसागै सत्वानको ही एक भयम दूमर भयमें जानसानी मान गया है। बौद्ध साधु चमर रखते हैं, मुण्डन कराते हैं, चमरेका आसन और कमण्डलु रखते हैं, तथा घुटी तक गेरुआ रंगका वस्त्र पहिनते हैं। ये लोग स्नान आदि शौच क्रिया निराग करते हैं। बौद्ध सातु भिक्षा पात्रमें आये हुए मांसको भी शुद्ध समझकर भक्षण कर लते हैं। ये लोग जीवोंकी त्या पात्रनक डिये भूमिको सुहारकर चलते हैं, और व्रतचय आदि अपनी प्रियामें खूब दृढ होत हैं। बौद्ध मतमें धर्म, बुद्ध और मय ये तीन स्तन, आर सम्पूर्ण निर्गोका नाश करनेवाली ताराका दगी स्वीकार किया गया है। वैभाषिक, सौत्रातिक, यागाचार और माध्यमिक ये बौद्धोंके चार भेद हैं। ”

## बौद्धोंके सुगय सम्प्रदाय

बुद्धके निर्माण जानके बाद बुद्ध सत्रमें बटहका आरभ हुआ, और बुद्ध निर्माणके साधप पश्चात् सत्री सन् पूव ४०० म वैशाखीमें एक परिषत्की आयोजना की गई। इस परिषत्में महामयिक लोग मूल महासविक, एकत्रयगहारिक, लोकोत्तरवादी, बुद्धििक, बहुश्रुतीय, प्रनमिसादी, चैत्तिक, अपरशाल और उत्तरशौठ इन नौ शाखाओंमें विभक्त हो गये। इम शेरवादी लोग भी निम्न ग्यारह सुगय शाखाओंमें बट गये—हैमवत, सर्वास्तिसाद, धर्मगुप्तिक, महाशायमक, काश्यपीय, सौत्रातिक, गार्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और

१ पाली प्रथामे कहीं आठ, कहीं सोलह और कहीं पचास बुद्धाके नाम आते हैं। देखा राजवाडे—दीपनिकाय भाग २ मरणे भाषातर पृ ४२। २ देखो गुणरत्नवी पद्दशनसमुच्चय टीका और राजसेखरका पद्दशनसमुच्चय।

कन्ते' हैं। निगोद जीवाका आहार और श्वाभोजन एक साथ ही होता है तथा एक निगोद जीवके मरणपर अनन्त निगोद जीवाका मरण और एक निगोद जीवके उत्पन्न होनेपर अनन्त निगोद जीवाकी उत्पत्ति होती है। निगोद जीव एक श्वासमे अठारह बार जन्म और मरण करत है, आर अति कठोर यातनाको भोगते हैं। ये निगोद जीव पृथिवी, अप्, तन, वायु, देव, नारकी, आहारक जाग के-लियेके शरीरका उडकर समस्त लोक भर हए हैं। अमर्य निगोद जीवाका एक गोलक होता है। इस प्रकारके अमर्य निगोद जीवाके अमर्य गोलकोसे तीना लोक व्याप्त हैं। ये मूहम निगोदिया जीव व्यावहारिक आर अत्यावहारिक भेदसे दो प्रकारके हैं। जिन जीवोंने अनादि निगोदमे एक बार भी निकलकर जन्म पर्यायका प्राप्त किया है, उन्हें व्यावहारिक निगोद जीव कहा गया है। तथा जो जीव कभी भा सुख निगोदसे बाहर निकल कर नहीं आये, उन्हें अत्यावहारिक निगोद कहते हैं। जितने जीव अत्र तरु मोक्ष गये हैं, अथवा भविष्यमें जायग, व सम्पूर्ण जीव निगोद जायाक अनन्तव भाग भी नहीं हैं। अतएव चित्त जीव व्यवहारराशिसे निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतन तत्र अनादि निगोदसे निकलकर व्यवहारराशिमे आ जाते हैं। इस लिये यह ममार कभी भय जीवाम मार्ग नहीं हाता। निस प्रकार निगोद राशि अक्षयानत है उमी प्रकार भयनीव राशि भी अक्षयानत है।

‘सर्व जीवाक एक एव करक मोक्ष जानेसे एक दिन ससारका उच्छेद हो जाना चाहिये’ यह प्रश्न भाष्यकर व्यासके सामन भी था। भाष्यकारने इस प्रश्नको अवचनीय कोटिमि रचना है।

१ नि नियता गा भूमि क्षत्र निवाम अनतानन्तचित्तानां वदाति इति निगोद। गोम्मटसार जव १९१ टीका।

२ रामप्रदमार जाव आदि दिगम्बर प्रथम इन भेदाक क्षत्र और नित्य निगोदके नामसे कहा गया है।

३ विशेष जाननक लिये दक्षा लोकप्रमाण ४-१-१०१ प्रहापता १८ पद मलयगिरि वृत्ति। तथा पण्ड ९ श्वाका व्यावयथ और भावाय।

४ अध्याम्य ससारस्य क्षित्या गत्या च गुणेषु वतमानस्याग्निं क्षमसमाप्तिं वेति। अवचनीयमेतत्। कथम्। गान् प्रथम एकान्तवचनीय सर्वो ज्ञानो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति। आं भा इति।

अथ सर्वो ज्ञानो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्य वचनीयमतत्। प्रत्युदितत्याति क्षीणतुल्य कुशला न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यनाति त्रयसां न वा श्रेयसीत्येव परिपुष्टे विभज्य वचनीय प्र। पश्चानधिष्ठत्य त्रयसां देवाट्टपीथाधिष्ठत्य नेति। अथ तु अवचनाव प्रथम ससारोऽयमन्तवानचानन्त इति। पातजल यागमुत्र भाष्य ४-३३। तुना करा-ननु अटसमयाधिकशणमाभाभ्यतरे अष्टोत्तरगतजीवेषु क्षमशय कृत्वा सिद्धेषु सन्तु सिद्धराशेः सिद्धदर्शनान् समारिजावरोधे हानिदर्शनान् कथ सर्वदा सिद्धेभ्योऽनतगुणत्व एकशरीरनिगोदजीवानां नवजावशां यनतगुणकालसमयसमूहस्य तयोऽयानतभागे गत सति समारिजीवराशिभ्यस्य सिद्धराशीवहु स्वयं च गुणत्वात् इति चत्। तत्र। कवल्ज्ञानपृथा केवलमि धुतज्ञानपृथा धुतज्ञेवमिभिव सदा दृष्टस्य मन्व समारिजावराश्यमवस्थानिपू-मत्वात्तत्रविषयव्यामावात्। गोम्मटसार जीव गा १०६ कशववर्णा टीका।

## बौद्ध परिशिष्ट ( ख )

( श्लोक १६ स १९ तक )

### बौद्ध दर्शन

“ बौद्ध दर्शनको सुगत दर्शन भी कहते हैं । गौद्ध लोगान निपस्थी, शिखी, निम्बू, ऋजुच्छन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह ये सात सुगत माने हैं । सुगतको तीर्थकर, बुद्ध अर्थात् धर्मधातु नामसे भी कहा जाता है । बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं । अंतिम बुद्धन मगध देशमें कापिलवस्तु नामके प्रामम जन्म लिया था । इनकी माताका नाम मायादेवी और पिताका नाम शुद्धोदन था । गौद्ध लोग बुद्ध भगवानको सर्वज्ञ कहते हैं । बुद्धने दुःख, समुदय ( दुःखका कारण ), मार्ग और निरोध ( मार्ग ) इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है । बौद्ध मतमें पाच इन्द्रिया और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाच विषय, मन और धर्मायतन ( शरीर ) ये सत्र मिलकर साधु आपत्तन माने गये हैं । साधु प्रयत्न और अनुमान दो प्रमाणोंको मानते हैं । साधु लोग आमानता न मानकर ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं । इनके मतमें क्षण क्षणमें नाना होनेवाली मतानको ही एक भरस दूसरे भरमें जानेवाली मान गया है । साधु साधु चमर रखते हैं, मुण्डन कराते हैं, चमड़ेका आसन और कमण्डलु रखते हैं, तथा घुटी तक गेरुआ रंगका वस्त्र पहिनते हैं । ये लोग स्नान आदि शाच क्रिया निशेष करते हैं । गौद्ध साधु भिक्षा पात्रमें आये हुए मांसको भी शुद्ध समझकर भक्षण कर लेते हैं । ये लोग जीवोंकी दया पालनके लिये भूमिको बृंहारकर चलते हैं, आर ब्रह्मचर्य आदि अपनी क्रियामें खूब दृढ़ होते हैं । साधु मतमें धर्म, बुद्ध और सत्र ये तीन ग्ल, और सम्पूर्ण जिनोंको नाश करनेवाली ताराको दमि स्वीकार किया गया है । वैभाषिक, सौत्रातिक, योगाचार और माध्यमिक ये बौद्धोंके चार भेद हैं । ”

### बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय

बुद्धके निर्माण जानकर बाद बुद्ध सवमें कलहका आरम्भ हुआ, और बुद्ध-निर्माणक सौ वर्ष पश्चात् ईश्वरी सन् ४०० में वैशालीमें एक परिषद्की आयोजना की गई । इस परिषद्में महासविक लोग मूल महासविक, एकन्यमहारिक, लोकोत्तरवादी, बुद्धलिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञितवादी, चरितिक, अपरशैल और उत्तरदेश इन नौ शाखाओंमें विभक्त हो गये । इनर धरवादी लोग भी निम्न ग्यारह मुख्य शाखाओंमें बंट गये—हैमन्त, सर्वोस्तवाद, धर्मगुप्तिक, महीगासक, काश्यपीय, सौत्रातिक, वासीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और

१ पाली प्रथम कहीं आर कहीं सोल्ह, और कहीं पचास बुद्धके नाम आते हैं । देखो राजवाडे—दीपनिकाय भाग २ मरठा भार्यातर, पृ ४६ । २ देखो गुणरत्नकी पद्दशनसमुच्चय टीका और राजशेखरका पद्दशनसमुच्चय ।

उल्लोकरिक । थेरवादिया और महामपिकोक्त उक्त सम्प्रदायाक सिद्धातोंके विषयमें बहुत कम ज्ञानव्य वात मिलती है । त्रैलोक्य और जन शाखामें भी उक्त सम्प्रदायोंमें सर्वात्मितादी, सात्वातिक आर आयसमिताया ( उभापिक ) नामके त्रय सम्प्रदायोंको छोड़कर अन्य सम्प्रदायोंका उल्लेख नहीं मिलता ।

### सौत्रान्तिक

ये लोग टीकाआकी अपेक्षा बुद्धके सूत्रोंमें अधिक महत्त्व देनेके कारण सांघातिक कह जाते हैं । सात्रान्तिक लोग सत्रास्तित्वादियों ( उभापिकों ) की तरह बाह्य जगतके अस्तित्वको मानते हैं आर समस्त पदार्थोंको बाह्य आर अंतरके भेदसे दो विभागोंमें विभक्त करते हैं । प्राय पदार्थ भातिक रूप, और आंतर पदार्थ चित्त-चैतन्य रूप होते हैं । “ सात्रान्तिक मतमें पांच स्वभावोंको छोड़कर आत्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । पांच स्कन्ध ही परलोक जाते हैं । अर्थात्, अनागत, सहेतुक विनाश, आकाश और पुद्गल ( नित्य और व्यापक आत्मा ) ये पांच सज्ञा मात्र, प्रतिज्ञा मात्र, सचुनि मात्र आर व्यवहार मात्र हैं । सौत्रान्तिकाके मतमें पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर ज्ञानके आकारकी अन्यज्ञानप्राप्ति रूप अनुमानसे होता है । साधार ज्ञान प्रमाण होता है । सम्पूर्ण सम्कार क्षणिक होते हैं । रूप, रस, गन्ध और स्पर्शके परमाणु तथा ज्ञान प्रत्येक क्षण नष्ट होते हैं । अथापोह ( अन्य व्यावृत्ति ) ही शब्दका अर्थ है । तदुत्पत्ति और तदान्तरतासे पदार्थोंका ज्ञान होता है । नराम्य भावनामें जिस समय ज्ञान-सतानका उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है । ” वसुमित्रके अभिधर्मकौशिके अनुसार सांघातिक लोग वर्तमान, आर जिनसे अभा फल उत्पन्न नहीं हुआ ऐसी भूत वस्तुको अस्तित्व रूप, तथा भविष्य, और जिनसे फल उत्पन्न हो

१ वसुमित्रने इन तीस भेदानों हीनयान सम्प्रदायकी शाखा कहकर उल्लेख किया है । परन्तु आज चत्वर वे महासिद्ध और थेरवाद सम्प्रदाय क्रमसे हीनयान और महायान कह जाने लगे । हीनयान केवल अपने ही निवाणक नियम प्रवर्तन करते हैं और यहाँ अन्य मनुष्योंका तरह बुद्धको भी मनुष्य ही माना गया है । इस सिद्धान्तमें सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं पांच स्वभावों का ज्ञान ही ज्ञान निवाण है । इसका भाग सिद्धान्तका दार्शनिक विकास इतिहास नहीं होता । महायान सम्प्रदायके अनुयायी अनन्त काठ तत्र प्राणियोंके मोक्षर नियम प्रवर्तनशील रहते हैं । निवाणके बाद भी बुद्धका प्रवृत्ति समारंभ निवाणके लिये बराबर जारी रहती है । यहाँ शब्दव्ययमें रहकर भा विना किसी वर्णभेदने प्राणी मात्रर नियम निवाणका द्वार सदा खला रहता है । इस सम्प्रदायके अनुयायी बुद्धका द्वाविधेय मानकर बुद्धकी भक्ति करते हैं । महायान सम्प्रदायमें प्रत्येक पदार्थको नि स्वभाव और अनिवाण्य कहकर तत्त्वाका दार्शनिक रीतिसे तलस्पर्शी विचार किया गया है । सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयानकी और विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान सम्प्रदायकी शाखाये हैं ।

जापानी विद्वान् यामाकामी सोगेन ( Yamakami Sogen ) के मतानुसार बुद्ध निवाणक तीसरी वरस बाद वैभाषिक चार तीसरी वरस बाद सौत्रान्तिक तथा पांच तीसरी वरस बाद माध्यमिक और इगारा तीसरी शताब्दिमें विज्ञानवाद सिद्धातारी स्थापना हुई । प्राय बुद्धका मत है कि असंग और वसुवपुत्र पूर्व भी विज्ञानवादका सिद्धांत मौजूद था, इस लिये मध्यमवादक पहले विज्ञानवादको मानकर बादमें माध्यमिकवादकी उत्पत्ति मानना चाहिये । देखो स्याद्वादमञ्जरी भूमिका पृ ७०-१५ ।

२ गुणरत्नकी पहलूसनसमुच्चय टीका । ३ इसरा राशयन विद्वान् प्रो शेवाट्स्की ( Stcherbatsky ) ने तिब्बतमें अश्वेनीमें अनुवाद किया है ।

चुका है, ऐसी भूत स्तुको नामि रूप मानते हैं। सौत्रानिक लोगों के मिलावटो माननेवाले धर्मशास्त्रा, घोष, स्तुमित्र और बुद्धदेव ये चार विद्वान् मुख्य समझे जाते हैं। ये लोग क्रमसे मान परिणाम, लक्षण परिणाम, अस्था परिणाम आर अपेक्षा परिणामना मानते हैं।

धर्मशास्त्रा (१०० ई स )—मान परिणामशास्त्रा धर्मशास्त्राका मत है, कि निम्न प्रकार मुख्यके कटक, कुण्डल आदि गुणामें ही परिवर्तन होता है, स्वयं मुख्य द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता इना तरह स्तुका धर्म भविष्य पर्यायको छोड़कर वर्तमान रूप होता है, और वर्तमान भावको छोड़कर अनात रूप होता है, परन्तु वास्तवमें स्वयं द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता। धर्मशास्त्राको कनिष्ककी परिष्कारके मुख्य सदस्य स्तुमित्रवा मामा कहा जाता है। धर्मशास्त्रान बुद्ध भगवानके मुख्य गुरु हुए एक हजार शकोंका सम्प्रदायमें तीर्तम अध्ययनामें सप्रह दिया था। धम्मपत्रका रचना अनुवाद मिलता है। धर्मशास्त्राको पंचस्तुत्रिभाषाशास्त्र सयुक्ताभिधमस्यशास्त्र, अत्रदानसूत्र और धर्मशास्त्रान्वयानसूत्र इन प्रथम प्रणेता कहा जाता है।

घाण (१५० ई स )—लक्षण परिणामशास्त्रा वाक्या मिद्वान है, कि निम्न प्रकार किमी एक क्षणमें आगति करनेवाला पुरुष दुमरी स्त्रियोंमें आगतिमें नहीं गेट नेता, उमी तरह भूत धर्म भूत धर्ममें समझ जाता हुआ वर्तमान और भविष्य धर्मोंसे स्वयं नहीं छोटता, तथा वर्तमान धर्म वर्तमान धर्म समझ होता हुआ भूत और भविष्य धर्मोंमें मरना नहीं टाडता। घोषने अभिधममृतशास्त्रकी रचना की है। इस प्रथका रचना अनुवाद उपलब्ध है।

बुद्धदेव (२०० ई स )—अपेक्षा परिणामशास्त्रा बुद्धदेवका कहना है, कि जिस प्रकार ही र्क्षा पुत्री, माता आदि कही जाती है, उसी तरह एक ही धर्ममें नाना अपेक्षाआम मत, भविष्य और वर्तमानका व्यवहार होता है। जिसके किरण पूरा पयाव है, उस भविष्य, जिसके किरण उत्तर पर्याय है, उसे भूत, और निम्न पूर्व पर्यायको प्राप्त कर दिया है और जा उत्तर पर्यायको धारण करनेवाला है, उसे वर्तमान कहते हैं।

स्तुमित्र (१०० ई स )—अस्था परिणामशास्त्रा स्तुमित्रका कहना है, कि धर्म भिन्न भिन्न अस्थाओंकी अपेक्षा ही भूत, भविष्य आर वर्तमान कहा जाता है। शास्त्रमें द्रव्यमें परिवर्तन नहीं होता। हम लिये निम्न समय किमी धर्ममें कार्य करनेवा शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उस समय

१ धर्मशास्त्रानु धर्मशास्त्रान्वयानस्य कथं न तु द्रव्यस्याने । यथा भुवणद्रव्यस्य कटककेयूर कुण्डलाधारभंगानिमित्तस्य गुणान्वयस्यात् न भुवणस्य तथा धर्मस्यानागत्यादिभाषादयथात्वम् । तत्त्वमप्रह पत्रिका पृ ५४ । २ तत्त्वमप्रह अंग्रेजी भूमिका पृ ५६ ।

३ धर्मोऽध्वसु धर्मशास्त्राऽतीतोऽतीतलक्षणवृत्तौऽनागतप्रस्तुतप्राध्या लक्षणान्यां अविवृत्त । यथा पुरुष एकास्या श्रिया रक्त शयास्वविरता एवमनागनप्रस्तुतप्राध्यायि वाच्ये । तत्त्वमप्रहपत्रिका ।

४ धर्मोऽध्वसु वर्तमान पूर्वापरमवेत्यान्वोन्य उच्यते इति । यथैवा र्क्षा माता चोच्यत दुहिता चेति । त समहर्षपत्रिका ।

उस भूत, जिस समय धर्ममें क्रिया होती रहती है, उस समय वर्तमान, और जिस समय धर्ममें क्रिया होनेवादी हो, उस समय उसे भविष्य कहते हैं। वसुमित्र कनिष्ककी परिपत्रम् आनेवाले पाचमा अर्हत्तोंमेंसे एक गिने जाते हैं। वसुमित्रने अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्मधातुकायपाद, अष्टादशनिर्णय शास्त्र, तथा आयवसुमित्रवोप्रितस्त्वसगीतशास्त्र प्रधाकी रचना की है।

धमत्राता, घाय, बुद्धदेव आर वसुमित्रके सिद्धांतोंका प्रतिपादन और खण्डन तत्त्वसप्रहर्षे प्रज्ञान्यपरीक्षा नामक प्रकरणमें किया गया है। वसुमित्रने अभिधर्मकाश (५-२४-६) में आदिक तीन विद्वानोंके मतोंका खण्डन करके वसुमित्रके अत्रस्था परिणामको स्वीकार किया है।

### वैभाषिक

वैभाषिक लोग अभिधर्मकी टीका विभाषाओं सम अधिक महत्व देनेके कारण वैभाषिक बड़े जात हैं। ये लोग भूत, भविष्य आर वर्तमानको अस्ति रूपमें मानते हैं। इनके मतमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। वैभाषिक लोग प्रत्यक्ष प्रमाणमें वाय पदार्थाका अस्तित्व मानते हैं। “ इनके मतमें प्रथमे पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षणा तक अवस्थित रहता है। पुद्गलका (आत्मा) में भी ये गुण रहते हैं। ज्ञान निराकार होता है, और यह पदार्थके साथ एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होता है। वैभाषिक लोग आर्यसमितीय नाममें भी कहे जाते हैं। ”

वैभाषिक (सर्वास्तित्वादी) लोगोंका साहित्य आजका चीनी भाषामें उपलब्ध है। यह मुख्य साहित्य निम्न प्रकारमें है—१ काल्यायणीपुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र। इसे महाविभाषा भी कहते हैं। २ सारीपुत्रका धर्मस्कर। ३ पूर्णका धातुकाय। ४ मीट्रल-यनका प्रज्ञप्तिशास्त्र। ५ देवक्षेमका विज्ञानकाय। ३ सारीपुत्रका सगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद। इसके अतिरिक्त ईसवी सन् ४२०-५०० में वसुमित्रने अभिधर्मकोश (वैभाषिककारिका) प्रय लिखा आर इस ग्रंथपर स्वयं ही अभिधर्मकोशभाष्य रचा। इसमें सांख्यिकोंके सिद्धांतोंका खण्डन किया गया है। आगे चलकर सौत्रान्तिक विद्वान यशा-मित्रने इस ग्रंथपर अभिधर्मकोशव्याख्या नामकी टीका लिखी। इसका अथवा वैभाषिक विद्वान समभद्रने समयप्रदीप आर न्यायानुसार ( इनका चीनीमें भाषान्तर है ) नामक

१ धर्मोऽथवु वतमानाऽवस्थामवस्थां प्राप्या योऽवो निर्दिश्वतेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यत, द्रव्यस्य त्रिष्वपि काण्डमिप्रन्वात्। तत्त्वसप्रहर्षिका।

२ दन्वो प्रो जेनाम्का The Central Conception of Buddhism परिशिष्ट १ पृ ७५-९१।

३ दन्वो गुणरत्नका पद्मज्ञानसमुच्चय टीका पृ ४६,४७। सवासिवाद्ध सिद्धान्तोंके विशेष जाननेके लिये यामाबासी सांगेनका Systems of Buddhist Thought देखना चाहिये।

ग्रन्थ लिखे। र्मत्राता, घोष, वसुमित्र, आदिने भी वैभाषिक सम्प्रदायक अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रसिद्ध तार्किक दिग्गज (छगभग) ने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रहमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, आठम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा आदि न्याय प्रश्नोंकी रचना की है।

सौत्रातिक और वैभाषिक दोनों सम्प्रदायोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसीलिये वैदिक ग्रन्थकार इन दोनों सम्प्रदायोंके भिन्न भिन्न सिद्धांतोंमें कोई भेद न समझकर सौत्रातिक और वैभाषिकोंका समास्तिनादीके नामसे उल्लेख करते हैं। परन्तु सौत्रातिक लोगने कभी अपने आपको समास्तिनादी नहीं कहा। कारण कि समास्तिनादी आर सौत्रातिक दोनोंका प्रथम अलग अलग थे<sup>१</sup>। सौत्रातिक और वैभाषिक (समास्तिनादी) दोनों प्रायः पदार्थोंके अस्तित्वका मानते हैं। ये लोग अठारह धातुओंको स्वीकार करते हैं। इन सम्प्रदायोंकी रचि विशेष रूपसे क्षणिकान्त, प्रत्यक्ष और अनुमानकी परिभाषा, पदार्थोंका अर्थक्रियाकारित्व, अपोहान्त, अवयववाद, विशेषवाद आदि विषयोंको प्रतिपादन करनेकी ओर अभिन्त रही है। ये लोग न्यायवैशेषिक, सांख्य आदि वैदिक दर्शनकारोंके सिद्धांतोंका खण्डन करते थे। वसुमधु, यशोमित्र, धर्मकीर्ति (छगभग ६३५ ई स), निर्णीतदेव, शान्तमद्र, र्मोत्तर (८४१ ई स), रत्नकीर्ति, पटित अशोक, रत्नारु शान्ति आदि विद्वान् इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान् हैं।

### सौत्रातिक-वैभाषिकोंके सिद्धांत

१ प्रमाण और प्रमाणका फल भिन्न नहीं हैं—जिस समय किसी प्रमाणके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनपर उस पदार्थ समझी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उस समय उस पदार्थके प्रति हेय अथवा उपादेयकी बुद्धि होती है। इसी बुद्धिका होना प्रमाणका फल (प्रमिति) कहा जाता है। नैयायिक, मीमांसक आर सांख्य लोगोंकी मान्यता है, कि जिस प्रकार काटनेकी क्रियाके बिना कुठारको करण नहीं कहा जा सकता, उसी तरह प्रमिति क्रियाके बिना प्रमाणको करण नहीं कह सकते। अतएव जिस प्रकार कुठारसे वृक्षको काटनेपर वृक्षके दो टुकड़े हो जाना रूप फल कुठारसे भिन्न है, उसी तरह इन्द्रिय और पदार्थोंका ज्ञान होनेसे जो पदार्थोंका ज्ञान होना रूप फल होता है, उसे भी प्रमाणसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिये। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण साध्यकतम होनेसे कारण हैं, और पदार्थोंका हेय उपादेय रूप ज्ञान होना साध्य होनेसे क्रिया रूप है, अतएव प्रमाणका फल प्रमाणसे सर्वथा भिन्न है। बौद्ध लोग इन सिद्धांतका खण्डन करते हैं। उनका कथन है, कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका स्वरूप पदार्थोंका जानना है, अतएव पदार्थोंको जाननेके

१ सवदर्शनसंग्रहकार आदि विद्वानोंके अनुसार वैभाषिक लोग पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे और सौत्रातिक लोग पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे मानते हैं।

२ देवो यामाकामी सोगेन (Yamabami Sogen) का Systems of Buddhistic Thought अ ३।



मिथ्या प्रमाणता का दृमरा फल नहीं कहा जा सकता, इस लिये प्रमाण और प्रमाणके पटका सन्धा अभिन्न मानना चाहिये। जिस समय ज्ञान पदार्थको जानता है, उस समय ज्ञान पदार्थको आकारका होता है। यही ज्ञानकी प्रमाणता है। तब ज्ञान पदार्थके आकारका हाकर पदार्थको जानता है, यह ज्ञानका फल है। अतएव एक ही ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणका पत्र स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारमें भी देखा जाता है, कि जो आत्मा प्रमाणसे पदार्थको ज्ञान करती है, उस ही फल मिथ्या है। इस लिये प्रमाण और प्रमाणका फल मर्यादा अभिन्न है।

२ क्षणिकवाद—बौद्ध लोग प्रत्येक पदार्थको क्षणिक स्वीकार करते हैं। उनका मत है, कि समागम कोई भा वस्तु नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने उपर होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना पदार्थों का स्वभाव है। यदि पदार्थोंका स्वभाव नष्ट होना न माना जाय, तो घड़ और लाठीका सवर्ष होनेपर भी घड़का नाश नहीं होना चाहिये। हमें पदार्थ नियम दिग्गड़ पड़ते हैं, परन्तु यह हमारा भ्रम मात्र है। वास्तवमें प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमें नष्ट हो रहा है। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके प्रतिक्षण बदलते रहनेपर भी समान आकारकी ज्ञान-सम्पत्तसे 'यह वही दीपक है' इस प्रकारका ज्ञान होता है। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके क्षण क्षणमें नष्ट होनेपर भी पूर और उत्तर क्षणोंमें सदृशता होनेके कारण वस्तुका प्रयत्नज्ञान होता है। यदि वस्तुको नियम माना जाय, तो कूटस्थ नित्य वस्तुमें प्रयत्नक्रिया नहीं हो सकती, और वस्तुमें प्रयत्नक्रिया न होनेसे उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। दसवीं शताब्दिके बाद विद्वान् रत्नकीर्तिने क्षणिकवादकी सिद्धिके लिये 'क्षणभगमिद्धि' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है। इसमें रत्नकीर्तिने शक, त्रिलोचन, न्यायभूषण, वाचस्पति आदि विद्वानोंके मतका खंडन करत हुए अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिमें क्षणभगवादकी सिद्धि की है। शान्तरक्षित आचार्यन तत्त्वप्रहमे स्थिरभावपरीक्षा नामक प्रकरणमें भी नियमवादकी मीमांसा करते हुए क्षणिकवादको सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्धोंके ग्रन्थों में भी क्षणिकवादकी प्रतिपादन मिथ्या है।

३ अनयना—न्यायिक लोग अनयनाको अनयनोंसे भिन्न मानकर उन दोनोंका मध्य समझाने की कोशिश करते हैं। परन्तु बौद्धोंका कहना है, कि अनयनाको छोड़कर

१ जैन लोग भी पदार्थिक नयकी अपेक्षा क्षणिकवाद स्वीकार करते हैं—न्यादादिनामपि हि प्रति क्षण नवनवप्राप्यपरप्राप्त्यतिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। पृष्ठे पृ २५५।

२ दत्ता पृष्ठ पृ ३९९।

३ इस ग्रन्थ का हरप्रसाद शास्त्रान् शिबलजीयका शाब्दिक बालकत्तम सम्पादन किया है।

४ दत्ता पदार्थानसमुच्चय गुणरत्नकी टीका पृ ३९, ४० चन्द्रप्रभूमूरि—प्रमेयरत्नवाप पृ ३०।

५ न्यायमञ्जरी न्यायवर्तिकतापथकी आदि।

६ बौद्धिके क्षणिकवादकी प्रसङ्गके आधुनिक दार्शनिक बर्गसन (Bergson) के क्षणिकवादके ग्रन्थ पृष्ठ ६० का सन्दर्भ है।

अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है । अमरके कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते हैं । अवयव रूप परमाणु उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने ही नष्ट हो जाते हैं, इस लिये अवयवोंको टाडकर अवयवी पृथक् वस्तु नहीं है । जिस समय परस्पर मिश्रित परमाणु वानम जाने जाते हैं, उस समय ये परमाणु विमृत प्रयोगों रहनके कारण स्फूट कहे जाते हैं । इस लिये परमाणुओंका छोड़कर अवयवीका भिन्न नहीं मानना चाहिये । ५ अकारके अवयववादकी पुष्टिके लिये 'अवयविनिराकरण' नामक ग्रन्थ लिखा है ।

४ विशयवाद—नैयतिक लोग सामान्यको एक, निय और व्यापी मानते हैं । गौडका मत है, कि विशेषको छोड़कर सामान्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है । सम्पूर्ण क्षणिक पदार्थोंका ज्ञान उनके अमागमण रूपसे ही होता है, इस लिये सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण हैं, अर्थात् पदार्थोंका सामान्य रूपसे ज्ञान नहीं होता । जिस समय हम पाच उगलियाका ज्ञान करते हैं, उस समय पाच उगलियों रूप विशेषको छोड़कर अगुणित कोई भिन्न जाति नहीं मानते । इसी प्रकार गौना जानने समय गौके वर्ण, आकार आदि विशेष वानको छोड़कर गौच सामान्यका भिन्न ज्ञान नहा जाता, अतएव विशेषको छोड़कर सामान्यको भिन्न वस्तु नहीं मानना चाहिये । क्योंकि विशेषमें ही वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ठीक ठीक धैरता है । वेदान्तियोंके मतमें भी जातिका प्रयत्न अपना अनुमानम ज्ञान नहीं माना गया, अतएव सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं है ।

५ अपोहनवाद—जिसमें दूसरकी व्यावृत्ति की जाय, उसे अपोह कहते हैं ( अन्योऽपोह्यते चानयते अनेन ) । वाद लाग अत्यन्त व्यावृत्त परस्पर मिश्रण स्वच्छणोंम अनुवृत्ति प्रयत्न करनेवाले सामान्यको नहीं मानते, यह ऊपर कहा गया है । वादोंकी मान्यता है, कि जिस समय हमें किसी शब्दका ज्ञान होता है, उस समय उस शब्दसे पदार्थोंका अस्ति और नास्ति दोनों रूपसे ज्ञान होता है । उदाहरण के लिये, जिस समय हमें गौ शब्दका ज्ञान होता है, उस समय एक साथ ही गौके अस्तित्व और गौके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके नास्तित्व रूपका ज्ञान होता है । इस लिये गौदोंके मतमें अतद्वयावृत्ति ( अपाह ) ही शब्दार्थ माना जाता है ।

१ परमाणव एव पररूपदशर्पाहारेणात्पन्ना परस्परसहिता अवभासमाना दशवेतानवन्ता भासन्त, विततदेतत्त्वम स्थूलत्वम् । पंडित अशोक—अवयविनिराकरण पृ ७९ ।

२ प्रत्यक्षभासि धम्मसु न पंचव्युत्पत्तियु स्थित  
सामान्य प्रतिभासन न च विकल्पाकारबुद्धौ तथा ।  
ता एव स्फुटमूल्याऽत्र हि विभासन्ते न जातिव्यत  
साध्यप्रमत्तारणो पुनारमावेक्षोपः शक्यनी ॥

३ अशोक—सामान्यरूपवर्णदिक् प्रसरिता पृ १०२ ।

पडित अशोकने अपोहनादके ऊपर ' अपोहसिद्धि ' नामक म्यत्तप्र प्रथ लिखा है । मीमामा श्लोकार्थिकम भी अपोहनादपर एक अलग आयय है ।

### शून्यवाद

शून्यवादको माध्यमिकवाद अथवा नरात्म्यवाद भी कहते हैं । माध्यमिक लोगोंका कथन है, कि पदार्थोंका न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न पदार्थोंका उच्छेद होता है, न पदार्थ नित्य हैं, न पदार्थोंमें अनेकता है, न एकता है, और न पदार्थोंमें गमन होता है, और न आगमन होता है । अतएव सम्पूर्ण धम मायाके समान होनेसे निस्स्वभाव हैं । जो जिसका स्वभाव होता है, वह उससे कभी पृथक् नहीं होता, और वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता । परन्तु हम जितने पदार्थ देखते हैं, वे सब अपनी अपनी हेतुप्रत्यय-सामग्रीमें उत्पन्न होते हैं, और अपनी योग्य सामग्रीके अभानमें नहीं होते । इस लिये जो लोग स्वभावसे पदार्थोंको भाव रूप मानते हैं, वे लोग अहेतु प्रत्ययसे पदार्थोंकी उत्पात्ति स्वीकार करना चाहते हैं । अतएव सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं, कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता । अतएव हम पदार्थोंका स्वभावकी अपेक्षा उत्पन्न होना नहीं मान सकते । पदार्थ स्वभावसे भाव रूप नहीं हैं, इस लिये वे परभावकी अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा सूर्यमें भी अधिकारकी उत्पात्ति माननी चाहिये । पदार्थ स्वभाव और परभावकी अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते, इस लिये स्वभाव और परभाव दोनों ( उभय रूप ) से

१ अनिरुद्धमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वत ।

अनेकायमनायायमनागममनिगमम् ॥ माध्यमिकगति प्रत्ययपरीक्षा ।

२ हेतुप्रत्यय अपक्ष्य वस्तुन स्वभावता न इतरथा ।

३ य प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो

न तस्य उत्पादु सभावताऽस्ति ।

य प्रत्ययाधीनु स शून्य उचो ।

य शून्यतां जानति सोऽप्रमत्त ॥ बाधिचयावनार पत्रिका पृ ३५५ ।

जैन दर्शनमें वस्तुका स्वभावसे अशून्य और परभावसे शून्य माना गया है—सवस्य वस्तुन स्वरूपादिना अशून्यत्वात्पररूपादिना शून्यत्वात् । अमृतचन्द्र-पंचास्तिराय १४ टीका । परन्तु यह पदान देने योग्य है कि पंचाध्यायाकारने वस्तुको सबविकल्पानीत कहकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे भी अस्ति रूप और परभावसे भी नास्ति रूप नहीं माना है—

द्रव्यार्थिकनयपभादस्ति न तस्य स्वहृपताऽपि तत ।

न च नास्ति परस्वरूपात् सबविकल्पपातिग यतो वस्तु ॥ पंचाध्यायी १-७५८ ।

सिद्धसेन दिवाकर भगवानको शून्यवाद कहकर स्तुति करते हैं—

त्वमेव परमास्तिन परमशून्यवादी भवान् ।

स्वमुज्वलविनिणयोऽप्यवचनीयवाद पुन ॥

परस्परविरुद्धतत्त्वसमयथ शुदिष्टवाक् ।

त्वमेव भगवन्नवप्यसु ( सु ) नयो वया कस्तथा ॥ द्वात्रिंशिका ३-२१ ।

भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । तथा भान, अमान और भावाभावासे पदार्थोंका उत्पत्ति न होनेसे अनुभव रूपसे भी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते । अतएव जिस प्रकार असत् माया-गज सत् रूपसे प्रतीत होता है, जिस प्रकार अपारमार्थिक माया परमार्थ रूपसे माझम होती है, उसी तरह सम्पूर्ण अतात्विक धर्म अनिवाके कारण तन्व रूपसे दृष्टि गोचर होते हैं । नास्त्यमें न पदार्थ उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं, न कहीं धाम हैं, न हानि हैं, न सत्कार है, न पराम्न है, न सुख है, न दुःख है, न प्रिय है, न अप्रिय है, न कहीं तृष्णा है, न कोई जीव लोक है, न कोई मरनेवाला है, न कोई उत्पन्न होगा, न हुआ है, न कोई किसीका पशु है और न कोई मित्र है । जो पदार्थ हमें भान अथवा अमान रूप प्रतीत होते हैं, वे केवल सृष्टि अथवा लोक सत्यकी दृष्टिसे ही प्रतीत होते हैं । परमार्थ सत्यकी अपेक्षासे एक निर्माण ही सत्य है, और बाकी सम्पूर्ण सत्कार असत्य हैं । यह परमार्थ सत्य बुद्धिके अगोचर है, सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित है, अनभिलाष्य है, अनक्षर है, आर अभिधेय-अभिधानसे रहित है । यद्यपि इस परमार्थ धर्मका उपदेश नहीं हो सकता, परन्तु जिस प्रकार किसी म्लेच्छको कोई बात समझानेके लिए म्लेच्छकी ही भाषाका उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार ससारके प्राणियोंको निर्माणका मार्ग प्रदर्शन करनेके लिये सृष्टि सत्यका उपयोग करना पड़ता है, क्योंकि सृष्टि सत्यका विना अलम्बन लिये परमार्थका उपदेश नहीं किया जा सकता । इस लिये सम्पूर्ण धर्मोंको निस्वभावा—शून्य ही मानना चाहिये । क्योंकि शून्यतासे ही पदार्थोंका होना सम्भव है ।

शका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ शून्य हैं, और न किसी पदार्थका उत्पाद होता है और न निरोध होता है, तो फिर चार आर्यसत्याको, अच्छे और बुरे कर्मोंके फलको, त्रैलोक्यकी प्रवृत्तिको और स्वयं बुद्धको भी शून्य और मायाके समान मिथ्या मानना चाहिये । समाधान-बुद्धका उपदेश परमार्थ और सृष्टि इन दो सयोंके आधारसे ही होता है । जो इन दोनों

१ न सप्रोसन्न सदसन्न चाप्यनुभवात्मक । बोधि पञ्जिका पृ २५९ ।

२ एव शून्येषु धर्मेषु किं लब्ध किं हृतं भवेत् ।

सत्सत्त परिभूतो वा केन क मभविष्यति ।

इत सुख वा दुःख वा किं प्रियम् वा किमप्रियम् ।

का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृगयमाणा स्वभावत ॥

विचारे जीवलोक क को नामात्र मरिष्यति ।

को भविष्यति को भूत को पशु कस्य कः सृष्ट ॥ बाधिव्यावहार ९-१५२ ३४ ।

३ तस्मात् सकलविकल्पभिलाषविकल्पवादनारीषिभ्यः समाहृतमनाभिलाष्य परमावसत्त्वं कथमिव प्रतिपादयितुं शक्यते । तथापि भाजनभोतृजनानुग्रहार्थं (परिकल्पमुपादाय) संश्लेषा निदसानात्, मानेन किंचिदभिधीयते । बोधिव्योवतार पञ्जिका पृ ३६३ ।

४ सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते ।

सर्वं न युज्यते यस्य शून्यता यस्य न युज्यते ॥ भाष्यनिक का २४-१४ ।

मन्त्रों को नहीं समझता, वह बुद्धके उपदेशोंको ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। बौद्ध शासन शास्त्र और जायामिक भावोंका प्रतिपादन इन्हीं दो सयोंके आधारसे किया गया है। मागारण लोग विपर्यासके कारण सृष्टि सचस रूप, ज्ञान, आयतन आदिको तत्पक्ष देखते हैं। परन्तु सम्पर्शानके हानपर तत्त्वज्ञ आर्य लोगोंको स्वप्न आदि निस्सम्भार प्रतीति हाने लगत है। इस त्रिय 'क्या अनन्त है, क्या अत है, क्या अत-अनन्त (उभय) है, क्या अनुभव (न अत और न अनन्त) है, क्या अभिन्न है, क्या भिन्न है, क्या शास्त्रत है, क्या अनिय है, क्या निय अनिय है, और क्या अनुभव (न नित्य और न अनित्य) है' य प्रश्न बुद्धिमानोंको मनम ठही उठते। न्यय निर्माण भी मात्र रूप है, या अभाव रूप, यह हम नहीं जान सकत। क्योंकि निर्माण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध हाता है, न वह निय है, और न अनिय है। निर्माण न कुछ नष्ट होता है, और न कुछ उत्पन्न होता है। जो निर्माण है, वही समाप्त है और जा सत्ता है, उही विनाश है। इन लिये भाव, अभाव, उभय, अनुभव इन चार काटियोंमें रहित प्रपञ्चोदाम रूप निर्माणको ही मायमिकोंने परमाथ तत्त्व माना है। यद्यपि सब धर्मोंके निस्वभाव हानसे परमार्थ मत्व अनश्वर है, इसत्रिय लक्ष्मीभावको ही आयौन परमार्थ सत्य कहा है, परन्तु फिर भी व्यवहार सय परमार्थ सत्यका उपायभूत है। जिस तरह सम्प्रत धर्मोंमें अममृत निर्वाणको प्राप्ति होगी है, उसी तरह सृष्टि सयमें परमाथ सयकी उपश्रुति होती है। वाम्तरमें न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको प्रमाण कहा जा सकता है, और न वाम्तरमें पदार्थोंको क्षणिक ही कह सकते हैं। किन्तु जिस तरह कोई पुरुष अपवित्र स्त्रीको शरीरमें पवित्र भावना रखता है, उसी तरह मूर्ख पुरुष माया रूप भावमें श्वणिक, अज्ञानिक आदि धर्मोंका प्रतिपादन करते हैं। और तो क्या परमार्थ सत्यसे

१ द्वे सत्ये समुपात्रित्य बुद्धानां धमेदिताना ।

लोकनवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमाथत ॥ माध्यमिक का २४-८ ।

२ माध्यमिक कारिना निवाणपराक्षा ।

३ अप्रहाणामसांप्राप्तमनुच्छिन्नमशास्त्रत ।

अनिच्छन्मनुष्यप्रभेर्ताश्चिवाणामप्यन ॥ माध्यमिक का निवाणपराक्षा

४ निवाणस्य च या वीति कांति संसरणस्य च

न तयोन्तरं विचिन्तुं सुमूढमपि विद्यते ॥ माध्यमिक का निवाणपरीक्षा ।

५ परमार्यो हि आयाणां लक्ष्णीभाव । चन्द्रवीर्ति-माध्यमिकवृत्ति ।

६ उपायभूत व्यवहारस्य उपेक्षभूत परमार्थगत्य ।

तयोर्विभागाऽवगतो न येन मिथ्याविकल्पे स कुमागतात ॥

चन्द्रवीर्ति-माध्यमिकवतार ७-८० ।

७ अशुच्यादिषु शुश्यादिप्रसिद्धिरिव सा श्रूया ॥

लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिता ।

तत्त्वन क्षणिका नैतं संश्रूया वेद् विरुध्यते ॥ माध्यमिकवतार ९-६, ७ ।

बुद्ध और उसका दशना भी मृगतण्णाके समान हैं। इस लिये धर्मोंके निस्त्वगात् होनेपर भी प्राणियोंके प्रजतिके लिये ही बुद्धने इनका उपदेश किया है।

शून्यता—शून्यवादियोंके मतमें सम्पूर्ण भाव शून्य हैं, इस लिये शून्यताको भी शून्य मानना चाहिये। समाधान—वास्तवमें सम्पूर्ण पदार्थोंके निस्त्वगात्त्वके साक्षात्कार करनेके लिये ही बुद्धने शून्यताका उपदेश किया है। शून्यता भाव, अभाव, आदि चार कोटियोंसे रहित है, इस लिये शून्यताको अभाव (शून्य) रूप नहीं कह सकते। हमारे मतमें भव-वामनाका नाश करनेके लिये ही शून्यताका उपदेश है, इस लिये शून्यतामें भाव शून्यता बुद्धि रखनेसे नराम्यवादका साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। अतएव हमें भाव-अभिनिवेशकी तरह शून्यतामें भी अभिनिवेश नहीं रखना चाहिये। अन्यथा भाव-अभिनिवेश और शून्यता-अभिनिवेश दोनोंमें कोई अन्तर न रहेगा। जिस समय भाव, अभाव, बुद्धि, अशुद्धि रूप प्रपञ्च वृत्ति नष्ट रहती, उस समय इधन रहित अस्मिन्की तरह सत् और असत्के आत्मनमें रहित बुद्धि सम्पूर्ण विकल्पोंके उपशम होनेसे शांत हो जाती है।

मायमिकवादक प्रधान आचार्य नागार्जुन (१०० ई स) माने जाते हैं। नागार्जुनने शून्यवादक स्थापन करनेके लिये चारमो कारिकाओंमें मायमिककारिका नाम ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थके ऊपर नागार्जुनने अनुभोभया नामकी टीका भी लिखी है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषामें मित्ता है। मायमिककारिकाके ऊपर बुद्धपालित और भावनिषेकने भी टीकाएँ लिखी हैं, जो कि तिब्बती भाषामें उपलब्ध हैं। बुद्धपालित शून्यवादके अन्तर्गत प्रागमिक सम्प्रदायके जन्मदाता कहे जाते हैं। बुद्धपालित शून्यवादके सिद्धांतको स्थापित करके अन्य मतवालोंका खण्डन करके नागार्जुनने सिद्धांतोंकी रक्षा करना चाहते थे। भावनिषेक शून्यवादके दूसरे सम्प्रदाय स्वान्तिक मतके प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। ये आचार्य स्वतंत्र तर्कोंसे शून्यवादकी सिद्धि करते थे। मायमिककारिकाके ऊपर चन्द्रकीर्तिने (५५० ई स) प्रसन्नपदा नामकी सस्कृतमें

१ शून्य इति न वक्ष्यन् अशून्य इति वा भवेत् ।

उभय नाभय चति प्रणपर्यर्धं तु कथ्यते ॥

मायमिक का २२-११ ।

२ शून्यवादियोंके ग्रन्थोंमें शून्यताका अन्तर्द्वयरेदितत्व मध्यमप्रतिपदा, परस्परअपेक्षिता, धर्मधातु आदि शब्दोंमें उल्लेख किया गया है। रशियन विद्वान् प्रो शेबात्सकी (Stcherbatsky) शून्यताका अनुवाद 'Relativity' अपेक्षिता शब्दसे करत हैं। उक्त विद्वान् लखने ग्राफके हेगेल (Hegel) ब्रैडले (Bradley) आदि महान् विचारकोंके सिद्धांतोंके साथ शून्यवाद की तुलना की है, और सिद्ध किया है, कि इस सिद्धांतका Nihilism (सर्वथा अभाव रूप) नहीं कहा जा सकता। देखो लेखककी Conception of Buddhist Nirvana पृ ४९ से आगे।

३ सबसक्यहलाय शून्यतामन्तदेशना ।

यस्य तस्यामपि प्राशस्त्वयामावमादित ॥

बाधिचर्यावितार पञ्चिका पृ ३५९ ।

टीका लिखी है। यह टीका उपलब्ध है। नागार्जुनने सुहृल्लेख, युक्तिप्रष्टिका आदि बहुतसे ग्रंथ लिखे हैं। शून्यवादके दूसरे महान् आचार्य आर्यदेव कहे जाते हैं। ये नागार्जुनके शिष्य थे। इन्होंने चतु शतक, चित्तविगुह्नि प्रकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं।

### विज्ञानवाद

इमे योगाचारं भी कहते हैं। विज्ञानवादी लोग भी शून्यवादियोंकी तरह सत्र धर्माको निस्वभावं मानते हैं। विज्ञानवादियोंके मतमें विज्ञानको ओडकर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार जलता हुआ काष्ठ (अलातचक्र) चक्र रूपसे घूमता हुआ माट्टम होता है, अथवा जिस प्रकार तैमिरिक पुरुषको केशम मच्छरका ज्ञान होता है, उसी तरह बुद्धिसे युक्त लोगोंको अनादि-वासनाके कारण पदार्थोंका एकत्र, अन्यत्र, उभयत्र और अनुभयत्र रूप ज्ञान होता है, ब्राम्हणमें समस्त भाव स्वप्न-ज्ञान, माया और गण्डर्भ-नगरकी तरह असत रूप है। इस लिये परमाणु सत्यसे स्वयं प्रकाशक विज्ञान ही सत्य है। यह सत्र दृश्यमान जगत विज्ञानका ही परिणाम है, और यह सृष्टि सत्यसे ही दृष्टिगोचर होता है। विज्ञानवादी लोगोंके मतमें चित्तही हमारी वासनाका मूल कारण है। इस चित्तमें सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उपनि-  
बद्ध होते हैं, अथवा यह चित्त सम्पूर्ण धर्मोंमें कारण रूपसे उपनिबद्ध होता है, इस लिये इसे

१ विज्ञानवादियोंके मतमें जा योगकी साधना करके बाधिसाधकी दशभूमिकी प्राप्ति करते हैं उर्द्धको बोधिकी प्राप्ति होती है इस लिये इस सम्प्रदायको योगाचार नामसे कहा जाता है। विज्ञानवादी कहना है, कि असंगके योगाचारभूमिशाल नामक ग्रंथके ऊपरसे ब्राह्मण ऋषिने विज्ञानवादको योगाचार सत्ता दी है।

२ शिविचर स्वभावस्य प्रिविधा निस्वभावता ।

संधाय सर्वधर्माणं देशिता निस्वभावता ॥

वसुधधु-पञ्चिका २६ ।

तात्त्विक दृष्टिसे विचार किया जाय, तो विज्ञानवाद और शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं है। दाना सम्पूर्ण पदार्थानो निस्वभाव कहते हैं। अतः इतना ही है, विज्ञानवादी बाध पदार्थोंकी मानकर उन्हें बवल विज्ञाना परिणाम कहते हैं, जब कि शून्यवादी बाह्य पदार्थोंको माया रूप मान कर निस्वभाव सिद्ध करनेमें सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं। परन्तु जब उनसे पूछा जाता है कि यदि आप लोगोंके मतमें बाह्य पदार्थोंकी तरह माया स्वभावको ग्रहण करनेवाला कोई बुद्धि नहीं मानी गई, तो मायाकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? यहाँ विज्ञानवादों उत्तर देता है कि ये सम्पूर्ण पदार्थ चित्तके विकार हैं, जो अनादि वायनाके कारण उत्पन्न होते हैं। देखो दामयुप्त (Das Gupta) A History of Indian philosophy पृ १६६७ तथा बोधिसत्त्वार्थपरिचयिका १, १५ से आगे ।

३ चित्त केशोत्पन्नं माया स्वप्नगंधर्वमेव च ।

अलात मृगनृणां च असन्त क्वापि वै नृणाम् ॥

निन्यामित्य तथैकत्वभुमय नाभय तथा ।

अनादिदोषसंबन्धा बाला कल्पति माहिता ॥ लकावतार २ १५७, ८ ।

४ हे सत्ये समुत्पत्तिल्य बुद्धाना धर्मदेशना ।

बाणोऽथ सावृत सत्य चित्तमेकमसांज्ञतम् ॥

आड्यविज्ञान कहत हैं । यह आलयविज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेयानाका नीज है । जिस प्रकार जलका प्रवाह नृण, लकड़ी आदिको बहाकर ल जाता है, उसी तरह यह आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार आदि धर्मोंको आरुपित करके अपने प्रवाहसे ससारको उत्पन्न करता है । जिस प्रकार समुद्रमें कल्लोठे उठा करती हैं, वैसे ही इस पदार्थोंको स्वचित्तमें भिन्न समझनेसे, अनादिकालकी गमनासे, पदार्थोंका दृष्टा आर दृश्य रूप समझनेवाली विज्ञान प्रवृत्तिके स्वभावसे, तथा पदार्थोंका विचित्र अनुभव करनेसे आलयविज्ञानमें प्रवृत्ति विज्ञानकी लहर उठा करती है । यह आलयविज्ञान उत्पाद, स्थिति और लयसे रहित है, परन्तु यह क्षणिक धारा है, कोई नित्य पदार्थ नहीं । जिस समय अविद्याक नष्ट होनेमें वासनाका अचर नष्ट हो जाता है, उस समय क्षोभोपादक ब्राह्म-गाहक भाव भी नहीं रहता । इस दशामें अहकारसे रहित आड्य विज्ञान भी व्यावृत्त हो जाता है और केवल एक निमल चित्त अविशिष्ट रहता है । इसी अनस्याको अहत् अस्याके नामम कहा गया है, और यहा यांगी लोगोंका चित्त अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्र ही स्थित हा जाता है । इस दशाको विज्ञानादियोंने शाखोंमें तथता, शून्यता, तथागतगर्भ आदि अनक नामोंसे कह कर उसका नित्य, ध्रुव, शिव और शाश्वत रूपमें वर्णन किया गया है ।

ज्ञान—यदि सम्पूर्ण धर्म केवल विज्ञप्तिमात्र हैं, तो चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय रूप आणिको कैम जानती है । समाधान—जब तक योगी लग अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रताका

- १ सबसात्रेशिकधमवीजस्थानत्वान् आलय । आलय स्थानमिति पयायौ । अथवा लीयन्ते उपनिबध्यतेऽस्मिन् सर्वधमा कायभावेन । तद्गालीयने उपनिबध्यते कारणभावन सर्वधर्मेषु इत्यालय । विज्ञानाति विज्ञान । शिक्षिका २ स्थिरमति भाष्य पृ १८ ।
- २ यथा हि श्लेष तृणकाष्ठगामयादीनाकषयन् गच्छति एव आलयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेज्य-कमवासनानुगत स्पर्शमनास्कारादीनामाकषयन् क्षातसा ससारमच्युपरतं प्रवर्तत इति । शिक्षिका ४ स्थिरमति भाष्य पृ २२ ।
- ३ स्वचित्तद्वयप्रहणानवबोधे, अनादिनालप्रपञ्चदौर्गुण्यरूपवासनाभिनिवेश, विज्ञानप्रवृत्तिस्वभाव और विचित्ररूपलक्षणकोरू ।
- ४ उन्पादस्थितिभगवजम् ।
- ५ तस्यां हि अवस्थाया आलयविज्ञानाधिनदौर्गुण्यनिरवशयप्रज्ञानादालयविज्ञान व्यावृत्त भवति । सैव नाहद्वरथा । शिक्षिका ४ भाष्य ।
- ६ अमगने इयका वणन निप्र प्रचारसे किया है—  
न सप्र चासप्र तथा न वान्यथा  
न जायते ध्येति न चावहीयते ।  
न बधने नापि विशुद्धपते पुन  
विशुद्धपते तत्परमाणुलक्षणम् ॥ महायानसूत्रालंकार ।



साक्षात्कार नहीं करते, उस समय तक पदार्थों में ब्रह्म-ब्राह्मक रूप प्रवृत्तिका नाश नहीं होता। इस कारण वासनाके कारणही इन्द्रियोंसे पदार्थोंका प्राक् प्राहक रूप ज्ञान होता है, वास्तवमें समस्त धर्म विज्ञान रूप ही है।

**शत्रु**—निज्ञानवादी लोग तत्रागतगर्भका नित्य, ध्रुव आदि विशेषणोंसे वर्णन करते हैं। इसा प्रकार तैरिक्त लोग भी आमाका निय, कता, निर्गुण ओर निमु कहत हैं। किन्तु बुद्ध भगवानके नैरात्म्यवाद और तैरिक्तोंके आत्मवादमें क्या अंतर है ?

**समाधान**—तत्रागतगर्भका उपदेश तैरिक्तोंके आत्मवादके तुल्य नहा है। मुख्य तैरिक्त लोगोंने नैरात्म्यवादके सुनन से भय उत्पन्न होता है, इस लिय तत्रागतन सम्पूर्ण प्रमाको

१ यावद् विनासिमात्रत्वं विज्ञान नावतिष्ठति ।

प्राह्यद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥

यावद् अद्वयलक्षणे विनासमात्र यागिनश्चिन्त न प्रतिष्ठान भवाते ।

तावद् प्रायप्रसङ्गानुशयो न विनिवर्तते न प्रतीयते । त्रिशिरा २६ भाष्य ।

२ प्रो शेराटस्की ( Steherbatsky ) ने विज्ञानवादिवाक आल्यविज्ञानक सिद्धातको विचार सतसिरो छोडकर प्रच्छन्न रूपसे नित्य आत्मा माननक सिद्धातरी आर आना बताया है—This represents a disguised return from the theory of a stream of the thought to the doctrine of substantial soul

The conception of Buddhist Nirvana पृ ३२

यानाकामा सोगेन ( Yamakami sogen ) ने आन्यविज्ञान और आमाको तुम्हना करते हुए लिखा है—

The *Ālayavijñāna* of the Buddhists has its counterpart in the *Ātman* of the orthodox Hindu system of philosophy with this difference that the *Ātman* is immutable while the *Ālayavijñāna* is continuously changing. It might be said to be mutable while the Soul is immutable but it may be said to resemble soul in its continuity. Our consciousnesses are dependent upon the *Ālayavijñāna*. They act or stop, but the *Ālayavijñāna* is continuously a consciousness. It is universal only in the sense that it can go everywhere while the *Ātman* is said to be present everywhere. The *Ālayavijñāna* is said to attain its liberation and amalgamate with the ocean of the 'Great *Ātman*,' while the *Ālayavijñāna* is the name given to consciousness in the stage of the common people and of one who has just attained the seventh *Bhūmi* or realm of *Bodhisattva*.

Systems of Buddhist Thought

तथागतगर्भं ब्रह्मकर तीर्थिणोंको आकषण करनेके लिये उपदेश दिया है । इस लिये वस्में बोधिसत्वोंको आत्म-दृष्टि नहीं करना चाहिये ।

असग, वसुत्रयु, नन्द, दिङ्नाम, धर्मपाल, श्रीभद्र ये विज्ञानशास्त्रके प्रथम आचार्य मान जाते हैं । असग ( ४८० ई स ) जिन्हे आर्यसग भी कहा जाता है, आर वसुत्रयु दाना सग भाई थे । ये पेशावर ( परुषपुर ) क रहने वाले ब्राह्मण थे । जीवनके प्रारम्भ वसुत्रयु सर्वास्तिनाका प्रतिपादन करते थे आर अपने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें अपने बड़े भाई असगके प्रभावसे विज्ञानशास्त्रका प्रतिपादन करने लग्ये । पहले असगको विज्ञानशास्त्रका प्रतिष्ठाता समझा जाता था, परन्तु अत्र मैत्रेय ( मैत्रेयनाथ ) ऐतिहासिक व्यक्ति ममनने जाने लगे हैं । मैत्रेय असगके गुरु थे, और इन्होंने ही यागाचारकी नींव रखी । मैत्रेयनाथने सूत्रालंकार, मयातत्रिभंग, धर्ममतात्रिभंग, महायानउत्तरतन्त्रशास्त्र, अमिसम-यालंकारकारिका आदि ग्रन्थाका निर्माण किया है । असगन महायानमूत्राकार, यागाचार-भूमिशास्त्र, महायानमूत्र, पंचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसम्प्रदाय आदि शास्त्र लिखे हैं । वसुत्रयुने अभिधर्मकोश, परमार्थसप्तति, विंशतिकान्तिनिमात्रनामिद्वि, त्रिंशतिकविज्ञप्तिमात्रना तथा सद्मपुण्डराक, प्रज्ञापारमिता आदि महायानमूत्रोंके ऊपर टीकाएँ लिखी हैं । महायान सम्प्रदायके प्रवृत्त करनेवाले आचार्योंका नाम उक्त समय अश्वघोषका स्थान बहुत महत्वका है । अश्वघोष ( ८० ई स ) तत्रनाशा नामक एक नूतन प्रकारके सिद्धांतका जन्मदाता थे । अश्वघोषने लंकावतार सूत्रके आधारसे अपने महायान मार्गक तत्त्वदर्शनकी रचना की है । अश्वघोष अपने जीवनके प्रारम्भमें बड़े भारी ब्राह्मण विद्वान् थे । अश्वघोषका सिद्धांत केवल शून्य-विज्ञानशास्त्रका सिद्धांत नहीं है, बल्कि उमम उपनिषदोंके शास्त्रशास्त्रकी उपाय स्पष्ट माझम देती है । अश्वघोषने श्रद्धोत्पादशास्त्र, बुद्धचरित, सौंदरानन्द, मूत्रालंकार, उन्नमचि आदि अनेक वाद शास्त्रोंकी रचना की है ।

### बौद्धोंका अनात्मवाद

( १ ) उपनिषद्कारोंका मत है, कि आत्मा नित्य, सुख आर आनन्द रूप है, और यह दृश्यमान जगत इस आत्माका ही रूप है । पति पत्नीको और पत्नी पतिको एक दृग्मेक सुखके लिये प्यार नहीं करते, परन्तु प्राणी मात्रकी प्रवृत्ति अपनी अपनी आत्माके सुखके

१ भगवानाह । न हि महामते तीर्थकरात्मवादतुभ्यो मम तथागतगर्भोपदेश । किंतु महामते तथागता शून्यतामूनकोटिनिवाणानुत्पादानिमित्ताप्रणिहितस्थाना महामते पदायानां तथागतगर्भोपदेश इत्वा तथागता अहन्त सम्यक्सुबुद्धा धारणां नैरात्म्यधर्मास्यपदविवर्जितार्थ निर्विकल्पनिरामासगोचर तथागतगर्भमुपोपदेशेन दर्शयन्ति । न चात्र महामते अनागतप्रत्युत्पद्यै बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैरात्माभिवशकृतं । एव हि महामते तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टाना तार्थकराथामाकषणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति । लंकावतार पृ ७७ ।

क्षण नदीके प्रवाहकी तरह (नदीस्रोतोन्मिय) बदलता रहता है । जिस प्रकार दीपककी ज्योति क्षण क्षणमें बदलते रहने पर भी सदृश परिवर्तनके कारण एक अगड रूपसे माद्रम होती है, अथवा जिस प्रकार नदीमें प्रत्येक क्षण नये नये जलके आते रहनेपर भी नदीके जल प्रवाहका अचिकल रूपसे ज्ञान होता है, उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्थामें विज्ञानमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी समान परिवर्तन होनेके कारण विज्ञान (आत्मा) का एक रूप ज्ञान होता है । बौद्धोंका कहना है, कि इस विज्ञान प्रवाह (चित्तसतति) के माननेसे काम चल जाता है, अतएव आत्माको अलग स्वतंत्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं ।

### भवसन्तति

बौद्ध लोग आत्माको न मानकर भी भयङ्गी परम्परा जिस प्रकार स्वीकार करते हैं, यह मित्रिन्दपण्डके निम्न समादसे बड़ी भांति स्पष्ट होता है—

मित्रिन्द—भते नागसेन, दूसरे भयम क्या उत्पन्न होता है ?

नागसेन—महाराज, दूसरे भयमे नाम और रूप उत्पन्न होता है ।

मित्रिन्द—क्या दूसरे भयमें यही नाम और रूप उत्पन्न होता है ?

नागसेन—दूसरे भयमें यही नाम और रूप उत्पन्न नहीं होता । परन्तु छाग इम नाम और रूपसे अच्छे, बुरे कर्म करते हैं, और इम कर्ममे दूसरे भयम दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है ।

मित्रिन्द—यदि यही नाम-रूप दूसरे भयमें उत्पन्न नहीं होता, तो हम अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिये ?

१ जेम्सका मानसशास्त्रवेत्ता प्रो विलियम जेम्स (William James) ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचाररत्ता प्रवाह मानते हुए नित्य आत्माके स्थानपर चित्त सन्तति (Stream of Thought) का स्वरूप किया है—The unity, the identity, the individuality, and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively, and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present Thought or 'section' of the stream. But the Thought is a perishing, and not an immortal or incorruptible thing. Its successors may continuously succeed to it, resemble it and appropriate it, but they are not it, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing. The Principles of Psychology अ १० पृ ३४४, ३४५ ।

२ मित्रिन्दपण्ड अ २ पृ ४६ ।

नागसेन—यदि हमें दूसरे भ्रम उत्पन्न न होना हो, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल न भोगना पड़े, परन्तु हमें दूसरे भ्रम उत्पन्न होना है, अतएव हम बुरे कर्मोंसे निवृत्त नहीं हो सकते ।

मिलिन्द—कोई दृष्टांत देकर समझाइये ।

नागसेन—कल्पना करो, कि कोई आदमी किमीके आम चुरा लता है । आमोंका मालिक चोरको पकड़कर रानाके पाम छाता है और रानामे उस चोरको दण्ड देनेकी प्रार्थना करता है । अब, यदि चोर कहने लगे, कि मैंने इस आदमीके आम नहीं चुगाये, क्योंकि जो आम इस आमोंके मालिकने बागम लगाये थे, वे आम दूसरे थे, और जो आम मैंने चुराये हैं, वे दूसरे हैं, उस छिये मैं दण्डका पात्र नहीं हूँ, तो क्या यह चोर सजाका भागी नहीं होगा ?

मिलिन्द—अस्यही आमोंका चोर दण्डका पात्र है ।

नागसेन—किस कारणसे ?

मिलिन्द—क्योंकि पिछले आम पूर्वके आमसे ही प्राप्त हुए हैं ।

नागसेन—ठीक इसी प्रकार इम नाम-रूपसे हम अच्छे, बुरे कर्मोंका करते हैं और इम कर्मसे दूसरे भ्रमों दूसरा नाम आर रूप उत्पन्न होता है । अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि ' यदि यही नाम दूसरे भ्रम उत्पन्न नहीं होता, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिये ' ।

बौद्धोंका कथन है, कि विम प्रकार एक दीपकसे दूसरे दीपकके जलाये जानेपर पहला दीपक दूसरे दीपकके रूपमें नहीं बदल जाता, अथवा जिस प्रकार गुरुके शिष्यको विद्यादान करनेपर गुरुका सिंग्याया हुआ श्लोक शिष्यके सीखे हुए श्लोकमें नहीं परिणत होता, उसी प्रकार विना किमी नित्य पदार्थक माने विज्ञान-मत्ततिके द्वारा भ्रम-परम्परा चलती है । जिस समय जीवकी मृत्यु होती है, उस समय मरनेके समयम रहनेवाग विज्ञान सस्कारोंकी दृढतासे गभमें प्रविष्ट होकर क्रिसे दूसरे नाम-रूपमें समग्र हो जाता है । अतएव एक विज्ञानका भरण आर दूसरे विज्ञानका जन्म होता है । विम प्रकार घनि आर प्रनि-निम, मौहूर आर उसका आपमे, पदार्थ आर पदार्थक प्रतिविम्बमें कार्य-कारण समग्र है, उसा तरह एक विज्ञान आर दूसरे विज्ञानमें कार्य-कारण समग्र है । विज्ञान कोई नित्य नस्तु नहीं है । इम विज्ञानकी परम्परासे दूसरे भ्रमों जो मनुष्य उत्पन्न होता है, उस मनुष्यका पहला ही मनुष्य कह सकते हैं, और न उसे पहले मनुष्यसे भिन्न ही कहा जा सकता है । अतएव जिस प्रकार कपासक बीजको रंग रंगसे रंग देनेसे उस बीजका फल भी छाउ रंगका उत्पन्न होता है, उसी तरह तीव्र सस्कारोंकी आपके कारण अनिच्छित सत्वानस यह मनुष्य दूसरे भ्रमों भी अपने किये हुए कर्मोंके फलको भागता है । इस छिये जिस प्रकार डातुओंसे हत्या किये जाने हुए मनुष्यके

१ मिलिन्दपद् अ २ पृ ४०-५० । स्पष्टीकरणके लिये दृष्टा बाधक्याचनार १-७३ की पंक्ति सत्वसमग्र कर्मपरमपरिभाषा तथा लोकायतपरीक्षा नामक प्रकरण ।

टंगफोनद्वारा पुत्रिसक थानम परर देनेसे मनुष्यक अतिम वाक्यास मरनेके पश्चात् भी मनुष्यकी क्रियायें जारी रहनी हैं, उसी तरह मस्कारकी दृढताके बलमें मरनेके अतिम चित्त-क्षणस जम लेनेके पूर क्षणक साथ सज्ज होता है। वास्तवम आत्माका पुनर्जम नहा होता, किन्तु जिस समय कम ( सम्कार ) अविद्यामें सज्ज होता है, उस समय कर्मका ही पुनर्जम कहा जाता है। इसलिये ज्ञान दर्शनमें कमको छोड़कर चेतना अलग वस्तु नहीं मानी है।

### बौद्ध साहित्यमें आत्मासम्बन्धी मान्यतायें

बौद्ध साहित्यम आमाके सज्जमें भिन्न भिन्न मान्यतायें उपस्थित हांता है। सक्षेपमें इन मायताओंको हम चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। ( १ ) मिलिन्दपण्ह आदि ग्रंथोंके अनुसार पाच स्कन्धाको छोड़कर आमा को पृथक् पदार्थ नहीं है। इस लिये पच स्कन्धाके समूहको ही आत्मा कहना चाहिये। ( २ ) पाच स्कन्धोंके अतिरिक्त नवयधिक आदि मतानी तरह आमा एक पृथक् पदार्थ है। ( ३ ) आमाका अस्तित्व तो है, परन्तु इसे 'अस्ति' आर 'नास्ति' दोनों नहीं कह सकते। यह मन वात्मापुत्रीय वाद्योंका है। ( ४ ) आमा है, या नहीं, यह कहना असम्भव है। यहा ये चारों मान्यतायें क्रमसे दिखायी जाती हैं—

( १ ) आत्मा पाच स्कन्धोंसे भिन्न नहा है—

मिलिन्द—भन्ते, आपका क्या नाम है ?

नागसेन—महाराज, नागसेन। परन्तु यह व्यवहार मात्र है, कारण कि पुद्गलें (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती।

१ यह उपमा मिसन राइस डेविड्सन दा है। देखो Buddhist Psychology प २५।

२ देला वारन ( Warren ) की Buddhism in Translation 'पुस्तकका Rebutth and not Transmigration नामक अध्याय पृ २३४-२४१।

३ चतनाह भक्तवत्से कम्मार्ति वदामि। अमुत्तरनिकाय ३-४५।

सत्त्वशक्तमथ भाचनगेर चित्तमेव रचयन्वतिचित्र।

कर्मन हि जगदुक्तमशेष कमचित्तमवधूय न चास्ति। बोधिचयावतार पञ्चिका पृ ४७२।

कम्मा विपाका वसन्ति विपाको कम्मसम्भवा।

कम्मा पुनम्भवा हाति एव लाका पवत्तति ॥

कम्मस्य कारको नथि विपाकस्स च देवको।

सुद्धमम्मा पवत्तन्ति एवम सम्मदस्सन ॥

विजुद्धिमग्ग अ ११।

४ आत्मवादकी इन तीन मान्यताओंका उल्लेख धर्मपात्राचार्यने अपना विज्ञानमात्रशास्त्रका संहृत टीकाम किया है। यह टीका उपस्थ नहीं है। जापानी विद्वान यामावार्ता सोगेनेने यह उल्लेख अपनी Systems of Buddhist thought नामक पुस्तकके १७ व पक्षपर उक्त अर्थक हुइन्त्सांगक चीनी अनुवादके आधारस किया है।

५ पुग्गले सुपण्हमति। मिलिन्दपण्हम अत्ता ( आमा ) शब्दके स्थानपर जाव पुग्गल और वेदगू शब्दोंका व्यवहार किया है। देला मिसन राइस डेविड्सन 'Question of milinda'।

मिल्डिन्—यदि आमा कोई वस्तु नहीं है, तो आपको कौन पिंटपान (मिक्षा) देता है, कौन उस मिक्षाका भक्षण करता है, कौन शालकी रक्षा करता है, आर कौन माननाआमा चित्तन करनयाडा है ? तथा फिर तो अच्छ, धुरे कर्मका कोई कर्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये । आदि ।

नागसेन—मैं यह नहीं कहता ।

मिल्डिन्—क्या रूप, वेदना, मत्ता, सम्कार और त्रिानको मिल्कर नागसेन बने हैं ?

नागसेन—नहीं ।

मिल्डिन्—क्या पाच स्फुधाक अतिरिक्त कोई नागसेन है ?

नागसेन—नहीं ।

मिल्डिन्—तो फिर सामने लिखाई देनेवाले नागसेन क्या है ?

नागसेन—महाराज, आप यहां रथसे आये हैं, या पैदल चलकर ?

मिल्डिन्—रथसे ।

नागसेन—आप यहां रथसे आये हैं, तो मैं पूछता हूँ कि रथ किम कहते हैं । क्या पहियोंको रथ कहते हैं, क्या धुरेको रथ कहते हैं, क्या रथम लग हुए डण्डोंका रथ कहते हैं ?  
( मिल्डिन्ने इनका उत्तर नकारमे दिया । )

नागसेन—तो क्या पहिये, धुरे, डण्ड आदिके अलावा रथ अलग वस्तु है ।

( मिल्डिन्ने फिर नकार कहा । )

नागसेन—तो फिर किस रथसे आप आये हैं, यह क्या है ?

मिल्डिन्—पहिये, धुरा, डण्डे आदि सबको मिटाकर व्यवहारमे रथ कहा जाता है । पहिये आदिको छोड़कर रथ कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं ।

नागसेन—किस प्रकार पहिये, धुरे आदिके अतिरिक्त रथका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप, वेदना, त्रिान, सत्ता और सम्कार इन पाच स्फुधोंको छोड़कर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं है ।

१ नागसेनोति सखा समज्या पञ्चमत्ति बाह्यारो नाममत्त पवनति । परमत्वतो वन एतथ पुग्गलो तुप-  
रामति । भासित वन एत महाराज वजिराय भिम्बुनीया मग्वनो सम्मुत्ता—

यथाहि अग समारा होति सद्दो रथा इति ।

एव खचसु सत्तसु हानं सत्ताण सम्मुति ॥ मिल्डिन्पण्ड अ २ पृ २५ से २८ ।

तथा—दुखमव हि न कोचि दुस्सिनतो ।

कारको न किरियाव विज्जति ।

अथि निवुत्ति न निव्वुत्ता पुमा ।

मगमत्थि गमको न विज्जान ॥ विग्गाद्मग अ १६ ।

तथा दसो कथावत्थु १- अमिधमकांश ३-१८ टीका दोधनिकाय-पायासिसुत्त सद्युत्तनिवाय  
५-१०-६ ।

( २ ) आत्मा पाच स्क्वोंमे भिन्न पदार्थ है—बौद्धांनी दूसरी मान्यता है, कि आमा पचम्कधास पृथग् पदार्थ ह । यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिकां जैमी ही है । यह पर आमा ( पुद्गल ) का पाच स्क्व रूप मोक्षको ढोनेवाला कहा गया है ।

( ३ ) आमाको पाच स्क्वासे न भिन्न कह सकते हैं, और न अभिन्न—बौद्धोंके आमा सगरी तीसरे मिद्धातका माननेवाले पुद्गलादी वासीपुत्रीय बौद्ध हैं । ये लोग आमाके अस्तित्वको मानते हैं, परन्तु इनके अनुसार जिस तरह अग्निमें न चरती हुई लकड़ीस भिन्न कह सकते हैं, आर न अभिन्न कह सकते हैं, परन्तु फिर भी अग्नि भिन्न वस्तु है, उसी तरह यद्यपि पुद्गल भिन्न पदार्थ है, परन्तु यह पुद्गल न पाच स्क्वोंमे सर्वथा भिन्न कहा जा सकता है, और न अभिन्न । यह न निय है, आर न अनित्य । यह पुद्गल अपने अच्छे, बुरे कर्मोंका फल ओर भोक्ता ह, इस लिये इनके अस्तित्वका निषेध नहीं कर सकत ।

( ४ ) आमा अत्याहुत है—इस मान्यताके अनुसार आमा क्या पदार्थ है, यह नहीं कहा जा सकता । ( क ) जिस समय अनुसारे बुद्धसे प्रश्न किया, कि क्या जीव रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार आर विज्ञानमे ग्राह्य है, बुद्धने उत्तर दिया, कि तुम इसी लोकमे जीव दिखानेमें समर्थ नहीं, फिर परमेश्वरकी बात तो दूर रही । इस लिये मैं ' दु ख, आर दुखका निरोध ' इन दो तत्वाका ही उपदेश करता हूँ । अतएव जिस प्रकार किमी तीरमे आहत मनुष्यका ' यह तीर जिसने मारा ह, कानसे समयमें माग है, कौनसी दिशाम आया है, ' आदि प्रश्न करना गृथा है, क्योंकि उस समय उस मनुष्यको इन सत्र प्रश्नोत्तरोंमे न पड़कर तीरके घायली रक्षाकी बात सोचनी चाहिये, उसी प्रकार आमा क्या है, परत्राक क्या है, मरनेके बाद तथागत पैदा होता है या नहीं, आदि प्रश्न अत्याहुत हैं । ( ख ) बहुतेसी जगह आमाके विषयमें प्रश्न पूछे जानेपर बुद्ध मान रहते हैं । इस मौनका कारण पूछे जानेपर बुद्ध कहते हैं, कि यदि मैं कहूँ कि आमा है, तो लग शाश्वतवादी हो जाते हैं, और यदि मैं कहूँ कि आमा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं । अतएव एक तरफ शाश्वतवाद आर दूसरी ओर उच्छेदवादका निराकरण करनेके लिये मैं मौन रहता हूँ । ( ग ) बहुतेमे बौद्ध सूत्रोंमे आत्माक

१ भार वा भिक्षवा दशविष्यामि भारदान भारनिक्षप भारहर च । सत्र भार पचोपादानस्त्वं धा, भारदान तृप्ति भारनिक्षेपो मोक्ष भारहर पुद्गल " तत्त्वसमग्रहचक्रा आत्मवादपरोभा ३४९ तथा धम्मपद अत्तवग्गो ।

२ सयुत्तनिकाय अनुसुधसुत्त तथा— ररुधा सत्त्वा एव ततो मिमा वा ' इति प्रश्न सत्वस्य विषये सत्त्वश्च नास्त्वैव किमपि वस्तु । तेनार्य प्रश्न ' वध्यापुत्र गुरु कृष्णो वा इतिवत् स्थापनीय ( अनुत्तमित ) एव । षाभिधमकाश ५-२२ टिप्पणी बुद्धचया पृ १८६ से आग ।

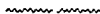
३ विन्दु न्चो गोतम अत्यत्ताति ।  
एव बुत्ते भगवा तुण्हा अहोसि ॥  
विं पन भा गातम नत्थत्ताति ॥

तुतियापि ग्गो भगवा तुण्हा अहोसि । सयुत्तनिकाय ४-१०० ।

४ अस्तीति शाश्वतप्राज्ञा नास्तीत्युच्छेददर्शनं । तस्मादस्मित्वनास्तित्वे नाप्रियेत विचक्षणं ॥

माध्यायिक कारिका १८-१० ।

निषयम प्रश्न किये जानेपर आमात्ता स्पष्ट विवेचन न करके बार बार यही कहा गया है, कि रूप आत्मा नहीं, वेदना आत्मा नहीं, सज्ञा आमा नहीं, सस्कार आमा नहीं, विज्ञान आत्मा नहीं । जो लोग रूप, वेदना आदिको आत्मा समझते हैं, उनके सत्कायदृष्टि कही जाती है । महायान सम्प्रदायवादीने इसी अनत्तावाद ( नैरात्म्यवाद ) के ऊपर अपने विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धांतोंका स्थापना करके क्लेशपरण और ज्ञेयपरणके नाश करनेके लिये नैरात्म्यवादके प्रतिपादन पूर्वक आत्म-दृष्टिसे क्लेशकी उत्पत्ति प्रतापी हैं<sup>१</sup> । नागार्जुनने कहा है, कि “ बुद्धने यह भी कहा है कि आमा है, और यह भी कहा है कि आत्मा नहीं है । तथा बुद्धने आत्मा आर अनामा किस्तीका भी उपदेश नहीं कियौ । ”



१ मज्झिमनिकाय महापुण्णम सुत्त १०९ ।

२ सत् काय पच उपादानस्सुखा एव । तत्राह मम दृष्टि सत्कायदृष्टि । अभिधर्मकोश ५-७ ।

३ सत्कायदृष्टिप्रमदानशेषान् क्लेशान् च दोषान् च धिया विपश्यन् ।

आहमानमस्याविषय च बुद्ध्वा । योगी करात्त्यात्मनिषधमेव ॥ माध्यामक कारिका १८-१८ ।

४ आत्मेत्यपि प्रकृषितमनास्मेत्यपि देशित । बुद्धेनात्मा न चानारमा कश्चिदित्यपि देशित ॥

माध्यामिक कारिका १९-६ ।



# न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट ( ग )

( श्लोक ४ से १० तक )

## न्याय-वैशेषिकदर्शन

( १ ) न्याय दर्शनके मूल प्रवक्तव्य अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं । अक्षपादको महायोगी, अहल्यापति आदि नामाने भी कहा जाता है । पुराणिके अनुसार स्वमतद्वेषक व्यास ऋषिका मुप देखनेके छिण गौतमके पैराम नेत्र थे, इम छिण इनका नाम अक्षपात् पडा । प्राचीन मान्यता ह, कि गौतम ऋषिके आश्रमम वृष्टिके न हानेपर भी वरुणके वरमे वृक्ष आदि उनम्यतिपां सत्ता हरी भरी रहा करती थी । नैयायिक लोग योग, और शैव नामसे भी कहे जाते हैं । नैयायिक दर्शनमें शिव भगवान जगतकी सृष्टि आंग संहार करते हैं, वे व्यापक, नित्य, एक और सर्जन हैं, आर इनकी बुद्धि शाश्वती रहती है । नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय, सदाय, प्रयोजन, दृष्टान्त, मिद्वात, अययन, तर्क, निर्णय, वात्, जल्प, नितडा, हेत्वाभास, उल, जाति आर निप्रहृजान इन सोलह तर्कोंके ज्ञानसे दुग्गता नाग हानेपर मुक्ति स्वीकार करते हैं । ये छग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणोंको मानते हैं ।

( २ ) वैशेषिक दर्शनके आद्य प्रणेता कणाद कहे जाते हैं । कणादको षण्मक्ष अथवा आंशुम्य नामसे भी कहा जाता है । पौराणिक मान्यताके अनुसार कणाद ऋषि रास्तेमें पड़े हुए चारखोंके कणाका आहार करके कापोती वृत्तिस अपना निर्माह करते थे, अतएव इनका नाम कणाद अथवा

१ अक्षपादो महायोगी गौतमाचार्योऽभव मुनि ।

गौतमवरीसमानता अहल्याया पति प्रभु ॥

स्कन्दपुराण कुमारिवासण ।

२ पुराणोंम सात्य-योगरी तरह अक्षपाद और कणाद प्रणात शास्त्राक्त धृति विरुद्ध कहा है—

अक्षपादप्रणात च कणादे योगसारयथा ।

स्याज्य धृतिविरुद्धाऽर्थे । पद्मपुराण । न्यायकाण्ड पृ २ ।

३ न्याय प्रथम प्रमाणव लक्षण निम्न प्रकारसे मिलते हैं—

( क ) जिस प्रत्यक्ष आदिके द्वारा प्रमाता पदार्थोंको यथाय रूपसे जानना है, उसे प्रमाण कहते हैं—  
प्रमाता येनार्थे प्रमिणात् तत् प्रमाणम् । वादस्यायन भाष्य १-१-१ ।

( ख ) जो ज्ञानमें कारण हो उसे प्रमाण कहते हैं—उपलब्धिहेतु प्रमाणम् । उद्योतकर—न्यायवार्तिक ।

( ग ) अव्यभिचारि और अन्वयिष्ठ रूपसे पदायाने ज्ञान करनेवागी बोधाबोध स्वभाववागी साम प्राक् प्रमाण कहते हैं—अव्यभिचारिणीमसदिग्धार्थोपलब्धिम् । विदधति बोधाबाधस्वभावा सामप्रां प्रमाणम् । पयन्त—न्यायमञ्जरी पृ १२ ।

( घ ) पदार्थके यथाय रूपसे जाननेका प्रमा और प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं—यथायानुभव प्रमा । तत्साधन च प्रमाणम् । उदयन—तात्पर्यपरिशुद्धि ।

( ङ ) प्रामां नित्य सवध रखनेवा प्रमथरका प्रमाण कहते हैं—साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्व सति प्रमाव्याप्त प्रमाणम् । सबदर्शनमग्रह अक्षपाददर्शन ।

कणभक्ष पक्षों। कणाद ऋषिका दूसरा नाम आद्रक्य है। कणादने काश्यप गोत्रा उद्रक ऋषिके घर जन्म धारण किया था, अतएव इनका नाम आद्रक्य पक्ष। आयुपुराण में अनुमान आद्रक्य द्वारकाके पास प्रमामके रहनेवाले सामशमाके शिष्य थे। नदिक परम्परका अनुकरण करते हुए हेमचन्द्र, राजदामर, गुणरत्न आदि जन विद्वानोंका कर्जन है, कि स्वय ईश्वरने उल्हू (उद्रक) का रूप धारण करके कणाद ऋषिको द्रव्य, गुण, कर्म सामाय, विशेष और समनाय इन उह पदार्थोंका उपदेश किया था। इस उपदेशके ऊपरसे कणाद ऋषिने जाँकोंके उपकारके लिये ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की, इसीलिये कणाद ऋषि आद्रक्य नामसे बड़े जाने लगे। “ ईसाकी छठी शताब्दिके चित्साद् (Citsan) नामक एक चीनी बौद्ध वैशेषिक दर्शनके जन्मदाता उद्रकका समय बुद्धने आठसौ वर्ष पहले बताया है। चित्साद्का कर्जन है, कि उद्रक रातको मूँगोंकी रचना करते थे, और दिनमें भिक्षावृत्ति करते थे, इस लिये इनका नाम उद्रक पक्ष। चित्साद्ने दूसरी जगह लिखा है, कि उद्रक रचे हुए मूँग साम्य दर्शनके सूत्रमें बड़े बड़े (विशेष) थे, इस लिये उद्रकका दर्शन वैशेषिक दर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सूत्रालंकारके कर्ता अश्वघोषका कहना है, कि जैमे रातमें उल्हू शक्तिशाली होता है, वैसे ही ससारमें बुद्धके आनेके पहले यह दर्शन शक्तिशाली था। बुद्धके प्रादुर्भाव होनेपर इस दर्शनका प्रभाव हीन हो गया, इस लिये इस दर्शनको औलूक्य दर्शन कहते हैं। ” वैशेषिकोंका दूसरा नाम पाशुपत है। वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष आर समनाय इन उह तत्त्वोंको, और प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको स्वीकार करते हैं।

१ मुनिकेदोषस्य वापातां वृत्तिमनुष्ठितवता रथ्यानिपतितास्तदुक्कणानादाय वृताहतरस्याहारनिमित्तान् कणाद इति सहाऽननि । पञ्चदर्शनसमुच्चय-गुणरत्न टीका पृ १०७ ।

२ वैशेषिक सारौलूक्य । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्र विशेषा ते प्रयोजनमस्य वैशेषिक शास्त्र तद् वेत्यऽथाते वा वैशेषिक । उलूक्यापत्यमिव तन्नन्यत्वादेऽलूक्य शास्त्र, उलूक्येवधारणा मध्वरेण प्रजातमिति प्रसिद्धि । अभिधानचिन्तामणि ३-५२६ वृत्ति ।

३ प्रो ह्युव म्याद्वादमञ्जरी नाट्स पृ २३-२५ ।

४ वैशापककि द्रव्य गुण, फल आत्मा परमाणु आदिकी मान्यताआके साथ जैन दर्शनके सिद्धांतोंकी तुलना करनेके लिये देखो वैशेषिकसूत्र और तत्त्वाध्याधिगमसूत्र तथा प्रा जैकोबी (Jacobi) का Jain sutras भाग २ भूमिका पृ ३३ से ३८ ।

५ वैशेषिकसूत्र और प्रसवपाद भाष्यमें द्रव्य गुण आदि छह पदार्थोंका ही उल्लेख पाया जाता है। हरिभद्र, संकराचार्य आदि विद्वानोंने भी वैशेषिकके छह पदार्थोंका उल्लेख किया है। आग जाकर धीघर, उदयन शिवादित्य आदि विद्वान छह पदार्थोंमें अभाव नामका सातवा पदार्थ मिलाकर सात पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन विद्वानोंकी मान्यता है, कि अभाव तुच्छ रूप नहीं है। अन्य पदार्थोंका तरह अभाव भी अलग पदार्थ है। यह अभाव भावके आधारसे रहता है, इसीलिये भाष्यकारने अभावको अलग पदार्थ नहीं कहा (अभावत्वं प्रयगनुपदेश भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात्—न्यायकदली पृ ६)। शिवादित्यने सात पदार्थोंके विवेचन करनेके लिये सप्तपदार्था नामक स्वतंत्र ग्रन्थकी ही रचना की है।

### न्याय-वैशेषिकोंके समानतत्र

न्यायिक आर वैशेषिक लोग बहुतसी मान्यताओंमें एकमत हैं, इम लिय इह 'समानतत्र' कहा गया ह। न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने वैशेषिक सिद्धातका न्यायका 'प्रतितत्र' सिद्धात कहा है। वाद्द निद्वान आर्यदेव आर हरियर्मू भी न्याय आर वैशेषिक सिद्धातका भिन्न भिन्न रूपमें उद्घेप नहीं करते। उद्योगकर अपने 'न्यायवार्तिकमें' वैशेषिक सिद्धातोंका ही उपयोग करते हैं। इतना ही नहीं, वल्कि आगे चडकर वरदराज तार्किकरक्षामें, केतनमिश्र तर्कभाषामें, शिवादित्य सप्तपदार्थमें, लौगाक्षि-भास्कर तर्ककौमुदीमें, विष्णुनाथ भाषापरिच्छद आर सिद्धातमुक्तावलिमें, अन्नभट तर्कमग्रहम् आर जगदीश तर्कामृतमें न्याय-वैशेषिक सिद्धातका समान रूपमें उपयोग करते ह। निद्वानोका मत है, कि प्रशान्तपाद भाष्यकारके समयक वैशेषिक निद्वान आर उद्योगकरके समयके न्याय सिद्धातोंमें बहुत कम अंतर था, परंतु उत्तरकालके वैशेषिक लोगान आत्मा आर अनात्माकी 'निशेष' की ओर अधिक ध्यान दिया, आर परमाणुनादका निशेष रूपसे अध्ययन किया, तथा उत्तरकालके नैयायिकान न्याय आर तर्ककी वृद्धिगत करनमें अपनी शक्ति लगाई, रस उिये आगे चलकर न्याय आर वैशेषिक सिद्धातोंमें परस्पर वृद्ध अंतर पड़ता गया। एक समय यह अंतर इतना बढ़ा, कि वैशेषिकोंके पदार्थोंका स्पण्डन करनेके उिये नन्य नैयायिक रघुनाथ आदिको 'पदार्थवण्डन' जैसे प्रयोंकी रचना करनी पड़ी। गुणरत्नसूरिन नैयायिक आर वैशेषिकोंके मतको अभिन्न प्रताने हुए उनके साधुओंका समान त्रेष आर आचार निम्न प्रकारसे वर्णन किया है—“य लोग निरंतर दण्ड धारण करते हैं, मोठी लगोठी पहिन्ते हैं, अपने शरीरको कनलम दके रहते हैं, जटा बढ़ाते हैं, भस्म छपटते हैं, यज्ञोपनीत रखते हैं, हाथमें जठपात्र रखते हैं, नरिस भोजन करते हैं, प्राय वृक्षके नीचे वनम रहते हैं, तुपी रखते हैं, कन्दमूल आर फलके उपर रहते हैं, अतिध्य कर्ममें रत रहते हैं, कोई सखीक होते हैं आर कोई स्त्री रहित होते हैं, दोनोंमें स्त्री रहित अच्छे समझे जाते हैं। ये लोग पचाग्नि तप तपते हैं, सयमकी उत्कृष्ट स्थितिमें नम्र रहते हैं आर प्रात कालमें दात, पेट आदिषां साफ करके अर्गमें भग्म लगाकर शिवका ध्यान करत हैं। जिस समय इनका पन्मान लोग नमस्कार करते हैं, उस समय ये 'ओं नम शिवाय' गोलते हैं, आर सन्यामी लोग कनल 'नम शिवाय' कहते हैं। ये तपस्वी लाग शैव, पागुपत, महाव्रतपर आर कालमुखके भेदमें चार प्रकारके होने हैं। नैयायिक आर वैशेषिकोंका देवताके विषयमें मतभेद नहीं है।”

१ अन्ये केचनाचाया नैयायिकमतावैशेषिके सह भेद पापकर्म न मन्यन्त। एकदेवनत्वेन तत्त्वाना मियोऽन्तर्भावनात्प्रायस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकानां मियो मतेऽयमेवेच्छतीत्यर्थः। पद्ददर्शन समुच्चय टीका पृ १२१।

### न्याय-वैशेषिकोंम मतभेद

१ वैशेषिक लोग शब्दको भिन्न प्रमाण नहीं मानत, परन्तु वे लोग वदोंके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं । नैयायिक शब्दको भिन्न प्रमाण मानकर वदोंके प्रमाणके अतिरिक्त ऋषि, आय और श्लेच्छ आषोक्ता प्रमाण मानते हैं ।

२ नैयायिक उपमानका भिन्न प्रमाण मानत है, और अर्पणसिद्धि, सभन और ऐतिह्यको प्रमाण मानकर उनका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणाम अनुमान करते हैं । वैशेषिक सूत्रामें उक्त प्रमाणाका कोई उल्लेख नहीं मिलता । वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष आर अनुमान केवल दो ही प्रमाण मानत हैं ।

३ नैयायिक लोग साठह पदार्थ मानते हैं । न्यायसूत्रामें द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष आर समवायके नियममें कोई चर्चा नहीं आता । वैशेषिक सूत्राकी चर्चा प्रमानतया द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंके ऊपर ही होता है ।

४ वैशेषिक सूत्रामें ईश्वरका नाम नहा आता । न्याय सूत्र ईश्वरका अभिन्न मित्र करते हैं ।

५ वैशेषिक लोग मोक्षका निश्चयस अथवा मोक्ष नामम कहते हैं, और शरीरमे सत्ताके टिये सब्र छूट जानेको मोक्ष मानते हैं । नैयायिक लोग मोक्षका अपवर्ग नाममे कहते हैं, और दुरुक्ते क्षयका अपवर्ग मानते हैं ।

६ वैशेषिक पीठपात्रक सिद्धान्तका आर नैयायिक पिठरपाकके सिद्धान्तका मानते हैं ।

### वैदिक साहित्यमें ईश्वरका विविध रूप

( १ ) वैदिक युगके लोग सूर्य, चन्द्र, ऊषा, अग्नि, मिथुन्, आकाश आदिको हा अपना आराय देव समझ कर सूर्य आदिकी पूजा और आराधना करते थे । वीरे धीरे सूर्य आदिका स्थान इन्द्र, उष्ण आदि देवताओंका मिला । ये इन्द्र, उष्ण आदि देवता लोग निम्न तरह कोई वदई अथवा सुनार किमी नूतन पदार्थका सृष्टि करता है, एक साथ अथवा एक एक करके जगतकी सृष्टि करते हैं । कुछ समय बाद वदामें जन, सूत्र, अण्ड, गर्भ, रेतम आदि शब्दोंका प्रयोग मिलता है, और यहा देवताओंको सृष्टिका सर्पक और शासक कहकर पिता रूपसे उल्लेख किया जाता है । आग चलकर सृष्टिका देवताओंकी माया कह कर सृष्टिका मनुष्यसुद्धिके माया बताया जाता है । यहा इन्द्र मायाके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है, और अपने शरीरमे ही अपन माना-पिताका निमाण करता ह । आग जानकर वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चिन रूप देनेके टिय सत्, अमत्, जीवन, मृत्यु आदि परम्पर विरागी शब्दोंमे

ईश्वरका वर्णन करते हैं । ( २ ) ब्राह्मणोंम भी ईश्वर सबधी अनेक मनोरञ्जक कल्पनाय पायी जाती हैं । ( अ ) प्रजापतिने एरुसे अनेक होनेकी इच्छा की । इमक लिये प्रजापतिने तप किया आर तान लोककी सृष्टि की । ( व ) सृष्टिके पहले पृथ्वी, आकाश आदि किसी पदार्थका भी अस्तित्व नहीं था । प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपश्चरण किया । तपश्चरणके बलसे धूम, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणें और वाय्वकी उत्पत्ति हुई, और तदमें ये सब पदार्थ वाष्पकी तरह जमकर घनीभूत हो गय । इससे प्रजापतिका लिंग पट गया, और उसमेंसे मसुद्र दृढ निकला । प्रजापति रोने लगे, क्योंकि अब उनके ठहरनेकी कोई जगह नहीं रह गई थी । प्रजापतिकी जालोंके अशु चिट्ठु समुद्रक जलमें गिरे ओर वे पृथिवी रूपमें परिणत हो गय । तदमें प्रजापतिने पृथ्वीको साफ किया और उससे वायुमण्डल आर आकाशकी उत्पत्ति हुई । ( स ) प्रजापतिने एरुस अनेक होनेके लिये कठोर तपश्चरण किया । उमसे ब्राह्मन् ( वेत् ) और जल्मी उत्पत्ति हुई । प्रजापतिन त्रयी त्रियाको लेकर जलमें प्रवेश किया, इसमें अटा उपनन हुआ । प्रजापतिने अटका स्पश किया । तदम अग्नि, वायु, मृत्तिका आदिकी उत्पत्ति हुई । ( ३ ) उपनिषद् साहित्यमें भी सृष्टि ओर मृष्टिकृतिके त्रियमें त्रिय सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है । ( अ ) केवल बृहदारण्यक उपनिषद्में ही इस त्रियकी कई कल्पनाये मिलती हैं । यहा एक स्थलपर असत्, मृत्यु आर बुधाको एक मानकर मृत्युसे जीवनकी उत्पत्ति मानी गई है, आर मृत्युसे जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, ओक आदिकी सृष्टि स्वीकार की गई है । दूसरे स्थलपर आत्मा अथवा पुरुषसे सृष्टि मानकर कहा गया है, कि जिस समय आत्मामें मनेदन शक्तिका आभिर्भाव हुआ, उस समय आत्मा अपनेको अकेले पाकर भयभीत हुआ । आत्मा पुरुष आर स्त्री दो विभागमें विभक्त हुआ । स्त्रीने देखा, कि पुरुष उसका सजक है आर साथ ही उसका प्रेमी भी है । स्त्रीने गाका रूप धारण कर लिया । पुरुषने भी वस्त्रका रूप धारण किया । इसी प्रकार बकरी, गुरा आदि युगलोंकी उत्तरोत्तर सृष्टि होती गई । दूसरे स्थलपर त्रयसे सृष्टिकी रचना मानी गई है । यहा कहा गया है, कि सृष्टिके पहले एक ब्रह्म ही था । ब्रह्मने अपनेको पर्याप्त शक्तिशाली न देखकर क्षत्रिय, वैश्य, गृह तानियोंकी और सत्यकी सृष्टि की । ( २ ) छांदोग्य उपनिषद्में असत्को अटा तताकर अटके छटनेसे पृथ्वी, आकाश, परत आदिकी रचना मानी गई है । ( स ) प्रश्न उपनिषद्में सृष्टिकताको अनात्ति मानकर कहा गया है, कि जिस समय ईश्वरको सृष्टिके रचनेकी इच्छा हुई, उस समय ईश्वरने रथि आर प्राणके युगलको पदा किया । ( ड ) मुण्डक उपनिषद्में

१ देखो बेवेल्लर और रानाड ( Belvelker and Ranade ) की History of Indian Philosophy Vol II अ १ । २ एतरेयब्राह्मण ५-३८ । दंडी वही अ २ । ३ तैत्तिरीयब्राह्मण ११-२-१ । वही । ४ शतपथब्राह्मण ६-१-१-८ और आगे । वही । ५ बृहदारण्यक उ अध्याय १ । ६ छांदोग्य उ ३-१८-१ । ७ प्र ३ उ १-४ ।

अक्षरसे सृष्टि माना गइ ह । व्सी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें तम, प्राण, आकाश, हिरण्यगर्भ, जल, नायु, अग्नि आदिस सृष्टिका आरम्भ रजाकार किया गया है ।

भारतीय दर्शन साहित्यमें चार्वाक, वाद्द, जन, मीमांसा, सारय्य आर याग्य दश-नकार ईश्वरको सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करते । तथा वेदान्तों, न्याय और वैशेषिकों दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिका रचनेवाला माना गया ह ।

### ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

ईश्वरवादियोंका मत ह, कि इम अचेतन सृष्टिका कोई सचेतन नियन्ता होना चाहिय । परमाणु आर कर्मशक्तिसे सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती । क्याकि परमाणु आर कर्मशक्ति दार्नी अचतन है । इम त्रिये इस सृष्टिका सचेतन नियता सर्जन, सम्ब्यापी, करुणाशील आर

१ मुण्डक उ १-७ । २ देखो रानाडे और वेत्त्वकरकी Constructive survey of the Upanishadic Philosophy अ २ ।

३ सांख्यदर्शनक इतिहासको तीन प्रधान युगमें विभक्त किया जाता है—( १ ) मौलिक अर्थात् उपनिषद् भगवद्गीता महाभारत और पुराणका सात्य ईश्वरवादी था । ( २ ) दूसरे युगका अर्थात् महाभारतके अन्तर्गत भागम तथा सांख्यकारिका और यादरायणके सूत्रोंमें वर्णित सात्य ' प्रकृतिवाद ' के सिद्धांतसे प्रभा वान्वित ह'कर अनाश्वरवादी हो गया । ( ३ ) तीसरे युगका अर्थात् इसाकी सोलहवीं शताब्दिसा सांख्यदर्शन विज्ञानमिश्रके अधिपतित्वमें फिरसे ईश्वरवादकी ओर झुक गया ।

४ योगसो सद्वर साख्य भी कहा जाता है । इस मतम ईश्वरको सृष्टिका कता नहीं मानकर एक पुरुष विशयसो ईश्वर माना गया है । यह पुरुष विशेष सदा कृदा कर्म, कर्मोंका फल और वायनासे असृष्ट रहता है ।

५ वेदान्तक अनुसार ईश्वर जगतका निमित्त और उपादान कारण है इस लिये वेदान्तियासा मत है कि ईश्वरने स्वय अपनेमसे ही जगतको बनवाया है जब कि न्याय-वैशेषिकोंके अनुसार सृष्टिम ईश्वर केवल निमित्त कारण है । इनके अतिरिक्त वेदान्त मतमें अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि न मानकर जन्म, स्थिति और प्रलय तथा शाखाका कारण होनेसे ईश्वरकी सिद्धि मानी गइ है ।

६ गर्भे ( Garbe ) आदि विद्वानोंने मतक अनुसार न्यायसूत्र और न्यायभाष्यम ईश्वरवादका प्रति पदन नहीं किया गया है । यहाँ ईश्वरको केवत्र द्रष्टा, ज्ञाता सबज्ञ और सबशक्तिशाली कहा गया है, ईश्वरको सृष्टिका कता नहीं माना गया । परन्तु यह टोक कही । क्याकि न्यायभाष्यमें ईश्वरको पिताक समान कहनेसा स्पष्ट उल्लेख मित्रता है—यथा पिताऽपत्याना तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम् । ४-१-२१ ।

७ कुछ विद्वानोंका मत है, कि वैशेषिक सूत्रोंमें ईश्वरके विषयका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता । यहा परमाणु और आत्माका क्रिया अण्टके द्वारा प्रतिपादन का जाती है । इस लिये मौक्तिक वैशेषिक दर्शन अनाश्वर वादा था । अथेन ( Athalye ) आदि विद्वान इस मतका विरोध करत है । उनका कहना है कि वैशेषिक दर्शन कभी भी अनाश्वरवादी नहीं रहा । वैशेषिक सूत्रासा ईश्वरके विषयम मौन रहनेका यही कारण है कि वैशेषिक दर्शनका मुख्य ध्यय आत्मा और अनात्माकी विशयताआको प्ररूपण करना रहा है । *Tarkya Samgraha* पृ १३१,७—दखा प्रो राधाकिशनकी *Indian Philosophy Vol II* पृ २२५ ।

**ईश्वरवादी**—वास्तवमें करणाके यशोभूत होकर ही ईश्वरकी सृष्टिके निर्माण करनेमें प्रवृत्ति होती है । ईश्वर भिन्न भिन्न प्राणियोंके पुण्य और पाप कर्मोंके अनुसार सृष्टिका सर्जन करता है, इस लिये सन्या सुखमय सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती । जीवोंके अच्छे और बुरे कर्मोंके अनुसार जगतकी रचना करनेसे ईश्वरकी स्वतन्त्रतामें काई गारा नहीं पड़ सकता । क्योंकि जिम तरह अपने हाथ, पैर आदि अय्यम अपने कार्यमें बाधक नहीं होते, इसी तरह जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा स्वयंकर सृष्टिके निर्माण करनेमें ईश्वरको पराजयवादी नहीं कहा जा सकता । **शक्ता**—सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर शरीर सहित होकर सृष्टि रचता है, अथवा शरीर रहित होकर ? यदि ईश्वरको सशरीर माना जाय, तो ईश्वरको अदृष्टका निषेध कहना चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अदृष्टसे ही निश्चिन होते हैं । इस प्रकार ईश्वरको अशरीर भी नहीं मान सकते, क्योंकि अशरीर ईश्वर सृष्टिका उत्पन्न नहीं कर सकता । **ईश्वरवादी**—जिस प्रकार शरीर रहित आत्मा शरीरमें परिचयन उत्पन्न करती है, उसी तरह अशरीर ईश्वर अपनी इच्छासे समारका सर्जन करता है । ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्नकी उत्पत्ति होनेके लिये भी ईश्वरको सशरीर मानना ठीक नहीं । क्योंकि ईश्वरकी इच्छा और प्रयत्न स्वाभाविक हैं, कारण कि हम लोग ईश्वरका बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नका नित्य स्वीकार करते हैं । अथवा, परमाणुओंका ही ईश्वरका शरीर माना जा सकता है । जिस प्रकार हमारी आत्मामें इच्छा होनेके कारण हमारे शरीरमें क्रिया होती है, उसी तरह ईश्वरकी नित्य इच्छामें परमाणुओंमें क्रिया होती है । **शक्ता**—ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता । किसी पदार्थको प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे जाननेके लिये इन्द्रिय और पदार्थोंका सन्न होना आवश्यक है । परन्तु ईश्वरका इन्द्रियोंसे सन्न नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरवादी लोग ईश्वरको इन्द्रियोंके नियमके बाध मानते हैं । इस लिये प्रत्यक्षसे ईश्वरको नहीं जान सकते । अनुमान प्रत्यक्षपूरक ही होता है, इस लिये ईश्वरका प्रत्यक्ष न होनेसे ईश्वरका अनुमानसे भी नहीं जान सकते । आतके उपदेशमें आर उपमान प्रमाणों भी प्रत्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है, इस लिये उपमान आर शब्दसे मा ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती । **ईश्वरवादी**—ईश्वर हमारे इन्द्रिय-

१ अनुपशुचपलाना कर्मणा न प्रक्षय सममन्तरेण च तत्त उभोगाय नरकादिसृष्टिमारभते दयालु रेव भगवान् । उपभोगप्रवर्धनेन परित्रातानामतरतरा विधातय जन्तूनां भुवनोपसंहारमपि करोताति सर्वमेतत्कृपा निवधमेव । न्यायमञ्जरी पृ २०२ ।

२ यत्तुनर्लिकल्पित सशरीर ईश्वर सृजति जगद् अशरीरा वेति तत्राशरीरस्यैव सृष्टत्वमस्याभ्युपगच्छाम । ननु क्रियानेशनिबन्धकम् कर्तृत्वं न पारिभाषिकं तदाशरीरस्य न्यायविरहात् कथं भवेत् । कस्य च अनाशरीरस्य कर्तृत्वं लभिति । उच्यते । प्रयत्नानलिक्रियायोगित्वात् कर्तृत्वमाचक्षते । तच्चक्षरे विद्यते एवेत्युक्तमेतत् ।

यथा ह्यचेतनं काय आत्मेच्छामनुवर्तते ।

तदिच्छामनुवर्तन्तं तथैव परमाणवः ॥

न्यायमञ्जरी पृ २०२ ।

३ ईश्वरविषयक अन्य शक्ताभाक लिय देखो न्यायमञ्जरी पृ १९०-४ ।

प्रत्यक्षका नियम नहीं है, यह ठीक है। परन्तु इममे हम ईश्वरका अभान सिद्ध नहीं कर सकते। अधिकमे अत्रिक हम यह कह सकते हैं, कि ईश्वर प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी हालतमें प्रत्यक्षसे ईश्वरका अभान सिद्ध नहीं होता। अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि और अभिद्धि दोनों नहा हो सकती। उपमान प्रमाणका ईश्वर-सिद्धिसे कोई सन्ध नहीं है। तथा शब्द प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है।

### ईश्वरके विषयमें आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका मत

पश्चिमक आधुनिक दार्शनिक विद्वान प्राय ईश्वरका सृष्टिका कर्ता नहीं मानत हैं। इन लोगका कहना है, कि यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता होता, और यह प्राणियोंका शुभचिन्तक होता, तो गत योरूपीय महायुद्धमें असंख्य नर-नारियाका रक्त पानीकी तरह कभी नहीं बहाया जाता। अतएव यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर बृपालु हं, तो उसे नाना प्रकारके दुःख और व्याभिर्ओंसे परिपूर्ण सृष्टिकी कभी रचना नहीं करनी चाहिये थी। इस बातको पाश्चिमात्य विद्वानोंने अनेक तरहके उद्गारामें प्रगट किया है। एच जी वेल्स ( H G Wells ) का कथन है, कि ईश्वरको सर्व शक्तिमान सृष्टिका सनक नहीं कह सकते। यदि ईश्वर सृष्टिके प्राणियोंका युद्ध, मृत्यु आदिसे बचानेमें समर्थ होकर भी केवल अपनी जीवोंके लिये ही सृष्टिका निर्माण करता हं, तो मैं उसे घृणाकी दृष्टिसे देखता हू। विडियम जेम्स ( William James ) के कथनानुसार हमें ऐसे ईश्वरका आवश्यकता है, जो हमारे जैसा ही हो, और हम उसे अपना मित्र, सारी, नायक, सेनापति और राजा मानकर अपनी असहाय और पतित दशामें उमसे सहायभूति प्राप्त कर सकें। इस विषयमें ईश्वरीय क्रम दिवाई नहीं देता, इस लिये हम अनादि, अनन्त ईश्वरकी कल्पना नहीं कर सकते। “ प्रो हेल्महोल्त्ज ( Prof Helmholtz ) का कहना है, कि आत्ममें वे सन्-दोष हैं जो किसीके देवनेके यत्रमें पाये जा सकते हैं, और कुछ अत्रिक भी। इसमें कुछ अयुक्ति नहीं है, कि यदि कोई चन्द्रमा त्रेचनवाला इन दोषवाला चन्द्रमा मुक्त देता तो मैं उसकी मूर्खता या असामान्यताको नई उल्लेखपूर्ण लिखता और उसके चन्द्रमेको लौटा देता। कामटे ( Comte ) आदिका कहना है, कि सौर्यमण्डल ऐसा नहीं बना जिससे अत्रिकमे अत्रिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चांद्रपृथिवीके चारों ओर उतने ही समयमें धूमता जितनेमें पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है। यदि ऐसा होता तो चांद्र हर रातको पूरा पूरा चमका करता। लैंग ( Lange ) और हक्सले

१ कुमुदाजनि स्तरक ३। तथा दलों धीधरकी न्यायकदली पृ ५४-५७ जयन्तकी न्यायमन्त्री पृ ११४ से आगे। जयन्तने ईश्वरकी सिद्धिमें सामान्यताण्ट अनुमान दिया है—सामान्यताण्ट तु लिंगना श्वरसत्तायामिदं ब्रूमहे। पृथिव्यादिकार्यं धर्मं तदुत्पात्तिप्रकारप्रयोजनायभिन्नकृतृत्वंरमिति साध्यो धम कायत्वान् प्रत्यदिश्वरः।



( Hurley ) आदि विद्वानोंका कथन है, सृष्टिमें उतना ही अपज्यय है जितना खेतमें एक खरगोशको मारनेके लिये कराड़ों तोप डोढ़नेमें होता है। प्लोटिनस ( Plotinus ) कहा करता था कि मुझे ता अपनी उत्पत्तिकी रीतिकी ध्यान करके उज्जा आती है। इससे प्रतीत होता है या तो ईश्वर सृष्टिको न बनाना, या वह बुद्धिमान नहीं है। ईश्वरको चाहिय था कि कान, नाक, या अगूठा आदिसे सन्तापति करती। ” इसी प्रकार मैकटगार्ट ( McTiggart ) केनन राशडल ( Canon Rashdall ) आदि विद्वानाने ईश्वरको अकर्ता और असर्वन्यापक माना है<sup>१</sup>।

### न्याय वैशेषिक साहित्य

कणादके वैशेषिक सूत्राकी रचना अश्वपादके यायमूर्खोंने पहल मानी जाती है। श्रीयुत युड ( U1 ) वैशेषिक दर्शनकी उत्पत्ति बुद्धके समय, आर कमसे कम द्वाकी प्रथम शताब्दिके अन्तमें वैशेषिक मूर्खोंकी रचनाका समय मानते हैं। प्रशस्तपाद वैशेषिक सूत्राके समर्थ भाष्यकार हो गये हैं। इनका समय ईसाकी पाचवीं उठीं शताब्दि बताया जाता है। वैशेषिक मूर्खोंके ऊपर रामण भाष्य और भारद्वाज वृत्ति नामक भाष्याका भी उल्लेख मिलता है। ये भाष्य आजकल लुप्त हो गये हैं। प्रशस्तपाद भाष्यक ऊपर व्योमशेखरने व्योमप्रती, श्रीधरने यायकन्दर्ली, उदयनन किरणारण्डि आर श्रीमत्सने लीलायता, तथा नन्ददीपके जगदीश भग्यार्यने भाष्यसुक्ति और द्वाकरमिश्रने कणादरहस्य टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त शिवादिश्रमकी सप्तपदार्थी, लागाक्षिभास्करकी तर्ककौमुदा, मिश्रनाथका भाषापरिच्छेद, तर्कसप्रह, तर्कामृत आदि ग्रन्थ वैशेषिक दर्शनका ज्ञान करनके लिये महत्वपूर्ण हैं।

न्यायसूत्रोंकी रचनाके नियम विद्वानोंका बहुत मतभेद है। प्रो जैकोबीका मत है, कि न्यायसूत्र २०० ४५० ईसवी सन्में रचे गये हैं। यूड ( U1 ) ने इस समयको १५०-२५० ईसवी सन् स्वीकार किया है। प्रो धुनेने उक्त मताकी विस्तृत समालोचना करत हुए न्यायसूत्रोंके रचनाके समयको इसनी सन्के पूर्व दूसरी शताब्दिमें माना है<sup>२</sup>। वास्यायन न्यायसूत्रोंके प्रथम भाष्यकार गिने जाते हैं। इनका समय ईसाकी चौथी शताब्दि माना जाता है। वास्यायनके ऊपर बौद्ध तार्किक दिङ्नागके आक्षेपोंका परिहार करनेके लिये उद्योतरकर ( ६३५ ई स ) ने वास्यायन

१ य उद्धरण प गगप्रपाद उपाध्यायका आस्तिकवाद नामक पुस्तकने १० वं अध्यायमें लिखित ( Hint ) की Theism के आधारसे लिये गये हैं।

२ कहा जाता है कि जिस समय बुद्धमान्निष्ठ कता उदयनके नाना बुक्तियासे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनपर भी ईश्वरन कोइ दयाउताका भाव प्रदान नहीं किया उस समय उदयनने ईश्वरको ऐश्वर्यक मद्दत मत्त हुआ बहकर ईश्वरक अस्तित्वकी स्थितिका अपने अधान बतानर निम्न श्लोककी रचना की—

ऐश्वर्यमन्मतोऽसि मा श्वशय वनस ।

परात्रान्तेषु माद्वेषु मद्दधाना तथ स्थिति ॥

३ द्वाको प्रो प्रवकी स्थानादमजरी भूमिका प ४१-५४ ।

भाष्यके ऊपर न्यायवार्तिककी रचना की। न्यायवार्तिकके उपर वाचस्पतिमिश्रने ( ८४० ई स ) न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका लिखी। वाचस्पतिको न्यायसूचिनिग्रह आर न्यायमृगोद्धारका भी कर्ता कहा जाता है। वाचस्पतिमिश्रने वेदान, सांख्य, याग और पूजनीयानाम दर्शनानके ऊपर भी प्रथाकी रचना का है। वाचस्पतिके बाद जयन्तभट्टा ( ८८० ई स ) नाम बहुत महत्वका है। इहाने कुछ चुन हुए न्यायमूत्रोंके ऊपर स्वतंत्र टीका लिखा है। नथतने 'वायमन्त्री, न्यायकठिका आदि प्रथाका रचना की है। मञ्जिषेणन स्याद्वादमञ्जरीमें जयन्तका उल्लेख किया है। उच्यते आचार्यत्सरीं शताब्दिके विद्वान माने जाते हैं। इहोंने वाचस्पतिकी तापपत्राकार तापपत्रीकापरिशुद्धि नामकी टीका, तथा न्यायसुसुमाञ्जलि आत्मतत्त्वत्रिनेक, लक्षणात्रि, किरणात्रि, वायपरिशिष्ट नामक प्रथाकी रचना का है। उच्यते रचनाओंके ऊपर गगश नैयायिकके पुत्र र्थमान आदिने टीकायें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त भार्गवज्ञान न्यायमार, तथा मुक्तावत्रा, तिनररी, रामद्री नामकी भाषापच्छेदकी टीकाय, तर्कमग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि न्यायदर्शनके उल्लेखनाय ग्रंथोंमें हैं। न्यायदर्शनमें नव्यवायका जम मिथिलाके गगेश उपाध्यायमें आरम्भ होता है। गगशका जम ई स १२०० में हुआ था। गगेशने तत्त्वचिन्तामणि नामक स्वतंत्र ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रंथमें नैयायिकोंके चार प्रमाणोंके ऊपर चर्चा की गई है। तदहर्ना शाना त्रिमें गगेशके तत्त्वचिन्तामणिके ऊपर जयन्त प्रत्यक्षादिके नामकी टीका लिखी। इसका पश्चात् ब्राह्मण सांभाम ( ई स १५०० ) ने तत्त्वचिन्तामणिग्रन्थ लिखी। ब्राह्मणके चैतन्य, कृष्णानन्द, रघुनाथ आर रघुनाथ नामके चार उत्तम शिष्य थे। इनमें रघुनाथने तत्त्वचिन्तामणिके उपर दीप्ति, और वैशेषिक मतका घटन करनेके त्रिपे पञ्चधघटन तथा ईश्वरकी सिद्धिके त्रिपे ईश्वरानुमान नामक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त मयुरानाथ ( १५८० ई स ), जगदीश ( १५०० ई स ) आर गणपार ( १६५० ई स ) ने तत्त्वचिन्तामणिके उपर टीकायें लिखकर नव्यन्यायको गूढ़ ही पट्टित किया।



## सांख्य-योग परिशिष्ट ( घ )

( श्लोक २५ )

सारथ, याग, जैन और बौद्ध दर्शनोक्तों तुलना और उनकी प्राचीनता

सारथ लोग जन आर प्राद्वोक्तों तरह वेदोक्तों नहीं मानते, मीमांसकोंके यज्ञ-याग आदिकी निन्दा करते हैं, तत्त्वज्ञान आर अहिंसाके ऊपर अधिक भार देते हैं, सासारिक जीवनके दुग्ध रूप साक्षात्कार करनेका उपदेश करते हैं, जातिभेदको स्वीकार नहीं करते, ईश्वरको नहीं मानते, सन्यासका प्रमानता देते हैं, जैनोंकी तरह आत्मबहुत्ववाद आर बोद्धोंके क्षणिकवादकी तरह परिणामवादको मानते हैं, तथा जन आर बोद्धोंके तीर्थकरोंकी तरह कपिलका जन्म क्षत्रिय कुटुम्बे होना स्वीकार करते हैं। इस परसे अनुमान किया जाता है, कि सारथ, योग, जन और बौद्ध इन चारों सम्प्रदायोंको जन्म देनेवाली कोई एक बहुत प्राचीन सम्प्रदाय होनी चाहिये। ऋग्वेदमें एक जटावारी मुनिका वर्णन आता है, इस युगमें एक सम्प्रदाय वैदिक देवता आर इन्द्र आदिमें विश्वास नहीं करता। इतना ही नहीं बल्कि यह सम्प्रदाय वेदकी ऋचाआपार भी कटाक्ष किया करता था। यजुर्वेदमें भी वैदिक धर्मके विरुद्ध प्रचार करनेवाले यतियाका उल्लेख आता है। एतरेय ब्राह्मण आदि ब्राह्मणोंमें भी वेदको न माननेवाले सम्प्रदायोंकी चर्चा आर कर्मकाण्डकी अपेक्षा तपश्चरण, ब्रह्मचर्य, त्याग, इन्द्रियजय आदि भावनाओंकी उल्लेखिता उल्लेख किया गया है। उपनिषद् साहित्यमें तो ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जटा ब्राह्मण लोग क्षत्रिय गुरुसे अध्ययन करते हैं, ऋषि लोग ब्रह्मचर्यको ही वास्तविक यज्ञ मानते हैं, वेदको अपरा किया कहकर यज्ञ, याग आदिका तिरस्कार करते हैं, और शिक्षाचर्याकी प्रमानता प्रकटकर ब्रह्मविद्याके महत्वका प्रसार करते हैं। महाभारतमें भी जातिमें वर्णव्यवस्था न मानकर कर्मसे वर्णव्यवस्था माननेके, अपनी आख और शरीरका मांस आदि फाटकर दान करनेके, तथा और भी अनेक तरहकी कठोर तपश्चर्या करनेके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। इस सब परसे ऋग्वेदके जमानेमें भी एक ऐसी सम्प्रदायके मातृ रहनेका अनुमान होता है, जो सम्प्रदायिक कर्मकाण्डकी अपेक्षा ज्ञानकाण्डका, और गृहस्थधर्मकी अपेक्षा सन्यासधर्मकी अधिक महत्त्व देती थी। इस सम्प्रदायिका धर्मण अथवा क्षत्रिय सम्प्रदाय कह सकते हैं। उप-

१ अथवा हालकी विभिन्न महत्वादा आर हरिणादी खुदाय पाये जानेवाली ध्यानस्थ मूर्तिवृत्ति भी इस सम्प्रदायिका प्राचीनताका अनुमान किया जाता है।

२ ब्राह्मण और धर्मण इन दोनों बगाने इतिहासका मूल बहुत प्राचीन है। जिस तरह ब्राह्मणोंके धर्म शास्त्र पुराण आदि प्रयोगोंमें धर्मण गंगाका नास्तिक आसुर आदि कहकर उनका शपथ करने सचन स्नान आदिका विरोध किया गया है उसी तरह जैन बौद्ध आदिके प्रथम ब्राह्मणोंका मिथ्यादि कुमागामी अभिमानी आदि गणोंके विरुद्ध किया गया है। जिनेन्द्रुद्धि आदि विचारणने ब्राह्मण और धर्मण स्वर्गक विरोधको सब और महत्त्व तरह जाने विरोध कहकर उन्मय किया है। विशेष जाननेके लिये देखा प मुसलमानोंका पुणत्त्व में प्रवेशित साम्प्रदायिकता और तेना पुरावाजानु दिग्दर्शन नामक लेखमात्र। इस लेखमात्रका दम पुनश्चके लेखमात्र किता हुआ हिंसा अनुवाद 'अनन्तगत' म भा प्रकाशित हुआ है।

निपट्रोंका साहित्य अधिकतर इसी सस्कृतिक मारिष्ककी उपरने कहा जाता है ।

### सांख्य-योगदर्शन

सांख्य और योगदर्शन बुद्धके समयके पहिलके दर्शन माने जाते है । पतञ्जलके योगसूत्र सांख्यप्रचनके नामसे कहे जाने हैं, वाचस्पतिमिश्र भी सांख्य-योगके उपदेष्टा चार्वाकण्यको 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता' कहकर उल्लेख करते हैं, तथा भव्य महर्षि पतञ्जलि सांख्य तत्त्वज्ञानके ऊपर ही योग सिद्धांतोंका निर्माण करते हैं । इससे मांडम होता है, कि किसी समय सांख्य और योग दर्शनामें परस्पर विशेष अन्तर नहीं था । वास्तवमें सांख्य और योग दोना दर्शनोंको एक दर्शनकी ही दो धारायें कहना चाहिये । इन दोनाम इतना हा अंतर कहा जा सकता है, कि सांख्यदर्शन तत्त्वज्ञानके ऊपर अधिक भार देता हुआ तत्त्वोंकी ग्वाज करता है, और योगके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार करता है, तब कि योगदर्शन यम, नियम आदि योगकी अष्टांगी प्रक्रियाका विस्तृत वर्णन करके योगकी सक्रियामक प्रक्रियाओंके द्वारा चित्त-वृत्तिका निरोध होनेसे मोक्षकी मिद्धि मानता है । सांख्यदर्शनका कापिल सांख्य और योगदर्शनको पातञ्जल सांख्य कह सकते हैं ।

### सांख्यदर्शन

बुद्ध आमाके तत्त्वज्ञानको सांख्य कहते हैं । दूसरे स्थानपर सांख्यदर्शनके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सांख्य कहाँ है । बहुतसी जगह पर्वीस तत्त्वोंका वर्णन करनेके कारण

१ विश्व जाननेके लिये देखा सन् १९३४ में बम्बईम हानेवाणी २१ की इण्डियन साइंस कंग्रेसक अवसरपर रायबहादुर आर पी चन्दा (R P Chanda) का भ्रमणसंस्कृति (Sramanaism) के ऊपर पत्रा गया लेख प्रो विन्डरनीब्रुकी Some Problems in Indian Literature नामक पुस्तकमें Ascetic Literature in Ancient India नामक अध्याय इलियट (Eliot) की Hinduism and Buddhism भाग २ अ ६ और ७ ।

२ वेबर (Weber) आदि विद्वानके मतम सांख्यदर्शन सम्पूर्ण वतमान भारतीय दर्शनामें प्राचीनतम है । महाभारतमें भी सांख्य और योगदर्शनको 'सनातन' कहकर उल्लेख किया है ।

३ सांख्य और योगदर्शनम भद्र प्रदर्शन करनेके लिये सांख्यको निरीश्वर सांख्य और योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है । न्यायमूत्रोंके भाष्यकार वात्स्यायनने सांख्य और योग दर्शनामें निम्न प्रकारसे भेदका प्रदर्शन किया है—सांख्य लोग असत्की उत्पत्ति और सत्का नाग नहीं मानते । उनक मतम चेतनत्व आदिकी अपेक्षा सम्पूर्ण अस्माय समान है, तथा देह इन्द्रिय, मन और इन्द्रियमें स्वयं आदि विषयाम और देह आदिके कारणोंमें विशेषता शक्ती है । योग मतक अनुयायी सम्पूर्ण सृष्टिकी पुरुषके कम आदि द्वारा मानते हैं, योग और प्रवृत्तिकी कर्मोंका कारण बताते हैं जामाम ज्ञान आदि गुणोंको असत्की उत्पत्तिकी और सत्के नागका स्वाकार करत हैं—नासन आरमगम न सत आमहानम् । निरतिशयादचतना । देहेन्द्रियमनसु विषयु तत्त्वाण्यु च विशेष इति साख्यानम् । पुरुषकमादिनिमित्तो भूतसग । कमहृतवा दापा प्रवृत्तिश्च । स्वगुणविशिष्टादचतना । असदुत्पद्यत उत्पन्न निरुत्पन्न । न्यायभाष्य १-१-२९ ।

४ ऽद्वात्मतत्त्वविदान सांख्यमित्यभिधीयत । नायकोऽप ९०४ टिप्पणा ।

५ न्यायकोश पृ ९०४ ।

साय्य-दानको साय्य कहा जाता है। गुणरत्नने पञ्चानसमुच्चयकी टीकामें साय्य-मतके साधुओंके आचारका तीन प्रकारमें वर्णन किया है—“साय्य मतके अनुयायी साधु त्रिदंडा अथवा एकट्ठी हात हैं, य कौपान धारण करत हैं, गेरुप रंगके उख परिणत हैं, बहुतमें चाटी रखते हैं, गहुत्तसे जटा उड़ाते हैं, आर बहुतम छुरसे मुटन कराते हैं। य आंग मृगचर्मका आमन रखत हैं, ग्राहणोके घर आहार उत हैं, पाच प्रास मात्र भोजन करत हैं और गारह अक्षरोंकी जाप करते हैं। इन लोगोके भक्त नमस्कार करत समय ‘ओं नमो नारायणाय’ कहत हैं, और साधु लोग केउठ ‘नागयणाय नमः’ गायत हैं। साय्य परिशिष्टके जीजाजी रक्षाके लिये लक्ष्मीकी मुग्गखिना (वींग) रखत हैं। य जीजाजी दया पालनके लिये ग्यज जल छाननेका उख रखते हैं और अपने भक्तोंको पानी छाननेके लिये उत्तीम अगुठ लगा और वीस अगुल चौका मचनूत घय रखनेका उपदेश देते हैं। ये लोग मीठे पानीम गारा पानी मिलानेस जीजाजी हिंसा मानते हैं, और जलकी एक बूदमें अनत जीजाका अस्तित्व गीकार करत हैं। इन लोगोके आचार्योंके साथ ‘चतन्य’ शब्द लगाया जाता है।” साय्य लोग कर्मकाण्डको, यज्ञ-यागको आर वेदको नहीं मानते। ये लोग अय्यामवादी हाते हैं, हिंसाका विरोध करते हैं और वै, पुगण, महाभारत, मनुस्मृति आदिकी अपेक्षा साय्य तत्त्वज्ञानको श्रेष्ठ समझत हैं। इन लोगोका

१ पचदशतस्तज्ञाना रचयान सख्या। तदधिष्टय इत शस्त्र साय्यम्। हेमचन्द्र—अभिधान-चिन्तामणि टीका ३-५२६। ग्रीक विद्वान पाथैगोरस (Pythagoras) भी सख्या (Number) के सिद्धांतको मानते थे। प्रो विन्तर्नीज (Winternitz) आदि विद्वानके अनुसार पाथैगोरसके ऊपर भारतीय साय्य सिद्धान्तका प्रभाव पडा है। ग्रीक और साय्य दशनकी तुलनाके लिये देखो प्रो कीथ (Keith) का Samkhya System अ ६ पृ ६५ स आगे।

२ य एष आनुभविक धौनोऽभिहोनादिक स्वगसाधनतया तापप्रयप्रतीकरहेतुरुक्त सोऽपि दृष्टवत् अनैकान्तिक प्रतीकार। तथाहि साय्यमर्गि-पुत्रवामा पत्नी प्रादनीयात् आधत्त वितरा गभम्’ इति मन्त्रेण। तदैव वदवचसा बहून् पिण्डान् पर शतानश्नानि यावदेकाऽपि पुत्रा न जायत। तथा ‘परमे शरद शतम् आनेम शरद शतम् इति धृतावाले। पर गभरजा जलमात्रा बाग युवापि इमारो भियते। विचान्यन्-स धौनो हेतु आनेपुद्ग पगुहिंगात्मकत्वान्। क्षययुक्त पुन पातान्। अनिराययुक्त तत्रापि स्वामिभृयभावावप्रवणान्। उक्त च-

पद्शतानि नियुज्यन्ते पश्यान् साय्यमेऽहनि।

अश्वमधस्य वचनान्धुनानि पशुभिश्चिभिः ॥

पगुवधाऽभिष्टाम मानुपवध गोसवव्यवस्था सौत्रामण्या सुरापान रण्डया सह स्वे-छालापद्व कृत्विजाम्। कन्यामुनेऽन्यदीप अकृत्यं भूरि कंतव्यनयापदिदयते। ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेन क्षत्राय सानन्यं महद्भूम्यो वैश्य तपसे तत्सत् नारकत्रय वारहम् इत्यादिश्रवणान्। किञ्च—

यथा पकन पशाम सुरया वा सुराकृतम्।

भूतहत्या तपेनां न यज्ञमार्गमहति ॥

न हि हस्तावस्त्रदग्धौ रुधिरौष्व पुद्गयत।

‘तपयाऽस्मिन् लोके मनुष्या पशुनश्नति तपामिभुजत एवमस्मिन् लोके पशव मनुष्यानश्नति’ इति धृतिशत श्रवणान्। अन्यथा—

शृणान् डित्वा पशुत् इत्वा कृत्वा रुधिरकदम्भम्।

यथाव गम्यत स्वर्ग नरते केन गम्यत ॥

इत्यग्निपुद्दि सवया धौनो दु खप्रथप्रताकारहो। साह्यकारिका २ मात्रभाष्य।

मा है, कि यथेष्ट भोगोंका सजन करनेपर तथा किमी भी आश्रमम रहनेपर भी यदि कपि-  
ट्टके पच्चीस तर्कोंका ज्ञान हो गया है, यदि सांख्य मतमें भक्ति हो गई है, तो निना क्रियाके  
भी मुक्ति हो सकती है। सांख्यके मतमें पञ्चम तत्त्व, ओर प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन  
प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थोंमें कपिलको नास्तिक आर श्रुतिविरुद्ध तत्रका प्रवर्तक कहकर  
कपिल प्रणीत सांख्य और पतञ्जलिके योगशास्त्रको अनुपादेय कहा है।

### सांख्यदर्शनके प्ररूपक

कपिल—सांख्यदर्शनके आद्य प्रणेता आदि विद्वान कपिल परमर्षि कहे जाते हैं। कपिल  
क्षत्रिय थे। कुछ लोग कपिलको ब्रह्मका पुत्र बताते हैं। भागवतमें कपिलका विष्णुका अवतार  
कह कर उन्हें अपनी माता देवहूतिको सांख्य तत्त्वज्ञानका उपदेष्टा कहा गया है। विद्वानभिषुने  
कपिलका अग्निा अवतार बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कपिलका हिरण्यगर्भक अवतार  
रूपमें उल्लेख आता है। रामायणमें कपिल योगीको वासुदेवका अवतार आर सगरके साठ  
हजार पुत्रोंका दाहक बताया गया है। अश्वघोष बुद्धके जन्मस्थान कपिलनग्नको कपिल ऋषिकी  
बसाई हुई नगरी कहकर उल्लेख करते हैं। कपिलने अपने पत्रिण आर प्रभान दर्शनका सर्व  
प्रथम आसुरिका मित्राया था। आसुरिने पचशिखको सिखाया और पचशिखने इम दर्शनको  
निम्नृत किया। पचशिखके पश्चात् यह दर्शन भार्गव, वान्मीकि, हारीत आर देवल प्रभृतिने  
और ईश्वरकृष्णने सीखा। कपिलको सांख्यप्रवचनसूत्र और तत्त्वममास नामके प्रथाका प्रणेता

१ पचविंशतिनक्षत्रो यत्र तत्राश्रमे रत ।

शिखा मुण्डो जटी वापि मुच्यते नाम सस्य ॥ पचशिख ।

भावागणेश-तत्त्वयायार्थ्यदापन ।

२ अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तत्र वेदविरुद्ध वेदानुसारि मनुवचनविरुद्ध च ।

मद्भसूत्र शास्त्रमाय २-१-१ । तथा-नास्तिककपिलप्रणीतसांख्यस्य पतञ्जलिप्रणीतयोगशास्त्रस्य चानुपादेयत्व  
मुक्त भारत मोक्षधर्मेषु—

सांख्य योग पापुपन वेदारण्यकमेव च ।

ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नाम कार्या विचारणा ॥

गता मन्वभा अ २ श्लो ३९ । न्यायनोक्ष पृ ९०४ टिप्पणी ।

३ सांख्यस्य वक्ता कपिल परमर्षि पुरातन ।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन । महाभारत मोक्षधर्म ।

श्री राधाकिशन् आदि विद्वान सांख्य-सिद्धांतके अव्यक्त बीजका ऋग्वेदमें पाये जानका उल्लेख  
करते हैं ।

४ कपिलस्तत्त्वमख्यानो भगवानात्ममाथया ।

जात स्वयमत्र साक्षादात्मप्रकृतये नृणाम् । भागवत ३-२५-१ ।

कहा जाता है । परन्तु इस कर्मनका कोई आगार नहीं जाने पड़ता । अर्ध-ऐतिहासिक कवि लक्ष्मण मय महावीर और बुद्धक पूर्व बताया जाता है ।

आसुरि—आसुरि कपिलक साक्षात् शिष्य और पचशिखके गुरु कहे जाते हैं । आसुरिका मत था, कि सुख ओर दुःख बुद्धिके विकास हैं, आर ये तिस प्रकार चद्रमाका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ता है, उमी तरह पुरुषमें प्रतिबिम्बित होते हैं । आसुरिके मिद्वानोंके नियममें विशेष पता नहीं लगता । आसुरिका समय ईसाके पूर्व ६०० वर्ष कहा जाता है ।

पचशिख—वाचस्पतिमिश्र, भारगणेश आदि टीकाकार पचशिखका उल्लेख करते हैं । भारगणेशकी योगनूत्रवृत्तिमें माद्रम होता है, कि तत्त्वसमामके ऊपर पचशिखने विवरण अध्या व्याख्या लिखी थी । पचशिखका ज्ञान महाभारतमें आता है । कहा जाता है, कि पचशिख अजमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माके शिरसास्थानमें रहनेवाले ब्रह्मको जानते थे, इस लिये उनका नाम पचशिख पडा । कपिल मतका अनुसरण करनेके कारण पचशिख कपिलके नामसे भी कहे जाते थे । चीनके बौद्ध सम्प्रदायके अनुसार पचशिखको पटितत्रका प्रणेता कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है । पचशिख चौबीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं, आर भूतोंके समूहसे आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं । प्रो दासगुप्तका मत है, कि ईश्वरकृष्णकी सायकारिकाका और महाभारतमें वर्णन किये हुए सायसिद्धातोंका चरक ( ७८ ई स ) में कोई उल्लेख नहीं मिलता, इस लिये महाभारतमें आया हुआ पचशिखका साय मौक्तिक सायदर्शन है, तथा सायकारिकाका ईश्वरकृष्णका साय सायदर्शनका अर्वाचीनका रूप है । गर्भे ( Garbe ) पचशिखको भाषी प्रथम शताब्दिका विद्वान कहते हैं ।

वार्धगण्य—वार्धगण्य त्रि-यज्ञासीके गुरु थे । महाभारतमें वार्धगण्यको साय-योगके प्रणेताओंमेंसे माना गया है । वाचस्पतिने इनका योगशास्त्रका व्युत्पात्तिता कहकर उल्लेख किया है । अहिर्बुध्न्यसंहितामें और वाचस्पति आदिने वार्धगण्यको पटितत्रका रचयिता कहा है । इनका समय इसी सन् २३०-३०० कहा जाता है ।

१ सायनूत्र सबप्रथम अनिरुद्ध ( १५०० ई स ) का प्रति संहित और कुछ समय बाद विज्ञान मिथुने भाष्य ( १६५० ई स ) सहित द्यनम आते हैं । अनिरुद्ध और विज्ञानमिथुन पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण शंकर वाचस्पतिमिश्र माधव आदि विद्वान सायनूत्रात् उल्लग नहीं करत इसपरसे विद्वान लोग सायनूत्रात् चौरदर्शन शताब्दिके बाद बना हुआ अनुमान करते हैं ।

२ दत्तो पीछे पृ १८६ ।

३ वाचस्पतिमिश्र आदि विचारकाजे अनुसार पटितत्र वाचगण्यका बनाया हुआ है । पटितत्रका भगवती आदि जैन आगमोंमें भी उल्लेख आता है । जैन कथाके अनुसार पटितत्र आसुरिका बनाया हुआ कहा जाता है । जैन टीकाकाराने पटितत्रका अथ कपिलीय शास्त्र किया है ।

त्रिच्यनासी—त्रिच्यनासीना उल्लेख मीमांसाद्वेन्द्राचार्यकार्तिक आर तत्त्वसप्रहपञ्जिकामें आता है। इनका असली नाम रुद्रिष्ठ था। वसुब्रधुन जीमनचरितके लेखक परमार्थके अनु-  
सार त्रिच्यनासीने वसुब्रधुके गुरु बुद्धमित्रको शास्त्रार्थमें पराजित करके अपोयाके निकमादित्य  
राजासे पारितोषिक प्राप्त किया था। त्रिच्यनासी जय प्राप्त करके त्रिच्यनाचलको छोड़ गये और  
वहीं पर उन्होंने शरीर छोड़ा। इनका समय ई. स २५०-३२० कहा जाता है।

ईश्वरकृष्ण—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिकाके कर्ता हैं। सांख्यकारिको सांख्यसप्तति  
भी कहते हैं। यह ग्रन्थ पण्डितव्रके आधारेसे रचा गया है। सांख्यकारिकाके ऊपर माटर और  
गोषपादने टीकायें लिखी हैं। बौद्ध साधु परमार्थ उठी शताब्दिमें सांख्यकारिकाको चीनमें  
ले गये थे, और वहा उन्होंने इसका चीनी अनुवाद करके इसके ऊपर टीका लिखी थी। पहले  
ईश्वरकृष्ण और त्रिच्यनासीको एक ही व्यक्ति समझा जाता है, परन्तु कमलशील तत्त्वसप्रह  
पञ्जिकामें ईश्वरकृष्ण और त्रिच्यनासीका अलग अलग उल्लेख करते हुए त्रिच्यनासीका रुद्रिष्ठ  
नामसे उल्लेख करते हैं, तथा गुणरत्न भी त्रिच्यनासी और ईश्वरकृष्णका अलग अलग नामसे  
बहते हैं, इस लिये ईश्वरकृष्ण आर त्रिच्यनासीको एक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग  
ईश्वरकृष्णका समय वार्धगण्यके पूर्व मानकर ईश्वरकृष्णका समय दूसरी शताब्दि मानते हैं। दूसरे  
दलका कहना है, कि महाभारतके गार्ग्यगण्य ईश्वरकृष्णसे त्रिखण्ड अनभिज्ञ हैं, इस लिये गार्ग्य-  
गण्यको ईश्वरकृष्णके उत्तरकार्यन नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानोंके मतमें ईश्वरकृष्णका  
समय ईसवी सन् ३४०-३८० माना जाता है।

वाचस्पतिमित्र—नरमी शताब्दिमें वाचस्पतिने न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी तरह सांख्य-  
कारिकाके ऊपर सांख्यतत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्यके ऊपर तत्त्ववैशारदी नामक टीकाकी  
रचना की है।

विज्ञानभिक्षु—वाचस्पतिमित्रके पीछे विज्ञानभिक्षु अथवा विज्ञानयति एक प्रतिभाशाली  
सांख्य विचारक हो गये हैं। इन्होंने सांख्यमंत्रोंके ऊपर सांख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसार,  
पातञ्जल भाष्यवार्तिक, ब्रह्मसूत्रके ऊपर विज्ञानामृतभाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। ग्रन्थ  
से सिद्धांतमें विज्ञानभिक्षुका वाचस्पतिमित्रसे भिन्न अभिप्राय था। विज्ञानभिक्षुने पंचशिख  
और ईश्वरकृष्णके समयमें लुप्त हुए ईश्वरवादका सांख्यदर्शनमें फिरसे प्रतिपादन किया  
है। इनके भागवतवेदकी शिक्षित, प्रसादमानसयोगी और दिव्यसिंहमित्र नामके तीन  
प्रधान शिष्य थे।

इनके अतिरिक्त सनक, नद, सनातन, सनकुमार, अगिरा बोधु आदि अनेक सांख्य  
विचारक हो गये हैं, जिनका अब केवल नामगण रह गया है।



### यागदर्शन

यागशब्द ऋग्वेदम अनेक स्थानपर आता है, परंतु यहा यह शब्द प्राय जोड़नेके अर्थम प्रयुक्त हुआ है । श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, कठ, भैरायणी आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है । यहा योगके अगोत्रा वर्णन किया गया है । आगे जाकर शाङ्ख्य, योगतत्त्व, ध्यानत्रिदु, हस, अमृतनाद, सराह, नादत्रिदु, योगसुण्डली आदि उत्तरकाळकी उपनिषदाम यागिक प्रक्रियाओंका सागोपाग वर्णन मिलता है । साख्यदर्शनके कपिल मुनिकी तरह हिरण्यगर्भ योगदर्शनके आदि उक्ता माने जाते हैं । हिरण्यगर्भको स्वयम्भू भी कहते हैं । महाभारत ओर श्वेताश्वतर उपनिषद्में हिरण्यगर्भका नाम आता है । पतञ्जलि आधुनिक योगसूत्रके व्यवस्थापक समझे जाते हैं । व्यासभाष्यके टीकाकार वाचस्पति आर विज्ञानभिक्षु भी पतञ्जलिको योगसूत्रके कर्ता रूपमें उल्लेख नहीं करते । प्रो दासगुप्त आदि विद्वानाके मतानुसार व्याकरण महाभाष्यकार ओर योगसूत्रकार पतञ्जलि दोनों एक ही व्यक्ति थे । पतञ्जलिका समय ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दि माना जाता है । पतञ्जलिके योगसूत्रके ऊपर व्यासने भाष्य लिखा है । व्यासका समय ईसाकी चौथी शताब्दि कहा जाता है । ये व्यास महाभारत ओर पुराणकार व्याससे भिन्न व्यक्ति माने जाते हैं । व्यासके भाष्यके ऊपर वाचस्पतिमिश्रने तत्त्वप्रशास्त्री नामकी टीका लिखी है । व्यासभाष्यपर भोज (दसवीं शताब्दि) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगतर्क आर नागोजी भू (सतरहवीं शताब्दि) ने छायाव्याख्या नामकी टीकायें लिखी हैं । योगकी अनेक शाखायें हैं । सामान्यसे योगके दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग । पतञ्जलि ऋषिके योगको राजयोग कहते हैं । प्राणायाम आदिसे परमात्माके माक्षाकार करनेको हठयोग कहते हैं । हठयोगके ऊपर हठयोगप्रदीपिका, शिवसहिता, घेरण्टसहिता आदि शास्त्र मुख्य हैं । ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके भेदसे योगके तीन भेद भी होने हैं । योगतत्त्व उपनिषदमें मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इम तरह योगके चार भेद किये हैं ।

### जैन और बौद्ध दर्शनम योग

महाभारत, पुराण, भगवद्गीता आदि वैदिक ग्रंथोंके अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्यमें भी योगका विशद वर्णन मिलता है । जैन आगम ग्रंथ और प्राचीन जैन ससृष्ट साहित्यमें योग

१ सुचना करो—ननु

हिरण्यगर्भों योगस्य वक्ता नान्य पुरातन ।

इति याज्ञवल्क्यस्मृते पतञ्जलि कथं यागस्य शासितेति चेत्—अहम् । अनएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णनया दुर्गाश्यापस्व मन्यमानन भगवता कृपासिधुना फणिताना सारं सजिष्टुणामुशासनमारब्ध न तु साक्षाच्छासनम् । सर्वदर्शनग्रन्थ १५ ।

शब्द प्रायः ध्यानके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। यहाँ ध्यानका लक्षण, भेद, प्रभेद आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। योगविषयक साहित्यको पञ्चमिदं करणम सर्वाप्रथम हरिभद्रमूर्तिका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। हरिभद्रने योगके ऊपर योगविद्, योगदृष्टिममुच्य, योगविशिक्षा, पादशाक आदि ग्रंथोंके लिखनेके साथ पतञ्जलिके योगशास्त्रका पाण्डित्य प्राप्त करके पतञ्जलिके योगमूर्तके साथ जैनयोगकी प्रक्रियाओंका तुलना की है। हरिभद्रके योगदृष्टिममुच्यमें मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियाँका स्वरूप जैन साहित्यमें विद्यमान अभूतपूर्व है। जैन योगशास्त्रके दूमरे विद्वान हेमचन्द्रमूर्ति हैं। इन्होंने योगके ऊपर योगशास्त्र नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर बहुतमी जैन योगिण प्रक्रियाओंका पतञ्जलिकी प्रक्रियाओंमें समन्वय किया है। हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें शुभचन्द्र आचार्यके ज्ञानार्णवमें आये हुए ध्यान आधिके वर्णनके साथ ध्यान, आसन आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। जैनयोग-साहित्यका वृद्धिगत करनेवाले सत्तरहत्तीं सर्गके अंतिम विद्वान यशोविजय उपाध्याय माने जाते हैं। यशोविजयजीने योगके ऊपर अयाममार, अयामानिष्ट, तत्र योगलक्षण, पातञ्जलयोगलक्षणविचार, योगभेद, योगविषय, योगवतार, मित्रा, तारादिग्रंथ, योगमाहात्म्य आदि द्वात्रिंशिकाय लिखनेके साथ हरिभद्रकी योगविशिक्षा और पौंडरीकर टीका लिखकर पतञ्जलिके योगमूर्तापर जैन प्रक्रियाके अनुसार वृत्ति लिखी है। यशोविजयजीने उक्तग्रंथोंमें भगवद्गीता, योगसामिष्ट, तैत्तिरीय उपनिषद्, पातञ्जल योगमूर्त आदि वैदिक ग्रंथोंका उपयोग किया है और साथ ही जैन और पतञ्जलिके योगकी प्रक्रियाओंका तुलना करते हुए अनेक स्थलोंपर पतञ्जलिकी प्रक्रियाका प्रतिपाद किया है। बौद्ध ग्रंथोंमें भी योगका वर्णन मिलता है। स्वयं बुद्धने बोधि प्राप्त करनेके पूर्व योगका अभ्यास किया था। पातञ्जल योगदर्शनकी तरह बौद्ध शास्त्रोंमें भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदिको धर्मके प्रधान अंग मानकर इनके विराट् वर्णनके साथ हय, हेयहतु, हान आर हानोपायकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यमत्याका उपदेश दिया है। महायान सम्प्रदायकी विज्ञानवाद शाखा योगान्यायके ऊपर विशेष ध्यान देनेके कारण ही योगाचार नामसे कही जाती थी। योगाचार सम्प्रदायमें योगिसत्त्वकी दस भूमियोंको प्राप्त करनेके बाद योगके अभ्यासीको ही योगीकी प्राप्ति मानी गई है। महायान सम्प्रदायमें ध्यान, पारमिता, समाधि आदि प्रक्रियाओंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। बौद्धतन्त्रकी क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतंत्र, और अनुत्तरयाग तंत्र इन चार शाखाओंमें योगतंत्रका नाम बहुत महत्त्वका है। अनुत्तरयोगतंत्रके पञ्चक्रममें भी योगकी पाँच दशाओंका वर्णन आता है। हीनयान सम्प्रदायमें भी योगान्यायको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

१ जैन योगके विषयमें विशेष जाननेके लिए द्वा. प. सुवल्लालजीका योगदर्शन और योगविशिक्षाकी भूमिका।

२ हीनयानके योगसंबंधी सिद्धांतके लिये देखो मिमं. स. र. देविद्वारा Yogachari's Manual वाली टेक्स्ट सोसायटी १९१६।

# मीमांसक परिगिष्ट ( ६ )

( श्लोक ११ और १२ )

## मीमांसकाके आचार विचार

मीमांसक दर्शनको जैमिनीय दर्शन भी कहते हैं । मीमांसक लोग उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वेदोंको ही प्रमाण मानते हैं, इस उद्ये ये पूर्वमीमांसक कहे जाते हैं । मीमांसक लोग धूम-मार्गके अनुयायी होते हैं । ये लोग यज्ञ-यागके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके स्वर्गकी प्राप्ति ही अपना मुख्य धर्म समझते हैं । मीमांसक त्रैदिक हिंसाको हिंसा नहीं मानते, पितरोंको तृप्त करनेके लिये श्राद्ध करते हैं, देवताओंके प्रसन्न करनेके लिये मामूली आहुति देते हैं, तथा अतिथियोंका मधुपक आदिसे सकार करते हैं । पूर्वमीमांसकादियोंका कममीमांसक भी कहते हैं । “ मीमांसक साधु कुकर्मस रहित होते हैं, यन्न आदि उष्ट्र काम रत रहते हैं, ब्रह्ममूत्र रक्ते हैं, और गृहस्थाश्रममें रहते हैं । ये लोग सायं साधुओंकी तरह एक दण्टी अथवा त्रिदण्टी होते हैं । ये लोग गेरुआ रंगक वस्त्र पहिनते हैं, मृगचर्मके उपर बैठते हैं, कमण्डलु रक्ते हैं और सिर मुटाते हैं । इन लोगका वेदके सिवाय और कोई गुरु नहीं है । इस लिये ये स्वयं ही सवाम धारण करते हैं । मीमांसक साधु यज्ञोपवीतको धोकर पानाको तीन बार पीने हैं । ये लोग ब्राह्मण ही होते हैं, और ये शूद्रके घर भोजन नहीं करते ” । अर्वाचीन पूर्वमीमांसक तीन प्रकारके हैं—प्रभानर ( गुरु ), बुमारिष्ठमन् ( तुतात ) और मण्डन मिश्र । भू उष्ट्र और प्रभानर पांच प्रमाणोंको अर्गाकार करते हैं ।

## मीमांसकाके सिद्धांत

१ वेद—वेदको श्रुति, आम्नाय, उन्द, तन्त्र, निगम, प्रवचन आदि नामोंसे भी कहते हैं । वेदान्ती लोगार्का त्रिनामा तन्त्रके लिये होती हैं, जब कि मीमांसक लोगका अतिम वेद धर्म ही होता है । मीमांसकोंका मत है, कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें नहीं जाना जा सकता । इस उद्ये धर्मका ज्ञान वेदशास्त्रोंकी प्रेरणा ( चोदना ) से ही होता है । उपनिषदाका प्रयोजन भी वेदशास्त्रका समर्थन करनेके लिये ही है<sup>१</sup> । अतएव वेदाको ही प्रमाण मानना चाहिये । वेदाका कोई कता प्रयक्ष आदि प्रमाणासे सिद्ध नहीं होता है । निच शास्त्राना कोई कता देखा जाता है, उन शास्त्रोंको प्रमाण नहीं कहा जा सकता,

१ देवता उद्दिश्य द्रव्यत्यागो याग । यागादिवैव प्रेषयाधनरूपण धम ।

२ एतेन ब्रह्मव्यक्तवृत्तिपादकप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदां वैराग्यस्य व्याख्यानम् । तत्रवार्तिक प १३ ।

इम लिय अर्पारूपेय होनेक कारण वेदको ही प्रमाण कहा जा सकता है। वेद नित्य है, अनागत है, धमक प्रतिपादक होनेसे ज्ञानके साधन है, तथा अर्पारूपेय होनेके कारण स्वतः प्रमाण है। वेदवाक्योंका अनुमान प्रमाणमें खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण वेद प्रमाणमें बहुत निम्न कोटिका है। वेदके अर्पारूपेय होनेपर भी अत्यच्छिन्न अनादि सम्प्रदायमें वेदवाक्योंके अर्थका ज्ञान होता है। वेदवाक्य लौकिक वाक्योंसे भिन्न होते हैं। जैसे 'अग्निमीळे पुराहितम्', 'ईषे त्जोर्जे त्वा', 'अन्न आयाहि वातये' आदि। वेद दो प्रकारका होता है—मन्त्र रूप और ब्राह्मण रूप। यह मन्त्र और ब्राह्मण रूप वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवादके भेदमें पांच प्रकारका होता है। विधिमें धम सन्धी नियमोका

१ नैयायिक 'नेम व'को ईश्वरप्रणाल मान कर वेदम अपौरुषेयत्वका खण्डन करते हैं—

वदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधायते । तदप्रतिपादकप्रमाणाभावात् । अथ मन्वेया अपौरुषेया वेदा सम्प्रदायाविक्षेपे सत्परम्यमाणकृतृत्वत्वादात्मवदिति । तदन्तर्भाम् । विशेषणासिद्ध । पौरुषेयत्वादितिभि प्रत्य सम्प्रदायविक्षेपेदस्य कक्षाकरणत् । किंच किमिदमन्मर्षमाणकृतृत्वत्वं नामाप्रमायमाणकृतृत्वमस्मरणगोचरकृतृत्वत्वं वा । न प्रथम कस्य । परमेश्वरस्य कतु प्रमिनेरभ्युपगमात् । न द्वितीय । विकल्पासद्वत्वात् । तथाहि । किमेवनास्मरणमभिप्रयेते सवत् । नाथ । यो धमतीये जितमानसोय इत्यादियु मुक्तिचोक्तिषु व्यभिचारात् । न द्वितीय । सर्वोत्तरणस्यामवतुगानत्वात् । पौरुषयत्वे प्रमाणसम्बन्ध । वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वान्कालिदागादिवाक्यवत् । वेदवाक्यान्त्यामप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति । ननु—

वदस्याध्ययन सर्वं युवध्ययनवर्कम् ।

वदस्याध्ययनगामान्याधुनाध्ययन यथा ॥

इत्यनुमान प्रतिस्थापन प्रगभत इति चेत् । तन्पि न प्रमाणकोटि प्रत्युमीष्ट ।

भारताध्ययनं सर्वं युवध्ययनपूर्वम् ।

भारताध्ययनत्वेन साप्रताध्ययन यथा ॥

इत्यामानसमानयागक्षेमत्वात् । ननु तत्र व्यास कर्तेति स्मरति ।

को ह्यन्य पुण्डीकाङ्गा महाभारतकृद्भवत् ।

इत्यादाविति चत् । तदप्यसारम् । ऋच सामानि जादरे । छन्दामि जतिरे तस्माद्यजुस्त्स्मादनायत ( सै आ ३-१२ ) इति पुण्यमूत्ते वदस्य सक्तृकता प्रतिपादनात् । किं चानिप्य शब्द सामान्यत्वे सचम्पदादिवायो विद्वयप्रश्लाद्धत्वात् । नन्विदमनुमान स सवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत् । तदतिफल्गु । ह्यनुपुन तातकशद्वित्तुन्दादाविवप्रत्यभिज्ञाया सामान्यावपत्वेन बाधकत्वाभावात् । नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य तात्त्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणमभारतस्य तत्प्रणीतत्वं वदस्य स्यादिति चत् । न तद्वद्रम् । स्वभाजतोऽङ्गारस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीङ्गविग्रहग्रहणमभावात् । तस्माद्ददस्यपौरुषेयत्ववाचाशुक्ति न युष्ठा । सवदशनसम्प्रद-  
जैमिनिदर्शन ।

> वेदान्ती 'नेम वेदको अपौरुषेय और आदिमात् तथा साम्य लोम वेदका पौरुषेय और आर्त्तमान् मानते हैं ।

३ मन्त्र और ब्राह्मण रूप वदक चार भेद हैं—मन्त्रवद, यजुर्वेद, सामवद और अथर्ववेद । ऋग्वेदकी दस, यजुर्वेदकी ठियासी, सामवेदका एक हजार ( ये अनप्यायक दिनम पनी 'जाने' कारण इन्द्रके बज्रसे नष्ट हो गई हैं ) और अथर्ववेदकी नौ शतार्थ हैं । ऋग्वेदका आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गाथवद और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र (व्यापत्य) ये चारों वेदोंके चार उपवेद होते हैं । शिक्षा, कर्म व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये छह वेदक अंग और पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये चार उपांग हैं । ऋग्वेदका एतरेय ब्राह्मण यजुर्वेदका तैत्तिरीय और शतपथ, ब्राह्मण सामवेदका गाथय ब्राह्मण तथा अथर्ववेदका ताण्ड्य ब्राह्मण ये वदक ब्राह्मण हैं ।

ज्ञान होता है । जैसे ' धर्मके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिये ' यह त्रिभि है । अपूर्ण, नियम, परिसरया, उत्पत्ति, त्रिनियोग, प्रयाग, अप्रिकरण आदिके भेदसे त्रिभिके अनेक भेद होते हैं । मन्त्रमे यानिकको यज्ञ सप्तमा देयताआ आदिका ज्ञान होता है । नामपेयसे यज्ञसे मिलनगळे फलका ज्ञान होता है । निषेध त्रिभिका हा दूसरा प्रकार है । निन्दा, प्रणप्ता, परवृत्ति ओर पुरारूपके भेदमे अर्थात् चार प्रकारका होता है ।

२ शब्दकी नित्यता— मीमांसक लोग वेदको नित्य आर अपौरुषेय मानते हैं, इस लिये इनके मतमें शब्दको भी नित्य और सर्वथापर स्वीकार किया गया है । मीमांसकों का कहना है, कि हमें एक स्थानपर प्रयुक्त गन्धार आदि वर्णोंका सर्वात्मा तरह प्रयामिज्ञानके द्वारा सप्त जगह ज्ञान होता है, इस लिये शब्दको नित्य मानना चाहिये । तथा, एक शब्दका एक बार सकेत ग्रहण कर लेनेपर कालान्तरम भी उस सकेतसे शब्दके अर्थका ज्ञान होता है । यदि शब्द नित्य न होता, तो हमारे पितामह आदिसे निश्चिन्त किये हुए शब्दोंके सकेतसे हमें उर्मा अथवा ज्ञान न होता, इस लिये शब्दका नित्य ही मानना चाहिये । यदि कही, कि शब्दको निय स्वीकार करनेपर सप्त लोकाको हमेशा शब्द सुनाई देने चाहिये, तो यह ठाक नहीं । क्योंकि जिस समय प्रत्येक वर्ण सप्तमी ताडु, ओष्ठ आदिका वायुसे सप्त होता है, उसी समय शब्दकी अभिव्यक्ति होती है । जिस समय मनुष्य धनसे किसी शब्दका उच्चारण करता है, उस समय वायु नाभिसे उठकर, उरम निस्ताण होकर, कण्ठमें फैलकर, मस्तकमें छगकर वापिस आती हुई नाना प्रकारके शब्दकी अभिव्यक्ति करती है, इस लिये शब्दकी व्यञ्जक वायुमें ही उत्पत्ति आर विनाश होता है, अतएव शब्दको नित्य मानना चाहिये ।

३ ईश्वर और सर्वज्ञ—मीमांसक लोग ईश्वरको सृष्टिका कर्ता आर सहार करनेवाला नहीं मानत । उनके मतमें अपूर्ण ही यज्ञ आदिका फल देनेवाला है, इस लिये ईश्वरको जगतका कर्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती । वर्णोंको जनानेके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय होनेसे सप्त प्रमाण है । मीमांसकाका कथन है, कि यदि ईश्वर शरीर रहित होकर सृष्टिका सर्जन करता है, तो अगतीरी ईश्वरके जगतके मजन करनकी इच्छाना प्राप्तर्भाति नहीं हो सकती । यदि ईश्वर शरीर सहित होकर जगतको जनाता है, तो ईश्वरके शरीरका भी कोई दूसरा कर्ता मानना चाहिये । परमाणुओंका ईश्वरका शरीर

१ शब्दों नित्य ध्याममात्रगुणत्वान् व्यामपरिमाणवन्-प्रभाकर ।

शब्दा नित्य निम्पशद्व्यन्वात् आहमवत्-भट्ट ।

२ नैयायिक लोग सवारणक होनेसे ' एद्रियक हानमे ' और विनाशी होनेसे ' शब्दका अनित्य मानते हैं । दशा न्यायसूत्र २-२-१३ । न्यायदशमम वीचीतलंग ' न्यायस और कदम्बकारक न्यायमे शब्दका उत्पत्ति माना गई है । नैयाकरण अकार आदि वर्णको नित्य मानत हैं-वर्णो नित्य ध्वन्यन्य शब्दत्वात् स्फोटवत् ।

मानना भा ठीक नहीं । क्योंकि बिना प्रयत्नके परमाणुओंमें क्रिया नहीं हो सकती । तथा ईश्वरके प्रयत्नको नित्य माननेसे परमाणुओंमें सदा ही क्रिया हाती रहनी चाहिये । ईश्वरको धर्म-अधर्मका अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते । क्योंकि संयोग अपना समझाय किसी भी सत्त्वसे धर्म आर अधर्मका ईश्वरके साथ संग्र नहीं हो सकता । तथा, यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, तो वह दुखी जगतको क्यों रचना करता है ? जीवोंके भूत कर्मोंके कारण ईश्वर द्वारा दुखी जीवोंकी सृष्टि मानना भी ठीक नहीं । क्योंकि जिस समय ईश्वरने सृष्टि की, उस समय कोई भी जीव मौजूद नहीं था । दयासे प्रेरित होकर भी ईश्वरकी सृष्टि रचनाको नहीं मान सकते, क्योंकि सृष्टिको बनानके समय प्राणियाका अभाव था । फिर भी यदि अनुकपाके कारण जगतका सर्जन माना जाय, तो ईश्वरको सुखी प्राणियोंको ही जन्म देना चाहिये था । त्रीडाके कारण भी सृष्टिना निर्माण नहीं मान सकते । क्योंकि ईश्वर सर्वथा सुखी है, उसे क्रीडा करनेकी आवश्यकता नहा है । ईश्वर सृष्टिकी रचना करके फिर उसका सहार क्यों करता है, इसका कारण भी समझमें नहीं आता । इस लिये त्रिज-वृक्षकी तरह अनादि कालसे सृष्टिका परपरा माननी चाहिये । वास्तवमें नित्य ओर अपौरुपेय वेदोंके वाक्य ही प्रमाण है । कोई अनादि ईश्वर न सृष्टिका निर्माण और न सृष्टिका सहार करता है । मीमांसक लोग सर्वज्ञको भी नहीं मानते । मीमांसकोंका कहना है, कि सर्वज्ञकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें उपलब्धि नहीं हाती, इस लिये उसका अभाव ही मानना चाहिये । तथा मनुष्यकी प्रज्ञा, मया आदिमें थोड़ा बहुत ही अतिशय पाया जा सकता है । जिस प्रकार व्याकरण शास्त्रका प्रत्यक्ष पठित उपोत्तिप शास्त्रका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार वेद, इतिहास आदिका निदान स्वर्गोंके देवताओंको प्रयत्नसे जाननेमें पडित नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार आकाशमें तारा यानन कूदनेवाला मनुष्य

- १      सब्रह्मनिपथ्या च क्षण्डु सद्भावरूपना ।  
 न च धमाप्ते तस्य भवेत्पेवाद्रिषिष्टता ॥  
 न चाऽननुष्ठिता धर्मो नाऽनुष्ठानमृते मते ।  
 न च वेदान्ते एव स्याद्भक्षे न च पदादिभि ॥  
 तस्मान् प्रागपि सर्वेऽमी क्षण्डुरासन् पदादय ॥

न हि क्षण्डुरस्मदादिभ्योऽतिशय सहजं सम्बन्धि पुरुषत्वारस्मदादिबन्धव । अतो धमनिमित्तो वक्ष्य्य न चाऽननुष्ठितो धर्म कार्य करोति । न चाऽसतिज्ञानेऽनुष्ठान सम्बन्धि । न च वेदान्ते ज्ञान । न च वेद पदपदाथमवधैर्विना शक्नोति अथमवबोधयितु । अत प्रागपि सृष्टे सन्त्येव पदादय । यथाह मनु -

सर्वेषां च स नामानि क्रमाणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाध निगमे ॥

श्रीक्यार्तिक सवधाक्षेपपरिहार श्लोक ११४-११६ न्यायरत्नाकर टाका ।

संज्ञकों प्रयत्न करनेपर भी एक हजार योजन नहीं कृत सकता, जिस प्रकार कण इन्द्रियमें अतिशय हानेपर भी उससे रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह प्रवृष्टमें प्रवृष्ट ज्ञानी भी अपन विषयका अतिक्रमण न करके ही इन्द्रिय जय पदार्थोंका ही ज्ञान कर सकता है। कोई भी प्राणी सपूर्ण लोकोके सपूर्ण समयोंके सपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव कोई अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाला सर्वज्ञ नहीं है।

४ प्रमाणवाद—मीमांसक लोग पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंका जाननको प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मनके अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ये पांच, और कुमारिल भू इन पांच प्रमाणोंमें अभावको मिटाकर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक लोग सृष्टिज्ञानके अतिरिक्त संपूर्ण ज्ञानको स्वतः प्रमाण मानते हैं। मीमांसकोंका कहना है, कि ज्ञानकी उत्पत्तिके समय ही हमें पदार्थोंका ज्ञान ( ज्ञप्ति ) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें और पदार्थोंके प्रकाश करनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। जिस समय हमें कोई ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वतः ही प्रमाण होता है, और ज्ञानके स्वतः प्रमाण होनेसे ही हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है। इमीशिये ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञानके प्रामाण्यका पता लग जाता है यदि ऐसा न हो, तो हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परन्तु अप्रामाण्य ज्ञानमें यह बात नहीं होती। कारण कि मित्या ज्ञानमें हमारी इन्द्रियों आदिमें दोष होनेके कारण उत्तरकालमें होनेवाले वाचक ज्ञानसे ही हमारे ज्ञानकी अप्रमाणता सिद्ध होती है। अतएव मीमांसकोंके मतमें स्मृति ज्ञानको छोड़कर प्रत्येक ज्ञान, जब तक कि वह उत्तरकालमें किसी बाधक ज्ञानसे अप्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता, स्वतः प्रमाण कहा जाता है, और उत्तरकालमें वही ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होनेपर परत कहा जाता है। नैयायिक लोग मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्यवादका विरोध करते हैं और प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको परत मानते हैं। सांख्य लोग

१ समस्त मीमांसक लोग ईश्वर और सबज्ञाना गद्गायन माननेके कारण 'नेकायत' नामिक आदि नामोंसे बड़े जाने लग थे। कुमारिल भद्रेने इन आक्षेपको दूर करनेके लिये श्लोकवार्तिककी रचना करके उसमें आत्मवाद नामक मिश्र प्रकरण लिखा है—

प्रायेणैव हि मीमांसा गेके नेकायनीहृता ।

तामास्तिकपथं वक्तुमयं यन्न कृतो मया ॥ श्लोकवार्तिक पृ ४ श्लोक १० ।

तथा—इत्याह नास्तिक्यनिराकरणे—

रात्मास्तिकता भाष्यदृष्टय युक्त्या ।

इत्तमेतद्विषयश्च बोध

प्रयाति वेदान्तनियेवणेन ॥ पृ ७२८ श्लोक १४८ ।

प्रामाण्य और अप्रामाण्यको स्वतः, जैन लोग दोनोंको कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः, तथा बौद्ध लोग अप्रामाण्य ज्ञानको स्वतः और प्रामाण्यको परतः मानते हैं।

आमा—मीमांसक लोग आत्माके अस्तित्वका स्वीकार करते हैं। इनके मतमें आत्माको शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिस भिन्न मानकर आमग्रहत्ववादके मिद्वान्तको स्वीकार किया गया है। मामांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके आमा सन्तरी सिद्धांतोंमें मतभेद पाया जाता है। कुमारिलके मतमें आमाको कर्ता, मोक्ता, ज्ञानशक्तिकाला, नित्य, त्रिभु और परिणामी मानकर अहप्रत्ययका विषय माना जाता है। प्रभाकर भी आमाको कर्ता, मोक्ता और त्रिभु स्वीकार करते हैं, परन्तु वे आमामें परिवर्तन नहीं मानते। प्रभाकरके मिद्वान्तके अनुसार आमा ज्ञाता है, और पदार्थ ज्ञेय हैं। ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते, इस लिये आमा कभी स्वप्नेदनका विषय नहीं हो सकता। यदि आत्माको स्वप्नेदक माना जाय, तो गाढ़ निद्रामें भी ज्ञान मानना चाहिये।

मोक्ष—गौतमार्जसूत्र आदि धर्मशास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम करल इन तीन पुरुषार्थोंको मानकर धर्मको ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। मीमांसा दर्शनके प्राचीन आचार्य धर्मका सम्पूर्ण सुखोंका कारण मानकर उसमें स्वर्गकी प्राप्ति करना ही अपना अन्तिम ध्येय समझते थे। इन लोगोंके सामने मोक्षका प्रश्न इतना बलवान नहीं था। परन्तु उत्तरकालके मामांसक आचार्य माक्ष सबधी प्रश्नसे अटूते न रह सके। प्रभाकरके मतके अनुसार ससारके कारण भूतकाशीन वर्म और अधर्मके नाश होने पर शरीरके आत्यन्तिक रूपसे नाश होनेसे मोक्ष यहाँ है। जिस समय जीवके शम, दम, ब्रह्मचर्य आदिक द्वारा आत्मज्ञान होनेसे देहका अभाव हो जाता है, उस समय मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष अनस्थाको आनन्द रूप नहीं कह सकते, क्योंकि निशुण आत्मामें आनन्द नहीं रह सकता। इस लिये सुख और दुःख दोनोंके क्षय होनेपर स्वात्मस्फुरण रूप अनस्थाको ही मोक्ष कहते हैं। कुमारिल

१ पराशेष प्रमाणत्वं नान्यत्र लभते ऋचित् ।

मूलोच्छेदकर पक्ष को हि नामाध्यवस्यति ॥

यदि हि सवमेव ज्ञान स्वविषयतयात्वावधारणे स्वयमसमर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षत तत कारणशुणमवादार्थिकं याज्ञानान्यपि स्वविषयभूतपुण्यव्यवधारणे परमपेक्षेत्, अपरमपि तथति न ऋदिचदर्शो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवस्येति त्रिप्रामाण्यमेवोक्तीदत् । शास्त्रदर्शिका पृ २२ ।

२ ज्ञानशक्तित्वभावीऽतो नित्यं सवगतं पुमान् ।

देशान्तरक्षमं कल्प्यं सोऽगच्छन्नैव योक्ष्यते ॥

मी श्लोवचार्थिकं सामवाद ७३ ।

३ बुद्धान्द्रियारीरेभ्यो भिन्नं आत्मा त्रिभुर्भुव ।

मानाभूतं प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते ॥

प्रकरणपत्रिका पृ १४१ ।

४ अता नाविशान्तमयो मोक्षः । आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो नि शेषधमाधमपरिक्षयनिवचनो मोक्ष इति सिद्धम् । प्रकरणपत्रिका पृ १५६ ।



भट्टके अनुमार पद्मानाकी प्रामिकी अस्त्या मात्रको मोक्ष कहा गया है । कुमारिष्ठ भा मोक्षको आनन्द रूपे नहा मानते । पार्ष्दारथिमिश्र आग्नि भी सुग्य दुग्घ आदि समस्त विशेष गुणाके ग्राह होनेका मुक्ति माना है ।

### मीमांसक और जैन

मीमांसक लोग याज्ञिक हिंसाको, जातिसे वर्णान्यस्थाको, और वेदके स्वतः प्रमाणको स्वीकार करते हैं । परन्तु जैन लोग साग्य, बौद्ध, आचारिक आदि श्रमण सम्प्रदायोंकी तरह उक्त वाताका निरास करते हैं । जैन लोग हिंसाके उग्र विरोधी हैं । ये लोग जातिसे वर्ण व्यवस्थाको नहीं मानते । ब्राह्मण लोगोंकी मायता है, कि सबसे पहले ब्रह्माक मुखसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति हुई, उमके बाद ब्रह्माक दूसरे दूसरे अवयवसे क्षत्रिय, उदय और शूद्र जन्मे, इस त्रिये ब्राह्मण ही सर्वपूय है । परन्तु आग्निपुराण आदि जैन पुराणोंमें इससे निम्न कल्पना देखनेमें आती है । आग्निपुराणके अनुसार पहले पहल जत्र ऋषभदेव भगवानने अग्नि, मसि आदि उष्ट कर्मोंका उपदेश किया, उम समय उहाने पहले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्राकी सृष्टिकी, और बादमें व्रतगारी श्रावकोंसे ब्राह्मण वर्णका जन्म हुआ । वास्तवमें किमीको जातिसे ऊच अथवा नीच नहीं कहा जा सकता, इस लिये गुण और कर्मके अनुसार ही वर्णव्यवस्था माननी चाहिये । वैदिक लोग वेदका अपौरुषेय और निय होनेके कारण प्रमाण मानते हैं, और वेदविहित याज्ञिक हिंसाको पाप रूप नहीं गिनते । जैन लोगोंका मानना है, कि पहले आर्यवेद हिंसाके निधानसे रहित, और पहले जब दयामय हाते थे । वर्तमान हिंसा प्रधान वेद पठेसे महाकाल असुरने रचे हैं, और हिंसात्मय यज्ञोंका भी पठेसे प्रचार हुआ है । जैन लोग प्रयमानुयाग, करणानुयाग, चरणानुयाग आग्निपुत्रानुयाग इन चार यज्ञोंको मानते हैं । सिद्धमेत दिगन्तरने वेदोंके ऊपर द्वात्रिंशिकाकी रचना की है । भगवानक निराणोत्सवक ग्राह स्वयं इष्ट आर देवोंने श्रावक ब्रह्मचारियोंको ग्राहपत्य, परमाह्वनीयक आर दक्षिणाग्नि नामके तीन बुद्ध बनाकर उनमें त्रिमय अग्नि स्थापित करके अग्निहोत्रद्वारा जिन भगवानकी पूजा करनका उपदेश किया था ।

- १ सुखापभोगरूपद्वय यदि मोक्ष प्रकल्प्यते ।
- स्वग एव भवेदेव पर्यायेण क्षया च स ॥
- न हि वारणवर्त्तिचिदश्रायत्वन शक्यत ।
- तस्मात्तन्मक्षुग्दिय हत्वभावन मुच्यत ॥
- न क्षमावा मक मुक्त्वा माक्षनित्यन्वहारणम् ।

भावार्थ सबमुक्तिधनक घटादिश्रयधर्मकेव । अता न सुखार्थमा मुक्तिगमनानेन क्रियते इति ।  
गिद्धधाने चाभावात्परत्व मोक्षस्य नित्यता न त्वान्दामरक्षे ।

जैन और मामासक लोगोंने सिद्धांतांकी तुलना करते समय यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है, कि कुमारिण्ट प्रकागातरसे जनोंके अनेकातवादके सिद्धांतको स्वीकार करते हैं । कुमारिण्टका पदार्थोंको उत्पात्, व्यव आर स्थिति रूप सिद्ध करना, अत्रय-याको अत्रयरीसे भिन्नाभिन्ने मानना, प्रस्तुको स्वरूप-पररूपमे सत् अमर्त् स्वीकार करना, तथा सामान्य आर विशेषको सापेक्ष मानना, स्पष्ट रूपमे कुमारिण्टक अनेकातवादक समर्थन करनको सूचित करता है । तत्रमप्रहकारके कारणसे भी यही माझम होना है, कि निम्न-जनोंकी तरह विप्रमीमांसक भी अनेकातवादके सिद्धांतको मानते थे । गुणरत्न भी मीमांसकोंके प्रकागातरमे अनेकातक मानने उल्लेखना करते हैं ।

- १ वधमानमग च इकक क्रियत यदा ।  
तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चायुत्तराधन ॥  
हर्मादिनस्तु माप्यस्य तस्माद्भुस्तु प्रयात्मकम् । इतिस्वार्तिक वनवाद २१-२ ।
- २ पूर्वोक्तादेव तु न्यायान्निध्यदनावयव्यपि ।  
तस्याप्यत्यन्ताभिन्नत्व न स्यादवयवे सह ॥ ७५ ॥
- ३ स्वरूपपररूपाभ्रं नित्य सदमदात्मक ।  
वस्तुनि ज्ञायते वैश्वरूप किंचित्त्वदाचन ।

सर्वं हि वस्तु स्वरूपत सद्रूप पररूपनश्चामद्रूप । यथा घणे घटरूपेण सत् पररूपणासत् । घणेऽप्यसद्रूपेण भावा-  
न्तरे घणदौ समवन तस्मिन् स्वायाऽप्रदुपाकारा बुद्धि जनयति । याऽय घट म पटा न भवताति । मो श्लाक-  
वार्तिक अभावपरि-उद १२ 'ययत्तत्कार ।

- ४ अयान्याप्रतिता निय स्यामामावविशयथा ।  
विशेषाणा च सामान्य ते च तस्य भवन्ति हि ॥  
निविशय न सामान्य भवेच्छाविशयानवत् ।  
मामावरहितत्वाच विशेषान्द्रद्व द्वि ॥  
एव च परिहृतव्या भिन्नाभिन्नरूप्यना ॥  
वेनत्रिद्वयात्मनेक च मानत्व चास्य वनयित् ।

गोख हि गावत्यात्मना वाहुलेयाद्भिद्यते । स्वरूपेण च न भिद्यत । तथा 'यधिरपि गुणकमत्रात्तरात्मना  
गात्वाद्विद्यते । स्वरूपेण च न भिद्यत । तथा ध्यकलन्तरादपि ध्यकि तात्यात्मना न भिद्यत । स्वरूपेण च  
भिद्यत इति । अपेशाभेदादविरोध । समाविशन्ति हि विरुद्धान्यापि एवचापभ्रमन्त । एकमपि हि । कावदप-  
ह्रस्व किंचिदप-य दार्थ । तत्रोऽपि चैत्रो द्वित्वापे रया भिन्नोऽपि स्वाभापक्षया न भिद्यत । जनन एतान्द्रद्वमपि  
परिहृतव्य । तदेव हि वस्तु स्वरूपेण सन्न सन्न चैकमपि शाबलयादिरूपणानक भवतीति न विरोध ।  
मा श्लोस्वार्तिक आहृतिवाद ९१० तथा ५६ न्यायरत्नाकर ।

देवो प इमराज शमा-दशन और अनर्कतवाद ।

- ५ कल्पनासचतरस्यैव वैचिन्त्यस्योपवणने ।  
वा नामातिशय प्रोक्तो विप्रनिग्रन्थकारि ॥ नत्त्वसग्रह ४ ५०१ ।

६ मामांसकास्तु सत्रयमव प्रकारान्तोपैकानेरायनकान्त प्रातपदमानास्त्रप्रतिपत्तये सर्वथा  
पयनुयोग नाहन्ति । पद्दगनेनमुषयगीका ।

## मीमांसा दर्शनका साहित्य

मीमांसामूत्राके रचयिता जैमिनी माने जाते हैं। वैदिक परम्पराके अनुसार जैमिनी ऋषि वेदव्यासके शिष्य थे। वेदव्यासन मूल वेदकी चार संहिताओंकी रचना की, और सामवेदकी संहिताका जैमिनीको पढ़ाया। जैमिनीका समय ईसाके पूर्व २०० वष माना जाता है। जैमिनीसूत्रोंके ऊपर भर्तृमित्र, भद्रदास, हरि और उपर्यर्ष नामक विद्वानोंने टीकायें लिखीं हैं, जो आज-कल उपलब्ध नहीं हैं। जैमिनीसूत्रोंपर भाष्य लिखनेवाले शररस्वामीका नाम मुख्य रूपसे उल्लेखनीय है। यह शररभाष्य उत्तरकालके मामामक लेखकोंका ग्रास आगर रहा है। शररस्वामीके सिद्धांतोंका तत्त्वसप्रहमे खण्टन किया गया है। प्राच्य विद्वान शररको वास्यायनका समकालीन और नागार्जुनका उत्तरकालवर्ती मानते हैं। दूसरे लोग शररके समयको ईसाकी चौथी शताब्दि मानते हैं। शररभाष्यके बाद मीमांसक दर्शनके मुख्य विचारक प्रभाकर और कुमारिल-भट्ट हो गये हैं। प्रभाकरन ( ई स ६५० ) शररभाष्यके ऊपर बृहती नामकी टीका लिखी है। शास्त्रीय परम्पराके अनुसार प्रभाकर कुमारिलके शिष्य कहे जाते हैं। इन दोनोंके विचारमें मतभेद होनेके कारण दोनोंके सिद्धांतोंकी अलग अलग शाखायें हो गई हैं। प्रभाकरका मत गुह्यमत के नामसे प्रसिद्ध है। बृहती लिखते हुए प्रभाकर कुमारिलके सिद्धांतोंका उल्लेख नहीं करते, जब कि कुमारिल बृहतीकारके मतका उल्लेख करते हुए माद्रम होते हैं। इससे सिद्धांतोंका मत है, कि प्रभाकर कुमारिलके शिष्य नहीं थे, किन्तु वे कुमारिलके पूर्ववर्ती हैं। प्रभाकरकी बृहतीके ऊपर प्रभाकरके शिष्य कहे जान वाटे शालिकानाथमिश्रने ऋजुविमला नामकी टीका, और प्रभाकरके सिद्धांतके विवेचन करनेके लिये प्रकरणचिकिका नामक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रभाकरकी बृहती और शालिकानाथकी ऋजुविमला अभी सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशमें नहीं आये, इस लिये प्रकरणचिकिका ही प्रभाकरके सिद्धांतोंको जाननेका एक आगर है। कुमारिल-भट्ट, भट्टपाद और वार्तिककारके नामसे भी कहे जाते हैं। तिञ्चती ग्रंथोंमें इनको कुमारिलक कहा गया है। कुमारिल ( ई स ७०० ) ने शररभाष्यके ऊपर स्वतंत्र रूपसे टीका लिखी है। यह टीका श्लोकार्थिक, तन्त्रार्थिक और त्रुप्टिका नामके तीन खंडोंमें विभक्त है। कुमारिल और उद्योतकर बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्मके खंडन करनेके लिये अद्वितीय समझे जाते

१ कहा जाता है कि कुमारिलभट्ट अत्र तुनोक्तम् तत्रापिनोक्तम् इति पौनरुक्तम्' इस वाक्यका अर्थ नहीं समझ सन थे। कुमारिलने इसका अर्थ किया कि 'यहां भी नहीं कहा गया वहां भी नहीं कहा गया इस लिये फिर कहा गया'। प्रभाकरने कहा, कि इस वाक्यका यह अर्थ करना ठीक नहीं है। इस वाक्यका अर्थ इस तरह करना चाहिये कि 'यहां यह तु से सूचित किया गया है, और वस्तु' अपि' से सूचित किया गया है, इस लिये फिर कहा गया है। कुमारिल हमने बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्य प्रभाकरको 'गुरु कहने लगे।

थे। शान्तरक्षितने तत्सप्तप्रहमें कुमारिलका उडन किया है। कुमारिल धर्मार्ति और मन्त्रिन्दे समकाठीन बहे जाते हैं। कुमारिलके पश्चात् कुमारिलके अनुयायी मडनमिश्रका गन विगय रूपमे उडैखनीय है। मडनमिश्रने विधिविनेक, भावनाविनेक, मीमांसानुसर्गा और कुम्भिकी तन्त्रगार्तिककी टीका लिपी है। कहा जाता है, कि ये मण्डनमिश्र आगे जानर मन्त्रमन्त्र अनुयायी हो गये। इसके अतिरिक्त, पाण्डसारथिमिश्रने कुमारिलकी धर्मगार्तिकके ऊपर न्याय-रत्नाकर, तथा शास्त्रदीपिका, तत्ररत्न और न्यायपरलमात्र, सुचरितमिश्रने श्लोकगार्तिकका टीका और काशिका, तथा सोमेध्वरमण्डने तत्रगार्तिककी टीका और न्यायसूत्रा नामके ग्रन्थ लिखे। मीमांसादर्शनका ज्ञान करनेके लिये माधवका न्यायमात्रारिस्तर, आप्तवका मीमांसान्यायप्रकाश, लीलाक्षिभास्करका अर्थसप्रह और खण्डदेवकी भास्त्रादिवा आदि ग्रन्थ उडैखनीय हैं।



## वेदान्त परिशिष्ट (च)

( अंक १३ )

### वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शनका निर्माण ब्रह्मसूत्र अन्तिम भाग उपनिषदोंके आधारसंज्ञा हुआ है, इस छिये इसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्तको उत्तरमीमांसा अथवा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों दर्शन मौलिक रूपसे भिन्न भिन्न हैं, परन्तु प्रोपायनने इन दर्शनाको 'सहित' कहकर उल्लेख किया है, तथा उपनिषदों दोनों दर्शनापर टीका लिखी है, इससे विद्वानोंका अनुमान है, कि किसी समय पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही समझे जाते थे। "उत्तरमीमांसक साधु अद्वैतवादी होते हैं। ये लोग ब्राह्मण ही होते हैं। इनके नामके पाँच मगधत शब्द लगाया जाता है। ये साधु कुटीचर, बृहदक, हंस और परमहंसके भद्रसे चार प्रकारके होते हैं। कुटीचर लोग मठम वास करते हैं, निदण्डी होते हैं, गिर्या रखते हैं, ब्रह्मसूत्र पहनते हैं, गृहत्यागी होते हैं और यजमानोंके घर आहार लेते हैं, तथा एकत्र बार अपने पुत्रके यज्ञ भा भोजन करते हैं। बृहदक साधुओंका ये कुटीचरोंके समान होता है। ये लोग ब्राह्मणोंके घर नारम भोजन लेते हैं, विष्णुकी जाप करते हैं, और नदीके जलमें स्नान करते हैं। हंस साधु ब्रह्मसूत्र और शिखा नहीं रखते, कपाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गाँवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं, धूआ निकालना ब्रह्म हानेपर और आगक बुझ जानेपर ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं, तप करते हैं और देश दशमें भ्रमण करते हैं। जिस समय हम आत्मज्ञानी हो जाते हैं, उस समय वे परमहंस कहे जाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन लेते हैं, इनके दंड रखनेका नियम नहीं है, ये लोग शक्ति हान हो जानेपर भोजन ग्रहण करते हैं।" वेदान्तके माननेवाले आनन्द भी भारतवर्ष और उसके बाहर पाये जाते हैं। जब कि व्यास, वैशेषिक, सायण आदि अन्य भारतीय दर्शनान्ती परम्परा नष्ट-प्राय हो गई है। ई. स. १६४० में दाराशिकोहने उपनिषदाका फारसी भाषामें अनुवाद किया था। जर्मन तत्त्वज्ञान शोधनहोत्र (Schopenhauer) ने आपनिषदिक तत्त्वज्ञानसे प्रभावित होकर भारतीय तत्त्वज्ञानकी मुक्तकण्ठस प्रशंसा की है। शाकर वेदान्तके सिद्धांतोंकी तुलना पश्चिमके आधुनिक विचारक ब्रेडले (Bradley) के सिद्धांतोंके साथ की जा सकती है।

### वेदान्तसाहित्य

वेदान्त दर्शनका साहित्य बहुत विशाल है। सर्व प्रथम वेदान्तदर्शन उपनिषदोंमें, और उपनिषदोंमें बाद महाभारत और गान्धर्व देखनेमें आता है। तत्पश्चात् औदुलीमि, आश्वलायन, वाशिश्वस्त, काण्वादिनि, गार्गी, आत्रेय और जैमिनी वेदान्तदर्शनके प्रतिपादक

कहे जाते हैं । इन विद्वानोंका उल्लेख ब्राह्मरायणने अपन ग्रन्थमूर्तमें किया है । वेदात्तदर्शनके प्रतिपादकोंमें ब्राह्मरायणके ग्रन्थमूर्तोंका नाम बहुत महत्त्वका है । ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्तसूत्र अथवा शारीरकसूत्रके नाममें भी कहा जाता है । वेदात्तसूत्रोंके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है । आनकठ वेदात्तसूत्रोंका समय ईसवी मन् ५०० के लगभग माना जाता है । वेदात्तसूत्रोंके ऊपर अनेक आचार्योंने टीकायें लिखी हैं । ब्राह्मरायणके पश्चात् ब्रह्मसूत्रोंके वृत्तिकार योगायनका नाम सबसे पहले आता है । बहुतमें विद्वान वाभायन आर उपन्यस दानोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं । योगायन ज्ञानकमलमुद्गयके सिद्धान्तका मानने थे । इमि-  
 षाचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्के ऊपर टीका लिखी थी । इस टीकाका उल्लेख छान्दोग्य उपनि-  
 षद्की शंकरकी टीकाके टीकाकार आनन्दगिरिने किया है । इमिषाचार्य 'भाष्यकार' के नाममें भी कहे जाते थे । एक 'वाचस्पत्य' के नाममें प्रसिद्ध हो गये हैं । एकका आशय अथवा ब्रह्मनन्दिन् नाममें भी कहा जाता है । भर्तृहरिश्च भेदाभेद आर ब्रह्मपरिणामवादके सिद्धान्तको मानते थे । शंकर आर आनन्दतीर्थने भर्तृहरिश्चका बृहदारण्यककी टीकामें उद्धृत किया है । आपनिषदिक ऋषियोंके पश्चात् अद्वैत वेदान्तका सुनिश्चित रूप सर्वप्रथम गौडपादकी माण्डूक्यकारिकामें देपनेमें आता है । गौडपादका समय इसी सन् ७८० के लगभग माना जाता है । शंकर गौडपाद आचार्यके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे । शंकर केरलादेशके प्रतिष्ठापक महान् आचार्य माने जाते हैं । शंकराचार्यने अनेक शाखाकी रचना की है । इन शाखामें ईशा, कन, कठ, प्रज्ञ, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक इन दस उपनिषदोंपर, तथा भगवद्गीता और वेदात्तसूत्रोंके ऊपर टीकाआका नाम विशेष रूपमें उल्लेखनीय है । शंकरका समय ईसवी सन् ८०० माना जाता है । मडन अथवा मडनमिश्र शंकरके समकालीन मान जाते हैं । मडनने प्रथमिद्वि आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रथाकी रचना की है । मडन दृष्टिसृष्टिवादके प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं । ब्रह्मसिद्धिके ऊपर वाचस्पति आदि अनेक विद्वानोंने टीकायें लिखी हैं । सुरेश्वर शंकरके साक्षात् शिष्य थे । सुरेश्वरका समय ईसवी मन् ८२० माना जाता है । इन्होंने नैष्कर्म्यमिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद्-भाष्यवार्तिक आदि ग्रन्थ लिखे हैं । नैष्कर्म्य मिद्धिके ऊपर चित्तुग आदिने टीकायें लिखी हैं । पद्मपाद सुरेश्वरके समकालीन माने जाते हैं । पद्मपाद भी शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य थे । पद्मपादने पंचपादिका आदि प्रथाकी रचना की है । पंचपादिकोंके उपर प्रकाशात्मन् आदिने टीकायें लिखी हैं । वेदान्त दर्शनके प्रति-  
 पादकोंमें मण्डित पटित वाचस्पतिमिश्रका नाम भी बहुत महत्त्वका है । वाचस्पतिमिश्रने शंकरभा-  
 ष्यके ऊपर अपनी पत्नीके नामपर भावती, और मण्डनकी ब्रह्मसिद्धिके ऊपर तत्त्वसमीक्षा टीका  
 लिखी है । सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्यके शिष्य थे । सर्वनाममुनिने शंकर के अन्तर्गत सिद्धान्तके प्रतिपादन करनेके उद्ये सञ्ज्ञेपशाश्वरक नामका ग्रन्थ लिखा है । इनका समय ईसवी मन् ९००

माना जाता है। इसके अतिरिक्त आनन्द ( ११-१२ शताब्दि ) का न्यायमकरन्द और व्यायदीपात्रलि, श्रीहर्ष ( ई स ११५० ) का खण्डनखण्डखाद्य, चित्तुखाचार्य ( ई स १२५० ) की चित्तुखी, विचारण्य ( ई स १३५० ) की पचदशी और जीवमुक्तित्रिक, तथा मधुसूदनमरस्वती ( १६ वीं शताब्दि ) की अद्वैतसिद्धि, अप्ययदीक्षित ( १७ वीं शताब्दि ) का सिद्धान्तदेश, आर सगनन्का वेदान्तसार आदि प्रथ वेदात दर्शनके अभ्यामियोंके लिये महत्प्रपूर्ण है।

### वेदान्त दर्शनकी शाखायें

भर्तृप्रपच—शकरके पूर्व होनेवाले वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमें भर्तृप्रपचका नाम बृहत् महत्प्रका गिना जाता है। भर्तृप्रपचना इस समय कोड मूल प्रप उपलब्ध नहीं ह। सुरेश्वरकी वार्तिकमें उल्लेखमें माट्टम होना है, कि भर्तृप्रपच अग्निवेश्वरके उपासक थे, और इन्ह अग्निवेश्वरके प्रसादसे उच्च कोटिका तत्वज्ञान प्राप्त हुआ था। भर्तृप्रपच अद्वैतमतका प्रतिपादन करते हैं। ये शकरकी तरह ब्रह्मके पर ओर अपर दो भेद करते हैं, परन्तु दोनों प्रकारके ब्रह्मका सत्य मानते हैं। भर्तृप्रपचका समय ईसाकी सातवीं शताब्दि माना जाता है।

शकर—शकराचार्य केन्द्रद्वैत अपना ब्रह्माद्वैतका स्थापनकरनेवाले महान प्रतिभाशाली विचारकोंमें गिने जाते हैं। शकरके मतमें व्यवहारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारके सत्य माने गये हैं। परमार्थ सत्यसे ससारके सम्पूर्ण व्यवहार अविद्याके कारण ही हाते हैं, इस लिये सत्य मिथ्या है। परमार्थसे एक केन्द्र सत्, चित्त, ओर आनन्द रूप ब्रह्म ही सत्य है। जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यके जलमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य नाना रूपमें दिखाई देता है, उसी तरह ब्रह्म भी अज्ञान अथवा अविद्याके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होता है। केन्द्रद्वैतके प्रतिपादक शकरके पूर्वगती अनेक आचार्य हो गये हैं, परन्तु उपलब्ध साहित्यमें शकरका अद्वैतवाद ही सर्वप्रधान गिना जाता है।

रामानुज—ये निशिद्वैतके जगदाता माने जाते हैं। रामानुजके मतमें परब्रह्मका स्वरूप उसके विशेषणोंसे ही समझमें आ सकता है, निर्दिशेय वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिये जीव, जगत और इश्वर इन तीन पदार्थोंकी मानना चाहिये। जीव और जगत शरीर रूप है, और परब्रह्म शरीरही है। रामानुजका समय ११ वीं शताब्दि माना जाता है।

धडम—ये शुद्धाद्वैतके मुख्य प्रवर्तक गिने जाते हैं। इनके मतमें यह जगत परब्रह्मका ही अद्वैत परिणाम है। इसे माया रूप कह कर ब्रह्मकी निवर्त नहीं कह सकते।

इम लिये ब्रह्मकी माया रहित मानना चाहिय । ब्रह्मन् अर्थात् है, तथा जीव और जब ब्रह्मके अक्ष हैं । जीव मक्तिके द्वारा ही परब्रह्मको प्राप्त करता है । शुद्धाद्वैतको अविद्वत ब्रह्मगात्री कहते हैं । वल्लभका समय ईसाकी १५ वीं शताब्दि माना जाता है ।

विज्ञानभिक्षु—ये अग्निभागाद्वैतके स्थापक माने जाते हैं । ये केनडाद्वैत और शुद्धाद्वैतका खडन करते हैं । इनके मतमें जिस प्रकार जलम शक्कर डालनेसे शक्कर जलके साथ अभिक्त हो जाती है, उसी तरह पर जड़-अजड़ जगत परब्रह्ममें अभिक्त रूपसे रहता है । विज्ञानभिक्षुका समय ईसाकी १७ वीं शताब्दि माना जाता है ।

श्रीकटाचार्य—शक्तिविशिष्ट अद्वैतको मानते हैं । यह अद्वैतवाद केनडाद्वैतके साथ मिश्रता जुड़ता है । परन्तु यहा ब्रह्मको मनिशेष भावमें प्रधान, और निरिंशेष भावमें गौण माना गया है । ब्रह्मत्वत्व चित् शक्ति और आनन्द शक्तिमें युक्त है । यहाँपर यह शक्तित्व माया रूप अथवा अविद्या रूप न माना जाकर चिन्मय माना गया है । श्रीकटाका समय १५ वीं शताब्दि माना जाता है ।

भट्टभास्कर—औपाधिक भेदाभेदको मानने जाते हैं । भट्टभास्कर भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानते हैं । ब्रह्म और जगतमें कार्य-कारण सम्बन्ध है । इम लिये कार्य और कारण दोनों ही सत्य हैं । कारणको सत्य और कार्यको कल्पित नहीं कहा जा सकता । भट्टभास्करका समय ईसाकी १० वीं शताब्दि माना जाता है ।

निम्बार्क—स्वाभाविक भेदाभेदको मानते हैं । इनके मतमें जगत ब्रह्मका परिणाम है, इसे काल्पनिक नहीं कह सकते । निम्बार्कके मतमें जीव और जगतको न ईश्वरसे सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं, और न सर्वथा भिन्न । अतएव चेतन और अचेतनको ईश्वरसे भिन्नाभिन्न मानना चाहिये । निम्बार्कका समय ११ वीं शताब्दि माना जाता है ।

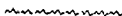
मध्व—मध्वद्वैत वेदाती माने जाते हैं । मध्वके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे भेदकी ही सिद्धि होती है । पदार्थ दो तरहके होते हैं—भूतत्र और परतत्र । ईश्वर स्वतत्र पदार्थ है । परतत्र पदार्थ भाव और अभावके भेदसे दो प्रकारके हैं । भावके दो भेद है—चेतन और अचेतन । चेतन और अचेतन ईश्वरक आशीन हैं । मध्वका पूर्णप्रज्ञ अथवा आनन्दतीर्ण भी कहा जाता है । मध्वका समय ईसाकी १२ वीं शताब्दि माना जाता है ।

### शकरका मायावाद

कुठ लोणिका कहना, कि शकराचार्यने मायावादके सिद्धांतोंकी रचना बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादके आगरसे की है । बादरायणके त्रयसूत्रोंमें, भगवद्गीतामें और बह्दरप्यक, उान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें मायावादके सिद्धांत नहीं पाये जाते, विज्ञानभिक्षु



शंकराचार्यको ' प्रच्छन्नमाद ' कहकर उल्लेख करते हैं, परमपुराणमें ' मायावाद ' को असत् शास्त्र कहा गया है, तथा मन्व शून्यवादियोंके शून्य और मायावादियोंके ब्रह्मको एक प्रताते हैं, इससे माद्वम होता है, कि शंकर अपने परमगुरु गोडपादके सिद्धांतोंसे प्रभावित हुए थे। प्रो. रामगुप्तक अनुसार ये गोडपाद स्वयं बौद्ध विद्वान थे, और वे उपनिषदा और बुद्धके सिद्धांतोंमें भेद नहीं समझते थे। गोडपादने माण्डूक्य उपनिषद्के ऊपर माण्डूक्यकारिका टाका लिखकर बौद्ध और आपनिषदिक सिद्धांतोंका समन्वय किया है। आगे चलकर गोडपादके सिद्धान्तका उनके शिष्य शंकराचार्यने प्रसार किया। प्रो. ध्रुव इस मतमें सहमत नहीं हैं। ध्रुवका मत है, कि हीनयान बौद्धदर्शन ब्राह्मणदर्शनसे प्रभावित होकर ही महायान बौद्धदर्शनके रूपमें विकसित हुआ है।



१ गोडपाद आचार्यकी माण्डूक्यकारिका और नागार्जुनका माध्यामिककारिकाकी तुलनाक लिय देखो प्रो. रामगुप्तकी ' A History of Indian Philosophy Vol I पृ ४२३ से ४२८।

२ देखो प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी पृ ६३ भूमिका।

# चार्वाक परिशिष्ट ( छ )

( श्लोक २० )

## चार्वाक मत

चार्वाक लोग पुण्य-पाप आदि परोक्ष वस्तुआकी स्वीकार नहीं करते, इस लिये इन्हें चार्वाक कहते हैं । सुन्दर माणी होनेके कारण भी ये लोग चार्वाक ब्रह्मे जाते हैं<sup>१</sup> । चार्वाक लोग सामान्य लोगोंके समान आचरण करनेके कारण लोकायत अथवा लोकायतिक कहें जाते हैं<sup>२</sup> । ये लोग पुण्य-पापको नहीं मानते, इस लिये इन्हें नास्तिक भी कहते हैं<sup>३</sup> । ये लोग आत्मा नहीं मानते, इस लिये इन्हें अक्रियानादी कहते हैं । चार्वाक बृहस्पतिक शिष्य थ । बृहस्पतिने देवताओंके शत्रु असुराको मोहित करनेके लिये चार्वाक मतकी सृष्टिकी थी । धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाकके भेदसे चार्वाक दो प्रकारके होते हैं । धूर्त चार्वाक वृत्रिनी, अप्, तेज और तायु इन चार मूर्तोंको छोड़कर आत्माको अलग पदार्थ नहीं मानते । सुशिक्षित चार्वाक शरीरमें भिन्न आत्माका अस्तित्व मानते हैं, परन्तु उनके मतमें यह आत्मा शरीरके नाश होनेके साथ ही नष्ट हो जाता है । कोई चार्वाक लोग चतुर्भूत रूप जगतको न मानकर आकाशको पाचवा भूत स्वीकार करके ससारको पंचभूत रूप मानते हैं । “ चार्वाक मतके पाधु कापाछिक होते हैं । ये लोग शरीरपर भस्म लगाने हैं, और ब्राह्मणसे छेकर अत्यन्त तक किसी भी जातिके हो सकते हैं । ये लोग मद्य आग मांसका भक्षण करते हैं, व्यभिचार करते हैं, प्रत्येक वर्ष इकठ्ठे होकर स्त्रियोंसे स्त्रीबा

१ चवन्ति भक्षयन्ति तत्त्वता न मन्यन्ते पुण्यपापदिक पराक्ष वस्तुजातमिति चावाका ।  
गुणरत्नसूत्र ।

चाह लाकममत वाच बान्यम् यन्य स । वाचस्पत्यकोश ।

२ लाका निर्बिचारा सामान्यलोकान्तर्दाचरन्ति म्मन्ति लोकायता लोकायतिका इत्यपि । गुणरत्न ।

३ नास्ति पुण्य पापमिति मतिरस्य नास्ति । हेमचन्द्र ।

यदा यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक पुराणार्थमें अद्वैत वेदान्तके प्रतिपादक शंकराचार्यको चावाक, जैन और बौद्धाकी तरह नास्तिक बताकर शंकरके मायावादको असत् शास्त्र कहा है—

मायावादा वेदान्ती ( शंकर भारती ) अपि नास्तिक एव पथवसाने सपद्यन् इति ज्ञेयम् ।

अत्र प्रमाणानि साख्यप्रवचनभाष्योदाहणानि पद्यपुराणवचनानि यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ।

मयैव कथितं देवि कर्णैः ब्राह्मणरविणा ॥

अपार्यं धृतिमन्यानां दशयुगेऽप्यहिनम् ।

कर्मन्वरूपत्याज्यत्वमद्य च प्रतिपाद्यत ॥

सर्वकर्मपरिभ्रंशान्निष्कर्म्यं तत्र चाच्यते ।

परमात्मजीव्यरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यत ॥

साख्यप्रवचन भाष्य ११ भूमिका । न्यायकीश पृ ३७० ।

करते हैं, तत्र कामको छोड़कर और कोई धर्म नहीं मानते।” परयोगी आनन्दघनजने चार्वाक मतकी उपमा जिनेद्रकी कोखसे दी है, यह बात विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करनेवाली है।

### चार्वाक लोगोंक सिद्धांत

चार्वाक लोग आमाको नहीं माते। इनके मतमें चैतन्य मिशिष्ट देहको ही आमा माना गया है। जिस समय भौतिक शरीरका नाश होता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाता है, अतएव कोई परलोक जानेवाली आत्मा भिन्न वस्तु नहीं है। इसीलिये चार्वाकाना सिद्धांत है, कि जत्र तरु जीना है, तत्र तक रूख आनन्दके साथ जीवनका यापन करना चाहिये, क्योंकि मरनेके बाद फिरमे जीवका जन्म नहीं होता। चार्वाक लोग धर्म, अधर्म और पुण्य, पापको नहीं मानते। इनके मतमें एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इस लिये इन लोगोंका मत है, कि ससारसे बाह्य कोई स्वर्ग, नरक, मोक्ष और ईश्वर जैसी वस्तु नहीं है। वास्तवमें काटा लग जाने आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुख ही नरक है, लोकमें प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, देह का छोड़ना ही मोक्ष है, और खीका अङ्गिन करना ही सनसे उड़ा पुरुषार्थ है। चार्वाक वेदको नहीं मानते, तत्र याज्ञिक हिंसाका और श्राद्ध आदि कर्मोंका घोर विरोध करते हैं।

### चार्वाक साहित्य

चार्वाक साहित्यका आज कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इस लिये चार्वाकोंके सिद्धांतोंके प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके आज कोई साधन नहीं है। आजीविक आदि सम्प्रदायोंकी तरह चार्वाक मतका थोडा बहुत नान जैन, बौद्ध और ब्राह्मणोंके ग्रंथोंसे होता है। चार्वाक सिद्धांतोंके आद्य प्रणेता बृहस्पति कहे जाते हैं। गुणरत्न और जयन्तम<sup>१</sup> दो चार्वाक-सूत्रोंका उल्लेख करते हैं, इससे अनुमान होता है, बृहस्पतिने चार्वाकशास्त्रकी रचना मूल रूपम की थी। शास्त्ररक्षित तत्त्वसमग्रमें चार्वाक सम्प्रदायके प्ररूपक कम्बलाश्वतरके एक सूत्रका उल्लेख करते हैं। निदानोंका कहना है, कि बौद्ध सूत्रोंमें उर्णित अजितकेशकाम्यली और कम्बलाश्वतर दोनों एक ही व्यक्ति थे। इनका समय ईसवी सन् पूर्व ५५०-५०० बताया जाता है। चार्वाकके सिद्धांतोंका सक्षिप्त वर्णन जयन्तकी यायमजरी, मान्यका सर्वदर्शनसग्रह, गुणरत्नकी पद्दर्शनसमुच्चय टीका और महाभारत आदि ग्रंथोंमें पाया जाता है।

१ गुणरत्न पद्दर्शनसमुच्चय टीका।

२ त्रिकायतिक दूर्य जिनवरनी अद्य विचार जा कीजे

तत्त्व विचार सुपारस धारा गुणम विण केम पीजे ” धीनमिनाथजीनु स्तवन, गा ४।

५ वेचरदास-जैनदर्शन पृ ८० भूमिका।

३ कायादिय ततो ज्ञान प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।

युक्त जायत श्लेष्मत्कम्बलाश्वतररोदितम् ॥

तथा च सूत्रम्-वायादवति। तत्त्वसग्रह-लोक १८६४ पत्रिका।

४ तत्त्वसग्रह अग्नेयी भूमिका।

## विविध परिशिष्ट (ज)

खंड १ पृ ४ प २१ आजीविक

भारतके अनेक सम्प्रदायोंकी तरह आजीविक सम्प्रदायका नाम भी आज निरक्षेप हो चुका है। आजीविक मतके माननेवालोंके क्या सिद्धांत थे, इस मतके कौन कौन मुख्य आचार्य थे, उन्होंने किन किन ग्रंथोंका निर्माण किया था, आदिके विषयमें प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आज कोई भी साधन नहीं है। इस लिये आजीविक सम्प्रदायके विषयमें जो कुछ थोड़े बहुत सय अथवा अर्धमय रूपमें जन और बौद्ध शास्त्रोंमें उल्लेख मिलते हैं, हमें उन्हींसे सतोप करना पड़ता है। ई स पूर्व ३९१ में अशोकका आजीविकोंको एक गुफा प्रदान करनका उल्लेख मिलता है। ईसाकी ६ठी शताब्दिक विद्वान ब्राह्मिहिर अपने बृहज्जानकमें आजीविकोंको एकदण्डी कहकर उल्लेख करते हैं। ई स ५०६ में शीलक, ई स ५९० में हलायुध आजीविक और निगम्बराका, और मणिभद्र आजीविक और बौद्धोंको पयायनाची मानकर उल्लेख करने हैं, तथा ई स १२३५ में राजराज नामके चोळ राजाके शिलालेखोंपर से आजीविकोंके ऊपर कर लगानका अनुमान किया जाता है। जैन और बौद्ध साहित्यमें नदरच्छ, किमसकिच्च और मन्वलि गोशाल इन तीन आजीविक पथके नामोंका कथन आता है। मन्वलि गोशाल बुद्ध और महावीरके समकालीन प्रतिस्पर्धियों से माने जाते हैं। भगवती आदि तीन आगमोंके अनुसार गोशाल महावीरकी तपस्याके समय महावीरके शिष्य बनकर छह वर्ष तक उनके साथ रहे, और बादमें महावीरके प्रतिस्पर्धि बनकर आजीविक सम्प्रदायके नेता बने। गोशालके भाग्यवादी थे। इनके मतमें सम्पूर्ण जीव अवज्ञा, दुर्बल, निर्णय है, और भवितव्यताके बशमें हैं। जीवके सकलेशका कोई हेतु नहीं है, विना हेतु और विना प्रययक प्राणी सकलेशको प्राप्त हाते हैं। गोशालके आत्माको पुनर्जन्मको और जीवके मुक्तिमें लटनेको स्वीकार करते थे। उनके मतमें प्रत्येक पदार्थमें जीव विद्यमान है। गोशालके जीवोंका एकद्विय आदिके विभागमें विभक्त किया था, वे जीव हिंसा न करनेपर भार देते थे, मुख्य योनि चार्लह लाख मानते थे। भिक्षाके वास्ते पात्र नहीं रखते थे, हाथमें भोजन करते थे, मद्य, मांस, कद्मूल और उदिए भोजनके त्यागी होने थे, और नग्न रहा करते थे। आजीविक लोगोंका दूसरा

१ प्रो हार्नल इसकी छठी शताब्दिक आजीविकदशनके स्वतंत्र आचार्योंके होनेका अनुमान करते हैं।

नाम तेरासिय ( तैरासिक ) भा है । य लोग प्रयेक उस्तुको सत्, असत् और सत्सत् तीन तरहसे कहते थे, इम लिये ये तेरासिय कहे जाने लगे ।

श्लोक १५ पृ १९३ प १८ सवर प्रतिसवर

क्षेत्रेद्रने माण्यतत्त्वनिचनम सवर ( सचर ) आर प्रतिसवर ( प्रतिसचर ) का लक्षण निम्न प्रकारसे किया है—

सचर—

साम्यरस्थागुणाना या प्रवृत्ति सा स्वभासत ।  
कालक्षोभण त्रपम्यात् क्षेत्रे परयुते पुरा  
बुद्धिस्ततदचाहकारभिरिन्द्रोऽपि व्यजायत ।  
तमात्राणाद्रियाणि महाभूतानि च जमात् ॥  
एव क्रमणमोपत्ति सचर परिकीर्तित ।

प्रतिसचर—

व्युत्क्रमणैव लीयते तमात्रे भूतपचकम् ।  
तमात्राणाद्रियाणि अहकारे निडीयते ।  
अहकारोऽन बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्तसङ्गके ।  
अन्यक्त न कचिच्छीन प्रतिसचर इति स्मृत ।

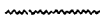
श्लो २० पृ २८६ प १ क्रियावादी अक्रियावादी

क्रियावादी लोग जीवोंके अपने अपने कर्मोंके अनुसार फल मिलनेके सिद्धान्तको मानते हैं । अक्रियावाद्याका सिद्धान्त इम सिद्धान्तमे मिलजुल उल्टा है । जैन और बौद्ध आगम ग्रंथोंम पञ्चरत्नात्यायन आर मन्खलि गोशालको अक्रियावादी कहकर उल्टेख किया गया है । निगठ नातपुत्त बुद्धको क्रियावाद आर अन्रियावाद दोनों सिद्धान्तोंके माननेवाला कहते<sup>१</sup>

१ प्रा चैवाम और प्रो बरना आदि विद्वानके अनुसार महावीरके जैनधर्मके सिद्धान्तोंके ऊपर गोशालके सिद्धान्ताना प्रभाव पया है । विशेष जाननेके लिय दग्यो प्रो बरनाकी Pre-Buddhist Indian philosophy नाम ३ अ २१ प्रो होर्नेर—Encyclopedia of Religion and Ethics नि १ पृ २२९ ।

२ लेख नातपुत्त म्हाला, तू क्रियावादी असून अन्रियावादी अशा भ्रमण गौतमाश भेत्थ्याची कथा कल्ल करितोस ? तरीहि सिद्ध गेयाच तहा बुद्धा त्याम आपणास क्रियावादा व अक्रियावादी हा दान्ही विषयण कणी लागू पणताल ई अनक प्रकारांनी सांगितल ( महावग्ग ६ ३१ अगुत्तर ८ १२ )—देवो राजवाक्का दीधनिकाय भाग १ मराठी भाषातर पृ १०० ।

हैं। प्रो बेनीमाधन वरुआ आदि विद्वानोंका मत है, कि जेन धर्मका मौलिक नाम किरियावाद (क्रियावाद) था। क्रियावादी महावीर अक्रियावादी ओर अज्ञानवादियोंका विरोध करते थे, पुण्य पाप, आसन्न-व्यय, निर्जरा-मोक्षको स्वीकार करते थे, और पुरुषार्थको प्रधान मानते थे। जैन ग्रंथोंमें परमतवादियोंके ३६३ मतोंमें क्रियावादी और अक्रियावादियोंके मतोंको गिनाया गया है। क्रियावादी आत्माको मानते हैं। इनके मतमें दुःख स्वयवृत्त है, अन्यवृत्त नहीं। इनके कोल्कळ, काडविद्धि, कौशिक, हरिस्मधु, माळयिक, रोमस, हारित, मुड और अश्रल्यन आदि १८० भेद हैं। अक्रियावादी प्रत्येक पदार्थकी उपत्तिके पश्चात् ही पदार्थका नाश मानते हैं। अक्रियावादी आमाके अस्तित्वको नहीं मानते, और अपने माने हुए तत्त्वोंका निश्चित रूपसे प्ररूपण नहीं कर सकते। राजवार्तिककारने अक्रियावादियोंके मरीच, कुमार, कपिल, उद्धर, गार्ग्य, व्याघ्रभति, गद्धलि, मोद्रालयन, माठर प्रभृति ४० भेद माने हैं।





## स्याद्वादमंजरीके अवतरण ( १ )

### श्लोक १

ज्ञानिनो धर्मनीर्धम्य कर्तार परम पदम् ।  
गत्वागच्छति भूयोऽपि भव तीर्थनिकारत ॥ [ ] पृ ४ ।

सर्वं पश्यतु वा मा या तत्प्रमिष्ट तु पश्यतु ।

कीदृस्यापारिणत तस्य न क्त्रोपयुज्यते ॥

तस्मादनुष्ठानगत ज्ञानमस्थ विचार्यताम् ।

प्रमाण दूरदर्शी चेद्वैते गृह्यानुपास्महे ॥ [ वंशपिकत्रचन ] पृ ५ ।

जे एग जाणइ से सब्ज जाणइ ।

जे सब्ज जाणइ से एग जाणइ ॥

[ आचाराग १-३-४-१२२ ] पृ ५ ।

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा ।

सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट ॥ [ ] पृ ५ ।

अभ्रादिवात् ( अभ्रादिभ्य ) [ हैमशब्दानुशासन ७-२-४६ ] पृ ८ ।

शाब्वादिभ्य [ हैमशब्दानुशासन ७-१-११४ ] पृ ८ ।

श्रीवर्धमानाभिप्रमामरूपम् [ अयोग्यवच्छेदिका १ ] पृ ११ ।

### श्लोक २

तादर्थ्ये चतुर्थी [ हैमशब्दानुशासन २-२-५४ ] पृ १२ ।

स्पृहेव्याप्य वा [ हैमशब्दानुशासन २-२-२६ ] पृ १२ ।

### श्लोक ३

अदसस्तु निप्रवृष्टे [ हैमव्याकरण सप्रह्वश्लोक ] पृ १४ ।

\* रूसउ वा परो मा वा विस या परियत्तऊ ।

भासियना हिया भामा सपक्खगुणकारिया ॥

[ हेमचन्द्र-श्रेणिकचरित्र २-३२ ] पृ १५ ।

न भवति धर्म श्रोतु सर्वम्येनाततो हितश्रवणात् ।

ब्रुवतोऽनुमहनुद्गथा वक्तुस्त्वेकातनो भवति ॥

[ राचकमुन्य उमास्वाति-तत्त्वार्थमाप्य कारिका २९ ] पृ १५ ।



## श्लोक ४

गम्ययप कर्माणो [ हेमचन्द्रानुशासन २-२-७४ ] पृ १८ ।

## श्लोक ५

उत्पादव्ययध्रान्वययुक्तं सत् [ तत्पर्याधिगमसूत्र ५-२९ ] पृ २० ।  
 अत्रकाशत्माकाशम् [ उत्तराययन भारनिनयगणितृति २८-९ ] पृ २४ ।  
 अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्ना यद्विरुद्धधर्माख्यास कारणभेदश्चेति [ ] पृ २४ ।  
 अप्रच्युतानुपपन्नस्थैकरूपं नित्यम् [ ] पृ २५ ।

तद्भान्वय नित्य [ तत्पर्याधिगमसूत्र ५-३० ] पृ २५ ।

\* द्रव्य पर्यायप्रियुत पर्याया द्रव्यप्रजिता ।

क क्त्वा कन किम्त्वा दृष्टा मानेन केन ना ॥

[ समतितक १-१२ ] पृ २६ ।

\* त्रिभिध मन्वय धर्मिण परिणामो धमउक्षणानस्थाय्य ।

इत्युभयमुपपन्नमिति [ यागसूत्र ३-१३ व्यासभाष्य ] पृ २८ ।

सा तु द्विभिग नित्याऽनित्या च त्वनित्या

[ प्रशस्तपादभाष्य पृथिनीनिम्बपण ] पृ २९ ।

शब्दकारणत्वचनान्त् सयोगिभागा

[ प्रशस्तपादभाष्य आकाशनिम्बपण ] पृ २९ ।

यो यत्रैव स तत्र यो यदैव तदैव स ।

न देशकाठ्योर्यानिर्माणानामिह विद्यते ॥ [ ] पृ ३३ ।

भागो सिद्धो नरो भाग योऽर्थो भागद्वयात्मक ।

तमभाग त्रिभागेन नरसिंह प्रचक्षते ॥ [ ] पृ ३६ ।

## श्लोक ६

सर्वे गयर्था ज्ञानार्था [ हेमचन्द्रगणि-हेमचन्द्रपाकरण न्याय ४४ ] पृ ४१ ।

ईश्वरेरितो गच्छेत् स्वग वा श्वभ्रमन वा ।

अन्यो जातुरनीगोऽयमात्मन सुखदुःखयो ॥

[ महाभारत वनपर्व ] पृ ४१ ।

अपगतमले हि मनसि

शूलमभव्यस्य

[ कादम्बरी पूर्वार्धे पृ १०३ ] पृ ४२ ।

सद्गमनी नरपनानघकौशलस्य

यत्कोन्याधय तत्रापि विटान्यभून् ।

तनाद्भुत एगकुलैश्चिह्नं तामसद्गु

सूर्याशनो मधुक्तीचरणानदाता ॥

[ मिडसेन-द्वात्रिंशिका २-१३ ]

पृ ४३ ।

निश्चतश्च-धुरत निम्नतो मुखो निम्नत पाणिरत निम्नत पात् ।

[ शुक्लयजुर्वेद संहिता १७-१९ ]

पृ ४७ ।

किरणा गुणा न दब्ब तेसिं पयासो गुणो न वा दब्ब ।

ज नाण आयगुणो षट्मदब्बो स अत्रथ ॥

गन्तुण न पिरिच्छिदइ नाण णय तयमि देसमि ।

आयत्थ चिय नरर अचित्तसत्ती उ रिण्णोय ॥

लोहोयल्लस सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसपि ।

लोह आगरिसती दीसइ ष्ह क नपच्चक्खा ॥

एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हदि लोगत ।

जइ परिच्छिदइ सम्म को णु त्तिरोहो भये तथ ॥

[ हरिभद्र-धर्मसंग्रहणी ३७०-३७३ ]

पृ ४९ ।

न हिंस्यात् सर्गभूतानि [ छान्दोग्य उपनिषद् अ ८ ]

पृ ५१ ।

पट्टशतानि तिसुभ्यते पशूना मयमेऽह्नि ।

अश्वमयस्य वचनात् न्यूनानि पशुभिस्त्रिभि ॥ [ ]

पृ ५१ ।

अग्निषोमीय पशुमालभेत [ ऐतरेय आरण्यक ६ १३ ]

पृ ५१ ।

सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत [ तत्तिरीय संहिता १-४ ]

पृ ५१ ।

नाष्टत ब्रूयात् [ ]

पृ ५२ ।

ब्राह्मणार्थेऽनृत ब्रूयात् [ ]

पृ ५२ ।

\* न नर्मयुक्त वचन हिनस्ति न स्त्रीषु राज्ञन त्रिगहकाले ।

प्राणालयये सर्गजनापहारे पचानृतान्याह्वरपातकानि ॥

[ त्रिष्टभर्ममून १६-३६ ]

पृ ५२ ।

पद्मव्याणि लोष्टयत् [ ]

पृ ५२ ।

\* यद्यपि ब्राह्मणो हटेन स्व ददाति

[ मनुस्मृति १-१०१ ]

पृ ५२ ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [ देवी भागवत ]

पृ ५२ ।

अनेकानि सहस्राणि कुमारप्रवचारिणाम् ।

दित्र गतानि त्रिप्राणामदृत्ना कुलसततिम् ॥ [ आपस्तम्ब ]

पृ ५२ ।

## श्लोक ७

आवर्जिता किञ्चित्ति स्तनाभ्या	[ कुमारसभन ३-५४ ]	पृ ५९।
उद्बृत्त क इ न सुखात् परेषाम्	[ शिशुपालवध ]	पृ ५९।
प्राप्तानामेव प्राप्ति समग्राय	[ ]	पृ ५९।
अन्यभिचारी मुग्धोऽपिक गोऽन्नाहारणोऽन्तरगश्च ।		
निपरीतो गौणोऽपि सति मुग्धे धी कप गाणे ॥		
	[ ]	पृ ६३।
ईहाया प्रत्ययभेदत	[ हर्मिङ्गानुशासन पुरी ५ ]	पृ ६४।

## श्लोक ८

पृथियापस्तेजो वायुराकाश कालो दिगामा मन इति नव द्रव्याणि	[ वैशेषिकसूत्र १-१-५ ]	पृ ६५।
रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वन सयोगविभागा परत्वापरत्वे		
बुद्धि सुषुप्तौ च इच्छाद्वेषा प्रयत्नश्च	[ वैशेषिकसूत्र १-१-६ तथा प्रशस्तपादभाष्य ]	पृ ६५।
अतेषु भवा अन्यथा	तेऽन्यथा विशेषा	
	[ प्रशस्तपादभाष्य पृ १६८ ]	पृ ६८, ६९।
* द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता	[ वैशेषिक सूत्र १-२-७ ]	„ ७०।
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व मकरोऽध्यानस्थिति ।		
रूपहानिरसनधो जातिनाप्रक्सप्रह ॥		
	[ उदयानाचार्य-किरणारति द्रव्यप्रकरण पृ १६१ ]	„ ७१।
न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहनिरस्ति ।		
अशरीर ना प्रसक्त प्रियाप्रिये न मृशत ॥		
	[ डा दोग्य उपनिषद् ८-१२ ]	„ ७२।
यावदानुगुणा सर्वे नोच्छिन्ना वासनान्य ।		
तावदायत्तिकी दु खव्यावृत्तिन विकल्प्यते ॥		
यमारमनिमित्ता हि सभन सुगन्ध मयो ।		
मूलभूती च तावैव स्तभी समारसन्न ॥		
तदुच्छ्र च तकार्यशरीराद्यनुपपन्नात् ।		
नात्मन सुगन्ध म् स्त इयसी मुक्त उच्यते ॥		
इच्छाद्वेषप्रयनादि भोगायतनग्रहनम् ।		

उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तेरपि युज्यते ॥  
 तदव त्रिपणार्दीना नानामपि मूत्रत ।  
 गुणानामात्मनो अस सोऽपरगं प्रतिष्ठित ॥  
 ननु तम्याभवस्थाया कीदृगात्मानशिष्यते ।  
 स्वरूपैकप्रतिष्ठान परित्यक्ताऽखिलैर्गुणै ॥  
 ऊर्मिपट्टकातिग रूप तदस्याहुर्मनीषिण ।  
 ससारजधनापीनदु खलुशाद्यदृषितम् ॥  
 कामक्रोधलोभमार्जदभट्टर्पा—ऊर्मिपट्टकमिति ।

[ जयन्त—न्यायमजरी पृ ५०८ ] पृ ७२, ७३ ।

मूत्र तु सूचनाकारि प्रथे तत्तुव्यवस्थयो ।

[ हेमचन्द्र—अनेकार्थसग्रह २-४५८ ] पृ ७४ ।

उपहृत बहू तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम् [ ] ,, ७४ ।

कारण द्वित्रिध ज्ञेय वाच्यमाभ्यन्तर बुधै ।

यत्र लुनाति दात्रेण मेरु गच्छति चेतसा ॥ [ लक्षणिक ] ,, ७९ ।

नागृहीतनिशेषणा निशेष्ये बुद्धि [ ] ,, ८२ ।

\* सुखभायतिक यत्र बुद्धिप्राह्यमताद्रियम् ।

त वै मोक्ष त्रिनानीयाद् दृष्टप्रापमदृतात्मनि ॥ [ भगवद्गीता ] ,, ८६ ।

वर वृन्दाने रम्ये प्रोष्टृत्वममियाडितम् ।

न तु त्रैशेषिकीं मुक्तिं गातमो गन्तुमिच्छति ॥ [ ] ,, ८६ ।

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम [ ] पृ ८८ ।

नदमि य छाउमथिए नाणे [ आनन्दक पूर्वविभाग ५३९ ] ,, ८९ ।

पुण्यपापक्षयो मोक्ष [ आगमरचन ] ,, ८९ ।

### श्लोक ९

सर्वगतत्वेऽप्या मनो देहप्रदेशे नातृत्वम् । नान्यत्र शरीरस्वोपभोगायतनत्वात् ।

अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात् [ श्रीपर—न्यायकट्टी ] पृ ९४ ।

\* नानामनो व्यवस्थात् [ त्रैशेषिकमूत्र ३-२-२० ] पृ ९५ ।

आकाशोऽपि सत्पेश सवृत्सर्वमूर्ताभिमनघाहत्वात्

[ द्वन्यालकार ] पृ ९८ ।

## श्लोक १०

ईयकारके	[ हर्मगद्धानुशासन ३-२-१२१ ]	पृ १०६ ।
बहुभिरामप्रदेशरिघ्राता न्हाययया ममाणि [	]	पृ १०६ ।
गुणाद्विषया न वा	[ हर्मगद्धानुशासन २-२-७७ ]	पृ १०७ ।
लम्पितयार्थिना तु स्याद् दृ रिज्ञेनामशमना ।		
उल्लजानिप्रदानो य स पिनाद् इति स्मृत ॥		

[ हर्मिभद्रमूरि-अष्टक १२-४ ]

पृ १०७ ।

अन्युपेय पक्ष यो न स्थापयति स नेतण्डिक इत्युच्यते

[ उद्योतकर-न्यायनार्तिक १-१-१ ]

पृ १०७ ।

दु शिक्षितमुत्काशलेशनाचात्तानना ।

शक्या किमन्यथा जेतु पितण्डाटापमण्डिता ॥

गतानुगतिको लोक बुभुगं तत्प्रतारित ।

मा गादिति उत्रादिनि प्राह कारुणिको मुनि । [

] पृ १०८ ।

प्रमाणप्रभेय नि श्रेयसाधिगम

[ गीतम न्यायमूत्र १-१-१ ]

पृ १०८ ।

अर्थोपलब्धिहेतु प्रमाणम्

[ नाम्यायनभाष्य ]

पृ १०९ ।

सम्यगनुभवसाधन प्रमाणम्

[ भासर्वज्ञ-वायसार ]

पृ १०९ ।

स्वपरव्ययसावि ज्ञान प्रमाणम् [ प्रमाणनयतत्कालोकार और प्रमाणमीमासा ] पृ १०९ ।

प्रवृत्तिदोषजनित सुखदुःखत्मक मुख्य पञ्च तत्साधन तु गौणम्

[ जयत-न्यायमजरी ]

पृ ११० ।

द्रव्यपयायामक वस्तु प्रमेयम् [ प्रमाणनयतत्कालोकार ]

पृ ११० ।

साधन्यवर्ष्य कार्यसमा [ गीतम न्यायमूत्र ७-१-१ ]

पृ. ११२ ।

## श्लोक ११

महाक्ष वा महाज वा श्रोत्रियायोपकल्पयंत

[ याज्ञवल्क्यस्मृति आचार १०९ ]

पृ १२२ ।

द्वौ मामा मत्स्यमासन त्रीन मासान् हारिणेन तु ।

आरभ्येणाय चतुर शानुनेनेह पच तु ॥

[ मनुस्मृति ३-२६८ ]

पृ १२२ ।

श्रयता धर्ममयम् श्रुता चैतान्यार्थसाम्

[ चाणक्य १-७ ]

पृ १२३ ।

सत्रद्ध वर्तमान च गृह्यते च-पुरादिना

[ मी इडोकनार्तिक ४-८४ ]

पृ १२४ ।

पुढनादपाण जदनि हु होन निणामो निणाअयाहितो ।

तव्विमया विमुदिअिम्म णियमआ अदि अणुकपा ॥

एयाहितो बुद्धा निरया रक्कपति जेण पुढनाई ।

इत्तो निव्याणगया अवाहिया आमरमिमाण ॥

रोगिसिरावेहो इय सुमिअकिरिया न सुप्पउत्ताओ ।

परिणामसुदरच्चिय चिद्धा स नाहजोगे वि ॥

[ निनेअरमूरि-पचटिगी ५८, ५९, ६० ]

पृ १२६ ।

श्वेत त्रायव्यमनमाळभेत भूतिकाम [ शतपत्र ब्राह्मण ]

पृ १२७ ।

औपथ्य पशवा वृक्षास्तियच्च पक्षिणस्तथा ।

यज्ञान निघन ग्रामा ग्रानुयन्त्युच्छ्रित पुन ॥

[ मनुस्मृति ५-४० ] ,, १२७ ।

यूप टिआ पान् हत्वा वृत्वा रुभिरकर्दमम् ।

यद्येव गम्यते स्वर्ग नरके केन गम्यते ॥ [

] ,, १२७ ।

अचिन्त्या हि मणिम त्रौपरीना प्रभाय [

] ,, १२८ ।

आरोग्यनाहिल्यभ समाहिनरमुत्तम दितु [ आयस्यक २४-६ ] ,, १२९ ।

देवोपहारव्यानेन यज्ञव्याजेन येऽयया ।

अन्ति जन्दन् गतवृणा धारा ते याति दुर्गतिम् ॥

[ ] ,, १३० ।

अथे तममि मज्जाम पशुभिर्ये यजामहे ।

हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूता न भविष्यति ॥ [

] ,, १३० ।

अग्निमामेतस्माद्धिंसावृतादेनमा मुञ्चतु [

] ,, १३० ।

ज्ञानपालिपरिधिभे ब्रह्मचर्यदयाम्मसि ।

स्नात्वाऽतिप्रमथे तीर्थे पापपकापटारिणि ॥

ध्यानार्त्ता जीरदुण्डभ्ये दममारुतदापिते ।

अस्ररुममिभेपैरग्निहोत्र दुग्न्तमम् ॥

कपापपशुभिर्दुष्टैर्मकामार्थनागर्क ।

शममन्त्रद्वैतैर्पञ्च विधेहि निहितं बुधं ॥

- प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानस ।  
 स गच्छति सुधावृष्टिं वृष्णाहिमुग्धकोटरात् ॥ [ महाभारत ] ,, १३० ।  
 चतुर्थ्यन्त पदमेव देवता [ ] ,, १३१ ।  
 शब्देतरस्ये युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टु ।  
 न सा प्रयाति सानि च मूर्त्त्यादम्भदादिवत् ॥ [ मृगेन्द्र ] ,, १३१ ।  
 अग्निमुखा वै देवा [ आदरजायन गृह्यसूत्र ४ ] ,, १३२ ।  
 मृतानामपि जत्ना श्राद्ध चेत् तृणिकारणम् ।  
 तन्निर्माणप्रदीपस्य स्नेह सन्निधेच्छिवाम् ॥ [ ] ,, १३४ ।  
 अतीन्द्रियाणामर्थाना साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते ।  
 नित्येभ्यो वेदवान्येभ्यो यथार्थत्वमितिदचय ॥ [ ] ,, १३६ ।  
 तात्वादिजमा ननु वर्णार्गो वर्णामको वेद इति स्पुट च ।  
 पुसश्च तान्नादि तत कथ स्यादपौरुषेयोऽयमितिप्रतीति ॥  
 [ ] ,, १३६ ।  
 अग्निहोत्र जुहुयात्सर्वकाम [ तैत्तिरीय संहिता ] ,, १३६ ।  
 न हिंस्यात् सन्भूतानि [ आन्दोग्य अ. ८ ] ,, १३७ ।  
 सत्रत्यसजम सजमाओ अप्पाणमेव रक्खिजा ।  
 मुच्चइ अइरायाओ पुणो निसोही नयाऽनिरइ ॥ [ ] ,, १३८ ।  
 उत्पद्यते हि सात्स्या देशकालामयान् प्रति ।  
 यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु नर्जयेत् ॥  
 [ ] ,, १३९ ।  
 कालानिरोत्रि निर्दिष्ट अराद्री लङ्घन हित ।  
 ऋतेऽनिलश्रमनोऽशोरुका मृत्तरान् ॥ [ ] ,, १३९ ।  
 पूनया त्रिपुल राज्यमग्निकार्येण सपद ।  
 तप पापनिशुद्धयय ज्ञान ध्यान च मुक्तिदम् ॥  
 [ व्यास—महाभारत ] ,, १४० ।

## श्लोक १२

\* सत्सप्रयागे इन्द्रियबुद्धिजमलक्षण ज्ञान, ततोऽर्थप्राकट्य, तस्मादर्था-  
 पत्ति, तथा प्रवर्तकज्ञानस्यापलभ [ जैमिनीसूत्र १-१-४५ ] पृ १४७ ।

श्लोक १३

ते च प्राप्सुदन्वन्त बुबुधे चादिपूरुष ।

[ रघुनश १०-६ ]

पृ १५३ ।

सर्गं च खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यति न तत्पश्यति कश्चन ॥

[ छान्दोग्य उपनिषद् ३-१४ ]

पृ १५४ ।

आहूर्निधातु प्रत्यक्ष न निपेक्षु निपश्चित ।

नैकत्वं आगमस्तेन प्रत्येक्षणं प्रनायते ॥ [ ]

„ १५५ ।

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्निकल्पकम् ।

बालमुक्तादिनिनानसदृशं शुद्धमस्तुजम् ॥

[ मी श्लोकनार्तिक प्रत्यक्षसूत्र ११२ ]

„ १५७ ।

यदद्वैतं तत् ब्रह्मणो रूपं [ ]

„ १५७ ।

प्रत्यक्षाद्यनन्तारं स्याद् भानाशो गृह्यते यदा ।

व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभानाशो जिघृक्षते ॥

[ मी श्लोकनार्तिक अभान १७ ]

„ १५८ ।

पुरुष एवेदं स यद्भूतं यच्च भान्यं ।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

[ ऋग्वेद पुरुषसूक्त ]

„ १५९ ।

यदेजति यन्नैजति यदूरे यदन्तिके ।

यदन्तरस्य सर्गस्य यदुत्तं सर्गस्याम्य बाह्यत ॥

[ ईशानास्य उपनिषद् ]

„ १५९ ।

\* श्रोतव्यो मत्तज्या निद्रिष्यासितव्यं अनुमन्ताव्यो

[ बृहदारण्यक उपनिषद् ]

„ १५९ ।

सर्गं च खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यति न तत् पश्यति कश्चन ॥

[ छान्दोग्य ३-१४ ]

„ १५९ ।

\* निर्निशेषं हि सामान्यं भवेत् खरनिपाणनत् ।

सामान्यरहितत्वेन विशेषान्तद्वेदेन हि ॥

[ मी श्लोकनार्तिक आहृति १० ]

„ १६० ।

हेतोरद्वैतसिद्धिधेद् द्वैतं स्याद् हेतुसाययो ।



हेतुना चेत् पिना सिद्धिद्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥

[ आममीमामा २-२६ ]

पृ १६१ ।

कमद्वैत फलद्वैत लोकाद्वैत विरुध्यत ।

त्रियाऽत्रियाद्वय न स्याद्व्यभिचक्षद्वय तथा ॥

[ आममीमामा २-२५ ]

„ १६२ ।

श्लोक १४

न सोऽस्ति प्रत्यया लोके य शब्दानुगमादृत ।

अनुनिद्रमिन्न ज्ञान सर्प शब्देन भामते ॥

[ भर्तृहरि-वाक्यपदीय १-१२४ ]

„ १६४ ।

एतासु पचम्बनभासनीषु प्रत्यक्षगोत्रे स्पृष्टमङ्गुलीषु ।

साधारण रूपमनेक्षते य शृग शिरस्यामन श्चते स ॥

[ अशोक-सामान्यदृपणदिक् प्रसारिता ]

„ १६७ ।

अभिहाण अभिद्वेषाउ होई मिण्ण अभिण्ण च ।

खुरअग्गिमोयगुच्चारणग्गि जम्हा उ वयणसत्तणण ॥

ननि ठेओ ननि दाहा ण पूरण तण भिन्न तु ।

जम्हा य मोयगुच्चारणग्गि तत्तेन पच्चओ होइ ॥

न य होइ स अन्नथे तेण अभिन्न तदत्थाओ ।

[ भद्रनाहु ]

„ १७५ ।

निकल्पयानय शब्दा निरुत्पा शब्दभोनय ।

कार्यकारणता तेषा नात्र शब्दा स्पृशन्त्यपि ॥ [ ]

„ १७५ ।

सर्वमस्ति स्वल्पेण पररूपेण नास्ति च ।

अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याव्यसभर ॥ [ ]

„ १७६ ।

जे एग जाणइ से सत्त्व जाणइ ।

जे सत्त्व जाणइ से एग जाणइ ॥

[ आचारग १-३-४-१२२ ]

„ १७६ ।

एको भाव सर्वथा येन दृष्ट

सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा ।

सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा

एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट, ॥ [ ]

„ १७६ ।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थगोचरनिर्गमन शब्द

[ प्रमाणनयतत्त्वात्रोक्तकार ४-११ ] पृ १७९ ।

अपोह शब्दस्त्रिगाम्या न वस्तु विधिनोच्यते । [ दिट्नाग ] पृ १८० ।

श्लोक १५

तम्मान्न ब्रूयत नापि मुच्यते नापि स्मरति कथित् ।

स्मरति ज्ञयते मुच्यते च नानाश्रया प्रवृत्ति ॥

[ साण्यकारिका ६२ ] ,, १८३ ।

मूलप्रवृत्तिरविच्छेदितमिहदाद्या प्रवृत्तिरिच्छेदय सम ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विच्छेदित पुरुष ॥

[ साख्यकारिका ३ ] ,, १८४ ।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्गगताऽक्रिय ।

अकर्ता निर्गुण सृष्टम आत्मा कापिलदर्शन ॥ [ ] ,, १८६ ।

शुद्धोपि पुरुष प्रत्यय मद्भ्रमनुश्यति तमनुपश्यन्

अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभामते [ व्यासभाष्य ] ,, १८६ ।

सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य बुद्धेरसागरणा व्यापार

[ साण्यतत्त्वकामुदी २३ ] ,, १८६ ।

बुद्धिदर्पणसक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बक द्वितायदर्पणरूपे पुम्भ्यारोहति ।

तदेव भाक्तृत्वमस्य न त्वामना विकारापात्ति

[ चादमहार्णव ] ,, १८६ ।

निर्दिक्ते इक्ष्परिणता बुद्ध्या भोगोऽस्य कथ्यते ।

प्रतिबिम्बान्य स्वच्छे यथा चन्द्रममोऽम्भसि ॥ [ आसुरि ] ,, १८६ ।

पुरुषोऽविच्छेतामेव स्वनिभासमचेतनम् ।

मन कराति सान्निव्यादुपाधि स्फुटिक यथा ॥

[ विनयगती ] ,, १८६ ।

अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामिन्यर्थे

प्रतिसक्राते च तद्बृत्तिमनुभवति [ व्यासभाष्य ] ,, १८८ ।

शब्दगुणमाकाशम्

[ वशेषिकमूत्र ] ,, १९० ।

इथापूत मयमाना बरिष्ठ

नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मृदा ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुदृतेन भूत्वा

इम लोक हीनतर ना निशन्ति ॥

[ मुण्डक उपनिषद् १-२-१० ] पृ १९१ ।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निरर्तने नर्तकी यथा नृत्यात् ।  
पुरूपम्य तत्रामान प्रकाश्य निनिरर्तते प्रवृत्ति ॥

[ साङ्ग्यकारिका ५९ ] ,, १९२ ।

### श्लोक न १६

× उभयत्र तदेव ज्ञान प्रमाणफलमधिगमरूपजात् [ वायप्रवेश पृ ७ ] ,, १९६ ।

× उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञान प्रत्यक्षानुमानलक्षण फलम् कार्यम् ।  
वृत्त । अधिगमरूपत्वानिति परिच्छेदरूपजात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमेव  
ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणजात् ।  
इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानान्या भिन्न फलमस्तीति ।

[ हरिभद्रसूरि—न्यायप्रवेशवृत्ति पृ ३६ ] पृ १९६ ।

द्विष्टमत्रसंभित्तिर्नकारप्रवेशनात् ।

द्वयो स्वरूपग्रहणे सति समप्रवेशनम् ॥ [ ] ,, १९७ ।

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाण । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धे

[ चाण्णिक १-१०, २० ] ,, १९८ ।

नीलनिभास हि मित्रान नीलसंवेदनरूपम् [ न्यायविन्दु टीका ] ,, १९८ ।

नाकारण नियम [ ] ,, २०६ ।

ण गिहाणगाया भग्ना पुजो णधि अणागए ।

णिन्वुया णेन चिद्वति आरग्ग सरिससोपमा ॥ [ ] ,, २०७ ।

अर्जन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्यरूपताम् ।

तम्मात् प्रमेयाधिगते प्रमाण मेयरूपता ॥ [ ] २०९ ।

भूर्निषेपा त्रिया सेन कारण सेन चोच्यते [ ] २१२ ।

प्रत्येक यो भवेदोपो द्वयोभान कय न स [ ] २१२ ।

स्वाकारबुद्धिचनका दृश्या नेत्रियगोचरा [ ] २१४ ।

यदि संवेद्यते नाउ कथ बाह्य तदुच्यते ।

न चत् संवेद्यते नाउ कथ बाह्य तदुच्यते ॥

[ प्रज्ञाकरगुप्त—प्रमाणवार्तिकालकार ] ,, २१५ ।

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवे पर ।

प्राग्प्राहकनेधुर्यात् स्वय सेन प्रकाशते ॥

× इन अवतरणोक्ते त्रिये मुनि हिमाद्रिविजयजीने भेरा ध्यान व्याकृतिक किया है ।

बाह्यो न विद्यत एषो यथा बालैर्विकल्प्यते ।  
वासनाद्वृष्टित चित्तमर्थाभागे प्रवर्तते ॥ [ ] ,, २१५ ।

अणुह्यन्निश्चितिय सुयपयडनियारदेनयागू या ।  
सुमिण्मस निमित्ताद् पुण्ण पात्र च णाभावो ॥  
[ जिनभद्रगणि-विशेषावस्यकभाष्य १७०३ । ] ,, २१६

आशामोदकतृप्ता ये ये चास्यादितमोदका ।  
रसरीयनिपाकादि तुन्य तेषा प्रसूयत ॥ [ ] ,, २१६ ।

**श्लोक १७**

सर्ग एनायमनुमानानुमेयज्यगहारो बुद्धधारुडेन धर्मगर्मिभावन  
न त्रहि सदमत्तमपेक्षते [ दिङ्नाग ] पृ २२७ ।

यथा यथा निचार्यते निरीर्यते तथा तथा ।  
यदेतत् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के ययम् ॥ [ ] ,, २३१ ।

सुखादि चेलमान हि स्वतत्र नानुभूयते ।  
मनुत्र्यनुभेरात्तु सिद्ध प्रहणमामन ॥  
इद सुखमिति ज्ञान दृश्यते न घटादिप्रत् ।  
अह सुखाति तु इमिरामनोऽपि पकाशिका ॥  
[ न्यायमजरी पृ ४३३ ] ,, २३२ ।

देशितो नाशिनो भागो दृष्टा निगिळनदररा ।  
मेवपङ्कन्यायो यदत् एन रागायो मता ॥ [ ] ,, २३६ ।

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा राक्वमुच्यते क्षन्तम् ।  
यस्य तु नन्ते दोषाम्स्तस्यानृतकारण कि म्यात् ॥ [ ] ,, २३७ ।

एगे आया [ ठाणाग १-१ ] ,, २३७ ।  
वासन सत्र सदसत्र चाप्यनुभयामक ।

चतुष्कोटिनिर्मुक्त तत्त मायमिना त्दि ॥ [ ] ,, २३८ ।

**श्लोक १८**

याच्चित्त तच्चित्तान्तर प्रतिस्पत्ते यथदानी तन चित्त चित्त च  
मरणकालभावि [ मोक्षारण्य ] ,, २४२ ।  
निबिडवासनोच्छेदे निगतनिपयाकारापल्यनिशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष ,, २४४ ।

[ ]  
यस्मिन्नेव हि सताने आहिता कमयासना ।  
फठ तत्रैव सधत्तं कपसि रक्तता यथा ॥ [ ] ,, २४६ ।

इत्येकनप्रते कल्पे शक्या मे पुरुषो हत ।

तेन कर्मनिपाकेन पादे निद्रोऽस्मि भिक्षव ॥ [ ] ,, २४७ ।

श्लोक १९

प्रत्येक यो भवेत् दोषो द्वयोर्भावे कथं न स [ ] ,, २५०

श्लोक २०

नास्तिकाग्निरुदैष्टिकम् [ हमशब्दानुशासन ६-४-६६ ] ,, २५६ ।

वयं शक्तिशालि [ हमशब्दानुशासन ५-२-२४ ] ,, २५८ ।

न चायं भूतधर्मं सत्त्वकठिनत्वादिवत् ।

धर्मं षड् च भूतानां उभयोर्गो भवेत् यत् ।

प्रत्येकमुपपन्नं स्याद्दुष्पादो न भिन्नक्षणात् ॥

[ द्रव्यालङ्कार ] पृ २५९-६१ ।

श्लोक २१

वातातीसारपिशाचात्कश्चात् [ हमशब्दानुशासन ७-२-६१ ] पृ २६३ ।

सर्वव्यक्तिषु नियतं लक्षणेऽप्यत्रमथ च न विशेष ।

सयोश्चिन्त्यपचित्योरावृत्तिजातिव्यवस्थानात् ॥

[ तत्त्वार्थभाष्य ५-२९ ] पृ २६४ ।

यद्युत्पादादयं भिन्ना कथमेकं त्रयात्मकम् ।

अथोपादादयोऽभिन्ना कथमेकं त्रयात्मकम् ॥ [ ] पृ २६५ ।

घटमालिसुपर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिः प्रथमम् ।

शोकप्रमोदभावस्थ जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोऽत्रतो न दध्यत्ति न पयोऽस्ति दमित्रत ।

जगत्सत्रतो नोभे तस्मात् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ [आप्तमीमांसा ५०, ६०] पृ २६६ ।

श्लोक २२

उत्पादव्ययधर्मैर्ययुक्तं सत् [ तत्त्वार्थाभिगमसूत्र ५-२९ ] पृ २७० ।

श्लोक २३

भागा एव हि भामतं सन्निविष्टान्तथा तथा ।

तद्वाच्यैः पुनः कश्चिन्निभागं सप्रतायते ॥ [ ] पृ २७३ ।

अर्पितानपितसिद्धे [ तत्त्वार्थाभिगमसूत्र ५-३१ ] ,, २७३ ।

सदसदप्रिसेसणाउ भनहेउजहिच्छिओनलभाउ ।

णाणफटाभानाउ निच्छादिद्विम्म अण्णाण ॥

[ विशेषानश्यकभाष्य ११५ ] ,, २७४ ।

निवानघन एरैतेम्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येरानुनिन्दयति

न प्रेत्य सज्ञारिति [ बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-१२ ] ,, २७४ ।

न मामभक्षणे दोषो न मद्ये न च मनुने ।

प्रवृत्तिरेषामभूताना निवृत्तिस्तु महाफत्र ॥ [ मनुस्मृति ५-५६ ] ,, २७५ ।

आमासु य पक्रासु य निपन्नमाणासु मसपेसीसु ।

आयतिअमुताओ भणिओ उ निगोअजीनाण ॥

मज्जे मह्हुम्मि मसग्गि णरणीयाम्मि चउत्थए ।

उण्णजति अणता सञ्चण्णा तत्थ जत्थो ॥

मट्टणसण्णा रट्ठो णरलक्कय हणोइ मुहुमनीनाण ।

केरउटिणा पण्णत्ता सदहिव्या सया काउ ॥

[ रत्नशेखर—सत्राधसप्ततिका ६६, ६५, ६३ ] पृ २७६ ।

इत्तीनेणीए सभनति बेइदिया उ जे जीना ।

इको व दा न तिण्णि न लक्खपुहुत्त उ उक्कोम ॥

पुरिसेण सह गयाए तेसि जीनाण होइ उद्वरण ।

वेणुगण्डि तेण तत्तायसत्तगणाण्ण ॥

पचिदिया मणुम्मा एगणरमुत्तणारिग्गम्भग्गि ।

उक्कोस णरलक्खा जायति णगेलाए ॥

णरलक्कयाण मञ्जे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती ।

सेमा पुण एमेन य विलय वच्चति तथेन ॥ [ ] पृ २७६, ७ ।

तु स्याद् भेदऽनधारणे [ अमरकोश ३ २३९ ] ,, २७७ ।

यथै यथैऽनभेदेन यो यजेत शत समा ।

मासानि च न ग्बोद् यस्तयास्तुन्य भवेत् फलम् ॥ [ मनुस्मृति ५ ५३ ] ,, २७७ ।

एकरात्रोपितस्यापि या गतिर्विचचारिण ।

न सा क्रतुमहत्सेण प्राप्तु शक्या युधिष्ठिर ॥ [ ' ] ,, २७७ ।

वाक्येऽनधारण तावदनिष्ठार्धनिवृत्तये ।

कर्तव्यमन्यथानुकसमनात् तस्य उत्रचित् ॥

[ त श्लोकार्तिक १ ६-५३ ] ,, २७९ ।

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञ सर्वत्रार्थाप्रतीपते ।

यत्रकारोऽयोगान्त्रियच्छेदप्रयोजन ॥

[ त श्लोकार्थिक १-६-५६ ] ,, २७९ ।

अपितानपितसिद्धे

[ तत्त्रार्थाभिगममूत्र ५-३१ ] ,, २८० ।

श्लोक २६

शक्तार्हे वृन्वाश्च

[ हेमशब्दानुशासन ५-४-३५ ] पृ ३०० ।

श्लोक २७

अप्राप्ताना प्राप्ति

[ प्रशस्तपाद ] ,, ३०२ ।

वर्तानपाम्या किं व्योन्नधमर्ण्यस्ति तयो फट्टम् ।

चर्मोपमधसोऽनित्य खलुन्यश्चेदसत्फट्ट ॥

[ ] ,, ३०३ ।

यस्मिन्नेत्र हि सताने आहिता कर्मसासना ।

फल तत्रेय सत्रचे कपमि रक्तता यया ॥

[ ] पृ ३०३ ।

परिणामोऽनस्वानरगमन न च सर्वत्रा ह्यनस्थानम् ।

न च सर्वत्रा निनाश परिणामस्तद्विदामिष्ट ॥

[ ] ,, ३०५ ।

अस्थितस्य द्रव्यस्य पूनधमनिवृत्तो धर्मान्तरोपत्ति परिणाम

[ व्यामभाष्य ३-१३ ] ,, ३०५ ।

तात्स्थ्यात् तद्वचपदेश

[ ] ,, ३०६ ।

श्लोक २८

प्रमाणनयैरभिगम

[ तत्त्रार्थाभिगममूत्र ६-६ ] ,, ३०७ ।

शास्त्र्यमूवक्तिपातेरब्ध

[ हेमशब्दानुशासन ३-४ ६० ] ,, ३०९ ।

श्रयत्यसूनचपत श्वाश्वनोचपमपू

[ हेमशब्दानुशासन ४-३-१०३ ] ,, ३०९ ।

स्वरादेन्तासु

[ हेमशब्दानुशासन ४-४-३१ ] ,, ३०९ ।

जायदथा वयणपहा तावदथा चैन हृति नयनाया

[ समतितर्क ३-४७ ] ,, ३१० ।

लौकिकसम उपचारप्रायो निस्तृत्तार्था व्यग्रहार

[ तत्त्रार्थाभाष्य १-३५ ] ,, ३१२ ।

यदेवाधक्रियाकारि तदेव परमार्तसत्

[ ] ,, ३१२ ।

अन्यदेव हि सामान्यमभिज्ञानकारणम् ।

निशोपाऽप्यन्य एतेति मयते वेगमो नय ॥

सद्रूपतानतिनात स्वम्भभात्रमिद जगत् ।

सत्तात्पर्यतया सर्वं सगृह्णन् सप्रहो मत ॥  
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम् ।  
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिन ॥  
तत्रर्जुसूत्रनीति म्याद् शुद्धपर्यायसश्रिता ।  
नञ्चरस्थैव भावस्य भावात् स्थितित्रियोगत ॥  
निरोपार्तिगस्ययादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।  
तन्व्येव मयमानोऽयं शब्दः प्रत्ययतिष्ठते ॥  
तथात्रिधस्य तस्यापि यस्तुन क्षणवर्तिन ।  
वृत्ते समभिरूढस्तु सन्नाभेदेन भिन्नताम् ॥  
एकस्यापि ध्वनेर्नाथ्य सदा तन्नोपपद्यते ।  
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवभूतोऽभिमन्यते ॥ [

] पृ ३१५, ३१६ ।

नीयते येन श्रुतान्वयप्रमाणान्विषयीकृतस्य अर्थस्य अशस्तदितराशादासौन्यत  
स प्रतिपत्तुरभिप्रायनिशेषो नय इति । समभगीमनुव्रजति

[ प्रमाणनयतत्त्वालोककार ७ १ ५३ ] ,, ३१६-२० ।

नयान्तर स्यात्पदलाटना इमे रसोपनिद्धा इव लोहधातव ।

भग्न्यभिप्रेतफळा यतन्ततो भवतमार्या प्रणता हितेपिण ॥

[ समन्तभद्र-स्वयभूस्तोत्र विमलनाथस्तन ६५ ] ,, ३२१ ।

तत्र द्विविध प्रत्यक्ष परोक्ष च आत्ममात्रापेक्षम्

[ प्रमाणनयतत्त्वागेकालकार २-१, ४, ५, ६, १८ ] ,, ३२१ ।

तत्र सस्कारप्रबोधसम्भूत परार्थानुमानमुपचारात्

[ प्रमाणनय ३-३-२३ ] ,, ३२१, ३२२ ।

आप्तवचनाद् च आरिभूतमर्थसत्त्वेदन्मागम । उपचारात्

आप्तवचन च

[ प्रमाणनय ४-१, २ ] ,, ३२२ ।

### श्लोक २९

दग्धे बीज यथायत्त प्रादुर्भवति नाकुर ।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भगकुर ॥

[ ] ,, ३२८ ।

सति मूढे तद्विपाको जात्यायुर्भोगा

[ यांगसूत्र २-१३ ] ,, ३२९ ।

मसु क्लेशेषु कमाशया

जातिरायुर्भोग [ व्यासभाष्य ] ,, ३२९ ।

न प्रवृत्ति प्रणिमयानाय हीनकलशस्य [ अक्षपाद ४-१-६४ ] ,, ३२९ ।

सवे दानूर्ध्वे

[ हैमशब्दानुशासन ५-३-८० ] ,, ३२९ ।

गोला य असम्बिज्ञा असखणिगोअ गोलओ भणिओ ।

इक्किक्कम्भि णिगोए अणन्तनीना मुणेअत्वा ॥

सिञ्जति जत्तिवा खल्ल इह सत्रवहारजीवरासीओ ।

एणि अणाइणस्सइ रामीओ तत्तिआ तम्भि ॥

[ ] ,, ३३१ ।



अतएव च विद्वत्सु मुख्यमानेषु सततम् ।

नद्वाष्टश्लोकजीवानामन तान् अशून्यता ॥

अयं यूनतिरिक्तद्वैर्युज्यते परिमाणयत् ।

नस्तु यपरिमेये तु नून तेषाममभय ॥

[ वार्तिककार ] ,, ३३२ ।

श्लोक ३०

पुनामि घ

[ हेमचन्द्रानुशासन ५-३-१३० ] ,, ३३५ ।

अत्र भाम् अरहा सुत्त गगति गणहरा णिउण

[ विशेषान्दयकभाष्य १११९ ] ,, ३३५ ।

उष्णो ना विगमे ना बुनेति वा [ ] ,, ३३५ ।

उदयानि ससिंय ससुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टय ।

न च तामु भवान् प्रदश्यते प्रनिभक्तासु सरिस्विनोदपि ॥

[ सिद्धसेन द्वा द्वानिशिका ४-१५ ] ,, ३३७ ।

श्लोक ३१

काउण नमुकार सिद्धानमभिग्राह तु सो गिण्ठे [ ] ,, ३३९ ।

अरह तुनएसेण सिद्धा णञ्जाति तेण अरहाई

[ विशेषान्दयकभाष्य ३२१३ ] ,, ३३९ ।

श्लोक ३२

समनाधात् तमस

[ हेमचन्द्रानुशासन ७-३-८० ] ,, ३४१ ।

अद्रेये देनजुद्धिर्या गुरुपीरगुरा च या ।

अधर्मे धमजुद्धिश्च मियात्र तद्विपर्ययात् ॥

[ हेमचन्द्र-योगशास्त्र २-३ ] ,, ३४१

पाणरहाईआण पानहाणण जो उ पटिसेहो ।

झाणञ्जयणार्थेण जो य विही एम उम्मरुमो ॥

उज्जाणुट्टाणेण जेण ण बाहिज्जण तय णियमा ।

समसइ य परिसुद्ध सो पुण धम्मग्गि छेउत्ति ॥

जीवाइभानराओ वपादपमाहगो इह ताणे ।

एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुसइ ॥

[ हरिभद्र—पचनस्तुक चतुर्थद्वार ] ,, ३४२ ।

नोट—न अन्तरणाके अतिरिक्त मात्पेण स्याद्वादमचरीम हरिभद्रको 'यायप्रव'पट्टि, हेमचन्द्रकी 'णमीमांसा, दक्षुर्विका स्याद्वादरत्नाकर, रत्नप्रभाचावकी स्याद्वादरत्नावतारिसा आदि ग्रन्थके वाक्यान्त दत्त उपयोग किया है । मन्थिरेणने इन वाक्योंका अन्तरण रूपमें उक्त न नहीं कि । ।

## स्याद्वादमजरीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार ( २ )

१ जैन—

भद्रबाहु—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेयला माने जाते हैं। भद्रबाहु महावीरके निर्माणके १७० वर्ष बाद मोक्ष गये थे। भद्रबाहुने आचाराग, मूर्च्छताग, सूर्यप्रज्ञप्ति, उत्तराययन, आनन्द्यक, दशमेकालिक, दशाश्रुतस्कर, कल्पसूत्र, व्यवहार और ऋषिभाषित सूत्रोंके ऊपर निर्युक्तियोंकी रचना की है। णिगम्बर परम्परामें दो भद्रबाहु माने जाते हैं। भद्रबाहु मार्य चन्द्रगुप्तके समकालीन थे। इनका समय ईसाके पूर्व चौथी शताब्दि माना जाता है।

आचाराग—सत्र सूत्रोंमें प्राचीन है। समय आदिके लिये देखो पाठे।

रानाग—यह द्वादशागका तीसरा सूत्र है।

उत्तराययन—उत्तराययन चार मूल सूत्रोंमें प्रथम सूत्र है। इसमें छत्तीस आययन हैं। इन आययनोंमें केशी-भातमका समाद, रात्राप्रताका नेमिनाम्को उपदेश करना, कपिलका जैन मुनिका शिष्यत्व, कमसे जाति मानना आदि विषय महत्वपूर्ण हैं।

आनन्द्यक—यह मूल सूत्रोंमें दूसरा सूत्र है। इसमें गृहस्थोंके सामायिक, मन्त्र, चन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सग आर प्रयाग्यान इन छह आनन्द्यकोंका उल्लेख पाया जाता है। आनन्द्यक सूत्र बहुत प्राचीन माना जाता है।

निशाधचूर्णि—यह अनेक चूर्णियों ( प्राकृत टाका ) के रचयिता निनामगणि महत्कारकी वृत्ति है। निनामगणिका समय ई स ६७६ के लगभग माना जाता है।

उमास्वाति—उमास्वाति ही उमास्वातिके नामसे कहे जाते हैं। इन्होंने तत्त्वज्ञान त्रिगममत्र और उसके ऊपर भाष्य लिखा है। उमास्वाति प्रणमरति, श्रान्तप्रज्ञप्ति आदि प्रयोगोंके भी कर्ता कहे जाते हैं। उमास्वातिको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पूज्य दृष्टिमें देवत हैं। णिगम्बर इन्हें उमास्वामिके नामसे कहते हैं, आर बुन्दुबुन्द आचार्यके शिष्य अत्रय वंशज मानते हैं। दिगम्बरोंके अनुसार तत्त्वार्थभाष्य उमास्वामिका रचना हुआ नहीं माना जाता। तत्त्वार्थत्रिगममत्रोंमें णिगम्बर आर श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पाठभद्र पाया जाता है। इन सूत्रोंके ऊपर णिगम्बर आचार्य पूज्यपा, अरुलक, निधान आदिने तथा श्वेताम्बर आचार्य सिद्धमेनगणि, हरिभद्र, यशोभिजय आदिने टाकायें लिखी हैं। उमास्वातिका समय ईसवी सन्का प्रथम शताब्दि माना जाता है।

सिद्धमेन दिगम्बर—ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान तार्किक आर प्रतिभागाग निधान माने जाते हैं। सिद्धमेनने प्राकृत भाषामें समतितक आर संस्कृतमें न्यायान्तर आर द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाआका रचना की है। समतितकपर अभयदेवने, आर न्यायान्तरपर सिद्धमेन

टीका लिखी है। मिद्धमेन अपने समयके महान स्वतंत्र विचारक माने जाते थे। इन्होंने श्वेताम्बर आगमकी नयनाद और उपयोगवादकी मूल मान्यता-जाका विरोध करके अपने स्वतंत्र मतका स्थापन किया है। सिद्धसेनने भेद, तथा याय, वैशेषिक, बौद्ध और सायय दर्शनोपर द्वात्रिंशत्कार्त्तिकी रचना की है। प सुम्बलालजी सिद्धसेनका समय ईसवी सन्वी चौथी शताब्दि मानते हैं।

समतभद्र—समतभद्रका नाम दिग्म्बर सम्प्रदायमें प्रकृत महत्त्वका है। सिद्धमेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आर समतभद्र दिग्म्बर सम्प्रदायमें आतिरुतिकार गिने जाते हैं। समतभद्रने स्तनकरण्टश्रान्तकाचार, आमर्षामामा, बृहत्स्ययभूस्तोत्र आदि प्रथाकी रचना की है। सिद्धसेन और समतभद्रकी वृत्तियोंमें कई श्लोक समान रूपमें पाये जाते हैं। प्राय सिद्धसेन आर समतभद्र दोनों समकालीन माने जाते हैं। प्रो के वी पाठकके अनुसार समतभद्र ईसाकी आठवीं शताब्दिक पूर्वार्धमें, तथा प जुगलकिशोरजीके मतमें समतभद्र सिद्धसेनके पूर्वर्ती है, और व ईसाकी तीसरी शताब्दिमें हुए है।

जिनभद्रगणि—जिनभद्रगणि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भाष्यकार आर क्षमाश्रमणके नामसे प्रसिद्ध है। ये जन आगमोंके आचार्य महान सैद्धांतिक विद्वान गिने जाते थे। जिनभद्रगणिने विशेषानुस्ययभाष्य, विशेषणती, जीतरूप आदि प्रणोंकी रचना की है। इनका समय ईसवी सन्वी पाचवीं शताब्दि माना जाता है।

गधहस्ति सिद्धसेनगणि—पहले सिद्धसेन दिग्म्बरको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार मानकर सिद्धसेन दिग्म्बरको ही गधहस्ति कहा जाता था। परन्तु अब यह प्राय निश्चित हो गया है, कि गधहस्ति तत्त्वार्थभाष्यके ऊपर बृहद्बृत्ति रचनेवाले भाष्यामिके शिष्य सिद्धसेन गणिका ही विशेषण है। यह तत्त्वार्थभाष्यकी वृत्ति भाष्यमहोदधिके नाममें भी प्रसिद्ध है। सिद्धमेनगणि जैन सिद्धांतशास्त्रके महान विद्वान थे। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थभाष्यपर वृत्ति लिखते समय उमास्वातिके आगम विरुद्ध मतयोंपर टीका करते हुए उमास्वातिका सूत्रानभिज्ञ, प्रसक्त आदि शब्दोंसे उल्लेख करते हैं। इनका समय विक्रमकी सालनी और नौवीं शताब्दिक बीचमें माना जाता है।

हरिभद्रसुरि—श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान प्रतिष्ठित उदार विद्वान गिने जाते हैं। इन्होंने पद्ददर्शनममुच्चय, अनेकानुनयपताका, शास्त्रयातासमुच्चय, रामसप्रहणी, पचनस्तुक, अष्टक आदि अनेक प्रथाकी रचना की है। हरिभद्र बुद्ध, कपिल, पतञ्जलि और व्यास आदि वैदिक विद्वानां प्रति भगवान्, सर्वज्ञानिभिपन्नर, महामुनि आर महर्षि आदि महत्त्वमूचक शब्दासे समान प्रदर्शित करते हैं। हरिभद्र नामके अनेक जैन विद्वान हो गये हैं। प्रस्तुत याकिनीग्रन्थ हरिभद्रका समय इमाकी नौवीं शताब्दि माना जाता है।

विद्यानन्द—उनको विद्यानन्दि अथवा पात्रकेसरि भी कहा जाता है। विद्यानन्द अपने समयके महान तार्किक दिगम्बर विद्वान् थे। इन्होंने तत्त्वार्थसंग्रहकार्तिक, अष्टमहस्ती, आत्मपरीक्षा, पत्रपराक्षा आदि प्रसङ्गी रचना की है। विद्यानन्दने मामामकोके द्वारा नन्ददर्शनपर किये जानेवाले आक्षेपोंका बहुत निद्वत्तासे उत्तर दिया है।

न्यायाकुमुदचन्द्रोदय—इस ग्रन्थके कर्ता दिगम्बर विद्वान् प्रभाचन्द्र आचार्य हैं। इस ग्रन्थका माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाकी ओरसे प्रकाशित करानेकी आयाचना हा रही है। प्रभाचन्द्रने माणिस्यनन्दिक परीक्षामुखसत्रोंके ऊपर प्रमेयकमन्मातण्ड आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। प्रभाचन्द्रका समय ई स १० वीं शताब्दि माना जाता है।

पचलिंगीकार—त्रिनेश्वरसूरिने पचलिंगी ग्रन्थकी रचना की है। इनका समय विक्रम संवत् १२०४ माना जाता है।

त्रादिदेव—त्रादिदेवसूरि त्रिदशक्तिमें अद्वितीय माने जाते हैं। इन्होंने कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर विद्वानसे शास्त्रार्थ किया था। त्रादिदेवने प्रमाणनयतत्त्वाञ्जकार और उसकी टीका स्याद्वादरत्नाकर आदि प्रसङ्गी रचना की है। त्रादिदेवका समय ईसवी सन्की १२ वीं सदी माना जाता है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्राचार्य १३ वीं सदीके एक महान प्रतिभाशाली ज्ञेताम्बर आचार्य हो गये हैं। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, उद्, योग आदि विभिन्न विषयोंपर अनेक शास्त्रोंकी रचना की है। इन ग्रन्थोंमें योगशास्त्र, हेमचन्द्रानुशासन, हेमन्याकरण, अनेकार्थसंग्रह, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थ मुख्य हैं।

द्रव्यालकार—रामचन्द्र और गुणचन्द्रने श्वेपञ्चकृति संहित द्रव्यालकारकी रचना की है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्राचार्यने शिष्य थे।

समयमाग १—

## ० बौद्ध—

दिङ्नाग—दिङ्नाग विद्वान्नादके प्रतिपादक महान तार्किक बौद्ध विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्यायपर अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। दिङ्नागका समय ईसवी सन्की पाचवीं शताब्दि बताया जाता है।

न्यायत्रिदु—इसके कर्ता धर्मकीर्ति आचार्य हैं। इनका समय इसवी सन् ६३५ माना जाता है।

यायत्रिदुटीका—धर्मोत्तरने न्यायत्रिदुके ऊपर टीका लिखी है। इनका समय ईसवी सन् ८४७ माना जाता है।

भ—भको कुमारिलभ भी कहा जाता है । कुमारिलने शबरभाष्यने उपर टीका लिखी है । यह टीका शंकेरुनार्तिक, तत्रार्तिक और तुप्तीका इन तीन भागोंमें विभक्त है । कुमारिलका समय ८ वीं शताब्दिका पूर्वभाग माना जाता है ।

मृगद्व—

वेद—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद इन चारों वेदोंमें ऋग्वेद समारके उपलभ्य साहित्यमें प्राचीनतम माना जाता है । ऋग्वेदके समयके विषयमें बहुत मतभेद है । ऋग्वेदका समय र्वसगी सन्के पूर्व ४५०० वर्ष माना जाता है । यजुर्वेदकी शुरुत यजुर्वेदमहिता और वृष्ण यजुर्वेदसहिता नामकी दो साहिता हैं ।

ब्राह्मण—चारों वेदोंके ब्राह्मण अथग अथग माने जाते हैं । पतरय ब्राह्मण ऋग्वेदका, और तैत्तिरीय ब्राह्मण वृष्ण यजुर्वेदका ब्राह्मण माना जाता है । ब्राह्मण साहित्यका समय बुद्धके पूर माना जाता है ।

मूत्र—मूत्र साहित्य वेदका अग माना जाता है आध्यायन ऋषिने आध्यायनगृह्यसूत्र और षष्ठि ऋषिने षष्ठिप्रममूत्रकी रचना की है ।

८ वेदान्त—

उपनिषद्—ऋग्वेद, अथर्ववेद, मुण्डक, ईशावास्य उपनिषदें प्राचीन ग्यारह उपनिषदोंमेंसे मानी जाती हैं । इनपर शंकराचार्यने टीका लिखी है । प्राचीन उपनिषदोंका समय गौतम बुद्धके कुछ शताब्दियों पूर्व माना जाता है ।

शंकर—ब्रह्मसूत्रपर टीकायें लिखी हैं । शंकरका समय ८ वीं शताब्दि माना जाता है ।

नोट—इसके अतिरिक्त माण्डूकेयने स्याद्वादमजरीमें महाभारतकार व्यास, मनुस्मृति, मर्तृहरिकी नाक्यपतीय, कालिदासका कुमारसम्भ, मायका शिशुपालाथ, वाणकी कादम्बरी, नार्तिककार, अमर, त्रिपुरारण्यके उद्धरण दिये हैं, अथवा इनका साक्षात् उल्लेख किया है ।

## अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूचि (३)

	श्लोक	पृ		श्लोक	पृ
अ			न धमहेतुर्विशितापि हिंसा	११	१५१
अनन्तधर्मा मकमेव तत्र	२०	२६७	नेकान्तवाद सुखट स्वभांगौ	२७	३०१
अनन्तविशानमनीनदोर	१	३	प		
अनकमेना मकमेव वाच्य	१४	१६८	प्रतिषण्णात्पादविनाशयोगि	२१	२६२
अन्यान्यपत्रप्रतिपक्षभावाद्	३०	३३८	म		
अपयय वस्तु समस्यमान	२३	४७१	माया सती चेद् द्वयनत्रनिदि	१३	१५५
अय ननो नाथ तत्र स्तनाय	२	१२	मुक्तापि वाभ्येतु भयम् भना वा	२९	३२७
आ			य		
आदीपमाम्योग समस्वभाव	७	२०	य एव दोषा क्लि नियवादे	२६	५९७
इ			यथैव यो दृष्टगुण स तत्र	९	९२
इद तत्त्वातत्त्व	३२	३४१	व		
उ			वाग्यैभ्य ते निष्किल विरजु	३१	३५८
उपाधिभेदापहित विरुद्ध	२४	२८०	त्रिानुमानेन पराभिगन्धिम्	२०	५५६
क			त्रिना प्रमाण परवत्त गून्य	१७	२२६
कतामि वरिचब्रगत स वैक	६	३८	स		
कृतप्रणाशादृत्तकमभाग	१८	२४०	सनामपि स्यात् छचिदत्र सत्ता	८	६७
ग			सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिपार्थो	२८	३०७
गुणव्ययुया दधत परेऽमी	३	१४	सा वागना सा क्षणसन्ततिश्च	१९	२४९
च			स्वतोऽनुवृत्ति यतिवृत्तिमानो	४	१६
चिदयद्यन्या च जग च मुदि	१	१८२	स्वय विवादग्रहिले रितण्डा	१०	१०६
न			स्याद् नाशि नित्य सदृश विरूप	२५	२९५
न तुल्यकाल षट्पदुभागे	१६	१०६	दनायावबोधधम एव हेतु	१२	१४३
न धमधर्मिन्यमर्गाऽमदे	७	७८			

## अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोकी सूची ( ४ )

शब्द	श्लोक	शब्द	श्लोक	शब्द	श्लोक	शब्द	श्लोक
अ		ओ		नित्य	२	वाचक	१४
अकृतकमभाग	१८	औसाधिक	०	नित्यनाद	२६	वाच्य	१४
अतीतदाप	१	क		प		वाचना	१९
अद्वैत	१६	कना	६	पपपाती	३०	नितण्डा	१०
अनन्ताधम	१२	कृतप्रगाथा	१८	पुरष	१६	विनाशनाद	२६
अनन्ताविष्णो	१	कृतान्त	१७	प्रपच	१३	विरूप	२७
अनुमान	२०	क्षणसन्तति	१९	प्रमाण	१८	विनाद	१०
अनुवृत्ति	४	क्षणभग	१८	प्रमाथ	१८	वृत्ति	७
अनुगामक	६	च		बध	१६	व्यावृत्ति	४
अनक	१४	वित्	१	बुद्धि	१०	श	१७
अननगम्य	१९	चैतन्य	८	रोध	१२	प	
अत्रा यसिद्धान्त	१	ज		ब्रह्मचारी	११	पहूनीवकाय	२९
अमत्यपूज्य	१	जड	१५	भ		स	
अम्बर	१७	जिन	१	भय	१८, २०	सन्	२५, २८
अमन्	२५	ज्ञान	१२	म		सत्ता	८
भा		त		माया	१०, १३	सदग	२७
आमान्त्र	९	तमाथा	१५	मितामवाद	२९	सतभग	२३
आदपभेद	२५	द		मुक्त	१९	मुगत	१६
आप्तमुग्य	१	दुर्नीति	१७, २८	मुक्ति	९	सवित्	०, १६
उ		ध		मुनि	१०	सपिदद्वैत ( निशाना द्वैत)	१६
उत्सादविनाश	२१	धमधर्मि	७	भाध	१५	स्मृतिभग	१८
उपाधि	२४	न		य		स्याद्वाद	५
ए		नय	२८	यथाथनाद	२	स्वयभू	१
एक	१४	नागि	१५	व		द्वै	
एकान्तवाद	२७	नास्तिक	१०	वधमान	१	हिमा	११

## स्याद्वादमजरीके न्याय ( ५ )

चाय	श्लोक	५
१ अशिमोर्गणित प्रतिदिन पत्रगणित रमन्तदिनमणन चाय ।	१६	२०२
२ अरगनचाय ।	१४, १९	१७०, २५४
३ अर्धनस्तीयाचाय ।	८	७४
४ टनो व्यात्र इतस्तटी ।	१७	२३९
५ इत्यादि ऋद्वरचनाता • गणस्य समूचका भवन्ति ।	२२	२७१
६ उत्तमगाँववादयोरपवादो त्रिभिन्नलामार् ।	११	१३७
७ उपचास्तत्त्रचित्तायामनुपयोगी ।	१५	१८८
८ गजनिर्माटिकाचाय ।	१८, २८	२४१, ३०८
९ घटकुर्त्या प्रभातम् ।	६	५३
१० घण्टात्रय्याय ।	६	५६
११ ढमस्कमणिन्याय ।	११	१३८
१२ तटादर्शिशुन्तपोतन्याय ।	१०	२५३
१३ तुन्यवर्णार्थारोप ।	११	१३९
१४ न हि दृष्टानुपपन्न नाम ।	९	६३
१५ म्येनर्भातम्य म्नात्तरशरणम्योररणम ।	१८	२४७
१६ मत्र हि चास्य मानधारण ।	४	१६
१७ सर्वे तन्वया ज्ञानार्था ।	६	४१
१८ मानन हि सर्वत्र व्याप्ती प्रमाणत मिच्छातां साध्य गमयेत् ।	६	४४
१९ मानभममाधम ।	५	३०
२० सुन्पोपमुन्दन्याय ।	२६	३००



## स्याद्वादमजरीके विघोष शब्दोंकी सूची ( ६ )

अ	प्र	पृ
अकृतकममाम	१८१	—नित्यरात्म्यहन २९१
अत्रियागादिन्	२७६	अनित्यैः फलवाद ३३-३५, ३०२
अथवाद १०६, १०८, ११३, ११८, १६५		—अनित्यवाद सुगन्दु लपुण्यवान्श्व
अर्चिमाग	१२१	मागयारतुपगति १०३-३०५
अज	७७६	अनित्यशब्दवादिन १७४
अनिधि	१२२, १३१	अनुभवग १००
अनिशय	/	अनुभूति १६६
—चन्द्रा मूलातिशय	४	अनुमान १९६, २५६
—चतुर्विंशद् अनिशय	८	अनुयाग ३०९
अधकियाकारित्व	१०, १६१	—उपक्रमनि रानुगम तयङ्गाराणि १०९
—एकान्तनित्यानित्यपञ्चयोर्नि घटते	३०	अनुवृत्ति १७, ७०, ७४
अथाकारता ( अधकारूप्यम् )	१९०	अनृतभाषण ६०
—निश्चयरूप अनिश्चयरूप वा न घटने	१००	आकान्तवाद २६०-६, २७१-३०६
अथप्राकट्य	१४६	अनपगीय १३८
अदत्तादान	७२	अन्त-यापि २१७, २६७
अण्ड ( जाल्मनो विशेषगुण )	०७	अन्त्यगयाग ९७
अद्वैत	१७३	अन्ययाग-व्यञ्छद् २, ५७
—द्र-यास्तिकनयानुपातिन अद्वैतगादिन	१६७	अन्यान्याश्रय २२०
—सप्रहाभिप्रायप्रवृत्त अद्वैतवाद	३१६	अपन्नग १८३, २७७
—ब्रह्माद्वैत	१५२	अपस्मार १०७, १६३
—पुरुराद्वैत	१६१	अपुनव-ध ४२
—शानाद्वैत	१०५, २११	अपाह १८०
—सनिद्वैत	१२१-२	अपौरुष्य ६, १३६
अधिदानुदरता	९३	अभावनप्रमाण १५८
अधिष्ठाना आत्मा	२३४	अभिलाष्यानभिलाष्यवाद २९७, ३०५
अप्ययन	२७१	अम्बर १८२
अनन्तचतुष्प	९	अयोग-यञ्छेद् २
अनन्तदशन ( कवलदशन )	१०	अलङ्कारमार २१४
अनन्तधमात्मकत्व	१६७, २६८	अलि १७९
—आत्माधर्मास्तिकायघटादिपदाधैपु		अवयवारयपि २११-१२२
अनन्तधमात्मकत्व	२६८, २६९	अवयव ०८
अनरथा ७०, ७७, ७८, १४, १४८, २३०, २०२		—अवयवप्रदशयोर्भेद ९८
अनादिनिगाद	३३१	अविद्या ( माया ) १५२
अनित्यवादी	२९८	अरिस्ति १९१
		अयत्न ( प्रधान ) १८४
		अ-यारहारिक ३३१
		अशक्ति १०५

	पृ		पृ
अरुणमेघ	५१, १२२	इन्द्रभूति (गणधर)	२७४
अष्टमस्य ( कर्त्तिसमुद्धान )	१०३	इन्द्रिय (एकादश)	१८५
अप्रदया ( दाप )	४	इन्द्र	१८-६६, ९४-९६
अमत्यामृता ( भाषा )	१२९	—कता	३८-४०, ४२-४५
अङ्कार	१८४	—एक	४०, ४६
अहम्	३३९	—सव्यापक	४१, ४७-६९
आ		—सवश	४१, ५०-५२
आकषण	९३	—स्ववश	४१, ५५
आगम ३९, ५१, ८५, १२३, १२६, १२८, २३६, २७६, ३२५, ३३५		—नित्य	४१, ५६-५६
आचारण	२३४	इन्द्रकृष्ण	१८४
आजीविक	४	उ	
आमब्रह्म	१५४	उच्चाटन	९०
आत्मा ( चेतन-शुद्ध-जीव-पुद्गल )	२३५	उत्पादययप्रौथ २०, ४४, २५, २८, २६४-२६६	
—आमज्ञानसवध	७१, ७२, ७७-८३	उत्पत्ति (ज्ञानस्य)	१४४
—आत्मनिभुत्व	९२-१०३	उदयन (प्रामाणिकप्रकाण्ड)	७०, २२८
—आत्मगुह्यत्व	९५	उदयप्रभसुरि	१, ३४४
—आत्मसिद्धि	२३२-२३६	उपयाम	८१, १४७, २५२
—आत्मन कथयितृ पौद्गलिकत्व	१७४	—उपयामश्चण आत्मा	८१, २३२
—बौद्धमते आत्मा	२४१	—लघुपयोगश्चण भारेन्द्रिय	१४७
—चार्वाकमते आत्मनिषध	२६१	उपवाम	१७०
आयकम	९७	उपशान्तामाहृगुणस्थान	८
आघातम	१३७	उपादानापादेयभान	२०६
आत ( सवश )	८, ११, २३६	उपाधि	२०१
—सर्गसिद्धि	२५७	—औपाधिक	७१
आन्तस्त्वन	३२०	ऊ	
आयुर्वेद	१३९	ऊर्मिपत्रक	७५
आर	२	ए	
आतस्थान	१२३	एकादशी	१७९
आर्हतीकृत	२	एकान्तवाद	३०-३२, ३०१-३०६
आस्थानिज्ञान ( वामना )	२५२	—नित्यैकान्तपत्र दूषणम् ३०-३२, ३०१-३०३	
आयस्यकभाष्य	५००	—अनित्यैकान्तपत्रे दूषणम् ३३ ३५, ५०३ ५०६	
आस्त्रिमाम	१७८	एकन्द्रिय	२३४
आसुरि	१८६	औ	
इ		औन्मर्गमाग (सामान्यनिधि)	१३७
इ-याप्यनदानादि	२७५	औदारिकशरीर	१३१
इन्द्रतराश्रय	४६, ५६	औदृक्यमत	१६, १०६
इतिहास	१२५		

क	पृ	ख	पृ
वशादमत	७४	स्वणितानयन	१०२, १०३
—मैगमनयानुसंधिन काणादा	१६५	ख्याति	१५४
वक्रटा	१७८	—अस ख्यातिभिर्परीतख्यातिमन्तयातय	१५४
वम (पञ्च)	६६	ग	
वमयानि (पत्र)	१०३	गणधर	२७४, ३३७
वदच्छ्रुताप—उपाधियत्र	२३६	गभजयचेन्द्रिय	२७६
—व्यातीना लक्ष्य	१८२	गभाधान	१२८
वपाय	१०१	गयाश्राद्ध	१३४
वादग्रही	४२	गुण (चतुर्विधसि)	६७
वापिउ	११३	गुणस्थान	८
वाप (गरीर—तनु) परिमाण आमा	०७	गामध	१२२
वापिरा नज	१२२, १३३	गाविन्द्र	३४८
वारण्य	५६	गौडपादभाष्य	१०१
वागदि (आ)	२८८—	गौतम	८६
विरणाना गुणरम्	४८	गधहस्ति	९८, ३२०
कुमार	१७८	ग्रह	१८३
कुमारपात्र	२	श्लानाप्रसस्तर	१२७
कुमारसभ	१३६	च	
कुक्कुटमथ	२, ०	चतु भणिक वस्तु (वैभाषिकभते)	२४७
कृतप्रणाम	२४१	चातुर्विध	२
कत्ररुहान (भाषिक)	३, ४, १३७	चात्राक (लौकायतिक—अभिवावादी-नास्तिक)	२५६, २५८
कयान्	६, ८, १०	—च्यनहारनयानुपातिचात्राकदणनम्	३१६
—मूला तद्वृत्तुण्डकेभिन	६	चिन् (चैतन्यसि—पुरुष)	१८४, १८५, १८६—१८९
—नामायकेवलिन	८	चित्त	२६२
—धुनकवलिन	१, ३९	चौर	६७८
कमभावा	२६७	छ	
क्रियावादित्	७६	छउ	१०७
क्षणमयाद (क्षणिकवाद) ११ ३७, ७०१ ७०६,	१४० १४७	—छल्लक्षण	१११
—अणिकवाद अथक्रियाया अभाव	१३— ७	—चारुगामा यापचारउल्ल	१११
—अणिकवाद कृतप्रणामाकृतकमभोगमव		ज	
प्रमासस्मृतिभगदावा	२४० १४७	जन्यजनकभाव	२१०
क्षयारश्म	७००, ७०२, ३२१	जयन्त	११०
क्षीणमयाव (सदृश—आम)	२३६	जानरम	१२८
क्षीणमे द्व (अप्रतिपानिगुणस्थान)	८	जाति (दुष्कामाभान)	१११
क्षुद्रदवता	११३	—चतुर्विधाभिभा	११२ १
		जिन (रागादिजेता)	२, १, ७६३

	पृ		पृ
जिनाप्रमस्मृति	३४४	दस्ता	१२२
जिनायाननिघान	१२५	—त्रयस्त्रिंशत्काटि	१३२
जीतकल्प	१७०	दक्षसूति	३१६
जीवानन्त्यवाद	३२७	दवाधिदेव	७
—पीरमिगात्मवाद दूपणम्	३२८	दैवसम (अष्टविध)	१९३
जैन	१३८, १७८	द्रव्यगुणकमसामा यविनाप्रममनायाख्यपदूपदाया	६०
जैमिनीय	१२१, १३१	—द्रव्यादीना लक्षण	६७-६०
शक्ति ( ज्ञानस्य )	१४४	द्रव्यश्रेणकाल्भाय	१३८
ज्ञान ( चैतन्य )	६७, ७१, ७२, ७७-८३	—स्वरूपण मन्त्र पररूपण असत्त्व	१७७, २७८
—ज्ञानामनो व्यतिरिक्तत्वसमयनम्	७१, ७२	द्रव्यपदक ( जैनाना मत)	१६१, २७७
—तन्त्रडनम्	७७-८३	द्रव्याकारकायौ	११, २१९
ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशकत्व	१४३-१५०	द्रव्यास्तिकनय ( द्रव्यार्थिकनय)	१६५, ३१७
ज्ञानस्य	१९६	द्वादशांग	२७४, ३००
ज्ञानाद्वैत ( मन्दिदैवत )	१९०, २११-२२	द्वादशी	१७०
त		द्वाविंशद्द्वारिंशिका	२
तल्प ( पर्वणिगति )	१८४	द्वौन्द्रिय	२७६
तत्त्वापप्रवर्तिह	२३१	द्वीप	१४
तदुत्पत्तिनदाकारता	२०९	—सप्तद्वीपसमुद्रमात्रा लक	३२७
तथागत	-१६	द्वैतिति	१७७, १६१
—शत्रुशत्रुभूतप्रवृत्तुद्वय तायागता	३१६	घ	
तमात्रा ( पञ्च )	१८३, १८०	धमधर्मिमवध	५८-६४
तमम्	२१-२३	धममग्रहणी	४८
—तमस पौद्गलिकत्वम्	२१-२२	धमालिकायादियु अनन्तधमामकत्व	२६९
तामस	१८४	धर्मोत्तर	११८
तीर्थिक	४, ३४१	धागरादिमान	१५०
तुम्ब	१३२	धूममाग	१०१
द्विष्टि ( नवधा )	१९३	दृति	१७९, १९३
त्रिपुरीप्रथम ( भट्टाना कल्पना )	१६८	द्वरि	१७७, १८०
त्रिपुरागम	१७९	न	
त्रिपुरा	१३०	नय	२०५, २०७-२०
व्रताभि	१०७	—अनन्ता नया	३१०
द		—अथनया गमनया	३१०
दण्ड	१०	—नैगममग्रहादिसमनया	३१०, ३२०
दान	२७-	—नयामग ( दुनया )	१६७, ३१६-३१०
दीर्घरम्	३६८	—द्रव्यार्थिकनया पदापार्थिकनया	३१७
दुःख (पथ)	१८३	नपनाय ( विकल्पाय )	२८५
दुनेय	३०७, ३१६-१८	नरक	१०७
दुःखमा ( परमकाय)	२		

	₹		₹
नरमेघ	१२२	—वैशारिफमने पदपदाथा	६५-७१
नरमि	२५०	—अक्षपादमने पोशपदाथा	१०८-११८
नवकोटि	१३८	परब्रह्म	१७७
नागद्रगच्छ	३६६	परमपुरुष	१७९
नास्ति	२७६	परमाणु	२३, ९७-८, २१२-७
निकाचितक्रम	४२	परमाणुसकजक्रम	८४
निग्रहस्थान	१०६ १०७	परमशी ( पच )	२२
—निर्विशिविधम्	११८	परशक	२४२
नित्यानित्यपत्रया दूषणानि	२० २७, २९७-३००	—परशकनिदेश	२५८
—प्रदापादौ नित्यानित्यमिदि	२१ २४	परशकिन्	२४२
—आशान्तादौ नित्यानित्यमिदि	२६ २७	पयाय	२७२
—नित्यमगम्	२०	पयायात्मिकनय ( पयायार्थिकनय )	१६५, २७२
—पातजत्रयागमग्लकारमतानुसा-		पशुयव	१२७
रेण नित्यानित्यस्तुक्त्यना	२८ २०	पानजलदीमाकार	३००
—एकान्तनित्यानित्यपत्रयो अथक्रियाकारित्वाभाज		पारमार ( साध्य )	१२७
—नित्यानित्यवादिना पुरपत्रां	३० ३१	पितृ	१२२, १३१, १३४
नित्यशब्दादिन्	१७४	पिण्ड	१३४
नित्यपगभ्रशानादिन् ( मीमांसकभट्ट )	१४३	पिशाच	२६३, २७७
नियोग	१८०	पिशाचकी	२६३
निरत्वयनिनाग	२०२	पुराण	१२५, १७०
निर्विकल्प ( प्रत्यय )	१७७	पुरोनाश ( विप्रम्य )	१२६
नित्यन	३११	पुर्य	१८६-१८८
निगीधचूणि	८	पुरुपादित	१६१
नित्ययम	१०९	पौण्य	६, १२७, १३६
निम्बभाज ( अनिवाच्यत्व )	१७४	—वदत्यागोषयन्वयण्डनम्	१३६
नैगममग्रह यवहारकजुपुत्रशन्दसमभिरुत्		पचिगीमर	१२६
वभूता नया	२१०-३२०	प्रकरणमम	३०
नैयायिक	१०६, ३१६	प्रकृति	१८२-१९२
न्यायमुद्रक द्रादय	१८०	प्रज्ञापना	३०९
न्यायनालकपरिशुद्धि	२२८	प्रतिमक्रम	१८८
न्यायनिद्रुदय	१८	प्रतिमजर	१९३
न्यायविट्टीका	१०८	प्रतिमधयप्रतिमधायकभाव	२४८
न्यायभूषणपुस्तकार	११०	प्रथमद्वारिशिका ( अयोगयन्त्रच्छदाभिधान )	११
न्यायसार्थिक	१०७	प्रदीपकलिका	२४०
न्यायावतार	३२०	प्रदेश	९८, २६८
प		—प्रदरायकनिश्चलना	२६८
पतञ्जलि	१८६, १८८, ३२९	प्रमाण	१०८-९, २२९, २३८-०, ३०७, ३२१
पत्नय	६५-७१, ७४-७७, १०८-११८	—नैयायिकमने प्रमाणलक्षणम्	१०९
		—जैनमत प्रमाणम्	३२१-२

	पृ		पृ
—दृश्यवादिमते प्रमयाभावं प्रमाणस्या		ब्राह्मण	५२, १११
व्यभाव	२००-१०	म	
प्रमाणक	१९७-२०१	मद्राहुस्वामिन्	१७५
—बौद्धमत प्रमाणकत्वात्कियम्	२००	मष्ट ( कुमारि )	१४३-४
—नैयायिकमते प्रमाणात् प्रमाणकत्वात् भिन्न	२०१	भरपररा	२४२
प्रमाणकत्व ( सकलादस )	२८०	भरभगदाव	१४१-२
प्रमेय	११०, २२९, २-८	भवाभिन्नन्दिन्	१०८
—नैयायिकमते द्वादशविध	११०	भय	१२६
—दृश्यवादिमते प्रमेयस्याभाव	२२०	भाली ( माता )	१
प्रमाता	२२९, २२२-२३७	भाननाप्रचय ( माण्डकारणम् )	२४४
—दृश्यवादिना मते प्रमातु (आत्मन) निषेध	२२९	मात्रप्राण	३०६
—प्रमातु सिद्धि	२३२ २३५	भावामिहात्र	१४०
प्रमाद	१९१	भावाभावात्मक ( सवभावाना )	१७५
प्रमिति	२२९, २३०, २२८	भावाराग्य	१२९
प्रमाणभगदोष	२४१, २४३	भावन्द्रिय ( लक्ष्यपयाराग्य )	१४७
प्रयोगविस्तार	२६, ९५	भाषा ( असत्त्वात्म्या )	१२०
प्रसाद	३५४	भाषासंगता ( शब्दपयायस्याभय )	१७५
प्रवृत्तिविज्ञान ( पद्विध )	२१०	भाष्यमहादधि-गच्छस्तिटीका	३२०
प्रवस्तकार	२९, ६८	भाववज ( न्यायभूरणवृत्तकार )	१०९
प्रत्य	२११	भूचिन्नाद	२५९
प्राण	२०६	भूतसग ( चतुदशधा )	१०७
—सम्बन्धानादयो भावप्राणा	२०६	भागायतन	९६
—दशविधद्रव्यप्राणा	२०६	म	
प्रायश्चित्त	१७८	मन्त्र	२७७-७
प्रेत्य	१२७	मधु	१७९
प्रेय ( प्ररणा )	१८०	मधुपर्क	१२०
व		मध्यम्य	३३६-७
वध	१८३	मन्त्र	९३, १२४, १२८
—त्रिविधवध	१९१	मन्त्रमयदह	१३१
वधमोक्ष ( एकान्तानित्यानित्येऽसभव )	२०२, ३०७	मन्त्रिण्य	३४४
चाण	४२	महत् ( बुद्धि )	१८२-८
चाण्डाल्य	२११-२२	महान	१२०, १३३
बुद्धिमन्त्रुत्वादिप्राण	७२	महाप्रातिहाय	४
—बुद्धि शानम्	८८	महाभाष्यकार	२१८
—साख्यमते बुद्धि	१८२, १८५	मदभूत	१८८
बाधिलम्	१२६	महात्	१२८, १३३
बौद्ध	१९६, २११, २४४	मातृकापद	३३५
ब्रह्मज्ञान	१५२ १७९	मातुप ( एकविध )	१९३

	पृ	व	पृ
मायापुन-मायातनय ( उद )	२२२		
मान	१७, २७७-७	वधमान	२, १, ११, २७४
मानदान	११७	वण ( वगात्मन् गान्त्र )	५१
मानभक्षण	२७७-७	वाक्याथ ( निधि )	१८०
मिथ्यादान	१९१, ५७३	वाचस्मुरय	१५, २०, २७३, ५८०, ३१२
मिथ्यात्वमाहनीय	१४१	वाचस्वति	१८६
मिथ्याश्रुत	२७४	वाच्यवाचकयो एकनिस्त्व	१६४, १७२
भीमात्मक	१४३, १६५, ३३५	वाल ( रामविद्याप )	२६३
मुक्त ( मुक्त्य पुनभवे आगमन )	३२७-८	वाद ( निराद )	१०७
मुक्तामणि	३३६	वादमहाणव	१८६
मुक्तामणि	२०४, १४०	वार्तिस्त्रार	३३२
मुक्ति	७५, ८४-८	वायना ( सतान-क्षणसनति )	२५०, २४९-२४
—मात्र	१८३, २४४, ५०२	—भद्रामेदानुभयपक्षेपु दाया	२७०
मृगद्र	१३१	त्रिकलादग ( नयराक्ष्य )	२७३, २८३
मोक्षाकरणुत	१०	त्रिस्त्वविज्ञान	५२
मैथुन	१७, २७-६	त्रिज्ञानानार	२१८
य		त्रितण्डा	१०७
यज्ञ	१८३, १९३	त्रिधि	१८०
यथापवाद	१३, ३३८	त्रिभिनिपथ	२७८
यागिक	१०४, १३१	त्रिध्यसामिन्	१८६
युधिदिर	२७७	त्रिपयव ( पवधा )	१०३
याग	१९१	त्रिमगशाने	१३५
यागिन्	२०७, २११	—त्रिमगशानिन्	३२०
यागिप्रयथ	२१६	त्रिमु	३३०
याग्यया ( आवरणभयानामाक्षणा )	२०९	—आमना त्रिमुत्य	०२-१०३
यानि	१७८, २७६	त्रिमलनाथस्त्र	५२१
—कर्मयानि ( पव )	१०५	त्रिराधवैयधिकरण्याननरथाभकरयनिकरसायाप्रापिप	
योग	१०६, १४३, १४८, १७३, १७८, २०१	त्रिनिपययनरथाहानिरित्यने दाया स्थानादिना	
र		मत २००-३	
रतु ( चतुदशरज्जवामका गन )	१०३	त्रिगन	१५३
रघुपथ	१५५	त्रिगाह	१२८
राधय	१४३, १९३	त्रिगकरयानि	१९२
र		त्रिगाप	१७, ६८-०
रभ्य ( जतरण-नाथ )	८	—त्रिपैकान्तरादी बौद्ध	१६७, १६८, १७०
रवि	१९, १४७	त्रिस्तथा	२४, ९३
राधनिक	७९	त्रिरी	१
राधेराष्टमरीर	१४४	त्रिरीयान्तराय	८९, २३४
रक्त	१०३	त्रिस्त ( इक्ष मा मकत्व )	२३४
राधायनिक	२७६	त्रिनि ( समवाय )	५८
रथन	१३०	त्रिन्दावन	८६

	पृ		पृ
षट्	१२५, २७४	श्रावित्य	१०२
—वर्णविहिता हिंसा	१२३, १३०, १६१	प	
वदनीयरुम	१९	पङ्गुल	१७९
चदाल	७२	पङ्गुन	१८९
—वेदान्तवादिन सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्ना	१३०	पङ्गीवकाय	३
वैश्वानरवादी	१३१	( गृथितयज्ञानायायुनस्यतयस्त्रमा )	५९९-६०
वैश्वानर	१०७	म	
वैनाशिक (सौगत)	५११	सन्नादस ( प्रमाणवाक्य )	२८३
वैश्वानर	३१६	मत्ता ( भार-महापमान्य )	६६ ७, ७४ ७६
वैश्वानर	५, ३६, १०६	मन्त्रजलम	१८४
वैश्वानर	१४८	मदसू	२०७, ३०५
व्यनर	१३	मन्त्रिकप	३२२
व्यनरस्याप्यवस्थानभार	१००	मन्त्रमगा	५७/-६१६
व्यावहारिक (जीवा)	३३१	—अनन्तसप्तभगी	१८०
व्यावहारिक	१७, १६६	—सप्तानामय भगाना सभय	२८२
व्यावहारिक	१३०, १४०	—सकलादेशीयनगदेशस्वभावा सप्तभगी	२८३
व्यावहारिक	१११	—कालामरुपार्थना भद्राभद्रवृत्ति	२१४-६
श		समन्तभद्र	३२१
शब्द	१००-५	समवाय ( वृत्ति )	५१-६४, ६०
—एकनिकत्वम्	१०२	—एको नित्य मन्यापक अमृतक्ष	६०
—पौत्रलिन शब्द	१०५	—सुररगीणसमवाय	६२
—शब्दनय	३१०	समनन्तरज्ञान	२१०
शक्तिपदाय	१७	समयवागद	५३१
शान्त्य	२६०	सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्ना वेदान्तवादिन	१३०
शास्त्र	५६६	सम्यग्ज्ञान ( भावप्राण )	३०६
शास्त्रिक	५, १६४	सम्यक्श्रुत	२७४
शास्त्रोपयोग	५६१	समाध	१३६
शिवराजर्षि	५२९	समानतय	१०६
शुन	२७६	समानतावीशान	२१०
शुन्याद	२०७, २३१	समुद्र ( कर्षित )	१०३
शुन्यादिन् ( माध्यमिक )	२२६, २२९, २५०	समुद्र ( सत )	३२७
शाशित	२७६	सन्ना ( आत )	६१, ५१, २३६-७
शशु ( शमारण्युगा )	५५	—सन्नादि	२३७
श्रद्धा	१७९, १९३	सर्षि	१७९
श्राद्ध	१२२, १३४-	सन्नाय ( परतय )	२३०
श्राद्धभद्र	०४	सन्नाय ( प्रायश्च )	१५७
शुनकवीन्	८, ३०	सद्भागी	२६७
शुनि	१२४, १५६	सहोपमानियम	२१९



म	श		
मनुस्मृति	मनु	१५२, ३२०	शा-दकल्पद्रुम
महाभारत	याम	१०, १०	घ
-----	मणीदास	३५	पद्म-गानसमुच्चयटीका गुणरत्नमुरि
-----	माणिक्यनान्दि	५२६	२६६, ३०
भाष्यभित्तकारिका	नागप्रतुन	५३२	स
मुष्टक उपनिषद्	१०, ३३०, ३५७		मन्याथप्रकाश
य	पत-नलि	१०३	स्वामी दयानन्द
यागयुक्त			सिद्धमन (५२६)
र	काण्डिदान	३३७	अभयदत्तमुरि
रपुरस			विमन्दास
ल	विनयविजय (३२६)	१२०, १४७	अभयदत्तमुरि
लोकप्रकाश	शाक्यमुनि	२२१, ५६२	५-वपाद
लम्बावतार			१७४, ००७
व	वाचस्पतिमिश्र	१००	१९
विशेषानवश्यकभाष्य	जिनभद्रगणि (३५६)		अभयदेवमुरि
	३२४, ५२५, ५२६, ५२८		२५७, ३२४
			Response in Living and Non living
			—J C Bose
			३५४
			A History of Pre-Buddhist
			Indian Philo ophy
			—B M Baur
			३३३

## अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोकी सूची ( ८ )

श्लोक	श्लोक न	श्लोक	श्लोक न
अ		प्रागत्र दशातरसश्रितानि	१८
अगम्यमध्यात्मनिदामनाच्च	१	प्रादक्षिकम्य परशामनेभ्य	८
अनाप्रिन्त्रिपापनिपत्रिपण्यै	२५	म	
अनाप्त गाड्यादिविनिर्मितित्व	१५	मदन मानन मनाभवन	२७
अपशपातेन परीत्यमाणा	५२	य	
इ		यत्र तत्र समये यथा तथा	२१
इद श्रद्धामान	३५	यथास्थित यस्तु दिशानधीना	७
इमा समस्त प्रतिपञ्चमाश्रिता	२८	यदाजनादुक्तमयुक्तमन्य	१६
क		यदीयमभ्यर्चयन्नात् प्रतामा	२१
क मिद्धमनस्तुतया महाया	५	ख	
त्रिप्यत वायै सन्शीत्रियत	१२	वपुश्च पर्येकशय इत्य च	२०
ज		त्रिमुक्तैरयमनातुवधा	२४
जगल्यनुप्यानबलेन गदयत्	६	झ	
जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुन	१९	शरण्य पुण्य तत्र शासनस्य	९
जिनेन्द्र यानत्र विद्याधसे स्म	४	ञ	
त		मुनिरिचित मत्सरिणो जनस्य	२७
तद्दु यमाकाखलायित वा	१३	स्तुतायसत्तिलव यागिना न किं	२
तमे स्यशामप्रतिभामभाज	१०	स्वकण्ठपाठे कठिन कुठार	२६
द		स्वय कुमार्गे लपना तु नाम	७
देहात्रयागन मदाशिरत्र	१७	ह	
न		हितापदशात्यकल्लकल्लुप्त	११
न श्रद्धयैव त्वयि पश्याता	२०	हिंसात्रमत्कमपथापदभात्	१०
प			
पर सहसा शरदस्तापासि	१४		

## अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (९)

जगम्य	१	द्वेष	२०
अभिदेवता	१७	न	
अप्यात्म	१	नय	२८
अनाप्त	१५	नवपन्ति	५
अनवान्त	२८	निर्वेध	२२
अपशुपात	२२	नृगत	१०
जमूढ	२३	ष	
अत्रपादणा	२८	पक्षपात	२९
अवालय	१	परप	९
अरिया	२२	परतीथनाथ	४
अमवर्ति	१०	परमाप्त	१५
आ		परोक्ष	१
आगम	१०, ११	पर्यन्त	२०
आनव	१६	भ	
आन्तव्य	२९	भगवन्	३१
उ		भयक्षय	१९
उपाधि	३२	म	
क		मद	२५
किंकर	२३	मनोभव	२५
कुशासना	२१	मात्पर्य	२७
कुमाग	७	मान	२५
कृपात्रु	६	मासदान	६
काय	२१	मुद्रा	२०, २७
क		मोक्ष	१४
खदान	८	माह	१८
ज		य	
जगदीश	३०	युग	१८
त्रिनवर	३२	युगातर	१४
त्रिनद्र	४, २०	याग	१४
त		योगिन्	२
तत्कालाक	३२	र	
तप	१४	राग	१८
तपस्विन्	१०	ल	
द		लाभ	२५
दुपमा	१३		
दशनाभूमि	२४		

घ		सम्पत्त्व	२१
दिग्ब	१६	विद्धमन	३
वीतराग	२६, २८	सुरा	१२
वार	२९	सुमाग	७
श		समद	२५
शासन	८, ९, १३, २१	ह	
स		हितापदश	११
सदाशिव	१७	हिमा	१०
समाधि	१८		

### अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रन्थ ( १० )

अभिधानचिन्तामणि	हमचन्द्र	डा द्वारिणिका	विद्धमन
अथाग-यवच्छेदिका	स चरणविनयनी	मकामरलान	मानतुग
आप्तमीमासा	समतमद्र	युक्तयनुद्यामन	समतमद्र
कन्याणमन्दिरलान	विद्धमन	योगशास्त्र	हमचन्द्र
तत्त्वनिर्णयप्रासाद	आत्मारामना	लाफ्तचरनिर्णय	हरिमद्रसुरि
		स्वयभूस्तान	समतमद्र

## अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची

अगम्य	१	द्वय
अग्निदेवता	१७	न
अभ्यात्म	१	नय
अनाप्त	१७	नवपङ्क्ति
अनकान्त	१८	निर्वेध
अपभ्रंश	२२	नृशस
अमृत	१३	प
अपधाण्या	२८	पक्षपात
अवाच्य	१	पथ्य
अविद्या	२३	परतीथनाथ
अमर्शित्	१०	परमाप्त
आ		पराश्र
आगम	१०, ११	पर्येक
आचन	१६	भ
आचार्य	२९	भगवन्
उ		भगवत्य
उपाधि	३२	म
फ		
किंकर	२३	मद
उवाचना	११	मनोभव
पुमान्	७	माध्यम
कृपाण	६	मान
क्राव	१५	मान
र		मन्
खयाल		
प		
कगदाग		
जिनर		
जिनद्र		
न		
नत्यालोक		
नर		
तपस्विन्		
द		
दुग्मा		
दग्नाभूमि		

प्रदेश	३६५-६७	—भयमतनि	४०२-४
—प्रदेश और अवयव	३६६	—बौद्ध साहित्यमें आत्मा सबकी चार	
—आत्माक प्रदेश	”	मान्यताएँ	४०४-७
—प्रदेशोंमें सक्ताव विस्तार	३६६-७	मीमांसादर्शन ( पूर्वमामासा )	४२१-४३७
—आत्मासा मध्यमपरिणाम	”	—मीमांसकोंक आचार विचार	४२८
—रामानुजक मित्रातके साथ तुलना	३६७	—मीमांसक सिद्धान्त	४२८-४३६
प्राण	३८१-२	—वदका अवैरूपत्व	४२९
—विधि अथ	३८१	वेद और नैयायिक आदि दर्शन ( टि )	४२९
—द्रव्यप्राण भावप्राण	”	—मीमांसक और जैन	४२४-५
—सिद्धोंके प्राण	३८१-२	—उमारिणभट्ट और अनकातवाद	४३५
वाङ्मयदर्शन	४८५-४०७	—मीमांसादर्शनक मुख्य प्ररूपक	४३६-७
—बौद्धा सिद्धान्त और आचार विचार	४८५	वेदा तदर्शन ( उत्तरमीमांसा )	४२८-४४२
—मुख्य सम्प्रदाय	३८५-६	—वेदान्ती साधुओंका आचार विचार	४८
सौरात्रिक जादि सम्प्रदायोंका समय ( टि )	३८६	—वेदान्त दर्शनकी वापसता	४२८
—सौरात्रिकोंक सिद्धान्त और उनके		—वेदान्त दर्शनका साहित्य	४३१-४४०
आचार	३८६-८	—वेदान्त दर्शनकी गालाय	४४०-४४१
—वैभाषिक ( स्याल्लिवादी )	३८८-९	—शररका मायावाद तथा	
—सौरात्रिक और वैभाषिकोंक समान		निशानवाद और गूयवाद	४६१ २
सिद्धान्त	३८९-२	लोक	४६०-७१
—शून्यवाद ( मध्यमवाद-नैरात्म्यवाद )	३९२-५	—तीनलोक	३६०-७०
—शक्ता-समाधान पूर्वक प्ररूपण	३९२-५	—वैश्विकलोक	३७०
—गूयवाद और स्याद्वाद ( टि )	३९२	—बौद्धलोक	३७०-१
—गूयवादक मुख्य प्ररूपक आचार	४०५-६	साख्ययोगदर्शन	४२०-७
—निशानवाद ( यागाचार )	३९६-७	—सारथ, वाग, जैन और बौद्ध	४२०-१
—शून्यवाद और निशानवाद ( टि )	३९६	—श्रमण और ब्राह्मण मस्ति	४२०-१
—निशानवादका शक्ता-समाधान		—सारथ और वागदर्शन	४२०
पूर्वक प्रतिपादन	४९६-०	—सारथोंक आचार विचार	४२१-३
—नैरात्म्यवाद और आत्मवाद	३९८-९	—सारथोंका वेदोंको न मानना	४२२
—आत्मा और आत्मविज्ञान ( टि )	४९८	—सारथदर्शनके मुख्य प्ररूपक	४२३-५
—निशानवादक मुख्य आचार	३९९	—वागदर्शन और उसका साहित्य	४२६
—अश्वघोषका तथावाद	३९९	—जैन और बौद्ध दर्शनमें वाग	४२६-७
—जनामवाद	३९९-४०७	हिंसा	४७१-२
—आत्मवादियोंक सिद्धान्त	४००-४००	—जैन गान्धामें हिंसा	”
—पंचस्त्व रूप आत्मा	४००-२	—मकली हिंसा	३७२
—निशानप्रवाह और आज्ञानक मानसशान्त			
( टि )	४०२		

## परिशिष्टोक्ते विशेष शब्दोकी सूची ( ११ )

अतिशय	१६९-३६५	ज्ञानके भेद	३८२-३
—मूत्र तीन अतिशय	३६२	—प्रत्यय-परामर्शका परिभाषा	३८२
—चैतन्य अतिशय	"	—सायनहारिण प्रत्यय	"
—अन्तःस्तर उपाधिपद् आर पानजल		—संज्ञानक १२६ भेद	३८३
यागयुगोमें अतिशय	३६३	दु पमार ( पंचम काण्ड )	३७७-०
—संज्ञमन्त्रिकाय जादि		—उत्सर्पिणी असर्पिणी काण्ड	३५७
बौद्ध शास्त्रोमें अतिशय	"	—कमभूमि भागभूमि	३५८
सांख्यिक ( तरामिय )	४४७-६	—चतुष कालमें तरतत्कालाना पुरुष	"
—नदरच्छ, सिस्सकिच्च		—पंचम कालमें कल्पाका नाम	"
और मन्वन्तिगाराशाल-		—प्रलय	"
तान मुख्य नायक	४४७	—ब्राह्मण ग्रथोंमें चार युग	३५८-९
—साधारण सिद्धांतोंका भंगरती		—बौद्ध शास्त्रोंमें अनेक कल्प	"
आदि जैन ग्रथोंमें उल्लेख	"	द्रव्यपदक ( छह द्रव्य )	१७३-३७८
आघातकर्म ( अघ कर्म )	१७ -३	—क्षताम्बर विद्वानोंमें काण्ड	
खपुनवध	३६७	सत्रधर्म मन्त्रभेद	३७३
उत्पादययप्रौय	३६१-७	—पदुदशनम काल सबधी मान्यता	३७३-४
—स्वप्रत्यय और परप्रत्यय उत्पादयय	१६४	—जैन ग्रथोंमें कालक निययमें	
—पदुदधानपनिनहानिदृष्टि	"	चार मत ( टि )	३७४
—प्रायागिक और वैश्वामिन उत्पादयय	६७	—दिगम्बर त्रय और हेमचन्द्रका	
केचगी	१७९-६१	काल सत्रधी सिद्धांत	३७७-६
—विभिन्न केचका	"	—दान-समाधान	३७७-७८
—वैदिन ग्रथोंमें केवली	१६१	द्वादशांग	३७८-३८१
—बौद्ध ग्रथोंमें बुद्ध, अन्व		—बाह्य अंग	३७८-८०
और याधिसरतकी कल्पना	"	—दिगम्बर दशनाम्बरोंका मतभेद	३७८
केचगासमुद्रांत	३६७-९	—आगमोंका समय	३८१
—जैन आचार्योंमें मतभेद	३६८	निगोद	३८३-४
—उपनिषदोंकी आत्मयापरतास		न्यायप्रदेशिक दर्शन	४०८-१९
समन्वय	"	—अभ्यास और कर्णा	४०८-९
—पानजल यागदानरती उदुनार्यानिमाण		—प्रमाणके लक्षण ( टि )	४०८
त्रियास तुलना	३६८-०	—सात पदाय ( टि )	४००
त्रियासादी-अत्रियासादी	४४६-७	—याय-वैश्वामिनो संमानतत्र	४१०
—जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें त्रियासाद और		—मतभेद	४११
अत्रियासाद	"	—वैदिक साहित्यमें इक्षरका रूप	४११-३
चार्वाकमत ( लाकायत-नास्तिक		—दशनोंमें इक्षर सत्रधी मान्यता	४१३
—अत्रियासादी )	४४३-४	—इक्षरके अस्तित्वमें तीन मुख्य प्रमाण	४१३-७
—दा भेद	४४५	—इन प्रमाणोंकी समीक्षा ( टि )	४१४-७
—चावाक सायु	"	—इक्षरके सबधमें शक-समाधान	४१७-७
नास्तिक शकसायु ( टि )	"	—आधुनिक पाश्चिमात्य विद्वानोंका मत	४१७-८
—आन-दमनजी और चार्वाकमत	४४४	—न्यायवैश्वामिन साहित्य	४१८-०
—चावाकीक सिद्धांत	"		
—चार्वाक साहित्य	"		

प्रदेश	३६५-६७	—भ्रमरतति	६०२-६
—प्रदेश और अवयव	१६६	—बौद्ध मार्गदर्शन आत्मा समीची चार	
—आत्माक प्रदेश	"	मान्यतायें	४०४-७
—प्रदेशोंमें सकाच विसार	३६६-७	मीमांसादान ( प्रथमीमांसा )	४२८-४३७
—आत्माका मध्यमपरिणाम	"	—मीमांसकोंक आचार विचार	४२८
—सामानुक्त मिथानक साथ गुलना	३६७	—मीमांसक मिथान	४२८-४३४
प्राण	१८१-२	—वदका अपोक्षयत्व	४०९
—त्रिभिध अथ	३८१	वद जीर नयायिक आदि दान ( टि )	४२०
—त्रयप्राण भावप्राण	"	—मीमांसक और जैन	४२४-५
—मिथानके प्राण	३८१-२	—जुमारिन्भद्र और अनकाननाद	४२५
बौद्धदर्शन	३८७-४०७	—मीमांसादशनक मुख्य प्ररूपक	६३६-७
—बार्दाक सिद्धांत और आचार विचार	३८७	धंदातदशन ( उत्तरमीमांसा )	४२८-४४२
—मुख्य सम्प्रदाय	३८७-६	—वेदान्ती साधुआरा आचार विचार	४८
सौत्रिक आदि सम्प्रदायाका समय ( टि )	३८६	—वदान दशनकी यापकता	४२८
—सौत्रिककाक जिज्ञात और उनके		—वदान दशनका साहित्य	४२८-४६०
आचार	३८६-८	—वदान दशनकी गाल्वाय	४४०-४४१
—वैभाषिक ( महासिद्धादी )	३८८-९	—शररका मानावाद तथा	
—सौत्रिक और वैभाषिकका समान		विज्ञानवाद और गूथवाद	४४१ २
मिथान	१८०-२	लोक	१६९-७१
—गूथवाद ( मध्यवाद-नैरात्म्यवाद )	३९२-५	—तीनगतक	१६०-७०
—शका-समाधान पूर्वक प्ररूपण	३०२-५	—वैदिकलान	३३०
—गूथवाद और स्याद्वाद ( टि )	९२	—बौद्धगतक	१७०-१
—गूथवादक मुख्य प्ररूपक आचार	३९५ ६	सायययोगदशन	४२०-७
—विज्ञानवाद ( योगाचार )	३०६-०	—सायय, याग, जैन और बौद्ध	४२०-१
—गूथवाद और विज्ञानवाद ( टि )	१९६	—श्रमण और ब्राह्मण मस्वृति	४२०-१
—विज्ञानवादका शका-समाधान		—सायय और यागदशन	४२१
पूर्व प्रतिपादन	३०६-०	—साययोंक आचार विचार	४२१-३
—नैरात्म्यवाद और आत्मवाद	१९८-०	—साययोंका बर्दोंको न मानना	४२२
—आत्मा और आलयविज्ञान ( टि )	१९८	—साययदानक मुख्य प्ररूपक	४२३-
—विज्ञानवादक मुख्य आचार	१९९	—यागदशन और उमका साहित्य	६२६
—अध्यापक तथतावाद	३९९	—जैन और बौद्ध दशनमें याग	४२६-७
—अनात्मवाद	३९९-४०७	हिंसा	३७१-२
—आत्मवादियोंके सिद्धांत	३९९-४००	—जैन शास्त्रोंमें हिंसा	"
—पंचसूत्र रूप आत्मा	४००-२	—सकली हिंसा	३७२
—विज्ञानप्रवाह और आपुनिक मानसशास्त्र			
( टि )	४०२		





पुरातत्त्व ( गुजराती )	३७४,४२०	युक्तिप्रवाह	मनीषिनयगणि	३७६,३७७
पञ्चाध्यायी	राजमहल २९२	यागनिष्ठु	हरिभद्रशूरि	३६५
पञ्चास्तिकायिका	अमृतचन्द्र ३७४,३९२	यागशास्त्र	हेमचन्द्र	३६८
प्रकरणपत्रिका	शालिकानाय ४३२	यागग्रन्थ	पतञ्जलि	२६३,३२८
प्रज्ञापनामृतत्रय	मल्लगिरि २७३,३८४	यागग्रन्थमाध्य	वास	३६९,३६८,३८४
प्रमथकमलमातण्ड	प्रभाचन्द्र २७८	ल		
प्रमेयरत्नकोष	चन्द्रप्रभशूरि ३९०	लाकप्रनाथ	विनयविजय	२७८,३७४
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रशूरि ३६४	लकारतार	शाक्यमुनि	२९६,०९९
प्रश्न उपनिषद्	६१२			

व

बुद्धचर्या	स राहुलसाकृत्यायन ४०६	वासुपुराण		३६९
बुद्धचरित	जश्वरार २६३	विशवाचार्यकभाष्य	जिनमद्रगणि क्षमाभ्रमण	३६८
बृहदारण्यक उपनिषद्	४००,४१२	विष्णुपुराण		३७०
बाधिचयावतार	शान्तिदेव ३६१,२०२, ३९४,४००,४०९	त्रिसुद्धिमग्ग (पाली)	बुद्धधाय	३६०,४०४,४०६
बाधिचयावतारपत्रिका	प्रशाकरमति ३९२,३०२, ३९५,४०३,४०४	श		
		शान्तिदापिका	पाथसारथिमिश्र	४०३
		शान्तिशास्त्रामुख्यगीता उ	यशविजय	३६५,३६८
		श्वन्तान्तर उपनिषद्		२६३

भ

भगवती ( व्याख्याप्रश्न )	२७३			
भागवत	३७०,४२२			

म

मञ्जिमनिकाय ( हिंदी ) अनु	राहुलसाकृत्यायन ३६१,३६३,४०७	मद्दशनममुचय	राजदासर	२८६
मध्यमकाण्ड	चन्द्रकीर्ति ३९४	मद्दशनसमुचयटीका	गुणरत्न	३८५,२८६,३८८, ३९०,४०९,४१०,४३५, ४३८,४४३,४४४
मत्स्यपुराण	३५९			

स

महाभारत	व्यास ४२३	संमतिनकनीका	अमरदेव	३६५,२७३
महाशान सुशास्त्रकार	असग ३९७	समावागग्रन्थ		३६२
माकण्ड्य पुराण	३७०	सर्वदशनसमग्र	माधवाचार्य	४०८,४२६,४२९
माध्यामिककारिका	नामातुन ३७३,३९३, ३९४,३९५,४०६,४०७	सनाथसिद्धि	पूज्यपाद	३६४,३७१
माध्यामिकवृत्ति	चन्द्रकीर्ति ३९२,३०४	सागारधमामृत	प आशाधर	३७२
मिच्छिदपण्ड ( पाली )	४०२,४०३,४०५	सामान्यद्रुणगदिवृत्तकारिता	प अरोक	३०१
मीमांसाश्लोकवार्तिक	कुमारिल ४३२,४३३,४३५	समुत्तनिभाष्य ( पाली )		४०५,४०६
मीमांसाश्लोकवार्तिककीका	पाथसारथिमिश्र ४३१, ४३४	सांख्यकारिकाभाष्य	माडर	४२२
		सांख्यप्रवचनभाष्य	विशानभिक्षु	४४३
मुण्डक उपनिषद्	४१३	सुन्दपुराण		४०८

घ

यागदान और यागशिक्षिका	स प मुखलालजी	ह		
	४२७	हिंदतत्वशास्त्रना इतिहास (गुजराती)	नमदासर	महता
				४४१

A History of Indian Philosophy Vol I ( S N Das Gupta )	२९६, ४११, ४४०
A History of Indian Philosophy Vol II ( " )	४४०
A History of Indian Literature Vol II ( M Winternitz )	३८१
A History of Pre Buddhist Indian Philosophy ( B M Barua )	३०३, ८४६, ७
Buddhism in Transition ( Warren )	४०४
Buddhist Psychology ( Mrs Rhys Davids )	४०४
Constructive Survey of the Upanishadic Philosophy ( Panade )	४१३
Encyclopedia of Ethics and Religion	४४६
Hinduism and Buddhism ( Charles Eliot )	४३१
History of Indian Philosophy Vol II ( Ranade & Belvelkar )	४१२
Indian Philosophy Vol II ( S Radhakrishnan )	४१३
Jain Sutras Part II ( Jacob )	४०९
Milinda Questions ( Mrs Rhys Davids )	४०४
Manual of Indian Buddhism ( Kern )	३५९, ३६१
Pāṇḍitīyā Sūtra ( A Chakravarti )	३०५
Sādhvada Māñjari ( A B Dhruva )	३६७ ३८६, ४०९, ४१८, ४४२
Systems of Buddhist Thought ( Yamakami Sogen )	३८६ ३८८, ३८९, ३९८, ४०४
Some problems in Indian Literature ( M Winternitz )	४३१
Sāṃkhya System ( A B Keith )	४३३
Shramanaism ( R P Chandra )	४३१
The Principle of Psychology Vol I ( W James )	४०२
The Central Conception of Buddhism ( Stecherbatsky )	३८८
The Conception of Buddhist Nirvāna ( " )	३९५, ३९८
Yogavacana Manual ( Mr Rhys Davids )	४२७

## सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थोंकी सूची ( १३ )

अथामापनिषद्	( जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर )
अनंगार तर्माश्रुत	( माणिकचन्द प्रजमाला बम्बई )
अनुयोगद्वारसूत्र	( आगमोदयसामिति मूरत )
अभिधर्मकोश	( स राहुलमाहृत्यायन काशी विद्यापीठ )
अभिधम्मयमगहो ( पाठी )	( स धर्मानन्द कोमवी गुजरात पुरातत्त्वमंदिर )
अभिज्ञानचिन्तामणि	( यशोविनय प्रथमाडा काशी )
अभिज्ञान रात्रेद्रकोप	( रतलाम )
अमरकोप	( निर्णयसागर प्रेस बम्बई )
अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	( भावनगर, भौमार्मिट् माणिक मुन्दे )
अत्रयनिनिराकरण	( स हरप्रसादशास्त्री सिक्कमबुद्धिस्ट न्यायटक्स्ट विन्डि- ओथेका इटिका )
अष्टसहस्री	( गारी नापारग जैन प्रजमाला बम्बई )
आपमीमासा	( सनातन जन प्रजमाला काशी )
आदिपुराण	( जेनेद्रप्रेस कोहापुर )
आम्तिकराद	( अठाहवाट )
आनन्दक हरिभद्राय	( आगमोदयसामिति मूरत )
उत्तराध्ययनमूत्र	( देवचद लाडाभाई मूरत )
कर्मप्रश्न द्वितीय	( आत्मानन्द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा )
कर्मप्रश्न चौथा	( " )
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	( काथमाला सप्तमगुच्छक निर्णयमागर बम्बई )
कालचक्र	( शारदामंदिर देहली )
कोपीतकी उपनिषद्	( निर्णयमागर बम्बई )
गुणस्थानक्रमारोहण	( जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर )
गोम्मटमार जीनकाड	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
गोम्मटसार जीनकाड केशवपर्णाटीका	( जैनसिद्धांतप्रकाशिनी सस्था कठरुत्ता )
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
गौतममूत्र ( न्यायदर्शन )	( हरिकृष्णदास गुप्त काशी )
उल्दोग्य उपनिषद्	( निर्णयसागर बम्बई )
जैनतर्कपरिभाषा	( जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर )

जैनसिद्धांतदण्ड	( अनन्तमूर्ति जैन ग्रन्थमाला )
जनदर्शन ( गुजराती )	( प. त्रेचरदास )
तत्त्वसमष्टि-पत्रिका	( गायकनाथ ग्रन्थमाला पड़ोदा )
तरुयाथायदापन	( चाण्णभा कार्शी )
तत्त्वार्थभाष्य	( आर्हतमत प्रभाकर पूना )
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	( देवचंद्र लालाभाई सूरत )
तत्त्वार्थराजमार्तिक	( सनातन जैन ग्रन्थमाला कार्शी )
तरुयाथश्लोकमार्तिक	( गायी नाथारग जन ग्रन्थमाला )
तन्त्रमार्तिक	( कार्शी )
त्रिलोचनार	( माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला अम्बई )
त्रिशिका	( स. मित्रवन् लणी पेरिस )
त्रिशिकाभाष्य	(       "       )
त्रिपट्टिशिकापुस्तकचरित	( जनमप्रसारक सभा भावनगर )
दशान आर अनन्तनाद	( आमानन्द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा )
दशमेकालिकमूत्र निर्धुक्ति	( देवचंद्र लालाभाई सूरत )
दीपनिकाय ( मराठी )	( स. राजराटे बकादा )
द्रव्यसमष्टि वृत्ति	( जैन पब्लिशिंग हाउस आरा )
द्रव्यानुयोगतर्पणा	( रायचंद्र जैन शास्त्रमाला अम्बई )
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—सिद्धसेन	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—यशोनिजय	(       "       )
धर्मसमष्टिणीवृत्ति	( देवचंद्र लालाभाई सूरत )
धम्मपद ( पाली )	( गुजरात पुरातत्त्वमंदिर )
नन्दिमूर्तटीका	( देवचंद्र लालाभाई सूरत )
नयचक्रमप्रह	( माणिकचंद्र जैन ग्रन्थमाला अम्बई )
नयप्रदीप	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
नयोपदेश	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
नियममार	( जनमप्रसारक कार्यालय अम्बई )
न्यायबुसुमानलि	( कलकत्ता )
न्यायकोश	( सम्युक्त सीरीज अम्बई १८९३ )
न्यायसूत्री	( त्रिनयनगर ग्रन्थमाला )
न्यायतापयपरिशुद्धि	( चाण्णभा कार्शी )

न्यायप्रदीप	( हिन्दीप्रथरत्नाकर कार्यालय बम्बई )
न्यायप्रदेश-वृत्ति-पत्रिका	( गायकवाड ग्रथमाला बड़ौदा )
न्यायनिद्रु-टीका	( चौखम्भा काशी )
न्यायभाष्य	( विद्यानिलास प्रेस )
न्यायमञ्जरी	( विजयनगर सस्कृत सीरीज )
न्यायार्थिक	( विद्यानिलास प्रेस काशी )
न्यायार्थिकतात्पर्यटीका	( विजयनगर सस्कृत सीरीज )
न्यायसूत्रवृत्तित्तात्पर्यवृत्ति	( हरिकृष्णदास गुप्त काशी )
न्यायानुसार	( हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थालय, जैनसाहित्य संशोधक कार्यालय अहमदाबाद )
पातञ्जलयोगसूत्र भाष्य	( सस्कृत ओर प्राकृत सीरीज बम्बई )
पुराण	( श्री वैकटेश्वर प्रेस बम्बई )
पञ्चायायी	( नाथारगजी गांगी शोलापुर )
पञ्चास्तिकाय-टीका	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
प्रकरणपत्रिका	( चौखम्भा काशी )
प्रज्ञापनासूत्र मन्थगिरिवृत्ति	( देवचन्द लालाभाई सूरत )
प्रमेयकमलमार्तण्ड	( निर्णयसागर बम्बई )
प्रमेयरत्नकोष	( जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर )
प्रवचनसार टीका	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
प्रवचनसारोद्धार	( देवचन्द लालाभाई सूरत )
प्रश्न उपनिषद्	( निर्णयसागर बम्बई )
बुद्धचर्या	( ज्ञानमण्डल बनारस )
बुद्धचरित	( Dd Cowell Aryan series )
बृहदारण्यक उपनिषद्	( आनदाश्रम सस्कृत सीरीज पूना )
बोधिचर्यानुसार-पत्रिका	( विन्डिओथेका इडिका )
ब्रह्मसूत्रशाकर भाष्य	( निर्णयसागर बम्बई )
भक्तानुरस्तोत्र	( काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर )
भगवद्गीता टीका	( आगमोदय समिति सूरत )
मञ्जिमनिकाय	( अनु राहुलसाकृत्यायन महाबोधिसभा बनारस )
मध्यमकानुसार	( स प्रेसि )

जैनमिद्वानदर्पण	( अनन्तकार्ति जन प्रथमाला )
जनदर्शन ( गुजराता )	( प त्रेचरत्नाम )
तत्त्वसप्रह-पत्रिका	( गायकवाड प्रथमाला उद्वादा )
तत्त्वयाध्याय्यपत्र	( चौखभा काशी )
तत्त्वयाध्याय्य	( आहतमन प्रभाकर पूना )
तत्त्वानुभाष्यवृत्ति	( देवचन्द्र लालाभाद सूरत )
तत्त्वयाध्याय्यार्तिक	( मनातन जन प्रथमाळा काशी )
तत्त्वार्थश्लोकार्तिक	( गार्गी नाथारग जैन प्रथमाळा )
तन्त्रार्तिक	( काशी )
त्रिलोकमार	( माणिकचन्द्र प्रथमाला उम्बई )
त्रिशिका	( स सिम्बन् लयी परिम )
त्रिशिकाभाष्य	( " )
त्रिपट्टिशलाकापुरूपचरित	( जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर )
दर्शन आर अनेकातनाद	( आत्मानंद जैन प्रकाशक मण्डळ आगरा )
दशानुक्तिमूत्र नियुक्ति	( देवचन्द्र लालाभाद सूरत )
दीपनिकाय ( मराठी )	( स राजवाडे उवादा )
द्रव्यसप्रह-वृत्ति	( जैन पन्डितिंग हाउस आरा )
द्रव्यानुयोगतर्कणा	( रायचन्द्र जन शास्त्रमाला उम्बई )
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—सिद्धसेन	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—यशोविजय	( " )
धर्मसप्रहणीवृत्ति	( देवचन्द्र लालाभाद सूरत )
धम्मपद ( पाली )	( गुजरान पुरातनमंदिर )
नन्दिमूत्रटीका	( देवचन्द्र लालाभाद सूरत )
नयचक्रसप्रह	( माणिकचन्द्र जन प्रथमाला उम्बई )
नयप्रदीप	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
नयापदेश	( जनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
नियममार	( जनप्रथरनाकर कार्यालय उम्बई )
न्यायसुसुमाजति	( फलकता )
न्यायनोश	( सम्वृत सीरीज उम्बई १८९३ )
न्यायकदली	( त्रिजयनगर प्रथमाला )
न्यायतापर्यपरिशुद्धि	( चौखभा काशी )

न्यायप्रदीप	( हिन्दीप्रथरत्नाकर कार्यालय बम्बई )
न्यायप्रवेश-वृत्ति-पत्रिका	( गायकवाड प्रथमाला नईदरा )
न्यायविद्-दु-टीका	( चौखम्भा काशी )
न्यायभाष्य	( विद्यामिलान प्रेस )
न्यायमञ्जरी	( विजयनगर ससृष्ट मीरीज )
न्यायार्थिक	( विद्यामिलान प्रेस काशी )
न्यायार्थिकनापर्यटीका	( विजयनगर ससृष्ट मीरीज )
न्यायमूत्रुत्तितात्पर्यविमृत्ति	( हरिश्चन्द्रागुप्त काशी )
न्यायान्तर	( हेमचन्द्राचार्य प्रधानादि, जैनसाहित्य सशोभक कार्यालय अहमदाबाद )
पातञ्जलयोगसूत्र-भाष्य	( ससृष्ट और प्रासृत सीरीज बम्बई )
पुराण	( श्री वैकटेश्वर प्रेस बम्बई )
पञ्चाध्यायी	( नाथारगजी गारी शोलापुर )
पञ्चात्मिकाय-टीका	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
प्रकरणपत्रिका	( चौखम्भा काशी )
प्रज्ञापनासूत्र भग्यगिरिवृत्ति	( देवचन्द्र लालाभाई मूरत )
प्रमेयकमलमार्तण्ड	( निर्णयसागर बम्बई )
प्रमेयरत्नकोष	( जैनधर्मप्रसारक समा भाननगर )
प्रवचनसार टीका	( रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई )
प्रवचनसारोद्धार	( देवचन्द्र लालाभाई मूरत )
प्रश्न उपनिषद्	( निर्णयसागर बम्बई )
बुद्धचर्या	( ज्ञानमण्डल बनारस )
बुद्धचरित	( Li Cowell Aryan series )
बृहदारण्यक उपनिषद्	( आनदाश्रम ससृष्ट सीरीज पूना )
त्रोत्रिचयान्तर-पत्रिका	( ट्रिल्लिओथैसा इटिका )
ब्रह्मसूत्रशास्त्र भाष्य	( निर्णयसागर बम्बई )
भक्तान्तरस्तोत्र	( कान्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर )
मगवतीमूत्र टीका	( आगमोदय समिति मूरत )
मञ्जिमनिकाय	( अनु राष्ट्रसाहित्यायन महाबोधिसमा बनारस )
मध्यमकान्तर	( स प्रसिन् )



मनुस्मृति	( निर्णयसागर बम्बई )
महाभारत	( " )
महापान सूत्रालंकार	( स सिन्वन् लेनी पेरिस )
मायमिककारिका-वृत्ति	( पीन्सर्ग )
मिल्डिन्दपण्ड ( पाली )	( V Trenckner London 1890 )
मीमांसाश्लोकार्तिक टीका	( चौखमा काशी )
मुण्टक उपनिषद्	( निर्णयसागर बम्बई )
युक्तिप्रबोध	( रतलाम )
युक्त्यनुशासन	( माणिकचद जैन प्रथमाळा बम्बई )
योगविन्दु	( स सुआली भावनगर )
योगशास्त्र	( जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर )
रघुपुत्र	( निर्णयसागर बम्बई )
लोकप्रकाश	( हीरालाल हसरज जामनगर )
लोकतरनिर्णय	( आत्मानद जैन सभा भावनगर )
लकानतारसूत्र	( ननिओ कपोटो १९२३ )
त्रिशोपास्यकभाष्य	( यशोत्रिजय प्रथमाळा काशी )
त्रिसुद्धिमग ( पाली )	( पालीटिक्स्ट सोमायटी लटन )
शब्दकल्पद्रुम	( हरिचरणसु कलकत्ता )
शास्त्रदीपिका	( निर्णयसागर बम्बई )
शास्त्रत्रातसिमुच्चयटीका	( देवचद ठालाभाई मूरत )
त्रेताश्चर उपनिषद्	( निर्णयसागर बम्बई )
पद्दर्शनसमुच्चय—राजशेखर	( यशोत्रिजय प्रथमाळा काशी )
पद्दर्शनसमुच्चय—मणिरत्नटीका	( चौखमा काशी )
पद्दर्शनसमुच्चय—गुणरत्नटीका	( आत्मानद सभा भावनगर )
समत्तिकर्क ( गुजराती )	( पूजाभाई जैन प्रथमाळा अहमदाबाद )
समत्तिकर्कटीका	( गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद )
संयार्यप्रकाश	( अजमेर स १८९३ )
सप्तभगीतरगिणी	( रायचन्द्र प्रथमाळा बम्बई )
सप्तत्रयागसूत्र—टीका	( आगमोदय समिति मूरत )
सर्पदर्शनसप्रह	( प्राच्याविद्यासंशोधन मंदिर पूना )

सर्वार्थसिद्धि	( जैनेन्द्र मुद्रणालय कोन्हापुर )
सागाररामानृत	( माणिकचन्द्र प्रथमाला मम्बई )
सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता	( स हरप्रसाद सिक्स बुद्धिस्ट टेक्स्ट )
सूत्ररूपागसूत्र-टीका	( आगमोदय समिति सुरत )
स्थानागसूत्र-टीका	( " " )
संयुक्तनिकाय ( पाठी )	( पार्लिटेक्स्ट सोसायटी १८९८ )
सायकारिका माट्टरभाष्य	( चोखमा काशी )
सायप्रवचनभाष्य	( विद्यार्जित प्रेस काशी )
स्याद्वादमन्त्री-लिखित	—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
हिंदूतत्त्वज्ञाननो इतिहास ( गुजराती )	( गुजरात वर्नाक्यूल्चर सोसायटी अहमदाबाद )

A History of Indian Philosophy Vol I	( Cambridge University 1922 )
A History of Indian Philosophy Vol II	( " " 1932 )
A History of Indian Literature Vol II	( Calcutta University 1933 )
A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy	( Calcutta 1921 )
Buddhism In Translation	( Harvard Oriental Series 1922 )
Buddhist Psychology	( London 1914 )
Construtative Survery of the Upanisadic Philosophy	( Poona 1926 )
Encyclopedia of Ethics and Religion	
Hinduism and Buddhism	( London 1921 )
History of Indian Philosophy Vol II	( Poona 1927 )
Indian Philosophy Vol II	( Library of Phulo-ophy 1927 )
Jain Sutras Vol II	( S. B. E. ALA )
Milinda Questions	( London 1929 )
Manual of Indian Buddhism	( Stra-sburg 1936 )
Pañcastikayasāra	( Jain Publishing House Arrah 1920 )
Response in Living and Non living	( London 1932 )
Shramanism	( Indian Science Congress 1931 )
Svadaya ida Māñjiri	( Bombay Sanskrit and Prānt Series 1933 )
Systems of Puddhistic Thought	( Calcutta Lawer ur 1912 )
Some problems of Indian Literature	( Calcutta University 1927 )
S unkhya system	( Cal 1918 )
The Principles of Psychology	( London 1890 )
The Central Conception of Buddhism	( London 1923 )
The Conception of Buddhist Nirvana	( Leningrad 1927 )

## शुद्धाशुद्धिपत्र ।

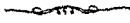


- पृ १ प १, विरचिताने स्थानपर विरचित- ।  
पृ १८ प ११ और पृष्ठ १९ प २७ में सामान्यकी जगह समवाय ।  
प्र १८ प १२ और प्र १९ प २८ में विष्णुकी जगह सममान ।  
पृ १०४ प ३० में छद्मका जगह अमरयात ।  
पृ २७९ प २२ नम्बर ३ की टिप्पणीमें जैनजगतका नाम छूट गया है ।  
हमक अनिश्चित टाइपके उड़ जान आदिसे जा अशुद्धियाँ रह गईं हा, उन्हें पाठक सुधार लें ।





# श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला



निवेदन—राजभाषी रक्षणी सताशानी बबिबर  
 रायचन्द्रजीके स्मारकमें बड़े प्रथमाला डाके स्थानित  
 किये हुए परमश्रुतप्रभावकमहाशय तत्त्वावधारणमें  
 ५० वर्षसे निकल रही है, इसमें श्रीमद्वृद्धमुन्दाचाप,  
 श्रीउमास्वामी, श्रीविज्जैनदिवकर, श्रीधर्मचन्द्र  
 दूर, भास्वमचन्द्राचाप, श्रीनेत्रिचन्द्रसिद्धांतचक्र-  
 वर्त्ति, श्रीराजीकुदेव, श्रीवेमलदास, श्रीदेवराजप्रभृति,  
 श्रीमहादेवराज आदि आचार्योंके अनिश्चय उपयोगी  
 संग सुमन्वदित हाकर मूल, संस्कृत टीकाएँ और सरल  
 हिंदीटीका सहित निकाले गए हैं। सर्वसाधारणमें सुलभ  
 मूलमें तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रन्थोंका प्रचार कराइ इसका मूल्य

उदें २५ है। प्रथम श्रमकर बमर्द करनेका उद्योग इस  
 शास्त्र का नहीं है। हमारा यत्न उदेंग लमी उपलब्ध  
 हो सकता है, १५ पाठक अनिश्चित अधिक द्रव्य भर्ने  
 अथवा शास्त्रमालाके प्रथम वर्षीयकर जैनशास्त्रके द्वारके  
 काममें ह्यारी मदद करे, क्योंकि तत्त्वज्ञानके प्रसारमें  
 बंदकर दूसरा कोई प्रभावनाका पुण्यकार्य नहीं है।  
 श्रीकृष्णदत्तदस्वामीके सभी ग्रंथ और न्यायिकासके पा-  
 न्यप्रेषा, तत्त्वार्थसार, आतमीमांसा आदि कई ग्रन्थोंका  
 सुव्यपादन हो रहा है और छप रहे हैं, जो समयानुसार  
 निकलेंगे। सभी ग्रंथ सुंदर मंडपूत शिल्पमें मंडित हैं।

## प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

- |   |    |  |     |
|---|----|--|-----|
| १ पुनर्प्राप्तिसिद्धपुण्य—मूल और हिंदीटीका<br>भास्क वर्मका विस्तृत वर्णन है।  | २) | १५ पुण्यमाला मोक्षमाला और भाग्यशास्त्रोप-<br>शोधप्रामाण्य द्रष्टव्य, १०८ मुद्राएं विष्णुपद पाठ<br>है।  | १)) |
| २ पंचास्तिकाय—अप्राप्य है।  |    | १६ उपदेहाच्छाया और तामसिद्धि—<br>श्रीमद्राजचंद्रदत्त, अग्र-य   |     |
| ३ क्षारार्णय—श्रीधर्मचन्द्राचापकृत मूल और<br>स्व० प० पञ्चालालजी काकलीवालकृत हिंदी<br>टीका, योग-अध   | ६) | १७ योगसार—अप्राप्य   |     |
| ४ सततभगीतरणिणी—मूल और हिंदीटीका<br>अप्राप्य   |    | १८ YOGINDU HIS PARAMĀTMAPRA<br>KĀSA AND OTHER WORKS  | २)  |
| ५ वृद्धद्वैव्यसंग्रह—अप्राप्य   |    | १९ श्रीमद्राजचन्द्र—श्रीमद्राजचन्द्रजीके पत्रों<br>और रचनाओंका अपूर्व संग्रह, अष्टाशतिका<br>अपूर और विद्यालय प्र० है। म० गांधीजीकी<br>प्रस्तावना है। प्रथममुद्रा १५० स्वदेशी काम<br>कर १ छापाण सुंदर छायाई हुई है। मूल्य सिर्फ १०) | १०) |
| ६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेत्रिचन्द्रकृत मूल<br>गाथायें अर २३० प० मनोहरलालजीकृत<br>हिंदीटीका, सिद्धांत ग्रंथ।                                      | ३) | २० न्यायानुसार—श्रीविज्जैनविचारकृत मूल<br>४४६ और प० विष्णुमूर्ति प्र० ६०, जैन<br>दत्तात्रयकृत मा० टी०, 'याचका प्राचीन<br>ग्रंथ, प्रथम ११ इति आकार १४४। नया<br>छपा है।  | ५)  |
| ७ गोम्मटसार जीवकाण्ड—श्रीनेत्रिचन्द्रकृत<br>मूल गाथायें और प० लखचन्द्रजीवन मा० टी०  | २) | २१ प्रामाण्यप्रकरण—श्रीउमास्वामिकृत मूल<br>४४६, श्रीरविभद्रपण्डित सं० टी०, साहित्य<br>चार्य प० राजकुमारजी छायाईकृत सरल विस्तृत<br>हिंदीटीका सहित, त्रैलोक्यका सुंदर ग्रंथ है।  | ६)  |
| ८ लिंगसार—हिंदीटीका सहित, अप्राप्य  |    | सुजराती ग्रंथ।   |     |
| ९ प्रपञ्चसार—अप्राप्य है, पुन उद्योग।   |    | १ श्रीमद्राजचन्द्र—अप्राप्य है।  |     |
| १० परमात्मप्रकाश और योगसार—मूल<br>अप्राप्य दोन, संस्कृतटीका, हिंदीटीका,<br>अप्रेजी प्रस्तावना और उलके हिंदीसार सहित,<br>अध्यात्म विषयका सुंदर ग्रंथ | ६) | २ भावशास्त्रोप—अप्राप्य है।  |     |
| ११ समपसार—श्रीकृष्णदत्तदस्वामीकृत, अप्राप्य<br>है। पुन सम्पादन संशोधन हो रहा है,<br>जल्दी छपना  |    | मिलनेका पता—   |     |
| १२ द्रव्याणुयोगतर्जणा—अप्राप्य है   |    | परमश्रुतप्रभावक मंडल   |     |
| १३ न्यायानुसंज्ञिका—श्रीनेत्रिचन्द्रकृत मूल<br>सं० टी०, डॉ० प० जगदीशचन्द्र प्र० ६० कृत<br>हिंदीटीका सहित, याचका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ।                 | ६) | (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)  |     |
| १४ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र मोक्षशास्त्र—<br>श्रीउमास्वामिकृत मूलसूत्र संस्कृतटीका,<br>५ लखचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत हिंदीटीका                | ३) | श्रीकलीचिन्म्वर डि० नारायण, जौहरियाबाद,<br>बम्बई न० २  |     |

